इतिहास लेखन, अवधारणाएँ, प्रविधियाँ एवम् उपकरण

Historiography, Concepts, Methods and Tools

[Compulsory]

Group - B

प्रश्न पत्र – VI

Paper - VI

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक – 124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय–सूची

इकाई - I

अध्याय 1 इतिहास का अर्थ, प्रकृति और कार्य-क्षेत्र 5

अध्याय 2 इतिहास के स्त्रोतों की खोज तथा उनका मूल्यांकन 25

अध्याय 3 कारण-कार्य सम्बन्ध तथा वस्तुनिष्ठता 37

अध्याय 4 इतिहास तथा अन्य विषय 46

इकाई - II

अध्याय 5 इतिहास लेखन की परम्परायें 58

अध्याय 6 इतिहास के द ष्टिकोण 133

अध्याय 7 इतिहास के सिद्धान्त 185

इकाई - III

अध्याय 8 इतिहास में विवाद 221

अध्याय 9 शोध-प्रस्ताव की तैयारी के बारे में 256

M.A. History (Final)
Group - B
Historiography, Concepts, Methods and Tools
Paper – VI [Compulsory]

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : *10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All questions shall carry equal marks.*

UNIT – I

1. Meaning, Nature and Scope of History.
2. Search for Source Material, Evaluation of Sources.
3. Causation and Objectivity.
4. History and other Disciplines:
   Archaeology; Geography; Anthropology; Sociology; Economics; Politics

UNIT – II

1. **Traditions of Historical Writing:**
   Greaco-Roman Tradition; Chinese Tradition; Ancient Indian Tradition, Medieval Historiography-Western; Arabic; Persian; and Indian.
2. **Approaches to History:**
   Theological; Orientalist; Imperialist, Positivists, Nationalist; Marxist; Annals; Sabaltern; and Post-Modernist.
3. **Major Theories of History:**
   Cyclical; Historical Materialism; Structural; Ecological

UNIT – III

1. **Debate in History:**
   a) European Feudalism
   b) Indian Feudalism
   c) Rise of Capitalism
   d) Origin of Imperialism
2. Area of Research Proposed-Preparation of Research Proposal.

(The students shall be asked to prepare a synopsis on any problem area of his/her interest)

इकाई - I

अध्याय - 1

इतिहास का अर्थ, प्रकृति और कार्य-क्षेत्र
(Meaning, Nature and Scope of History)

इतिहास अतीत के मानवीय क्रिया-कलापों और सामाजिक सम्बन्धों को समझने की कोशिश है। मानव सभ्यता का जब जन्म हुआ तो मनुष्य ने समय को ऋतुओं के चक्र या अंधेरे और रोशनी के चक्र (दिन तथा रात) के रूप में ही देखना सीखा। ज्यादातर प्रारंभिक सभ्यताओं में और कुछ संस्कृतियों में अभी भी समय की धारा को चक्राकार और आव त्तीय माना गया, सीधी दिशा में आगे बढ़ने वाला नहीं। उनके लिए ब्रह्माण्ड था लेकिन इतिहास नहीं। ज्यादातर मानव-समुदाय दूसरों द्वारा सिखाये गये क्रियाकलापों की आव त्ति करके ही जी रहे थे। आविष्कार की जगह पुनराव ति ही नियम था। वे मानते थे कि वे अपने अनुष्ठानों में स्वर्ग के आदि रूपों की, देवताओं के क्रिया कलापों की ही आव त्ति करते हैं। इसमें ऐतिहासिक समय या घटनायें अर्थहीन थी बशर्ते उनमें आदि-सर्जन को दुहराया न गया हो। इससे यह बात साफ है कि अतीत स्वयं में इतिहास नहीं है।

हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से, गंध से, स्वाद से, ध्वनि या द ष्टि से अपने व्यक्तिगत अतीत को अपनी याददाश्त में दर्ज कर सकते हैं। हम इसे कई बार याद करते हैं तथा कई बार दुबारा खोजते हैं। हम इन्हें अपनी याददाश्त में एक क्रम में रखते हैं कि पहले क्या हुआ और उसके बाद क्या हुआ ? वर्तमान की भौतिक वस्तुएं भी हमें अतीत की याद दिलाती हैं। जैसे कि मैं इस 'घर' में पैदा हुआ था। इस 'स्कूल' में पढ़ा था या यह 'कार' मेरे पिताजी ने उस वक्त खरीदी थी। यह सब बातें यह दर्शाती हैं कि एक अतीत व्यक्तिगत और सामूहिक, (मानवता के स्तर पर) से हम हमेशा जुड़े रहते हैं चाहे भले ही कुछ यादों को यादगार बना कर रखना चाहें और कुछ को दबाकर रखना चाहें या भूलना चाहें। अतीत का सम्बन्ध समय से है-समय जो एक विचित्र विचार या घटना है जिसे हम उपमा के रूप में अंतरिक्ष या आकाश (Space) के मापदंड से नापते हैं (Annales) इतिहासकारों का लघु-काल तथा दीर्घ-काल (Short/long duréé) । इसी समय को नापने के लिये मानवीय सभ्यताओं ने कैलन्डरों की खोज की जो अतीत, वर्तमान और भविष्य को दर्शा सकें। कई बार कैलेन्डर आधारित होता है—प्रकृति पर (जैसे सूर्य, चन्द्र, प थ्वी) आदि की गति पर और कई बार एक धर्म, राष्ट्र या वीर-पुरुष के जन्म पर। कैलन्डर में चक्राकार समय की गति (घंटे, दिन, सप्ताह, वर्ष आदि) भी निहित है और समय की रैखिक (Linear) गति भी-अर्थात् एक के बाद एक आने वाले वर्ष। अलग-अलग मानव संस्कृतियाँ कैलन्डर-समय को अलग-अलग पद्धतियों से नापती हैं लेकिन विभिन्न कैलन्डरों में अतीत के बीते हुए समय की तुलना आसानी से की जा सकती है। जैसा हमने कहा कि हम सब अपने अतीत को याददाश्त में संजोये रखते हैं लेकिन अगर हम यह कहें कि हर छात्र अपने सुबह के नाश्ते में उसने क्या खाया-इसकी सूची भी दे और सबूत भी दे तो सबूत इकट्ठा करने में बहुत कुछ अस्त-व्यस्त करना पड़ जायेगा। इतिहास का स्वरूप भी ऐसा ही है-बिल्कुल अस्त-व्यस्त और गड़बड़ वाला। इतिहास का सम्बन्ध इतिहासकार और अतीत के मानवीय कर्त्ताओं से है जो उसके साथ एक सामूहिक नियति से बंधे हैं। जिसे जर्मन दार्शनिक इम्मन्यूअल कॉट ने "मानवता की

कुटिल इमारती लकड़ी" ("Crooked timber of humanity") कहा था। वैज्ञानिक प्रकृति का अध्ययन करते हैं लेकिन इतिहासकार अतीत में अपने जैसे ही मनुष्यों का, उनके क्रिया-कलापों का और वे जो सामाजिक सम्बन्ध कायम करते हैं, जो संस्थायें गठित करते हैं उनका अध्ययन करने की कोशिश करते हैं। इसका अर्थ है कि अतीत इतिहास नहीं हैं। अतीत और इसके द्वारा छोड़े गये निशान इतिहास के कच्चे माल के समान हैं—ये वर्तमान में उपलब्ध अतीत के निशान ही वे सबूत हैं जिनके आधार पर इतिहासकार इतिहास रचता है। इन अतीत के निशानों के बिना, इस कच्चे माल के अभाव में, हमारे पास अतीत का कोई सबूत भी नहीं बचता। फिर इतिहास की खोज और निर्माण का सवाल भी नहीं उठता है। कई बार इतिहासकार तथा अन्य लोग अतीत और इतिहास का उपयोग वर्तमान समाज में सत्ता की संरचना (धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष सत्ता) को वैध ठहराने के लिये कर लेते हैं लेकिन वैकल्पिक इतिहास उस सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिये भी इस्तेमाल किया जा सकता है। वंशावलियाँ राजसत्ता और कुलीन वर्ग की सत्ता को वैधता देती थीं, लेकिन चर्च ने भविष्य में मुक्ति की गारंटी इनके माध्यम से प्राप्त की। मार्क्सवादी इतिहास क्रान्ति को वैध ठहराता है, पूंजीपतियों की सत्ता को नहीं। नाजी पार्टी ने इतिहास का उपयोग अपने नस्लवादी द ष्टिकोण को फैलाने के लिये किया। अतीत को वर्तमान में जैसे भी इस्तेमाल किया जाये यह अतीत एक समय जीवन्त था और वर्तमान में इतिहासकारों के लिये निशान छोड़ जाता है जिनके विश्लेषण के आधार पर ही इतिहासकार इतिहास-लेखन कर पाते हैं।

किसी समय की बात है जब मानव अपने परिवार और समुदाय को बचाये रखने के लिए अतीत के बारे में कहानियाँ सुनाता था। वह अब भी वैसा करता है। कहानियाँ सामान्यता मौखिक होती है, लिखित नहीं। कहानियों में अक्सर कल्पना और तथ्य दोनों का ही समावेश रहता है। आजकल उत्तर-आधुनिकतावादी कहानियों की कम और व तांतों (narratives) की ज्यादा चर्चा करते हैं। लेकिन कहानी और व तांत दोनों रूपों में अतीत की ही कहानियाँ होती है। किसी संस्कृति में कहानी ही पौराणिक कथा या मिथक का आधार बनती है। जिनमें मनुष्य और देवी-देवता इस तरह आपस में मेल-जोल करते हैं जिससे प्राकृतिक विश्व की व्याख्या की जा सके। ग्रीक कवि होमर जिन्होंने ईसा पूर्व 8 वीं सदी में इलियड़ और ओडीसी की रचना की और रोमन कवि वरजिल जिन्होंने ईसा पूर्व प्रथम सदी में ऐनियड़ महाकाव्य लिखा या भारत का महाभारत महाकाव्य मौखिक लोक कहानियों को महाकाव्यों के रूप में लिखने की कोशिशें थीं। पौराणिक कथायें तथा मिथक देवताओं तथा मनुष्य-जाति को युद्ध या प्रेम में सहभागिता दिखाकर, हमारे सामूहिक अचेतन मन (Collective unconscious) को जिंदा रखती हैं। ऐसी ही एक ग्रीक कहानी में इतिहास को एक स्त्री के साथ सम्बन्ध किया है। क्लियों (Clio) यूनानी देवराज ज्यूस तथा याददाश्त की देवी नेमोसाइन की नौ बेटियों में से एक थी। धीरे-धीरे उसे अतीत की उद्घोषणा करने वाली कलादेवी मान लिया गया। पश्चिम में इसी के साथ इतिहास विषय की शुरूआत होती है। कहानियों में एक कथानक होता हैं तथा एक प्रारंभ, एक मध्य भाग तथा एक अंत। अंत सदैव सुखद नहीं होता। कहानियाँ मनोरंजन करती है, नैतिकता का पाठ पढ़ाती है और जीवन के बारे में शिक्षा देती हैं। इतिहास प्रारंभ में एक सच्ची कहानी सुनाने की ही कोशिश था—फिर तथ्यों को स्पष्ट रखने तथा अतीत की व्याख्या करने और विश्लेषण करने की दिशा में चलता है। इतिहासकार उपलब्ध सबूतों के आधार पर अतीत के बारे में सच के नजदीक से नजदीक पहुंचने की कोशिश करते हैं। इतिहासकार अपने वर्तमान से प्रभावित रहते हैं और यही वर्तमान का प्रभाव उन्हें सीमाबद्ध करता है लेकिन फिर भी उनका लक्ष्य अतीत की सच्चाई स्थापित करने का ही रहता है, काल्पनिक अतीत की तस्वीर बनाने का नहीं। इतिहास इसकी कल्पना नहीं करता कि क्या हुआ होगा बल्कि यह जानने का रास्ता बनाता है कि अतीत में सम्भवतया क्या हुआ होगा ?

कहानियाँ इतिहास के व्यवसाय के लिये अनुदेश के समान हैं। वे कदम-दर-कदम क्रमबद्ध रचना करना भी सिखा सकती हैं लेकिन कहानियाँ हमें वह कच्चा माल नहीं दे सकतीं बशर्ते कि वे सच्ची ना हो और ना ही वे हमें इतिहास-लेखन के औजार ही दे सकती हैं। अरस्तू ने कहा था कि हम कहानी सुनाने वाले जानवर हैं लेकिन कहानियाँ सामान्यतया काल्पनिक होती हैं, वे सच्चाई और कल्पना को अलग करने वाली कतार को धुंधला करती हैं। यह आवश्यक नहीं कि कहानियों का लक्ष्य अतीत के बारे में सच्चाई बताना ही हो। इतिहास लेखन खोज और निर्माण का कार्य है। इतिहासकार की यह अपेक्षा रहती है कि वह खोजे गये अतीत के बारे में सच्ची कहानी बताये और निर्माण करे। यह काम मौजूदा सबूतों के माध्यम से तथ्यों को स्थापित करके तथा घटनाओं का एक कालक्रम निश्चित करने में शुरू होता है। उन सबूतों में अतीत के लिखित एवं अलिखित छोड़े गये निशान तथा अवशेष रहते हैं और इतिहास को छोड़ा गया यह कूड़ा-कचड़ा हर रूप में हर जगह मिल जाता है लेकिन इसमें इतिहासकार को यह चयन करना होता है कि इसमें क्या महत्वपूर्ण है और क्या नहीं। इतिहास के कारीगर अपनी कहानी इसी सबूतों के आधार पर, तथ्यों का चयन करके तथा उन्हें संगठित करके बनाते हैं। तथ्यों में विचार, मूल्य तथा भौतिक अवशेष भी होते हैं। इतिहास घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण ही नहीं है, हाँलाकि कहानी के जैसे इतिहास में भी एक क्रमबद्धता मौजूद रहती हैं—उसका एक प्रारंभ, एक मध्य भाग तथा एक अंत भी रहता है। इतिहासकार की कहानी कहाँ से शुरू होगी और कहाँ खत्म—यह भी व्याख्या और खोज का विषय रहता है। यही नहीं, इतिहास अतीत की मानवीय घटनाओं को समझने तथा उनके कारण तलाशने की कोशिश भी करता है और इसके लिए अतीत की मानवीय घटनाओं की व्याख्या करके उनके अर्थ समझने की कोशिश की जाती है। इतिहास अतीत की उथल-पुथल में, अस्त-व्यस्त तथ्यों में, सिद्ध किये जा सकने वाले प्रमाण के आधार पर अपने व तांत या कथन के द्वारा एक व्यवस्था और संरचना भी बनाता है। वह अपने व्यक्तिगत रूझान को समझते हुये, अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ (objective) होने की कोशिश करता रहता है।

पुर्नजागरण तथा प्रबोधन काल से पहले इतिहास का रुप या तो वंशावली के रूप में रहता है—एक पारिवारिक इतिहास जो शासकों की सत्ता को न्यायोचित ठहराना चाहती है या ईश्वर और शैतान के बीच, प्रकाश और अंधेरे के बीच संघर्ष दिखाने वाले इतिहास के रूप में। प्रबोधन काल ने ही मानव तथा उसके क्रिया-कलापों को मानव इतिहास में प्राथमिकता देने की कोशिश की। व्यवसायिक रूप से एक समूह के रूप में इतिहासकार 19 वीं सदी के अंत में ही उभरने तथा संगठित होने शुरू होते हैं। इतिहास अब एक निश्चित काल अवधि में होने वाले सुव्यवस्थित सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन को समझा जाने लगा। दैव-विधान की जगह मानव की गतिविधियाँ इसका केन्द्र-बिन्दु बन जाती हैं। इतिहास का व्यवहार दो धाराओं में बंट जाता है—एक प्रत्यक्षवादी जो इतिहास को विज्ञान के नमूने पर खड़ा करना चाहते थे और दूसरे आदर्शवादी जो इसे एक कला मानते थे।

वास्तव में, अठाहरवीं सदी के विज्ञान ने इतिहास को अपनी भाषा में वर्णन तथा व्याख्या करने के लिये दो तरह की उपमायें उपलब्ध करायी—एक यांत्रिकीय (mechanical) तथा दूसरी जैविक (organic)। यांत्रिकीय उपमाओं में प्रमुख थीं—शक्ति, ऊर्जा, क्रांति, जड़त्व (Inertia), आदि तथा जैविक उपमाओं में महत्वपूर्ण थीं—जन्म, जीवन, म त्यु, विकास, संस्कृति, विघटन तथा व द्धि आदि। हम आज भी किसी भी इतिहास की पुस्तक में इन उपमाओं की भरमार देख सकते हैं। यह प्रबोधन काल का ही प्रभाव था कि कुछ इतिहासकारों ने इतिहास को एक वैज्ञानिक आधार देने की कोशिश की—प्रमाणों या सबूतों को छाँटना तथा उन्हें आलोचना के तराजू में तोलना, दूसरे स्त्रोतों से तुलना करके किसी स्त्रोत की प्रामाणिकता की जाँच, तथा भूगर्भ-वैज्ञानिकों या जीवाश्म-वैज्ञानिकों की भांति प्रमाण तथा स्त्रोतों को वर्गीकृत करने की कोशिश यह सब प्रत्यक्षवादियों का इतिहास को योगदान कहा जा सकता है। जर्मन इतिहासकार रांके (1795–1856) ने इस रुझान को चरम बिन्दु पर पहुँचाया। दूसरे

इतिहासकारों ने आदर्शवाद की तरफ रुख किया—विल्हेम डिल्दी (1833–1911) बैन्डेटो क्रोचे (1866–1952) तथा आर० जी० कॉलिंगवुड आदि इसमें प्रमुख थे। उनका मानना था कि सब इतिहास समकालीन इतिहास है, यह वर्तमान में, आत्मकथा के रूप में मौजूद है। वे इस बात पर बल देते थे कि लोग कैसे सोचते थे, कैसे महसूस करते थे या कैसे कल्पना करते थे। उन्होंने इतिहास में, अतीत में मानवीय क्रिया-कलापों में विचार तथा विचारधाराओं को कारण माना और इसके लिये अतीत में कल्पनाशील तरीके से व्यक्तियों के दिमाग में पहुँचने की कोशिश की। कॉलिंगवुड ने इस संदर्भ में घटना के बाहरी तथा अन्दरुनी पक्षों को समझने पर जोर दिया। उनके अनुसार घटना का बाहरी पक्ष था मानवीय क्रियायें तथा अन्दरुनी पक्ष था मानवीय कत्ताओं के विचार तथा मूल्य जिसके अध्ययन के लिये कर्त्ताओं के दिमागों में उतरने की जरूरत थी। अधिकांश इतिहासकारों के लिये इतिहास आंशिक रूप से विज्ञान है और अंशतः कला। इतिहास के माध्यम से अतीत की घटनाओं के कारण खोजते हैं। वे ऐतिहासिक कर्त्ताओं के इरादे तथा लक्ष्यों को समझने की कोशिश भी करते हैं लेकिन यह निश्चित नहीं है कि इतिहासकार को इनमें से किसी उद्देश्य में सफलता मिलती है। वास्तव में अतीत की पूर्णतया वैज्ञानिक व्याख्या या संवेदनशील पुर्ननिर्माण दोनों इतिहासकार की पहुंच से बाहर हैं। इतिहास के स्वरूप को इतिहास-लेखन की धारायें ही तय करती हैं। समय के साथ-साथ इतिहास-लेखन की धारायें बदलती हैं तो इतिहास का स्वरूप और लक्ष्य भी बदल जाता है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इतिहास का एक नया रूप देखने को मिलता है। कुछ विचारकों ने ऐतिहासिक घटनाओं का अंतिम अर्थ ढूँढने की कोशिश की। इतिहास का यह अंतिम अर्थ दैव्य-शक्तियों में नहीं बल्कि समय की धारा में, मानवीय क्रियाओं में निहित बड़े नक्शे या आकृति में ही ढूँढा गया। आधुनिक आलोचक इसे **meta-history** का नाम देते हैं। जहाँ इतिहासकार बहुत सी मानवीय क्रियाओं में जटिलतायें ढूँढते हैं, meta history **उस एक बड़ी व्याख्या की तलाश** करती है जिससे तमाम इतिहास की जटिलताओं को समझा जा सकें। हेगेल ने इस बड़ी व्याख्या को इन शब्दों में रखा कि "विश्व का इतिहास और कुछ नहीं बल्कि स्वतंत्रता की चेतना का ही विकास है।" ("The history of world is none other than the progress of consciousness of freedom"). इसके विपरीत, आप एक मार्क्स के इस कथन से अवगत होगें ही कि "अब तक के सभी मौजूदा समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।" यह एक महत्वपूर्ण विषय है कि क्या इतिहास एक आदर्श नक्शे-कदम पर, कुछ नियमिताओं के अनुसार, कुछ नियमों (laws) के अनुरुप चलता है या नहीं। अगर हम फ्रांसीसी दार्शनिक कॉम्ते (1798–1857) पर विश्वास करें तो इतिहास का अध्ययन भी विज्ञान है या विज्ञान बन सकता है। कॉम्ते का भी विचार था कि इतिहास को अलग-अलग चरणों या अवस्थाओं के रूप में देखा जा सकता है—अतीत को ये वैचारिक धारायें अर्थपूर्ण ही बनाने की बात नहीं करती थी बल्कि ऐतिहासिक विकास के नियम ढूँढने की कोशिश कर रही थी। मध्यकालीन धार्मिक विचारधारा में भगवान मानवीय इतिहास की आकृति तय करता था, अब मनुष्य स्वयं इसे 'इतिहास के विकास के नियमों' के अनुसार बना रहा था। हेगेल, मार्क्स, कॉम्ते, इनके 'नियमों' के बारे, इतिहास के चरणों के बारे में मत अलग-अलग थे। 19 वीं सदी में इंग्लैण्ड में इतिहास का उदारवादी मत (Whig School) काफी प्रभावशाली रहा और इसके अनुसार इतिहास तर्कसंगत विकास की ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें मानव-समाज एक सुखद भविष्य की तरफ लगातार बढ़ रहा था। यूरोप के दूसरे इतिहासकारों ने इतिहास को राष्ट्रीयता के रंग में रंगने की कोशिश की। उनका मानना था कि जैसे व्यक्ति जन्म लेते है बड़े होते है तथा मर जाते हैं वैसे ही राष्ट्रीय-राज्य जन्म लेते हैं, परिपक्व होते हैं और कई बार विघटित भी हो सकते हैं। उनके लिए इतिहास राष्ट्रीय पहचान और चेतना को परिभाषित और दावे के साथ पेश करने का एक साधन था।

आजकल **उत्तर-आधुनिकतावादी meta-history** के नाम पर जिस इतिहास की आलोचना करते हैं

कि इसमें इतिहास को एक बड़ी आकृति या नक्शे के रूप में देखा गया तो फिर ये **भाषा-विज्ञानी पलटी खाने वाले** ('linguistic turn') क्या कर रहे हैं ? वे इतिहास को एक तरह की भाषा का खेल बनाने पर तुले हैं। उत्तर आधुनिकतावाद ने शक्ति तथा सत्ता की भाषा को तोड़ने की ध्वस्त करने की (deconstruct) कोशिश तो की है तथा ऐतिहासिक विषयों में भाषा की अहम भूमिका को उजागर किया है और यह इतिहासकार के व्यवसाय के लिये मूल्यवान बात हो सकती है लेकिन क्या स्वयं उत्तर-आधुनिकतावाद तमाम इतिहास की एकमात्र व्याख्या एक ही मूल-पाठ (text) तथा भाषा के खेल (language game) के रूप में करके meta-history की रचना नहीं कर रहा ?

इतिहास क्या है इसके बारे में विद्वानों में मतभेद हैं और अभी बहुत दिनों तक रहेगा लेकिन यह निर्विवाद है कि इतिहास अतीत का लेखाजोखा है। असुरक्षित वर्तमान और अनिश्चित भविष्य के बीच पिसती जनता को, अतीत गोरा हो या काला, उससे क्या लेना देना ? तभी तो वह इतिहास को गड़े मुर्दे उखाड़ना कहती है। उसे इतिहास की किताब किसी मशहूर कब्रिस्तान की गाइड लगने लगती है। ऐसे ही दिमाग के छात्रों को हिस्ट्री 'बेवफा' लगती है। यह सच है। इसका कारण है। लेकिन सबसे पहले तो यह जान लें कि कोई कुछ भी कहे, अतीत में उसकी सहज स्वभावगत रुचि होती है। समझने वाला आदमी अतीत से इसलिए जुड़ता है कि वर्तमान की शिनाख्त ही अतीत के संदर्भ में होती है। जो जागरूक नहीं है, सचेत भी नहीं है, वह तो प्रायः अतीतजीवी ही होते हैं : अपने परिवार, जाति, जवार से, जिस किसी का अतीत बेहतर हुआ उसी से, अपने को जोड़कर वर्तमान से पलायन कर जाते हैं। सारांश यह है कि इतिहास में रुचि अरुचि की बात का तो कारण है, पर अतीत से सभी का जाना-अनजाना समझा-बेसमझा रिश्ता है, अंत-रंग, अनिवार्य।

फिर उसके प्रति अरुचि क्यों ? पहली बात तो यह कि यह अरुचि अस्वाभाविक है। दुनिया के विकसित देशों में इतिहास बोध और इतिहास की जानकारी संस्कृति का अभिन्न अंग है। इतिहास की यह दुर्दशा भारत जैसे देशों में स्वाभाविक है। इसका कारण भी यहां के इतिहास में ही मिलेगा। इस देश में इस धरती पर मनुष्य के जीवन को क्षणभंगुर कहने और अगला जन्म और परलोक संवारने पर विशेष बल दिया गया है। धरती पर हो रही 'लीला' में मनुष्य को कठपुतली बना कर पेश किया गया है। ऐसे में इस जीवन और उसके भी बीते दिनों में रुचि लेने का क्या मतलब! यह सच है कि प्राचीन साहित्य में भी 'इतिहास', 'आख्यान', 'आख्यायिका', 'पुराण' और 'इतिव त्ति' जैसे शब्द मिलते हैं जो इतिहास के किसी न किसी पहलू से जुड़ते हैं पर वास्तव में ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें व्यक्ति और समाज को सुनिश्चित ढंग से देशकाल में स्थापित किया जा सके, जो इतिहास की पहली शर्त है इतिहास व्यक्ति और समाज को अपने परिवेश और वर्तमान से जोड़ता है। उसे सहेजने संवारने और भविष्य के निर्माण की प्रेरणा, शक्ति और गुर देता है। शासन करने वाले लोग क्यों चाहेंगे कि सामान्य व्यक्ति ऐसी प्रेरणा और शक्ति जुटा पाए क्योंकि वे तो यथास्थितिवादी होते हैं।

जातकों, महाभारत और पुराणों जैसे प्राचीन ग्रंथों में इतिहास के तत्व मिलते हैं लेकिन कोई भी जानकार उन्हें इतिहास ग्रंथ नहीं मानता। हम जिन अर्थों में आज इतिहास को लेते हैं उन अर्थों में भारत में इतिहास बहुत बाद में लिखा जाने लगा। मध्यकाल के सामंती शासन में अधिकांश इतिहासकार दरबारी और चाटुकार थे। उन्होंने इतिहास कम, प्रशस्ति अधिक लिखी। यूरोप के लोग अपने साथ इतिहास लेखन की परंपरा लेकर आए। वह इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि इतिहास परिवर्तन की प ष्ठभूमि बना सकता है इसलिए उन्होंने इतिहास को उपनिवेश बनाने और उसे बचाए रखने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया।

उन्नीस सौ सैंतालीस तक इतिहास को पाठ्यक्रमों में पूरी प्रतिष्ठा मिल चुकी थी लेकिन यह जरूरत शिद्दत से महसूस की जा रही थी कि इतिहास का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। ऐसा क्यों था ? इसे जानने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। तब तक की सबसे प्रतिष्ठित इतिहास पुस्तक 'केंब्रिज

हिस्ट्री आफ इंडिया' के अनुसार यदि 1857 के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया होता तो उसके शासन के अंतिम दिनों को 'स्वर्गकाल' कहा जाता। लेखक व्यंग्य करता है कि भारत के लोगों ने कृतज्ञ होने के स्थान पर इसका उत्तर सैनिक विद्रोह से दिया। अंग्रेज लेखकों के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। राबर्ट आर्मे, विलियम राबर्टसन और जेम्स मिल द्वारा शुरू की गई परंपरा की ही यह एक कड़ी थी। यदि ऐसे पूर्वाग्रहपूर्ण इतिहास पर पुनर्विचार ही तो आश्चर्य ही क्या ! आज तो सी० एच० फिलिप्स जैसे अंग्रेज इतिहासकार भी मानते हैं कि भारतीय इतिहास को वस्तुगत स्थितियों को ध्यान में फिर से लिखा जाना चाहिए।

पहले भारतीय इतिहासकार, मजबूरी में ही सही, अंग्रेजों का पिष्ठापेषण ही कहते थे। बाद में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह में इतिहास राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर लिखा जाना शुरू हुआ और जैसा कि बर्कहार्ट ने लिखा है पूर्वग्रह और पक्षपातपूर्ण मानसिकता सहज ही राष्टवादिता का मुखौटा लगा लेती है। इससे न इतिहास का कल्याण होता है न समाज का।

इतिहासकार मनुष्य होने के नाते जब मानव संबंधी अतीत के तथ्यों को संजोने बैठता है तो उसका पूरी तरह तटस्थ और वस्तुनिष्ठ न रह पाना स्वाभाविक है। लेकिन यदि वह अपनी मानसिकता, अपनी पूर्वग्रहों और अपने विचारों के प्रति सायास और सतत् सचेत नहीं रहता तो उसकी अतीत की समझ सीमित और संकुचित हो जाती है। जब भारत जैसे विस्त त और जटिल समस्याओं वाले देश के इतिहास के पुनर्लेखन का सवाल हो, जहां पुर्नजागरण, राष्ट्रीय आंदोलन और फिर देश का विभाजन हुआ हो, तो इतिहासकार के पूर्वग्रहों द्वारा इतिहास के पूरे परिद श्य के ही गलत परिप्रेक्ष्य में बद्ध हो जाने की संभावना बनी रहती है।

भारतीय इतिहास के आधुनिक काल को राजनीति-प्रधान स्वरूप प्रदान किया गया है। राष्ट्रनिर्माण और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान इतिहास की मूलधारा को न पहचान कर उसके व्यापक और सार्वभौम स्वरूप को नज़रअंदाज कर, राजनीति के सतही स्वरूप में उलझ जाने की प्रव त्ति का आसानी से शिकार हुआ जा सकता है। राष्ट्रवाद के विकास काल में राष्ट्रहित की बात करना एक आदत और नीति बन जाता है। समाज के जागरूक वर्ग इसी दिशा में कार्यरत होते हैं। ऐसी स्थिति में इतिहासकार महत्वूपर्ण भूमिका अदा कर सकता है और भारतीय इतिहासकार ने ऐसा किया भी है। इसी तरह भारत जैसे जाति-धर्म प्रधान देश में अपनी निकटतम भावनात्मक इकाइयों के प्रति लगाव महसूस करना और उसके हित में काम करने की भी प्रव त्ति रही है। ऐसी स्थिति में भारत के आधुनिक इतिहास लेखक में कभी राजनीतिक, कभी जातीय और कभी सांप्रदायिक पूर्वग्रहों ने इतिहासकार को भटकाया है।

हर लेखन का एक वैचारिक आधार होता ही है और वह वर्ग-विशेष के हित में होता है। चाहे इसके प्रति लेखक सजग और सचेत हो या न हो। आधुनिक भारत में लिखा गया अधिकांश इतिहास निरा तथ्यवादी रहा है और सामंती औपनिवेशिक मूल्यों की सेवा करता रहा है, चाहे लेखक अंग्रेज रहे हों या भारतीय। स्वतंत्रता आंदोलन के समय जब यह भावना तेज हुई कि अगर अंग्रेज भारतीय इतिहास को इस तरह से पेश कर रहे हैं कि भारतीयों में हीन भाव और पराजय-बोध जागे तो देशभक्तों को इतिहास इस तरह पेश करना चाहिए कि भारतीयों में स्वाभिमान और राष्ट्रवाद जागे। इसके लिए विविधता में निहित एकता और प्राचीन भारत के गौरव को भावनात्मक स्तर पर उजागर किया गया। राधाकुमुद मुखर्जी, के० पी० जायसवाल, ताराचंद आदि ने यह काम राष्ट्रभक्ति के नाम पर किया। इस दौर में भी ऐसी प्रस्तुति अंततोगत्वा लाभदायक नहीं सिद्ध हुई लेकिन उनका कुछ सकारात्मक पक्ष यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक लेखन के जवाब में राष्ट्रवादी लेखन की एक उपयोगिता थी। यही प्रव त्ति 1947 के बाद भी चलती रही है और के० एन० पणिक्कर तथा आर० सी० मजूमदार जैसे प्रख्यात लेखकों ने अपने को साफ-साफ राष्ट्रवादी इतिहासकार कहा है।

वास्तव में 1947 के पहले और बाद में भी ऐसे अधिकांश इतिहासकार वैज्ञानिक शोध और लेखन पद्धति और 'इतिहास क्या है, क्यों है, कैसे हैं' जैसे मूल प्रश्नों पर बिना सोचे और उनका एक उत्तर ढूंढे तथ्यों की खोज और उनकी करीने से सजावट मात्र प्रस्तुत करते रहे। उनका लिखा इतिहास भी विशिष्टों का जुलूस बना रहा। इतिहास निर्मात्री जनता और इतिहास के द्वंद्वात्मक विकास में निहित संघर्ष का इन पुस्तकों में अतापता नहीं था। एक बात स्पष्ट हो गई थी कि इतिहास का पुनर्लेखन जरूरी है। लेकिन क्यों और कैसे की बात स्पष्ट नहीं थी। सरकारी संरक्षण और शह पर सरकारी नीतियों के अनुकूल इतिहास लिखा-लिखवाया जाता रहा जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यह कि 1947 के बाद के तीन दशकों में यही बात सामने रखी गई कि भारत को आजाद करने का श्रेय गांधी-नेहरू की कांग्रेस को है जबकि यह बात गलत ही नहीं भ्रामक भी है।

धीरे-धीरे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को पूर्णतः या अंशतः सही मानने वालों की संख्या बढ़ने लगी और जब डी० डी० कोसंबी ने प्राचीन भारत की, उसकी गाथाओं, मिथकों और सामाजिक संरचना की, भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की तो ऐसा सोचने वालों का आत्मविश्वास बढ़ा। शीघ्र ही भारतीय इतिहास के 'आर्थिक पक्ष' और 'जनता के इतिहास' को रेखांकित करने वालों का एक 'स्कूल' विकसित हो गया और आठवें दशक में विश्वविद्यालयों, इतिहास की संस्थाओं और इतिहास संबंधी नीति निर्धारण में उसका बोलबोला हो गया। इस दौरान समाजवाद का मुखौटा लगाने वाली सरकार को इस विकास पर एतराज नहीं हुआ क्योंकि ऐसा इतिहासलेखन अभी सशक्त नहीं हुआ था, जनचेतना से जुड़ नहीं पाया था और उस चेतना को आगे ले जाने वाली शक्तियां स्वयं कमजोर थीं।

फिर भी इतना काफी था और देश के पुरातनपंथियों, रूढ़िवादियों और संकीर्ण विचार के लोगों ने ऐसे विकास क्रम का यथासंभव विरोध करना शुरू किया। इस प्रव त्ति का सबसे संगठित प्रयास 'भारतीय विद्या भवन' के माध्यम से हुआ और सबसे भोंडा प्रयास ओक नामधारी व्यक्ति द्वारा औरों की डोर पर संचालित 'इतिहास पुनर्लेखन संस्थान' के माध्यम से हुआ।

वैज्ञानिक द ष्टि के अभाव में भारत के सामंती समाज के अंदर से अधिकांश व्यक्ति सांप्रदायिक होते हैं। इसलिए इस तरह का प्रचार बढ़ता गया और एक अजीब विडंबना बढ़ती गई। कक्षा में भारतीय विद्यार्थी सीखता है कि चंद्रग्रहण इसलिए होता है कि सूरज और चांद के बीच प थ्वी आ जाने से उस पर छाया पड़ जाती है और घर में यह सीखता है कि चंद्रमा को राहू-केतू लील लेते हैं इसलिए चंद्रग्रहण लगता है और इसी व्याख्या पर उसका अधिक विश्वास होता है। उसी प्रकार वह इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में यह पढ़ता है कि ताजमहल शाहजहां ने बनवाया और पत्र-पत्रिकाओं में यह पढ़ता है कि ताजमहल एक राजपूत का महल है और हिंदू हुआ तो दूसरी बात को सही मानता है। यह प्रव त्ति इसलिए बनी हुई है और बढ़ती जा रही है कि वैज्ञानिक समझदारी के व्यापक प्रसार को न वैज्ञानिक महत्व देता है न इतिहासकार। न तो विज्ञान जनोन्मुख है न इतिहास।

जिन्हें मार्क्सवादी इतिहासकार कहा जाता है वे अपने को वैचारिक द ष्टि से अधिक परिपक्व और आधुनिक समझते हैं लेकिन मार्क्सवाद में विश्वास की बात करने मात्र से ही कोई मार्क्सवाद इतिहासकार हो जाता है क्या ? मार्क्स ने सामाजिक विकास को समझने की प्रयोगशाला के रूप में इतिहास को लिया था और उसने इतिहास की जिस भौतिकवादी व्याख्या को स्थापित किया था, उसका आधार था इतिहास की गतिदायिनी शक्तियों और प्रव त्तियों की पहचान। उसके लिए अतीत वर्तमान और भविष्य की अलग-अलग स्वतंत्र अस्मिता नहीं होती। इस कालधारा की पहचान की मार्क्स ने एक वैज्ञानिक पद्धति प्रस्तुत की जिसके सहारे उसने स्वयं और दुनिया को उसके अगणित अनुयायियों ने अतीत को सही ढंग से पहचाना है। इतिहासलेखन में इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं। इन उपकरणों का निरंतर सजग और सचेत इस्तेमाल भी जरूरी है। इसके लिए तथ्य ही नहीं, तथ्यों की पहचान और चुनाव और उसके बीच प्रवाहित सूक्ष्म या स्पष्ट मूलधारा की समझ के लिए वैज्ञानिक

द ष्टि और पद्धति आवश्यक है।

दूसरी ओर ऐसे इतिहासकार हैं जो इतिहासदर्शन और इतिहास के वैचारिक आधार को या तो नजरअंदाज करते हैं या उसको महत्व ही नहीं देते। उनके लिए इतिहासकार एक जज होता है। इसलिए इतिहासकार को तटस्थतापूर्वक तथ्यों के आधार पर स्वयं अपनी बात कहने देना चाहिए। ये लोग क्या यह नहीं समझते कि इतिहास का तथ्य विज्ञान के तथ्य की तरह नग्न और अपने में महत्वपूर्ण नहीं होता। अगणित कोरे तथ्यों में से जिन्हें देशकाल में 'संदर्भित' कर लिया जाता है वे ही इतिहास के तथ्य बनते हैं। इसलिए इतिहासकार की भूमिका; विषय और प्रासंगिक तथ्यों के चुनाव से ही शुरू हो जाती हैं। इस चुनाव का कोई न कोई तो आधार होगा ही। इतिहासकार की मनोव त्तियां, पूर्वग्रह, मानसिकता, बौद्धिक स्तर, द ष्टि और उसका वर्गचरित्र निश्चित ही इस चुनाव को प्रभावित करते हैं। इसलिए कोई कितनी ही डींग मारे इतिहास प्राकृतिक विज्ञान जैसा वस्तुगत और निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसलिए बहुत से इतिहासकारों का इतिहासलेखन निरपेक्ष ठूंसे हुए तथ्यों का समूह बन भी जाए तो वह इतिहास नहीं हो सकता। और विडंबना तो यह है कि इनमें से अधिकांश इतिहासकार तथ्यों को सर्वोपरि बताते हुए भी किसी जाति, धर्म, क्षेत्र या व्यक्ति विशेष की वकालत करते हैं, सायास या अचेतन ढंग से। इसलिए इनका लिखा इतिहास प्रायः न तो वस्तुगत होता है, न वैज्ञानिक, न निरपेक्ष।

सही इतिहास न राजनीति की प्राथमिकता है न उसको नकारना। सही इतिहास न आर्थिक आधार को काटना है न उसे ही एकमात्र आधार मानना। सही इतिहास न व्यक्ति को केंद्र मानता है न व्यक्ति की भूमिका को नकारता है।

अगर करीब से भारतीय इतिहास पर नजर डालें तो इतिहास को हिंदू मुसलमान जैसे धार्मिक चश्मों से देखना तो गलत है ही, केवल यांत्रिक ढंग से आर्थिक आधार को ही सब कुछ मानकर धार्मिक तत्व की भूमिका को नकारना भी गलत है। भारतीय इतिहास में भी मूलतः विकास की प्रक्रिया द्वंद्वात्मक और अर्थतंत्र में संघर्ष के माध्यम से विकासमान तत्वों पर आधारित रही है। लेकिन इसमें जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय आदि तत्वों की भूमिका को एकदम नकारना समझदारी को बाधित ही करेगा।

सही इतिहासलेखन व्यक्ति नही प्रव त्ति पर जोर देगा लेकिन वह व्यक्ति की भूमिका को भी स्वीकार करेगा। वह कांग्रेस की स्थापना का श्रेय ह्यूम को नहीं देगा लेकिन ह्यूम नामक व्यक्ति की अपनी भूमिका को भी स्वीकारेगा। वह प्रथम महायुद्ध के बाद से 1947 तक इतिहास को नेहरू, पटेल, सुभाष, गांधी का जीवन चरित्र नहीं समझेगा, लेकिन वह इनकी विशेष सही-गलत भूमिकाओं को भी नहीं नकारेगा। वह बंगाल के विभाजन को कर्जन की बदमाशी भी नहीं मानेगा और साम्राज्यवादी चाल कहकर कर्जन के रोल को भी नहीं नकारेगा। 1947 में मिली राजनीति आजादी को वह न तो केवल राष्ट्रीय आंदोलन की परिणति समझेगा न अंतराष्ट्रीय स्थितियों का दबाव मात्र। सही इतिहास विकासक्रम की अनिवार्यताओं, स्थिति, घटना व्यक्ति आदि की विशिष्ट भूमिकाओं को भी स्वीकारेगा। उसका निरूपण यांत्रिक नहीं वैज्ञानिक होगा। इसलिए वह आर्थिक मूलाधार को रेखांकित करने के साथ सुपर स्ट्रक्चर (ऊपरी ढांचा) राजनीति, साहित्य, कला, संस्कृति, जीवनमूल्य, धर्म आदि की जटिलताओं और बारीकियों को भी उनका उचित प्रासांगिक स्थान देगा। 'सही इतिहास के निर्माता' कुछ लोग नहीं होगें जैसा कि दोनों खेमों के अधिकांश इतिहासकार करते हैं, बल्कि इतिहास में स्थितियों के विकास के साथ भयानक कठिनाइयों में जूझता संघर्षरत और विजयोन्मुख व्यापक मेहनतकश जनता, मजदूर और किसान की तस्वीर उभरेगी। सही इतिहास मात्र तिथियों, नामों और कारनामों की भूलभुलैया नहीं होगा जैसा कि अधिकांश इतिहासकार मानते हैं, बल्कि किसी देश काल की स्थिति में निहित मूल अंतर्विरोध और संघर्षों के स्वरूप का निरूपण होगा। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास 1857 और 1885 में नहीं शुरू होगा। उसके झंडाबरदार रानी झांसी,

गोखले, तिलक, गांधी, नेहरू, चंद्रशेखर आजाद और भगतसिंह आदि ही नहीं होंगें। उनमें 'कमल और रोटी' की दास्तान, खिलाफत या भारत छोड़ो आंदोलन या असेंबली में बम फोड़ने के कारनामों को लेकर लफ्फाजी नहीं होगी। सही इतिहास भारतीय पूंजीपति वर्ग के जन्म और विकास या ट्रेड यूनियन के जन्म और विकास को रेखांकित करके ही नहीं संतुष्ट ही लेगा।

राष्ट्रीय आंदोलन का सही इतिहास तत्कालीन ब्रिटिश उपनिवेशवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के मूल अन्तर्विरोध को केंद्र में रखेगा लेकिन दोनों की अपनी जटिल विकास यात्रा और इस विकास में विभिन्न घटकों के परस्पर द्वंद्व-संबंध, उनकी आपस में एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया को भी उजागर करेगा। वह ब्रिटेन की भारत के प्रति नीति की ओर भारत की बढ़ती चेतना और मुक्ति संग्राम में सक्रिय विभिन्न वर्गों की नीतियों को स्थानीय और परस्पर संदर्भों में ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय विकासक्रम के बीच भी रखकर देखेगा। वह राष्ट्रीय आंदोलन को एक समरूप और रेखीय विकास की तरह नहीं बल्कि विभिन्न तत्वों के कभी निकट आते और कभी परस्पर विरोधी होते हितपूर्ति के प्रयत्नों और उन पर एक साथ और अलग-अलग प्रभाव डालते बाहरी हितों की भूमिका के बीच मुक्ति की आकांक्षा के बढ़ते आधार के रूप में प्रस्तुत करेगा। सही इतिहास सैंतालीस में प्राप्त आजादी को जीत-हार और परिणति या प्रारंभ के रूप में नहीं देखेगा।

स्कूलों से विश्वविद्यालयों तक विशेषकर स्कूलों के स्तर पर गलत ढंग से दी जाने वाली इतिहास की शिक्षा। आज भी विद्यार्थी को इतिहास महापुरुषों की गाथा या चमत्कारी घटनाओं का क्रम लगता है। उसे भरत मिलाप या छब्बीस जनवरी की परेड की झांकियां, एक तरह का तमाशा देखने का मजा आता है। तमाशा तो तमाशा होता है। उसे कहना पड़ता है कि कौन शासक महान हुआ, कौन सा काल स्वर्णकाल था, किस राजा का परिवार-दरबार कैसा था, कितनी लड़ाइयां और संधियां हुईं। बस। इस इतिहास में वह अपने को, अपने जैसों को नहीं देखता। वह अंत तक नहीं जान पाता कि वह उन तथ्यों को क्यों जान रहा है। इन्हें न भी जानता तो क्या नुकसान था?

दूसरा सबसे बड़ा कारण है इतिहास संबंधी सुरुचिपूर्ण, सरल और प्रासंगिक लेखन का अभाव। अधिकांश इतिहास पुस्तक को उठाइए तो उनमें बस नाम और तिथियां नजर आएंगी। इस अंबार के नीचे दबा इतिहास कराहता रहता हैं। एक विदेशी इतिहासकार ने भारत की इतिहास पुस्तकों को टेलीफोन की डायरेक्टरी कहा था। क्या गलत कहा था ? लेकिन डायरेक्टरी का तो एक इस्तेमाल है। जैसे बोरे में आलू भर देते हैं वैसे ही इतिहास की पुस्तक में तथ्य और तिथियां ठूस दी जाएं तो उसका क्या मतलब होगा ?

दूसरी बात यह है कि जनता को केंद्र में रखकर इतिहास अभी हाल ही में लिखा जाना शुरू हुआ है, लेकिन जनता के लिए इतिहास कहां है ? कुछ देशों में इतिहास की इतनी लोकप्रिय पत्रिकाएं निकलती है कि उन्हें भी सामान्य पाठक उसी रुचि के साथ खरीदता है जिस रुचि के साथ मनोरंजन करने वाली पत्रिकाओं को। इनमें इतिहास के अधिकारिक जानकार लिखते हैं और इस तरह लिखते है कि पाठक आकर्षित हो, पढ़े और समझें। हमारे देश में अब तो अधिकांश विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में इतिहास पढ़ने वाले छात्रों में कमी हो रही है ओर उनमें अच्छी पुस्तकें पढ़ने की आदत में तो भारी कमी आई है। अब विद्वानों की पुस्तकें अधिकतर धूल चाटती है। ज्यादातर सामान्य पढ़े-लिखे लोग आठवीं कक्षा में ही इतिहास को दफन कर देते हैं। फिर कभी-कभार उनका इतिहास से साक्षात्कार बाजारू रंगीन पत्रिकाओं में होता है जिसमें इतिहास को रूमानी, सनसनीखेज और संकीर्ण ढंग से पेश किया जाता है। वहां भी महलों का रंगीन माहौल या किसी स्वतंत्रता सेनानी की प्रशस्ति प्रस्तुत होती है। अधिकांश पढ़े-लिखे लोग भी अंत तक किंवदंती, गाथा, पुराण और इतिहास में अंतर नहीं कर पाते।

इसी प्रकार हम यह भी समझते हैं कि इतिहास बोध जनचेतना का आधार होता है। इतिहास की

प्रयोगशाला में ही रास्तों की खोज होती है। इतिहास एक विषय नहीं एक पहचान है। जैसे हर व्यक्ति के लिए विज्ञान की मोटी-मोटी जानकारी जरूरी है उसी तरह इतिहास की भी।

इतिहास का इतिहास

मनुष्य जाने या न जाने उसका अस्तित्व इतिहास से परे नहीं होता। इतिहास का उत्तराधिकारी मनुष्य उसे जीता हुआ, अपने कार्यों द्वारा उसे प्रभावित करता हुआ भी प्रायः उससे परिचित नहीं होता। इतिहास शब्द का विभिन्न सन्दर्भों में वह प्रयोग करता है—व्यक्ति, देश, साहित्य, विज्ञान, पशुओं, यहां तक कि वस्तुओं तक के इतिहास की वह बात करता है फिर भी प्रायः इतिहास सबसे कम समझे जाने वाले शब्दों में से है।

इतिहास से अक्सर लोग किस्सा-कहानी और निर्जीव अतीत का अर्थ लेते हैं जिसका वर्तमान से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं होता। इतिहास के सही अर्थ से अनभिज्ञ होने की कई वजहें हो सकती हैं। जब इतिहास की विषयवस्तु मनुष्येतर हो तो इतिहास का अर्थ वही नहीं होता है जो मनुष्य का होता है। दूसरे, समाज के अतीत की धारा, जो उसके वर्तमान को छूती हुई भविष्य में प्रवाहित होती है, उसे भी इतिहास कहते हैं और उसके लिपिबद्ध संयोजन को भी। अमूर्त इतिहासधारा और इतिहास की पुस्तकों को एक ही नाम से पुकारे जाने के कारण भी भ्रम पैदा होता है।

वे लोग भी इतिहास के विषय में एकमत नहीं हो पाते जो मानव-इतिहास का अर्थ समझते हैं। इतिहास में आदमी के कारनामों का जिक्र होता है और उन्हें आदमी ही इतिहासबद्ध करता है, इसलिए विवादों का खड़ा होना स्वाभाविक सा है। बस एक बात निर्विवाद और सुनिश्चित होती है कि इतिहास का संबंध मनुष्य के अतीत से है। उस अतीत को देखने, उसके बारे में कोई अभिधारणा बनाने और उसकी व्याख्या में देशकाल और व्यक्ति के अनुसार मतैक्य न हो तो इससे विशेष आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

जब से मनुष्य चेतनशील हुआ है, वह अपने अतीत में जहां उसके वर्तमान के स्त्रोत है, दिलचस्पी लेता रहा है। इस सहज रुचि के साथ उसके वर्तमान के स्वार्थ उसकी मनोव त्ति, उसके विचार और उसकी वर्ग चेतना की भूमिका जुड़ी होती है। इसलिए अतीत को वह अपने ढंग से देखता रहा है और इतिहास विवादों को जन्म देता रहा है, उनका शिकार होता रहा है।

समाज विज्ञान के क्षेत्र में एक सार्वभौम और सर्वव्यापी परिभाषा कर पाना, जो संक्षिप्त और सर्वथा उचित भी हो, प्राकृतिक विज्ञान की अपेक्षा बहुत कठिन कार्य है। जहां तक इतिहास का सम्बन्ध है, उसकी परिभाषाओं में बहुत विविधता है। अमेरिका के सबसे पहले और सबसे प्रसिद्ध नवकुबेर हेनरी फोर्ड ने इतिहास को बकवास कहा था-हिस्टरी इज बंक। (उनका ऐसा कहना स्वाभाविक था क्योंकि उस समय न तो उनका कोई इतिहास था और न उनके देश का)। दूसरी ओर नेपोलियन इतिहास को विवेक मानता था। यह दूसरी बात है कि उसके पास स्वयं इस विवेक का अभाव था और वह हीगेल के इन शब्दों की सच्चाई साबित कर गया कि इतिहास की एक मात्र सीख यही है कि हम इतिहास से कोई सीख नहीं लेते। फ्रांसीसी लेखक अनातोल फ्रांस ने इतिहास की एक दिलचस्प तस्वीर खींची है। उसके अनुसार इतिहास एक अत्यन्त प्रभावशाली महिला की तरह है जो स्वभाव से दम्भी, भुलक्कड़, अज्ञानी, पक्षपाती और झूठी है। साहित्यकार की अन्तद'ष्टि ने इस प्रकार इतिहास के उन दोषों की ओर इशारा किया है जिन्हें जनमानस प्रायः इतिहास में देखता है।

इतिहासकारों और विचारकों की बात लें तो फ्रेंच इतिहासकार मारू का मत है कि इतिहासकार मानव के अतीत का ज्ञान है। और स्पष्ट शब्दों में डब्ल्यू० एच० गालब्रेथ इतिहास को अतीत का वह अंश मानते हैं जिसे हम जान पाए हैं या जान पाते हैं।

समाज के संदर्भ में इतिहास की वही भूमिका है जो मनुष्य के सन्दर्भ में उसकी स्म ति की। इस तरह इतिहास समष्टि की अपने अतीत की स्म ति है पर जब कोई व्यक्ति इस स्म ति का वैज्ञानिक अध्ययन के सहारे संयोजन करता है, उसे लिपिबद्ध करता है या यूं कहें कि अतीत की पुर्नरचना करता है, तभी इतिहास का जन्म होता है। इतिहास की रचना एक व्यक्ति करता है जो किसी आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में रहता है। जीवन और परिवेश की उसकी अपनी समझदारी होती है, उसकी अपनी एक अस्मिता होती है। ये बातें उसके इतिहासलेखन पर निश्चित प्रभाव डालती हैं। इस प्रकार व्यक्ति और इतिहास के संबंध दोहरे हो जाते हैं। रेमो 'आरो' के शब्दों में आदमी एक ही साथ इतिहास का कर्त्ता और पात्र दोनों होता है। स्पष्ट शब्दों में, मानवकृतियों का जब एक मानव (इतिहासकार) विवेचन करता है तो उसका पूरी तरह वस्तुनिष्ठ हो पाना संभव नहीं क्योंकि वह जिन इतिहास स्त्रोतों को अपना आधार बनाता है उनका वह स्वयं प्रत्यक्ष साक्षी नहीं होता, न ही वह उन्हें किसी प्रयोगशाला में दुहरा सकता है। ऐसी स्थिति में वह अपने इतिहास-लेखन में पूरी तरह तटस्थ और पूर्वाग्रह-विहीन कैसे रह सकता है ? व्यक्तिगत और परिवेशगत दबावों के कारण उसके लेखन के आत्मपरक होने की संभावना बनी रहती है।

इतिहासलेखन एक दुष्कर कार्य है। इतिहासकार कितना ही बड़ा शोधकर्त्ता क्यों न हो उसे पूरे तथ्य और साक्ष्य नहीं मिल पाते। फिर जितनी भी मिलेंगें उनमें से उसे चुनाव करना पड़ता है। पूरी प्रक्रिया के दौरान अक्सर उसकी पूर्वनिश्चित धारणाएं काम करती रहती हैं और प्रायः इतिहासकार उनके प्रति सचेत तक नहीं होता। ऐसा भी होता है कि इतिहासकार अपने दम्भ का शिकार हो जाता है या फिर अपने कार्य की प्रतिष्ठा के लिए अपने इतिहास को सत्य का पर्याय कह बैठता है। इतिहासकार बरी ने कहा था कि शायद ही कोई ऐसा इतिहासकार हो जो न कहता हो कि उसका एकमात्र लक्ष्य अतीत का निष्पक्ष और सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करना है। ऐसा कहना और सोचना दुराग्रह है जो स्वयं इतिहासकार को ही नहीं, इतिहास की सीमाओं को भी नजरअंदाज करता है।

वास्तविकता यह है कि इतिहास का सत्य सीमित होता है और वह भी तभी विश्वसनीय होता है जबः

(1) प्रासंगिक तथ्यों के बारे में स्त्रोतों का यथासंभव शोध हो।

(2) इतिहासकार स्वयं अपने विचारों तथा पूर्वाग्रहों के प्रति सचेत हो।

(3) तथ्यों के विश्लेषण के लिए उसके पास कोई सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक उपकरण हो।

(4) तथ्यों के संकलन-विश्लेषण में वह जहां तक हो सके जागरूक तटस्थता का निर्वाह करें।

इतिहासलेखन की सीमाओं को समझने के लिए यह जरूरी होगा कि हम इतिहासदर्शन और अब तक इतिहासलेखन पर हुए चिंतन पर एक विहंगम द ष्टि डाल लें।

अति प्राचीन काल में भी, जब इतिहासलेखन शुरू भी नहीं हुआ था, मनुष्य मिथकों और गाथाओं के माध्यम से अपने अतीत की कथा-स्म ति को यथा संभव सुरक्षित रखता था। लेकिन उस समय यथार्थ और कल्पना इस तरह घुलमिल जाते थे कि एक-दूसरे को अलग कर पाना संभव नहीं था। यद्यपि **कलिंगवुड** का विचार है कि मध्यपूर्व की प्राचीन सभ्यताओं में एक प्रकार के धार्मिक इतिहास के बीज मिलते हैं वास्तव में इतिहास की शुरूआत हमें यूनान के **हेरोदोतस** (पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व) से मानना चाहिए। **हेरोदोतस** और **थूसीदीदस** (पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व) भी गाथाओं और मिथकों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सके थे पर उन्होंने अपने इतिहास में मनुष्य के कार्यों को देशकाल में स्थित करना शुरू किया और इतिहासलेखन का प्रारंभिक दौर शुरू हुआ।

हेरोदोतस ने मनुष्य के कार्यों को ब हत्तर परिप्रेक्ष्य में देखा। अपनी कुशाग्र जिज्ञासा और ईमानदार निर्णय के सहारे उसने इतिहास लिखा। लेकिन उसके पास कोई वैज्ञानिक शोधपद्धति नहीं थी। वह प्रायः अपनी सूचनाओं पर यथावत विश्वास कर लेता था। उसे उन लोगों की भाषाएं भी नहीं आती

थीं जिनके विषय में वह लिख रहा था और फिर उस काल की स्वाभाविक मासूमियत का वह भी शिकार था इसलिए कुछ लोग तो उसे इतिहासकास मानने पर भी एतराज करते हैं।

थूसीदीदस का लेखन ज्यादा व्यवस्थित और सूक्ष्म था। वह यथासंभव कल्पना के सहारे लिखने से बचता था। उसकी द ष्टि पैनी थी और वह तथ्यों की जांच करता था, पर वह अंतर्ग्रस्त होकर लिखता था कि ऐसे ही लोगों को इतिहास लिखना चाहिए जिनका घटनाओं से सीधा जुड़ाव रहा हो। इस तरह उसके लेखन की भी एक सीमा थी। खासतौर पर उसके अनुसार सुदूर अतीत का इतिहास लिखने की तो संभावना ही नहीं थी।

इन दोनों पहलकर्त्ताओं को पूर्णतया इतिहासकार न भी माना जाए तो इन्हें अपने युग का 'जीवनीकार' तो मान ही सकते हैं। वैसे उस युग में वस्तुगत इतिहास की अपेक्षा करना एक दुराग्रह ही होगा। आज भी जब इतिहास वैज्ञानिक विधि से लिखा जाने लगा है वह गाथाओं और किंवदंतियों से पूर्णतः मुक्त कहां हो पाया है ?

प्राचीन इतिहासकारों में इटली के **पोलीबियस** (दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व) ने इतिहास को सबसे सही परिप्रेक्ष्य में समझा। उसने कहा कि यदि इतिहास के कारणों की व्याख्या, विचार और मंतव्य जैसी चीजें निकाल दें तो तमाशा मात्र ही बचेगा जो मूल्यहीन होगा। उसने घटनाओं को उनके पहले और बाद के संदर्भों से जोड़ने पर जोर दिया। उसने इतिहास के तीन पहलू बताए, लिखित अभिलेख, टोगोग्राफी और राजनीतिक बातें। उसने इतिहासकार के दो काम बताए—सही तथ्य का पता लगाना और किसी नीति या व्यवस्था की सफलता-असफलता के कारण ढूंढना। ऐसा न होने पर इतिहास शिक्षाप्रद नहीं होगा। यह सब होते हुए भी वह राजनीति की प्रधानता से उबर नहीं सका और एक प्रकार के नैतिक पूर्वाग्रह का शिकार हो गया।

ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में जब यूनान का पतन हो रहा था, इतिहास की महत्ता समाप्त सी हो रही थी। ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में समाज को धर्म प्रधान बनाना शुरू कर दिया था और समय की धारा के अनुकूल ही **संत आगस्टाइन** ने इतिहास में ईश्वर को स्थापित कर दिया। एक नियतवादी समाज में मनुष्य के कार्यकलापों का क्या महत्व हो सकता है ? भिक्षुओं ने जिन्हें जीवन और समाज की सीमित जानकारी थी, इतिहास-लेखन को भी एक धार्मिक कार्य समझा। जाहिर है उनका इतिहास समाज के विकासक्रम पर रोशनी डालने की कौन कहे, व्यक्ति की सही पहचान कराने में भी असमर्थ था। यूरोप में शताब्दियों तक ऐसा ही इतिहास लिखा जाता रहा जो कैथोलिक चर्च की सत्ता की प्रतिष्ठा और स्थायित्व बनाए रखने में सहायक हो।

चौदहवीं शताब्दी यूरोप में नहीं, अफ्रीका में एक विलक्षण इतिहासकार पैदा हुआ—इब्न ख़ल्दून (1332 से 1406)। उसने केवल इतिहास नहीं लिखा, इतिहासलेखन की विधि और दर्शन पर भी विचार किया। उसने भौतिक परिवेश और सामाजिक संस्थाओं का महत्व समझा। उसने अपने अग्रेज अरब इतिहासकारों का अध्ययन किया, भ्रमण किया। इतिहास को साहित्य से अलग रखते हुए उसने साधारण के माध्यम से विशिष्ट की व्याख्या करने का तरीका अपनाया। अपनी विख्यात 'मुकद्दिमा' की प्रस्तावना में उसने लिखा कि वह इसलिए लिख रहा है ताकि पाठक जान सकें कि पहले क्या हुआ और बाद में क्या होगा? इस प्रकार वैज्ञानिक पद्धति इस्तेमाल करके इतिहासकार सिद्धान्तों, मतों और पूर्वग्रहों से बच सकता है। इस तरह वैज्ञानिक इतिहास की बात करने वाला **इब्न ख़ल्दून** पहला व्यक्ति था। यह दूसरी बात है कि वह स्वयं पूरी तरह वैसा इतिहास नहीं लिख सका। इब्न ख़ल्दून के मूल्यांकन का आधार वह न हो सका कि यह इतिहास का वह स्वरूप नहीं दे सका जिसकी वह बात करता था। उसे तो इस द ष्टि से देखना चाहिए कि अपनी आलोचनात्मक पद्धति और दार्शनिक झुकाव के कारण उसने इतिहास को वह गरिमा प्रदान, जो यूरोप में सदियों बाद जाकर ही किया जा सका।

यूरोप में पंद्रहवीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण शुरू हुआ तो जीवन द ष्टि ही बदलने लगी। चमत्कारों का प्रभाव कम होने लगा। बिना धर्म विरोधी बने लोग धर्म के प्रति तटस्थ होने लगे। इतिहास पर भी धर्म का प्रभाव दो तरह से कम होना शुरू हुआ। एक तो गैर भिक्षु लोग भी इतिहासलेखन की ओर आकर्षित हुए। दूसरे इतिहास का विषय अब 'सैक्यूलर' होने लगा।

इस समय के लेखकों में **मैकियावेली** (1469–1527) का नाम प्रमुख हैं। राजनीति की तरह इतिहास के विषय में भी उसके अपने द ढ़ विचार थे। उसने इतिहास को अपने विचारों के लिए उपकरण की तरह इस्तेमाल किया। **फ्रुएटर** का तो कहना है कि अपने विचारों की पुष्टि के लिए जब उसे तथ्य नहीं मिलते थे तो वह उन्हें गढ़ लेता था। ऐसे में इतिहास कितना निष्पक्ष होगा, वह सोचने की बात है पर यह तो निर्विवाद है कि उसने इतिहास को लौकिक आधार प्रदान किया।

प्रबोधकाल (एज आफ इन लाइटेनमेंट) में इतिहास का स्वरूप निश्चित दिशाओं में निर्धारित होने लगा। इतिहास का क्षेत्र राजनीति के पचड़ों को पार कर विस्त त होने लगा। समाज और सभ्यता इतिहास के विषय होने लगे। अंधविश्वासों का प्रभाव समाप्त होने लगा। विचारों को अधिक महत्व मिलने लगा। जिसके कारण बाद में बौद्धिक इतिहास की शुरूआत हो पाई। मानव-मात्र की समानता की बात की जाने लगी। उनकी विविधता का आधार **मोन्तेस्किड** (1689-1775) ने भूगोल की ओर **बोल्तेयर** (1694-1778) ने जलवायु, धर्म और संस्कारों को माना। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि इतिहास में प्रगति का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार स्वर्णकाल की खोज इतिहास में करने के बजाए उसकी कल्पना भविष्य में की जाने लगी। फ्रांस के विद्वान लेखकों **मोन्तेस्किड, वोल्तेयर** और **कोंदोर्से** (1743-1794) के प्रभाव में इतिहास तर्कसंगत होने लगा।

इस प्रकार इतिहास के परिप्रेक्ष्य का विस्तार हुआ। उसे सैद्धान्तिक आधार मिला। लेकिन ऐसा लगता था कि इस काल के लेखक इतिहास से पूछने के पहले ही जानते थे कि व्यक्ति कैसा है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक तथ्यों को वह सम्मान नहीं मिल पाया था जो उन्हें मिलना चाहिए था और वस्तुनिष्ठ इतिहास की खोज जारी रही।

अब हम पिछली तीन शताब्दियों में हुए इतिहास-चिंतन पर एक द ष्टि डालें तो हमें दो असन्तुष्ट धाराएं नजर आएंगीं। एक धारा इतिहास में कार्य-कारण-सम्बन्धों पर वैसे ही नियम लागू करना चाहती है जैसे कि प्राकृतिक विज्ञान में होते हैं ताकि सामान्यीकरण के आधार पर कुछ नियम बनाए जा सकें। इस प्रकार इतिहास को विज्ञान बनाए जाने की चेष्टा की जाती रही है। दूसरी ओर इतिहास की प्रासंगिकता पर बल दिया गया है और किसी भी सामान्यीकरण को नकारा जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रयत्न हुए हैं कि इतिहास में दोनों ही विचारों का समन्वय हो सकता है।

वैज्ञानिक इतिहास की तलाश

फ्रांसीसी विचारक देकार्तें (1596–1650) स्वयं कोई इतिहासकार नहीं था, फिर भी हमें बात उसी से शुरू करनी पड़ेगी। उसकी द ष्टि में हर वह चीज निकृष्ट थी जो तर्क की कसौटी पर न कसी जा सके। इसलिए वह कहता था कि सच्चा-से -सच्चा इतिहास भी रूमानियत से मुक्त नहीं हो सकता। उसने इतिहास को मानव विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्व देने से इनकार कर दिया। उसने जो तर्क-पद्धति प्रतिपादित की उसका उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में होने लगा और अठारहवीं शताब्दी आते-आते इतिहास के क्षेत्र में भी एक मोड़ आया।

ज्यादातर विद्वान **बोल्तेयर** द्वारा लिखित 'कूई चतुर्दश काकाल' का 'पहला आधुनिक इतिहास' मानते हैं। वोल्तेयर ने इतिहास सम्बन्धी अपने विचारों को दिदेरो की 'इन्साक्लोपीडिया' में लिखा था। उसका मत था कि जैसे और क्षेत्रों में नियम हैं वैसे ही वैज्ञानिक इतिहासलेखन के भी नियम हो सकते हैं। पर उसे कुछ और पादरियों से घ णा थी और वह इतिहास में 'हीरो' की महत्वूपर्ण भूमिका को

स्वीकार करता था। उसकी धारणा नैतिकवादी थी। निश्चित था कि वह इतिहासलेखन में तटस्थ नहीं रह सकता था।

बाद में **कोन्दोर्से** और उसके प्रभाव में **सैंसीमों** (1760–1825) ने इतिहास से वे आंकड़े प्राप्त करने चाहे जिनके आधार पर भविष्य का निर्धारण हो सके। इसी क्रम में **मोगुस्तकोंत** ने समाज के नियम ढूंढने चाहे जिनके सहारे सारी इतिहासधारा को पहले से ही जाना जा सके। वह एक प्रकार की 'सामाजिक भौतिकी' की प्रतिष्ठापना करना चाहता था।

इन बातों का यूरोप भर में काफी प्रभाव पड़ा। **तैन** (1828–1893) ने तो यहां तक कहा कि जन्तु विज्ञान की तरह इतिहास को भी एक तरह की 'अनाटोमी' मिल गई है यानि इतिहास वैज्ञानिक हो गया है। कुल मिलाकर इस धारा में दो बातों पर जोर दिया—वैज्ञानिक शोध और सामान्यीकरण के माध्यम से नियमों का आविष्कार। इनमें से पहले लक्ष्य ने इतिहास का बहुत भला किया पर नियम नहीं बनाए जा सके और इतिहास उतना अनुभवजन्य नहीं हो सका जितना होने पर उसे वैज्ञानिकता मिल पाती जो उसे **तैन औगुस्तकोंत** देना चाहते थे।

जर्मनी में इस प्रव त्ति को **नीबर** (1776–1831) नामक अद्‌भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति में अभिव्यक्ति मिली। बर्लिन विश्वविद्यालय में उसने अपने व्याख्यानों और रचनाओं के माध्यम से इतिहास को एक विश्लेषण भाषाशास्त्री की द ष्टि से देखा। उसकी पुस्तक 'रोम का इतिहास' ने इतिहास-लेखन का एक नया आयाम प्रस्तुत किया। लेकिन उसकी एक बहुत बड़ी कमजोरी थी। उसका ख्याल था कि जिसने घटनाओं को पास से देखा है, संप क्त होकर उनके साथ रोया या हंसा है वही अच्छा इतिहास लिख सकता है। राजनेता उसके विचार से अच्छे इतिहासकार हो सकते थे। इस प्रकार डूबकर लिखने की प्रव त्ति इतिहास को किस कदर रंग सकती है इसे वह नजरअंदाज करता था (यहा चर्चिल के उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाती है। यह सर्वज्ञात है कि सारी जीवन्तता और ढेर सारे तथ्यों के बावजूद चर्चिल द्वारा लिखित इतिहास एकांगी है और विश्वयुद्ध में मित्र

जा सकता है। उसने शायद यह नहीं सोचा कि इतिहासलेखन में स्वतः प्रश्रय पाने वाले पूर्वाग्रह के कारण इतिहास विज्ञान नहीं हो सकेगा। यह पूर्वाग्रह तभी पलने लगता है जब राजनैतिक स्वतंत्रता जैसे अस्पष्ट लक्ष्य; और वह भी बिना यह निर्धारित किए कि किसकी स्वतंत्रता को लक्ष्य बनाया गया है, को सामने रखकर इतिहास लिखा जाता है।

इतिहास में प्रासंगिकता

यहीं पर हमें उस चिंतनधारा पर भी विचार कर लेना चाहिए जो इतिहास में एक निश्चित धारा प्रवाहित देखती है जिसके अनुसार इतिहास फार्मूलों पर आधारित है। **हीगेल** (1770–1831) के अनुसार इतिहास का विकास उतना ही तर्कसंगत है जितना कि शतरंज का खेल। यह जरूर था कि उसने ईश्वर को शतरंज के खिलाड़ी और महान पुरुषों को वजीर तथा दूसरों को अन्य मोहरों के रूप में देखा।

स्पेंगलर (1880–1936) ने एक तटस्थ दार्शनिक भाव से अपना निराशावादी द ष्टिकोण 'डिवलाइन आफ द बेस्ट' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया और पतन के कारण ढूंढते हुए पश्चिमी सभ्यता के पतन को अवश्यंभावी बताया। बाद में **ट्वाइनवी** ने उसी कार्य को उद्‌भट विद्वत्ता और अपेक्षतया अधिक आशावादी द ष्टिकोण अपनाकर बहुत व हद स्तर पर किया। उसकी पुस्तक 'स्टडी आफ हिस्ट्री' इस क्षेत्र में लिखी गई अब तक की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक थी। इसमें उसने कुछ मौलिक प्रश्न उठाए : मानव जीवन के कौन से क्षेत्र निश्चित नियमों पर आधारित हैं और किन पर मनुष्य का अपना नियंत्रण है ? क्या दूसरे क्षेत्र का विस्तार हो सकता है ? यदि हां, तो कितना ? इस संदर्भ में उसने पर्याप्त आंकड़ों का अभाव महसूस किया, फिर भी उसने इतिहास में नियमों की बात पर जोर दिया।

हीगेल, स्पेंगलर और ट्वाइनबी ने जो किया उसे **इसाइया बर्लिन** हिस्टोरियोज़ोफी की संज्ञा देते हुए कहता है कि इन्होंने जो भी किया वह इतिहास में 'विशेष' के महत्व को नकार देता है। इन्हें 'स्पेकुलेटिव पाज़िटिबिस्ट' की संज्ञा देकर **जे०एच० रैण्डल** व्यंग्य करता है कि इन्होंने इतिहास में पैटर्न ढूंढना चाहा और सोचा कि वे वैज्ञानिक पद्धति अपना रहे हैं। जबकि उनका कार्य आस्था से प्रेरित था न कि विज्ञान से।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उन्होंने इतिहासदर्शन के क्षेत्र में चाहे जितनी हलचल मचाई हो, इतिहासलेखन को बहुत है।

वैज्ञानिक ढंग से इतिहास के सम्बन्ध में विचार करने के बाद हमें उस दूसरे पक्ष पर ध्यान देना चाहिए जो इतिहास की वैज्ञानिकता से अधिक उसकी प्रासंगिता की बात करता है। जो अतीत को वर्तमान के संदर्भ में ही देखना चाहता है, जो तथ्यों को आधार मानता है पर इतिहासकार के व्यक्तित्व को भी उतना ही अधिक महत्व देता है। इस दिशा का हमें प्रारंभ **वीचो** से मानना चाहिए। इटली के इस विचारक ने 'न्यू साइंस' की बात करते हुए कहा था कि मनुष्य इतिहास केवल इसलिए जान सकता है क्योंकि वही उसका कर्त्ता है। उसकी बातें बहुत जटिल थीं पर बाद में जर्मनी में **हर्डर** ने उन्हें अपने ढंग से प्रस्तुत किया। विज्ञान की बात वह भी करता था पर उसने राष्ट्रों और प्रजनन के सिद्धान्तों का महत्व बताया और इतिहास में मानव स्वभाव के कुछ सामान्य रूपों की अभिव्यक्ति और शिक्षाएं देखने से इन्कार कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में रान्के और उसके शिष्यों का इतना प्रभाव था कि सारे पश्चिमी जगत के विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक इतिहास की बातें होती रहीं पर लोकप्रिय हुई इंग्लैंड में **कार्लाइल**, जर्मनी में **ट्राइट्श्के**, फ्रासं में **मिशले** और अमेरिका में **बैंक्राफ्ट** की पुस्तकें जो अत्यन्त पक्षपातपूर्ण ढंग से लिखी गई थीं। उन्हें विद्वान इतिहासकार नीची नजर से देखते थे, पर जब **सीले** जैसे जिम्मेदार इतिहासकार ने भी **मैकाले** और **कार्लाइल** को लुच्चा कह दिया तो **जी० एम० ट्रेवेल्यान** ने इन विज्ञान के पुजारियों को जवाब देने का इरादा किया।

जी० एम० ट्रेवेल्यान (जन्म 1876) ने बरी के तर्कों के जवाब में अपना प्रसिद्ध लेख लिखा— क्लिओ-ए-म्यूज इतिहास को साहित्य से जोड़ते हुए उन दिनों की याद की जब कार्लाइल और मैकाले की पुस्तकें पाठकों को आह्लादित करती थीं। उसने प्रश्न किया कि इतिहास तथ्यों का ढेर मात्र है या भावनात्मक और बौद्धिक मूल्यों के संदर्भ में तथ्यों की व्याख्या है ? उसने साफ-साफ कहा कि इतिहास कभी विज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि जैसे प्याज अपने छिलके से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाएं अपनी परिस्थितियों से अलग नहीं की जा सकती। और इसलिए इतिहास में न कोई सामान्यीकरण संभव है, न कोई कानून। इतिहास जब तक एक नई मानसिकता न पैदा कर सके तब तक उसका कोई मूल्य नहीं होता, इसलिए इतिहास का महत्व उसकी शैक्षिक महत्ता में है। उसके अनुसार इतिहासकार को तथ्य संग्रह करते समय वैज्ञानिक, उसका वर्गीकरण करते समय वैचारिक और प्रस्तुत करते समय साहित्यिक द ष्टिकोण अपनाना चाहिए।

अमेरिका के विश्वविद्यालयों मे रान्के के शिष्यों को बोलबाला था पर **राबिंसन** और **बीयर्ड** (जन्म 1874) ने 'द डेवलपमेंट आफ माडर्न योरप' में लिखा कि इतिहासलेखन की सबसे बड़ी सीमा रही है अतीत को वर्तमान से अलग करके देखना। उन्होंने इतिहास की प्रासंगिकता पर जोर दिया। **राबिन्सन 'द न्यू हिस्ट्री'** में इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अब तक वर्तमान अतीत का शिकार होता रहा है, अब समय आ गया है कि इसे उलटकर अतीत का वर्तमान के लिए उपयोग हो।

बीयर्ड ने इस बात को 'अमेरिकन हिस्टारिकल एसोसिएशन' के सामने और स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया। उसका भाषण, जिसे एक व्यंग्यात्मक नाम : 'द नोबल ड्रीम' दिया गया, वैज्ञानिक इतिहास की बात

करने वालों पर करारी चोट थी। उसके अनुसार, सत्य तक पहुंचने के लिए विज्ञान एकमात्र साधन नहीं है। उसने कहा कि वस्तुगत इतिहास के पक्षपातियों के तर्क हैं :

(1) इतिहास का अपना अलग अस्तित्व है—इतिहासकार की बुद्धि के बाहर, इसलिए वह ग्राह्य है—उसका वर्णन किया जा सकता है।

(2) इतिहासकार के लिए इतिहास के स्वरूप को पकड़ पाना संभव नहीं है, इसलिए वह बिना किसी पूर्वाग्रह के उसे अपने लेखन में परिलक्षित कर सकता है।

(3) किसी भी लोकोत्तर तत्व जैसे ईश्वर या आत्मा के प्रभाव से बचा जा सकता है यदि विवेक से काम लिया जाए।

बीयर्ड ने जोर देकर कहा कि इन तर्कों की कसौटी पर रान्के भी खरा नहीं उतरता। उसने ब्यौरेवार तर्क इस तरह उपस्थित किए :

(1) इतिहासकार रसायनशास्त्री की तरह अपने तथ्यों को अपने सामने नहीं देख सकता। उसके तथ्य दस्तावेजों में होते हैं जो कितने भी पूर्ण हों, सभी घटनाओं और सभी व्यक्तियों के पूर्ण दस्तावेज नहीं हो सकते।

(2) इन सीमित दस्तावेजों में से कुछ ही तथ्य इतिहासकार चुनता है।

(3) ऐसी स्थिति में जिस इतिहास की रचना होती है, उसका स्वरूप पूर्वाग्रहपूर्ण न हो, यह कैसे हो सकता है ? कोई न कोई नैतिक या सौन्दर्यपरक विचार तथ्यों को अपने रंग में रंगेगा ही। किसी न किसी तरह की ट्रांसडेंस (लोकोत्तरता) तो रहेगी ही, ईश्वर की न सही, वह तर्क, पदार्थ या प्रकृति सम्बन्धी होगी।

(4) इतिहासकार कितना भी नियंत्रण और त्याग का परिचय दे, वह अतीत को यथावत् चित्रित नहीं कर सकता।

(5) इस प्रकार इतिहासकार इतिहास की वस्तुगत सच्चाई तक पहुंचने का लक्ष्य भले ही बना ले, वहां तक पहुंच नहीं सकता।

इतिहास की प्रासंगिकता के पक्षधर लोगों की सीमा **क्रोंचे** की उस उक्ति में मिलती है जहां वह साफ-साफ कहता है कि पूरा इतिहास सांप्रतिक इतिहास है इनके तर्कों में जो तीव्रता है वह इसलिए कि विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के कारण वैज्ञानिकता की एक हवा चल गई थी जिसके कारण ज्ञान के हर क्षेत्र में प्रयास होने लगे थे कि उसे विज्ञान का स्वरूप दे दिया जाए, पर हर विद्या की अपनी एक सीमा होती है। इस प्रयास में जब उस सीमा का अतिक्रमण होने लगा तो प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इस प्रतिक्रिया का यह परिणाम निकला कि वर्तमान का महत्व बताते हुए इतिहास को प्रासंगिक बनाने के प्रयत्न में, इतिहास के तथ्यों का जो अपना महत्व होता है, उसकी जो अपनी अस्मिता होती है, उसे भंग किया जाने लगा।

फासिस्ट राज्यतंत्रों ने इतिहास को राजनैतिक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और इतिहासकार को 'इतिहास के मोर्चे का सिपाही' घोषित कर दिया गया। रान्के की कर्मभूमि जर्मनी में हिटलर के जमाने में वस्तुगत इतिहास की परंपरा के मुख्यपात्र **'हिस्टोरिश साइट्श्रिफ्ट का स्वरूप** ही बदल दिया गया और नात्सीवाद के प्रभाव में वाल्टर फ्रान्क ने इतिहासकारों का आह्वान किया कि वे देश के अधिकारियों की तरह कार्य करें। **माइनेके** जैसे विद्वान इतिहासकार को 'हिस्टोरिश साइट्श्रिफ्ट' के संपादक पद से हटा दिया गया और उनकी जगह एक नात्सी प्रचारक **फान म्यूलर** को संपादक बनाया गया। म्यूलर ने अपने पहले ही संपादकीय में लिखा कि इतिहास का निकटतम सम्बन्ध कविता से है और इतिहास की वर्तमान की सेवा करनी चाहिए। इसका अर्थ स्पष्ट था कि इतिहासकार हिटलर के नात्सीवाद को इतिहास के माध्यम से स्वीकार्य और शक्तिशाली बनाए।

वर्तमान के हाथों पूरी तरह बिका इतिहास इस प्रकार न केवल घोर पक्षपात का शिकार हो जाता है, बल्कि विनाश की प ष्ठभूमिक तैयार करने में भी मदद करता है।

भौतिकवादी इतिहास

इन सबसे अलग इतिहास की एक विशिष्ट व्याख्या **कार्ल मार्क्स** ने प्रस्तुत की है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर, जिसने अतीत को समझने का वैज्ञानिक उपकरण प्रस्तुत किया है, शुरू से ही प्रहार किया जाता रहा है। फ्रांसीसी इतिहासकार मारू ने व्यंग्य किया है कि यह पद्धति इतिहास और इतिहास-दर्शन को दो भागों में बांट कर इतिहास को मात्र दर्शन की पुष्टि के लिए इस्तेमाल करती है। **रेनियर** ने आरोप लगाया है कि मार्क्सवादी इतिहास की स्वतंत्र अस्मिता को समाप्त कर देते हैं और उसे समाजशास्त्र का अंग बना देते हैं।

ऐसी आलोचनाओं के बावजूद यह निर्विवाद है कि इतिहास के अध्ययन-लेखन का मार्क्सवादी तरीका वैज्ञानिक है।

हमारा सरोकार आज से (वर्तमान से) अपरिहार्य रूप से है क्योंकि हम 'आज' और 'अभी' में ही जीते होते हैं। हमारा सरोकार आने वाले कल से भी होगा ही क्योंकि उससे सीधा साक्षात्कार होगा। पर बीते कल में हमारी क्यों रुचि हों ? जिसे कोई और काम न हो वह गड़े मुर्दे उखाड़े, जिसे आज अच्छा न लगे वह कल की शरण में जाए—यह सहज मानसिकता हो सकती है। फिर इतिहास क्यों ?

साहित्य और कुछ नहीं करता तो मनोरंजन ही करता है। विज्ञान नौकरी दिलवाता है। अर्थशास्त्र से घर का बजट और समाजशास्त्र से घर का स्वरूप और समाज से रिश्ता पता चल जाता हो शायद। यानी ज्ञान-विज्ञान, साहित्य का सम्बन्ध उससे है जिसका अस्तित्व है। इतिहास का सम्बन्ध उससे है जो 'था'। हम तो 'हैं' फिर 'था' का क्या करें ?

जिस चीज की कोई तात्कालिक और प्रत्यक्ष उपयोगिता न हो उसका होना न होना बराबर है। यानी कुल सवाल उपयोगिता का है।

इसके पहले कि हम इतिहास को वैचारिक-दार्शनिक द ष्टि से उपयोगी सिद्ध करें आइए, हम अत्यन्त व्यावहारिक द ष्टि से देखें कि इतिहास की उपयोगिता क्या है ? सबसे पहले जो बात ध्यान में आती है वह यह कि फार्मों वाले देश में कोई भी फार्म लें उसमें प्रार्थी के नाम के बाद के दो-तीन कालम महत्वूपर्ण होते हैं, बाप का नाम, जन्मतिथि, पता आदि। हमें तो महज प्रार्थी से मतलब है। तो फिर अन्य विवरणों की क्या आवश्यकता ? पर हम जानते हैं कि बिना बाप के पहचान ही पूरी नहीं होगी। हमारी पूरी पहचान के लिए हमारी जन्मतिथि और पता भी जरूरी है यानी हमें काल (तिथि) और देश (पता) में स्थापित करके और हमें अपने अतीत यानी बाप से जोड़ा जाता है ताकि शिनाख्त हो सके। उपर्युक्त तीन बातों से जुड़े बगैर मेरा परिचय और मेरा अस्तित्व पहचान नहीं बना सकता, यानी वर्तमान बिना अतीत से जुड़े अनाम, अस्वीकृत, अज्ञात और अज्ञेय बना रहेगा।

पालवाइस के अनुसार अपने को अतीत से जोड़ने में आनंदानुभूति होती है। मनुष्य अपने स्त्रोत की चेतना से अपने को आश्वस्त कर लेता है कि वह अकेला, निर्लम्ब नहीं हैं। मानव स्वभाव है कि वह किसी चीज को किसी परिप्रेक्ष्य में रखकर ही पहचान सकता है उसे पूरी तरह समझ सकता है। अब तो सापेक्षता विज्ञान की भी स्वीकृत धारणा है। कोई चीज किसी सन्दर्भ में ही मोटी, पतली, लम्बी, छोटी, अच्छी या बुरी होती है। किसी व्यक्ति की किसी ओर से तुलना कर उसकी अच्छाई को रेखांकत और बोधगम्य बनाते हैं।

किसी समाज विशेष को कैसे जानें पहचानें ? एक तरीका होता है उसे अन्य समाजों के मुकाबले देखने का जैसे आज के भारत को आज के पाकिस्तान, चीन या अमेरिका के सन्दर्भ में देखने का या

फिर आज के भारत को कल यानी प्रारम्भिक काल, मध्यकाल या औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य में देखने का। फिर आज के भारत को पश्चिमी समाज के बगल में खड़ा करके देखने की अपेक्षा आज की बीते कल से जोड़कर देखने में अधिक सही पहचान बनती है। इससे विकास धारा का, इतिहास की दिशा का पता चलता है। इसलिए वर्तमान का इतिहास से ही परिप्रेक्ष्य मिलता है।

अतीत के प्रति मनुष्य का नैसर्गिक लगाव होता है। इतिहास इस लगाव की पहचान स्पष्ट कर सकता है—मां से सहज ढंग से प्यार करना एक बात है और ममत्व को समझना, उसका मूल्यांकन करना, दूसरी बात वैसे ही अतीत से लगाव सबमें होता है—महज, नैसर्गिक, लेकिन इतिहास उस लगाव को इतिहास बोध में बदल सकता है। यानी उस लगाव को प्रासंगिक और उपयोगी बना सकता है।

इतिहास से सबक लेने की बात सबसे व्यावहारिक मानी जाती रही है। जैसे कोई आग से जला और यह समझदारी सबकी विरासत बन गई कि आग से आदमी जल सकता है। मुहम्मद तुगलक ने राजधानी बदली और तमाम मुसीबतें खड़ी हो गईं। इसलिए ऐतिहासिक मुहावरा बना 'दिल्ली से दौलताबाद' और इसे यानी राजधानी परिवर्तन, यानी स्थान परिवर्तन को गलत मान लिया गया। इस सबक वाली बात में मुख्य खतरा यह है कि 'इतिहास की पुनराव त्ति होती हैं,' जैसी अवधारणा पनपती है, जो गलत है। जैसे राजधानी बदलने में कठिनाई हो पर ऐसा करना हमेशा गलत नहीं हैं। कभी-कभी वह जरूरी भी होता है, सफल भी होता है। कलकत्ते से दिल्ली, इलाहाबाद से लखनऊ, बर्लिन से बान सफल राजधानी परिवर्तन रहे हैं। यह सबक वाली बात सीधे जुड़ती है इस मुहावरे से 'दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है।' यह अनुभवों के सार-संकल्प से लाभ उठाने का पुराना व्यवहारवादी तरीका है। कल्हण ने इन्हीं अर्थों में इतिहास को उपयोगी माना था। इसी अर्थ में इतिहास प्रेरणास्त्रोत बनता है—अतीत नायकों के चरित्र और उपलब्धियों के माध्यम से आज को प्रेरणा देता है। यहाँ भी खतरा यही होता है कि अगर इतिहास की पुनराव त्ति वाली बात दिमाग में रही तो एक देशकाल में सफल नीति या व्यक्ति को अनुकरणीय मान लिया जा सकता है जो घातक होगा। जैसे अकबर की धार्मिक नीति को सफल मानकर आज उसे लागू करने वाले मुंह के बल गिरते हैं। क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलनों के दौरान कांग्रेस की धार्मिक नीति या मौजूदा सरकार की धर्मनिरपेक्षता अकबर की धार्मिक नीति की ही तरह है। उसी की तरह धर्मनिरपेक्षता का मतलब है 'सर्व धर्म समन्वय' लेकिन सब कुछ करते हुए भी अकबर मुसलमान था और माना गया। उसी तरह कांग्रेस, गांधी, नेहरू के बावजूद एक हिंदू-प्रधान संस्था रही और आज की धर्मनिरपेक्षता भी हिंदूप्रधान है। और यह गलत है।

इस प्रकार एक ओर इतिहास से सबक लेने की बात सच है तो दूसरी ओर गलत सबक लेने की बात भी सच है और सबसे ज्यादा तो सच यह है कि हीगेल के अनुसार, 'इतिहास की सबसे बड़ी सीख यही है कि इतिहास से कोई सीख नहीं लेता।'

अब आइए इतिहास की उपयोगिता को और गंभीरता से परखें। हम जानते हैं कि कारण-कार्य सम्बन्धों की तलाश में प्रकृति से आंकड़े जुटा कर प्राकृतिक परिघटनाओं (फेनामेनन) को प्रयोगशाला में दुहरा कर इतने तथ्य जुटाए गए कि उसके आधार पर सामान्यीकरण किया जा सके और प्रकृति को मानवशक्ति द्वारा नियंत्रित और निर्देशित किया जा सके—भविष्य के बारे में बताया जा सके। प्राकृतिक विज्ञान में ऐसा संभव हुआ और मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ा। जहां कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित न हो सकें, उसे अविश्वसनीय माना गया। इसीलिए **देकार्त** ने इतिहास को अविश्वसनीय कहा था।

फिर शुरू हुई सामाजिक विकास के नियमों की तलाश। ऐसे विचारक हुए जो समाज को समझने के नियमों और उसक परिवर्तन को नियमबद्ध करने, नियंत्रित और निर्देशित करने की कोशिश करते रहे। ज्ञान के जिन क्षेत्रों में ऐसा नहीं हो सकता था उन्हें नकारा जाने लगा। **ओगुस्त कोंत** ने

सामाजिक भौतिकी की तलाश कर लेने का दावा किया और समाजशास्त्र का जनक कहलाने लगा पर वास्तव में सामाजिक विकास के वस्तुगत नियम ढूंढने का काम **मार्क्स** ने किया।

मार्क्स प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक पहुंचा और उसे इतिहास पर लागू कर ऐतिहासिक भौतिकवाद तक। उसने इतिहास के तथ्यों के विश्लेषण से ही जाना कि इतिहास कैसे गतिमान हो रहा है—मानव समाज कैसे आदिम स्थिति से पूंजीवादी व्यवस्था तक पहुंचा है। उसी विश्लेषण से उसने सामाजिक परिवर्तन के नियम का आधार उत्पादन साधनों और उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन को सिद्ध किया ओर वर्गसंघर्ष को निर्णायक अनिवार्य माध्यम बताया। उसने भविष्यवाणी की कि जैसे सामंतवाद को पराजित कर पूंजीवाद विकसित हुआ है वैसे ही पूंजीवाद को ध्वंस कर सर्वहारा अपना राज्य कायम करेगा। 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद मार्क्स द्वारा निरूपित नियम इतिहास में कई बार सिद्ध हो चुके हैं। इसलिए इतिहास ही वह प्रयोगशाला है। जिसमें मानव कृतियों का लेखा-जोखा सुरक्षित है और उसी आधार पर सामाजिक परिवर्तन के वस्तुगत नियम समझे जा सकते हैं—उसी के आधार पर अतीत को समझा, वर्तमान को पहचाना और भविष्य को संवारा जा सकता है।

इसके अलावा इतिहास संकीर्णता का शत्रु है। इतिहास का 'सही' अध्ययन करके ही देशकाल की विशिष्टता तो रेखांकित होती है पर मानव समाज की एकता उससे भी अधिक उजागर होती है। जैसे इतिहास यह बताएगा कि भारत में असम, पंजाब या तमिलनाडु की अपनी विशिष्टता है पर वह सब भारतीयता के दायरे में है। वैज्ञानिक युग के प्रारंभ यानी 15 वीं शताब्दी के बाद विश्व समाज की एकता उजागर होती चली गई है। हर समाज और वर्ग अपने जैसों से एकाकार महसूस कर एकजुटता प्रदर्शित करता रहा है।

जहां एक तरफ यह एकता स्पष्ट हुई है वहीं पर यह भी कि एकता विविधता और विशिष्टता की विरोधी नहीं है। दोनों में द्वन्द्वात्मक सह अस्तित्व संभव ही नहीं, अनिवार्य है। एक की कीमत पर दूसरे को स्थगित नहीं किया जा सकता।

इतिहास मनुष्य की प्रगति यात्रा के शानदार महाकाव्य जैसा है। धर्मग्रन्थों में स्वर्णकाल के अतीत में और कयामत के दिन के भविष्य में होने पर जोर दिया गया है। उनके अनुसार समाज पतनोन्मुख है और पाप का घड़ा भर रहा है। एक दिन फूटेगा और प्रलय होगी। परिवर्तन तभी संभव है। ऐसी धारणा से मनुष्य निराश और आतंकित होता है। इसके विपरीत इतिहास यह बताता है कि मनुष्य अमीबा से आदमी बनने तक की यात्रा पूरी कर आदमी से इन्सान और इन्सान से बेहतर इन्सान बनने के संघर्ष में रत है। आदिम जंगली अवस्था की प्रकृति की गुलामी तोड़कर मनुष्य आजाद हुआ। उसने अपने उपकरण बनाए। बुद्धि का विकास किया और प्रकृति से संघर्ष कर उस पर नियंत्रण करने लगा। दिन-ब-दिन सभ्यता और संस्कृति का विकास होने लगा। इस दौरान इसने स्वयं तरह-तरह के बंधन पैदा किए—वर्गों, वर्णों, गुटों में बंटा। आपस में लड़ता रहा, संहार करता रहा फिर भी—इस सबके बावजूद, वह धरती के अलावा आकाश-पाताल भी भेदने लगा, ग्रह-नक्षत्रों पर 'इरादों की कमी' डालने लगा। अपने बंधन तोड़ने लगा, बेहतर इंसान बनने की लड़ाई में लगा रहा। यानी इतिहास इन्सान की लगातार बढ़ती जा रही जीतों का साक्षी है, उसके उज्जवल भविष्य का उद्घोष कर रहा है।

इतिहास नियतिवाद पर भयानक प्रहार करता है। इतिहास से ही हमें पता लगता है कि इन्सान की जीत हाथ पर हाथ धरने से नहीं, महापुरुषों के इंतजार से नहीं, स्वयं समवेत रूप से महाबली बनने से संभव हुई है। इतिहास व्यक्तियों के प्रयासों और उपलब्धियों को बताता ही है, वह समाज के समवेत प्रयास को रेखांकित करता है—सिकन्दर हो या नेपोलियन इतिहास उनकी जीत के पीछे उनके समाजों की शक्ति को उजागर करता है इसलिए इतिहास मनुष्य के भविष्य में ही नहीं उसकी शक्ति में भी विश्वास पैदा करता है।

इतिहास अगर मनुष्य की कृतियों का लेखा-जोखा है तो निश्चित ही मनुष्य की समग्रता में जानने का और कोई उपाय ही नहीं है। जिस समाज में हम रहते हैं, उसके वर्तमान स्वरूप को उसमें रहते हुए हम समग्रता से ग्रहण ही नहीं कर सकते, देख-समझ ही नहीं सकते। उसमें दूरी लेने का एक तरीका है कि हम वर्तमान से अतीत तक को लें। यद्यपि संयुक्तता की संभावना तभी भी रहती है क्योंकि इतिहास के क्षेत्र में मनुष्य लेखक ही होता है और अपने लेखन का विषय भी, दोनों एकसाथ। पर अतीत को देखने में जो परिप्रेक्ष्य मिलता है वह कमोवेश समग्र प्रभाव छोड़ सकता है। इसलिए साहित्य, अर्थशास्त्र या राजनीति शास्त्र मनुष्य के अंतरंग, निर्णायक या जरूरी पक्षों का अध्ययन कर सकते हैं पर मानव कृतियों का कुल योग इतिहास का ही विषय है।

जीव जगत का कोई अन्य प्राणी अपने अतीत को उपयोगी बनाने को कौन कहे, उसके प्रति सचेत भी नहीं होता, किन्हीं-किन्हीं में सहजानुभूति के स्तर पर कोई लगाव हो या चेतन हो भी तो कम-से-कम उसका अर्थ समझने की क्षमता नहीं होती। मानव समाज के विकास क्रम में अतीत वर्तमान के लिए प्रासंगिक और अनिवार्य होता गया है। विकसित मानव ही अतीत का विश्लेषण और संकलन कर सकता है और उसे कालधारा में प्रवाहमान कर सकता है। इसलिए इतिहास मनुष्य के विकास के उद्घाटक ही नहीं प्रमाण भी है।

अध्याय - 2

इतिहास के स्त्रोतों की खोज तथा उनका मूल्यांकन (Search of Source Material and Evaluation of Sources)

इतिहास के लेखन में तथ्य, सबूत के महत्व को इतिहासकारों ने काफी हद तक समझने की कोशिश की है। **रान्के** ने जब उन्नीसवीं सदी में यह घोषणा की कि इतिहासकार का मुख्य काम "यह दिखाना है कि यह वास्तव में कैसा था ?" तब वह अतीत को समझने में तथ्य तथा सबूतों की तरफ ही संकेत कर रहे थे। प्रत्यक्षवादी (Positivist) दर्शन से प्रभावित इतिहासकार, जो इतिहास को बाकी वैज्ञानिक विषयों की भाँति ही स्थापित करना चाहते थे, उन्होंने भी तथ्यों की भूमिका पर बहुत अधिक बल दिया। इंग्लैण्ड में इस रूझान को इतिहास-लेखन में अनुभववादी (empiricist) विचारकों-लॉक से लेकर बर्टरांड रसेल तक, ने लाने में काफी मदद की। प्रत्यक्षवादी दर्शन में, कर्त्ता तथा वस्तु में विभेद किया जाता है, इसलिये तथ्य तथा संवेदनाओं की अनुभूतियों को पर्यवेक्षक से स्वतंत्र तथा उसकी चेतना के बाहर की चीज समझा गया। इतिहास अतीत बीते हुये समय और समाज की कहानी है। हम उसे पूरी तरह पुर्नजीवित नहीं कर सकते। पहले हम इतिहास के महत्व की बात कर चुके हैं। इतिहासकार या इतिहास का सर्जन करने वाला व्यक्ति केवल बीते हुए समय तथा समाज की एक तस्वीर, एक झलक ही शब्दों के माध्यम से बनाने की कोशिश करता है। लेकिन इस तस्वीर को बनाने मे बहुत से ज्ञात तथ्यों तथा बहुत से पहले अज्ञात और अपनी खोज से खोजे गये नये तथ्यों का सहारा उसे लेना पड़ता है। आजकल इस बात को लेकर काफी वाद-विवाद चल रहा है कि क्या इतिहासकार और साहित्यकार द्वारा गढ़ी कई कहानियों में, रचनाओं में और कृतियों में या दूसरे शब्दों में, इतिहास और उपन्यास या कहानी-कविता आदि में कोई फर्क है या नहीं। कुछ लोग, उत्तर-आधुनिकता (Post-modernity), के नाम पर यह कहने लगे है कि इतिहास-लेखन और साहित्य-सर्जन में कोई मौलिक भेद नहीं हैं। जिस प्रकार उपन्यासकार या नाटककार अपने पात्र, घटना-क्रम तथा कहानी को प्रस्तुत करने के रोमांचक, दुखांतः या अन्य प्रकार के तरीके इस्तेमाल करता है उसी तरह इतिहासकार भी यही सब करता है। हेड़न वाईट ने अपनी कई कृतियों में यही विचार दिया है। इनमें महत्त्वपूर्ण कृतियाँ है :

(1) **Metahistory :** *The Historical Imagination in Nineteenth Century Europe (1973)*

(2) **The Content of the Form :** *Narrative Discourse and Historical Representation (1987)* और

(3) **Figural Realism :** *Studies in the Mimesis Effect (1998)* ।

इसके विपरीत आधुनिकतावाद और उसके परिणाम के रूप में उभरी प्रबोधन काल की विचारधारायें—तर्कवाद, मानवतावाद या बाद में प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद आदि यह मानते आये थे

कि मानव सबूतों के पर्यवेक्षण तथा अवलोकन से, तथ्यों की जानकारी से, अपने इर्द-गिर्द की दुनिया को अनुभव करके अर्थ निकाल सकता है, कुछ निष्कर्षों पर पहुंच सकता है या इसी प्रकार अतीत की वास्तविकता को जानकर, दूर खड़े होकर निष्पक्ष तरीके से उसका वर्णन अपने शब्दों के द्वारा करने की कोशिश कर सकता है।

इतिहासकार का पक्ष यह है कि वह केवल कोरी कल्पना के आधार पर अतीत की कहानी का सर्जन नहीं करता। इतिहास या अतीत अपने निशान, पद-चिन्ह अलग-अलग रुपों में पीछे छोड़ देता है। इन्हीं निशानों या स्त्रोतों के आधार पर इतिहासकार अतीत के समाज का, उसकी संस्थाओं, संस्कृति तथा लोगों के रहन-सहन के तरीके से लेकर जीवन-मूल्यों तक का तथा समय-समय पर इनमें होने वाले परिवर्तनों का वर्णन करता है। इसलिये जैसा ई० एच० कार ने कहा कि "इतिहास जाने गये अतीत के तथ्यों का संकलन है।" ("History consists of a corpus of ascertained facts.") इन तथ्यों की जानकारी में इतिहास के स्त्रोतों का बहुत ज्यादा महत्व है। ऐतिहासिक स्त्रोत विभिन्न रूपों में हमें मिल सकते हैं। ये लिखित दस्तावेज के रूप में हो सकते हैं, शिलालेख के रूप में, सिक्कों के रूप में या अन्य पुरातत्व-सामग्री के रूप में। इन ठोस सबूतों के बिना, तथ्यों के बिना इतिहास-लेखन सम्भव नहीं हो सकता है। जिस प्रकार मछुआरा मछली पकड़ने के लिए तालाब, नदी या समुद्र में जाता है या किसान तरह-तरह की फसल उगाने के लिए खेत पर निर्भर करता है वैसे ही इतिहासकार अतीत के समाज की जानकारी के लिए ऐतिहासिक स्त्रोतों पर निर्भर करता है। इनके बिना गुजारा नहीं है इनके बिना इतिहासकार का व्यवसाय (Historian's Craft) चल ही नहीं सकता। यह एक अलग बात है कि जिस तरह रसोइया एक ही प्रकार की खाद्य-सामग्री से अलग-अलग तरह के व्यंजन बनाकर परोस सकता है उसी प्रकार इतिहासकार स्त्रोतों से तथ्यों को इकट्ठा करके, अपनी विचारधारा और रूझान के अनुसार अलग-अलग तरीके से उन्हें पेश कर सकते हैं। एक ही तरह के स्त्रोतों से अलग-अलग व्याख्या सम्भव है लेकिन इतिहासकार के लिए तथ्य सर्वोपरि है, पवित्र है। मत के लिए स्वतंत्रता हो सकती है लेकिन स्त्रोतों पर आधारित तथ्यों से स्वतंत्र होकर कोई भी इतिहास नहीं लिखा जा सकता। हालांकि तथ्य इतने सरल नहीं हैं—ऐतिहासिक तथ्यों का विषय काफी जटिल और विवाद का विषय है। ऐतिहासिक तथ्यों को प्राप्त करने का तथा इस्तेमाल करने का तरीका इतिहास-लेखन के रूझानों के साथ बदल जाता है। बहुत से दस्तावेज तथा स्त्रोत जिनका इतिहासकारों के मूल्यांकन में कभी महत्व ही नहीं रहा होता है—उनको इतिहासकारों की नयी पीढ़ी आकर नयी ऐतिहासिक संवेदना से, कल्पना से उजागर करती है ओर तब उनकों भी स्त्रोतों की श्रेणी में शामिल कर दिया जाता है। इसका एक उदाहरण मौखिक स्त्रोतों से दिया जा सकता है। अब इतिहास लेखन में मौखिक स्त्रोतों (Oral sources) का काफी इस्तेमाल होने लगा है जबकि पहले इतिहासकार ऐसे स्त्रोतों को नजरअन्दाज कर जाते थे। रान्के के इतिहास-दर्शन और लेखन से प्रेरित होकर उन्नीसवीं सदी के इतिहासकारों ने इतिहास को अधिक प्रत्यक्षदर्शी, वैज्ञानिक, अनुभववादी तथा वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए तथ्यों की व्याख्या इस तरह के परमाणुओं से की थी जिनसे जटिल सच्चाई सामने लायी जा सकती थी। अभिलेखागारों से एकत्र किये गये, संकलित किये गये स्त्रोतों से अतीत की सत्यनिष्ठ जानकारी मिल सकती है—ऐसा ही रान्के तथा अनुभववादियों का मानना था। यहाँ समस्या उस वक्त उभरती है जब एक ऐतिहासिक तथ्य या तथ्यों के बारे में इतिहासकारों में एकमत नहीं हो पाता। एक ऐतिहासिक घटना हुई इसके बारे में एकमत हो सकता है लेकिन घटना क्यों हुई ? कैसे हुई ? या इसका इतिहास में क्या महत्व था ? इन सब विषयों पर इतिहासकार सहमत हो ही नहीं पाते हैं। हम आधुनिक काल में विश्व-युद्धों की घटनाओं को लें, रूसी क्रान्ति (1917) को ले या 1947 में भारत की आजादी को या अन्य प्राचीन इतिहास की घटनाओं जैसे सिन्धु-घाटी सभ्यता का पतन, बौद्ध धर्म का विकास या जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति किसी को लेकर भी इतिहासकारों में एकमत नहीं है। एक ही प्रकार के स्त्रोतों का इस्तेमाल करके, तथ्यों का संकलन करके इतिहासकार अलग-अलग नतीजों पर पहुँचते हैं। जैसे

कुछ इतिहासकार 1789 की फ्रांसीसी क्रांति को एक घटना ना मानकर परस्पर जुड़ी हुई घटनाओं का एक क्रम मानते है जो नवोदित मध्यम वर्ग या बुर्जवा वर्ग तथा निम्न सान्ज क्यूलोत (Sans Cullotes) वर्ग की अलग-अलग राजनैतिक आकांक्षाओं से प्रेरित थी। दूसरी तरफ अन्य इतिहासकारों के लिये यह विभिन्न व्यक्तिगत कर्त्ताओं के उनके अतीत के समाज के बारे में या भविष्य की समाज की कल्पना के बारे में संवेदनाओं को दर्शाती थी। यानि कि अलग-अलग इतिहासकार अपने व्यक्तिगत चुनाव और पंसद के अनुसार वर्ग या व्यक्ति की भूमिका पर बल दे सकते हैं। यहाँ निस्संदेह यह सत्तामूलक सवाल खड़ा हो जाता है कि क्या स्त्रोत तथा उनमें मिलने वाले तथ्यों के बजाय इतिहासकार स्वयं अपने पूर्वाग्रहों, पूर्व-धारणाओं के अनुसार घटनाओं के चक्र की संरचना तो नहीं कर रहा या घटनाओं को जिस वर्णन या कथा (narrative) में वर्णन करता है वह खुद उसकी स्वयं की रचना तो नहीं है ? उन्नीसवीं सदी का इतिहासकार न केवल तथ्यों की पूजा करता था बल्कि ऐतिहासिक दस्तावेजों को भी पूजा की वस्तु मानकर चल रहा था। अर्थात् जो ऐतिहासिक दस्तावेज हमें बताते है—वहीं इतिहास है। लेकिन कोई भी इतिहास का दस्तावेज केवल इतना ही बतायेगा कि दस्तावेज लिखने वाले लेखक का क्या विचार था या वह घटित घटना के बारे में क्या सोचता था या उसके विचार में क्या होना चाहिए था ? यानि ऐतिहासिक स्त्रोतों का मूल्यांकन तथा सही उपयोग इतिहास- लेखन में अहम भूमिका निभाता है।

जैसे तथ्य जटिल सूचनाओं के समूह हैं वैसे ही ऐतिहासिक स्त्रोत भी असीमित रूपों में हमें मिल सकते हैं। कुछ साधारण सार्वजनिक तथ्य हो सकते हैं (जैसे पानीपत के प्रथम युद्ध की तिथि तथा जगह) और कुछ जटिल निजी तथ्य (जैसे घर छोड़ते हुए बुद्ध की मानसिक दशा या भारतीय महाद्वीप के 1947 में विभाजन के समय राष्ट्रीय नेताओं की मानसिक दशा)। बहुत से ऐतिहासिक तथ्य, घटनाओं तथा तथ्यों के समूह के रूप में ही हमें प्राप्त होते हैं जैसे 1857 में अंग्रेजी राज के खिलाफ विद्रोह भारत में ब्रिटिश-सेना के भारतीय सिपाहियों के विद्रोहों, किसानों के आक्रोश तथा पुराने शासक—कुलीन वर्ग के प्रतिक्रिया के रूप-सभी सम्मिलित थे या पश्चिमी यूरोप में औद्योगिक क्रांति आर्थिक-तकनीकी बदलावों की तथा उससे सम्बन्धित सामाजिक संरचना के परिवर्तन की एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया थी। ये सब जटिल तथ्य हमें अतीत के समाजों द्वारा छोड़े गये निशानों से ही प्राप्त होते हैं। या जिन्हें हम इतिहासकार प्राथमिक स्त्रोत (primary sources) कहते हैं उन्हीं से प्राप्त होते हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं कि हर ऐतिहासिक तथ्य की खोज के लिए हम प्राथमिक स्त्रोतों की ही छानबीन करते रहें। जैसे जरूरी नहीं कि गुप्त साम्राज्य के बारे में हर जानकारी के लिए उस समय के संस्कृत ग्रन्थों या सम्राटों के प्रशस्ति-पत्रों या शिलालेखों को ढूंढते फिरें या भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की जानकारी हासिल करने के लिए अभिलेखागारों के संग्रहीत दस्तावेजों का अध्ययन शुरू कर दें। बहुत सी ऐतिहासिक जानकारियाँ या तथ्य हमें पहले ही भली-भाँति पता होते हैं या हम उनके बारे में गौण या अनुपूरक (secondary) स्त्रोतों से भी जानकारी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। ऐतिहासिक ज्ञान के बारे में महत्वपूर्ण बात जो ध्यान रखने योग्य है वह यह है कि यह सबूत या प्रमाण पर आधारित होता है और ऐतिहासिक प्रमाण, सिद्धान्त रूप में, असीमित हो सकते हैं। जो कुछ मनुष्य लिखता है, कहता है या जिसका निर्माण वह करता है वह उस काल के लिए ऐतिहासिक स्त्रोत हो सकता है। ये ऐतिहासिक स्त्रोत कई बार इतिहासकारों की नजरों में नहीं आते हैं, लेकिन बाद में इतिहासकार इन्हें खोज निकाल सकते हैं। उदाहरण के लिए यह एक सर्वविदित तथ्य है कि रेलवे के आगमन ने उन्नीसवीं सदी में दूरी कम करके मनुष्य के समय और स्थान की धारणा को ही नहीं बदला बल्कि मंडियों को विश्व-स्तर पर जोड़ने, रेलवे के पीछे-पीछे कोयला, लौह-इस्पात आदि उद्योगों को प्रोत्साहन देने, उपनिवेशों के प्रशासन को कुशल बनाने से लेकर सामाजिक गतिशीलता बढ़ाने जैसे बहुत से काम किये। इतिहासकारों ने सरकारी आँकड़ों तथा रेलवे विभाग के दस्तावेजों से लेकर रेलवे कम्पनियों के रिकार्डों का इस्तेमाल इन परिवर्तनों के अध्ययन के लिए किया है लेकिन उन्नीसवीं सदी के थोड़ा बाद के एक तकनीकी परिवर्तन—विद्युत-ऊर्जा के आगमन का उतना गहन अध्ययन

शायद नहीं किया। यहाँ यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगा कि शायद उन्नीसवीं सदी के राजनैतिक घटनाक्रमों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण प्रभाव उत्पादन-प्रक्रिया, समाज तथा इसकी संस्थाओं पर बिजली के औद्योगिक उत्पादन ने डाला था। यहाँ कोई नौसिखिया इतिहासकार यह कह सकता है कि हमें विद्युत-उत्पादन के लिए ऐतिहासिक दस्तावेज कहाँ मिलेंगें ? क्या विद्युत-निर्माण करने वाली बड़ी-बड़ी यूरोपीय कम्पनियों ने कोई दस्तावेज तैयार नहीं किये होंगे या क्या हमें बिजली के उपभोग के आँकड़े नहीं मिल सकते ? कई बार यह होता है कि कई बार इतिहासकार इस तरह के नये सवाल नहीं खड़े करते और फिर नये स्त्रोत प्रकाश में कहाँ से आयेगें। यह सही है कि कई बार हमें स्त्रोत उस रूप में नहीं मिल पाते जिसकी अपेक्षा हम इतिहासकार करते हैं लेकिन इसी में इस व्यवसाय की चुनौती ओर रोमांच छिपा हुआ है। इतिहास के स्त्रोतों में गजब की विविधता देखने को मिलती है। यह सोचना भी गलत होगा कि प्रत्येक ऐतिहासिक समस्या के लिए एक खास किस्म के दस्तावेज ही उपयोगी होंगें। एक अच्छे ऐतिहासिक शोध में, गहरे अध्ययन में प्रमाण और सबूत एक नहीं बल्कि कई दिशाओं से कई प्रकार के स्त्रोतों से प्राप्त किये जाते हैं। मान लीजिये कि कोई छात्र वैष्णव धर्म के विषय में शोध करना चाहता है तो क्या उसके लिए विष्णु पुराण और देवी भागवत ही पर्याप्त है ? क्या मंदिरों में मौजूद चित्रकला या शिल्प और मूर्तियाँ उसे कम महत्वपूर्ण प्रमाण और सबूत देगें ? हो सकता है कि अन्य मत के धार्मिक ग्रंथों में भी कुछ प्रमाण मिलें आदि-आदि अनेक जवाब हमें ढूँढने पर ही मिलेगें।

जब इतिहासकार किसी विषय पर शोध शुरू करता है तो उसे उस विषय की पहले से ही काफी जानकारी होती है और अगर उस विषय की विस्त त जानकारी न भी हो तब भी उस विषय से सम्बन्धित या उस विषय से मिलते-जुलते विषयों की जानकारी तो रहती ही है। नया ज्ञान हासिल करने के लिए उसे मौलिक या प्राथमिक स्त्रोतों की जानकारी अवश्य होनी चाहिये। प्राथमिक स्त्रोतों में वह क्या खोजता है—एकदम नये अध्ययन के क्षेत्र में निस्संदेह सबसे पहले उसकी प्राथमिकता होगी कि वह घटनाओं को (छोटी-बड़ी), उनकी तिथियों तथा कालक्रम (Chronology) को ठीक-ठीक स्थापित कर सके। फिर वह उन घटनाओं के पारस्पिरिक सम्बन्धों को ढूँढने की कोशिश करेगा। ऐसा नहीं है कि घटनाओं तथा तथ्यों के अंर्तसम्बंधों पर वह बाद में सोचेगा। कई बार अंर्तसम्बन्ध ा प्राथमिक स्त्रोतों में ही निहित होते है। सामान्यतया इतिहास का छात्र उस समय की भौतिक परिस्थितियों तथा उनमें आ रहे बदलाव को, इतिहास के कर्त्ताओं की मानसिकताओं को, विचारों को, सामाजिक संस्थाओं, जीवन-मूल्यों तथा प्रेरक शक्तियों को तलाशने की कोशिश करता है। यह विविध जानकारी निस्संदेह उसे एक प्रकार के स्त्रोत से नहीं बल्कि विविध किस्म के दस्तावेजों और उनके विश्लेषण से ही प्राप्त होगी। प्राथमिक स्त्रोतों के अध्ययन से पहले इतिहासकार गौण और अनुपूरक स्त्रोतों से प्राप्त किये बहुत से तथ्यों से पहले ही अवगत होता है। गौण स्त्रोतों से वह प्राथमिक स्त्रोतों की तुलना करेगा और इस प्रक्रिया में कुछ तथ्यों को प्रमाणित करेगा, कुछ में सुधार करेगा तथा कुछ में ज्यादा विस्तुत जानकारियाँ प्राप्त करेगा ये स्त्रोत भी कहीं त्रुटिपूर्ण तथा कहीं दुर्दमनीय होते हैं, कहीं प्रचुर ऐतिहासिक तथ्यों से भरे रहते हैं तो कहीं टूटी-फूटी एकाध जानकारी ही देते हैं। इतिहासकार इनमें बहुत कुछ अप्रत्यक्ष रूप से अपने निष्कर्ष के आधार पर ही कुछ प्राप्त कर सकता है। जैसे अपराध के प्रति रवैया दंड-विधानों की बजाए इसको लागू करने के तौर-तरीकों में, सामाजिक-श्रेणी बद्धता का ज्ञान वेतन की दरों से लेकर साहित्य तक में प्राप्त हो सकता है।

प्राथमिक तथा गौण स्त्रोत : इतिहासकार प्राथमिक और गौण स्त्रोतों में विभेद करते हैं लेकिन उत्तर आधुनिकता से प्रभावित इस विभेद को नहीं मानते। उनके अनुसार हर स्त्रोत को, हर वस्तु या मानवीय क्रिया-कलाप तक को एक मूल-पाठ (text) के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन यह अंतर बहुत स्पष्ट है कि अतीत के समाज में छोड़े गये निशान, पदचिन्हों को हम प्राथमिक स्त्रोत की श्रेणी में रखते हैं और इनके आधार पर उन समाजों के बारे में जानकारी हासिल कर सकते हैं। केवल प्राथमिक स्त्रोतों के अध्ययन और विश्लेषण से ही इतिहास-लेखन का काम नहीं होता है, लेकिन इन्हें

नजरअन्दाज करके भी कोई इतिहास-लेखन नहीं हो सकता है। प्राथमिक स्त्रोत वे स्त्रोत हैं जिनकी उत्पत्ति उसी काल में हुई हो जिसका हम अध्ययन करना चाहते हैं। एक उन्नीसवीं सदी की पुस्तक जो उस काल में गौण स्त्रोत थी, इक्कीसवीं सदी के छात्रों के लिए उपयोगी गौण स्त्रोत नहीं रह जायेगी लेकिन यह सम्भव है कि यह उन्नीसवीं सदी के कुछ सीमित पहलुओं के अध्ययन के लिए एक प्राथमिक स्त्रोत का रूप ग्रहण कर लें। अर्थात् प्राथमिक या मौलिक तथा गौण और अनुपूरक ऐतिहासिक सामग्री और स्त्रोतों का अंतर उनकी प्रकृति पर निर्भर करता है। गौण स्त्रोत वे हैं जो इतिहासकार या अन्य समाज-शास्त्री पहले के काल का अध्ययन करते हुए तथा प्राथमिक स्त्रोतों का इस्तेमाल करते हुये बाद में निर्मित करते हैं। प्राथमिक तथा गौण स्त्रोतों के कार्यों में भी अंतर रहता है। जैसे एक खास विषय का अध्ययन करने के लिये, उदाहरण के लिये, ज्योतिबा फूले का जाति-व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष पर जानकारी हासिल करने के लिये उस विषय पर पहले से मौजूद एक या अधिक गौण लेकिन प्रमाणिक स्त्रोतों का अध्ययन करेगा। लेकिन शोधकर्त्ता उस समय तक लिखित तमाम गौण स्त्रोतों का अध्ययन करने की कोशिश करता है। इससे उसे उस समय तक रचित अधिकांश गौण स्त्रोतों, उनकी त्रुटियों तथा सकारात्मक पहलुओं की जानकारी हासिल होगी। उसे यह भी अहसास होगा कि कौन से महत्वपूर्ण पहलु अनछुये या अनदेखे रह गये है। जिनकी और अधिक छानबीन की जरूरत है। लेकिन इसके बाद उसका अधिकांश समय प्राथमिक स्त्रोतों पर ध्यान केन्द्रित कर उनकी छानबीन में ही बितेगा। ऐतिहासिक शोध कार्य प्राथमिक स्त्रोतों के गहन अध्ययन के बिना सम्भव ही नहीं है। कई विद्वानों ने यह भ्रांति फैलाने की कोशिश की है कि प्राथमिक तथा गौण स्त्रोतों में मूलतः कोई फर्क नहीं होता ओर इतिहासकार अनावश्यक रूप से प्राथमिक स्त्रोतों को अधिक महत्व देकर गौण स्त्रोतों के मुकाबले उनका दर्जा उपर रखते है और यह मानते है कि उनके तथ्य ज्यादा सटीक, सत्य या प्रामाणिक हैं। लुडमिला जोर्डानोवा की पुस्तक History in Practice, (2000) में इस तरह के विचार अभिव्यक्त किये गये हैं। लेकिन यह सत्य नहीं है कि इतिहासकार प्राथमिक स्त्रोतों को सत्तामूलक सवालों के हल का प्रमुख साधन मानते है। इसके विपरीत प्राथमिक स्त्रोत काफी टूटी-फूटी, अपारदर्शी और अस्पष्ट जानकारियाँ ही देते हैं। अधिक से अधिक वे एक दिशा में रोशनी डालकर शोधकर्त्ता का कुछ दिशा-निर्देश कर सकते हैं, लेकिन अक्सर किसी ऐतिहासिक समस्या के हल के लिये विविध स्त्रोतों से प्राप्त जानकारियों से ही उस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाल पाना सम्भव हो पाता है। निस्संदेह, किसी ऐतिहासिक विषय पर व्यापक और विस्त त जानकारी हमें इकट्ठा एक जगह एक अच्छे प्रमाणिक और विश्वासयोग्य गौण स्त्रोत से भी प्राप्त हो जाती है। एकमात्र प्राथमिक स्त्रोत जबकि हमें इतनी व्यापक और विस्त त जानकारी नहीं दे सकता। सभी प्राथमिक स्त्रोतों को इसलिये काफी सावधानी से देखना पड़ता है और इतिहासकार का इनके अध्ययन करने का कौशल उनके विश्लेषण और व्याख्या कर पाने की क्षमता काफी लम्बे अनुभव से ही प्राप्त हो पाती है। बहुत से प्राथमिक स्त्रोतों में गौण सूचनाओं की ही भरमार रहती है लेकिन इससे उस स्त्रोत का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। उसे तो कचड़े के ढेर से ही मोती निकालने है। इसके लिये अभ्यास तथा प्रशिक्षण की, इतिहास के औजारों की, ऐतिहासिक संवेदना की तथा मूल्यवान को गौण सामग्री से अलग करने की जरूरत पड़ती है। अन्यथा कई बार छान-बीन भी निरर्थक साबित हो जाती है। उदाहरण के लिए, अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारियों ने, कानून व्यवस्था बनाये रखने तथा सामाजिक नियंत्रण स्थापित करने के लिये जो उनका मौलिक उद्देश्य था, भारतीय किसानों तथा आदिवासियों के प्रतिरोध और विद्रोहों को 'अपराध', चोरी-डकैती की संज्ञा दे रखी थी। ऐतिहासिक संवेदना से रहित व्यक्ति इस तरह के क्रिया-कलापों को अपराध की घटनायें मानकर अनदेखा कर सकता है। या ऐसा इतिहासकार जो महान हस्तियों की गौरव-गाथा का गुणगान करने की विधा ही सीखा है-ऐसी महत्वूपर्ण सामग्री को जो निम्न वर्गों के द्वारा उनके स्वयं के इतिहास के सर्जन में भूमिका की तरफ संकेत करती है—उसे अनजाने में अनदेखा कर देगा। कई बार प्राथमिक तथा गौण स्त्रोत का विभेद करना पेचीदा काम हो जाता है। यह बात विशेषकर 'आत्म-कथाओं' और

'तत्कालीन इतिहासों' पर विशेष कर लागू होती है। अगर आत्मकथा बाद में लिखी गयी है तो इसमें लेखक की याददाश्त के पुराने संस्मरण भी होगें तथा बाद की अवधि की घटनाओं का जिक्र भी। यहाँ गौण-सूचनाओं को अलग करके प्राथमिक सूचनाओं की तुलना दूसरे स्त्रोतों से करने की बहुत ज्यादा जरूरत होगी। स्वामी सहजानन्द की आत्म-कथा, किसान नेता इन्दुलाल यज्ञनिक की गुजराती भाषा में आत्मकथा या महात्मा-गांधी की पुस्तक, **सत्य के मेरे प्रयोग** इस तरह की सामग्री के उदाहरण हो सकते हैं। यही बात सार्वजनिक संस्मरण या तत्कालीन इतिहास की पुस्तकों पर भी लागू की जा सकती है—सीताभि, पट्टारम्मैया द्वारा रचित 'कांग्रेस का इतिहास' इसका उदाहरण हो सकती है। प्राथमिक स्त्रोत और गौण स्त्रोत के बीच अंतर समझने के बाद उनके वर्गीकरण का सवाल भी पैदा होता है। शोध ग्रंथ के अन्त में दी गई पाठ्य सामग्री (Bibliography) में प्राथमिक तथा गौण स्त्रोतों का ही विभाजन नहीं किया जाता बल्कि अलग-अलग श्रेणियों में प्राथमिक स्त्रोतों को रखा जाता है। उप-विभागों में प्राथमिक स्त्रोतों का विभाजन मुख्यतया उनके ऐतिहासिक महत्व के अनुसार ही किया जाता है। यह ऐतिहासिक महत्व की द ष्टि से विभाजन उनके हस्तलिखित या मशीन के छपे होने पर भी निर्भर नहीं करता है। यह जरूरी नहीं कि हस्तलिखित दस्तावेज ज्यादा सटीक और महत्व की जानकारी दें।

प्राथमिक स्त्रोतों में एक व्यवहारिक अंतर जो अक्सर देखने को मिलता है वह यह है कि अभिलेखागारों के दस्तावेज तथा प्रकाशित दस्तावेजों भिन्न-2 होते है। अभिलेखागार के दस्तावेज अपने आप में अद्वितीय होते हैं और उनकी प्रतियां उपलब्ध नहीं होगी जबकि प्रकाशित दस्तावेजों की प्रतियाँ प्रारंभ में कम से कम रहती है। हाँलाकि कई बार यह सम्भव है कि प्रकाशित किसी महत्वपूर्ण दस्तावेज की एकाध प्रति ही दुर्लभ तथा दुष्प्राप्य अवस्था में अभिलेखागारों में इकट्ठी की गई सामग्री में मिल पाती है। इसलिये प्राथमिक स्त्रोतों को श्रेणीबद्ध केवल सुविधा के अनुसार किया गया है। इसमें कोई ज्यादा पेचीदगी नहीं ढूँढनी चाहिये। हालांकि इसमें वर्गीकरण का एक मोटा सा फार्मूला यह लागू किया जाता है कि हम सबसे दुर्लभ, एक प्रति हस्तलिखित दस्तावेजों की पहले रखते हैं और बाद में बहु-प्रति वाले आसानी से उपलब्ध स्त्रोतों को। यह प्राथमिक स्त्रोतों को सुव्यवस्थित ढंग से सजाने की विधि है और इससे ज्यादा इसमें कुछ अंतनिहित नहीं है। इससे यह पता लग जाता है कि इतिहासकार ने इतिहास-लेखन में किस प्रकार के कच्चे पदार्थों (raw-materials) का सहारा लिया है। इस कच्चे माल को मान्यता प्राप्त इतिहासकारों द्वारा स्थापित पद्धति से सजा दिया जाये तो ज्यादा सुगमता और सरलता से यह काम (स्त्रोतों के वर्गीकरण का) हो जाता है। सामान्यतया प्राथमिक स्त्रोतों को निम्नलिखित तरीके से श्रेणीबद्ध किया जाता है :

(1) अभिलेखागारों की एकत्र सामग्री जिसमें कभी-कभी निजी सामग्री को पहले और सार्वजनिक (सरकारी) सामग्री से अलग सूचीबद्ध किया जाता है।

(2) निजी व्यक्तिगत या संस्थाओं द्वारा प्रकाशित दुर्लभ सामग्री,

(3) सरकारी प्रकाशित सामग्री, तथा

(4) अखबार एवं पत्र-पत्रिकायें आदि।

यह भी है कि कई बार श्रेणीबद्ध करने का तरीका इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस काल और किस तरह से ऐतिहासिक विषय पर शोध करते रहे हैं। जैसे ई० पी.० थॉमसन की बहुचर्चित पुस्तक, The Making of English Working Class (1965) में थॉमसन ने सबसे पहले अभिलेखागारों की सामग्री को ही रखा जिसमें दोनों निजी तथा सार्वजनिक सामग्री सम्मिलित थी और इसके बाद उन्होंनें समकालीन पर्चों तथा पत्रिकाओं को रखा। बिपन चन्द्र की रचना, **आधुनिक भारत को आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास** में प्राथमिक स्त्रोतों की सूची में प्रकाशित पुस्तकें, समकालीन निजी तथा सरकारी दस्तावेजों, राष्ट्रीय नेताओं की समकालीन रचनाओं को रखा है और दूसरे स्तर पर इस्तेमाल किये गये विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को। डेविड लुड्डेन ने अपनी रचना,

Peasant History in South India (1985) में पहले स्थानीय तथा जिला स्तरीय अभिलेखागारों की सामग्री, बंदोबस्त रिर्पोट, क्लैक्टरेट के रिकार्ड आदि को रखा तथा दूसरे स्तर पर सरकारी प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री को जिसमें भी ब्रिटिश पार्लियामेंट पेपरस् से लेकर वन विभाग, अदालतों के रिकार्ड आदि तथा राजस्व विभाग के दस्तावेजों को रखा। गौण स्त्रोतों को सभी ने प्राथमिक स्त्रोतों के बाद रखा है। किसी ऐतिहासिक रचना की पाठ्य-सामग्री को देखकर प्राथमिक और गौण स्त्रोतों के बीच के अंर्तसम्बन्ध का एक अहसास हमें हो जाता है लेकिन इस अंर्तसम्बंध को सही-सही समझने के लिये हमें यह देखना पड़ेगा कि उस विद्वान ने प्राथमिक तथा गौण स्त्रोतों से किस प्रकार उर्द्धण दिये है तथा अपने वर्णन में उन्हें किस प्रकार इस्तेमाल किया है। फुटनोट का काम प्राथमिक स्त्रोत की सही-सही प्रकृति को दर्शाने का भी रहता है। यहाँ हम अभिलेखागार का उपयोग करने वालों का एक सम्प्रदाय नहीं खड़ा करना चाहते और ना ही जो ई० एच० कार ने कहा था कि कुछ इतिहासकार "दस्तावेजों को पूजा की वस्तु" बना लेते है—वैसा करने की सलाह दे रहे हैं हमारा उद्देश्य इतिहास के छात्र होने के नाते यह होना चाहियें कि हम स्पष्ट रूप से यह समझ लें कि कैसे प्राथमिक और गौण स्त्रोत भिन्न-भिन्न हैं तथा हम कैसे प्राथमिक स्त्रोतों का उपयोग कर सकते हैं तथा उन्हें गौण सामग्री के साथ जोड़कर इस्तेमाल कर सकते हैं।

इतिहासकार जब प्राथमिक स्त्रोतों के सागर में जब मोती ढूँढने के लिये गोता लगाता है तो यह ऐसा काम नहीं है जैसा दो-साल के बच्चे को तैराकी सीखाने के लिये बिना तैराकी की पोशाक के समुद्र में उतार दिया जाये। इतिहासकार अभिलेखागार में एक निश्चित कार्य-योजना और नीति के तहत कदम रखता है। इस तरह की कार्य-योजना के अभाव में न तो काम सुव्यवस्थित ढंग से हो पायेगा या हम अनुमान और अटकलबाजी के आधार पर खोज जारी रखेगें शायद इस उम्मीद में कि अभिलेखागार की सामग्री से शायद शोध-ग्रंथ पैदा हो जाये या हो सकता है कि पहले दूसरे विद्वानों द्वारा किये गये काम को ही दोहराते रह जायें। कार्य-योजना की एक रूप-रेखा होने का मतलब यह भी नहीं है हम पहले से ही ये मान कर चलें कि हमें अपने शोध-ग्रंथ में क्या लिखना है या पहले ही विषय के बारे में कुछ विचार और पूर्वाग्रह बना लें। हाँलाकि अक्सर ऐसा होता है कि हम अपने गौण स्त्रोतों के अध्ययन के आधार पर कुछ विचार तथा धारणायें जरूर बना लेते हैं। ये विचार और धारणायें हमारी चेतना में हलचल करती रहती हैं, लेकिन अच्छे शोध की यही पहचान है कि जैसे-जैसे हम प्राथमिक स्त्रोतों से नयी जानकारियाँ पाते हैं तथा उस पर सोच-विचार करते हैं तो हमारे पूर्वाग्रह टूटने शुरू हो जाते है तथा खुले दिमाग से नयी तथा अधिक तर्कसंगत और मान्य व्याख्यायें उस विषय पर विकसित करने में कामयाब होते हैं। यहाँ प्राथमिक तथा गौण स्त्रोतों का सापेक्ष महत्व स्पष्ट हो जाना चाहिये कि दोनों के काम अलग-अलग है लेकिन दोनों के बीच एक गहरा अंर्तनिहित सम्बन्ध भी है। गौण स्त्रोतों का अध्ययन भी बहुत जरूरी है क्योंकि यह हमें अपने काम की कार्य-योजना बनाने में मददगार साबित होता है। एक सही कार्य-योजना के विकास के लिये मौजूदा गौण स्त्रोतों की जानकारी बहुत जरूरी है। तभी हम उन सवालों को पहचान पायेगें जिनका जवाब उस ऐतिहासिक विषय पर रोशनी डाल पायेगा या एक निश्चित समस्या का समाधान कर पायेगें। यह एक लचीली कार्य-योजना ही होती है और जैसे-जैसे हमारा शोध आगे बढ़ता है वैसे-वैसे हम नये सवाल भी खड़े करते हैं। नये स्त्रोत भी इस प्रक्रिया में हम ढूँढते हैं हालाँकि शुरू में भी हमारे पास एक अस्थायी सूची उन स्त्रोतों की रहती है जिनका हम अध्ययन करने के इच्छुक होते हैं। अर्थात् शोध की कार्य योजना खुली और लचीली रहती है, इसका पूर्व-निर्धारण हम नहीं करते लेकिन इतिहासकार अटकलबाजी से भी काम नहीं करते।

प्राथमिक स्त्रोतों का निर्माण इतिहासकार नहीं करते। ये अतीत के मानवीय क्रियाकलापों के चिन्ह के रूप में रह जाते हैं और हमें विरासत में मिलते हैं। इतिहासकार क्योंकि अतीत की विरासत की तस्वीर बनाने की कोशिश में जुटे रहते हैं इसलिए वे यह जानने की कोशिश भी करते हैं कि ये स्त्रोत कैसे निर्मित हुए और इनका उनके अन्वेषण में क्या महत्व हो सकता है। उपर हमने केवल कुछ

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्त्रोतों की बात की थी। वास्तव में ऐतिहासिक स्त्रोतों में इतनी विविधता है, कि एक विशिष्ट तरीके से इन्हें श्रेणीबद्ध करना भी नामुमकिन सा काम है। सभी स्त्रोतों के लिये, सभी ऐतिहासिक कालों के अनुसार अलग-अलग ऐतिहासिक विषयों के लिये एक समान स्त्रोतों का वर्गीकरण काम नहीं आयेगा। प्राचीन समय में बौद्ध धर्म के विकास के लिये अलग तरह के स्त्रोत उपलब्ध होंगे तथा औपनिवेशिक काल में स्त्रियों की स्थिति समझने के लिये एकदम अलग तरह के स्त्रोत काम में आयेगें। कई बार एक मोटा सा विभाजन सार्वजनिक स्त्रोत तथा निजी स्त्रोतों के बीच किया जाता है। सार्वजनिक स्त्रोत वे हैं जो काफी लोगों के द्वारा देखे जाने या पढ़ने के लिये बनाये जाते हैं—रोम साम्राज्य के शिलालेख, अशोक के शिलालेख, अखबार, सरकारों के कानून आदि इस श्रेणी में आयेगें। इसके विपरीत निजी स्त्रोत एक व्यक्ति या एक विशिष्ट समूह के लिये ही तैयार किये जाते हैं—व्यक्तियों की डायरियाँ या निजी पत्रादि। खुफिया विभाग के दस्तावेज या बादशाह का एक खास जागीरदार को भेजा गया फरमान आदि। स्त्रोतों का एक दूसरा विभाजन हम 'रिकार्ड के लिये बनाये गये दस्तावेज' (documents of record) तथा बेसिलासिलवार स्त्रोतों (discursive sources) के बीच भी कर सकते हैं। पहली श्रेणी में हम सिंधु घाटी सभ्यता की सील, हम्मुराबी का कोड़ या ब्रिटिश संसद के चार्टर एक्ट, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के रिकार्ड आदि को रख सकते हैं ओर दूसरी श्रेणी में हम समकालीन घटनाओं की अन्य व्यक्तियों द्वारा अनायास रूप से दर्ज की गयी सूचनाओं को रख सकते हैं। बहुत से समकालीन साहित्यिक स्त्रोत जिनसे इतिहासकार उस समय की सामाजिक परिस्थितियों के बारे में निष्कर्ष निकाल सकता है—इस श्रेणी में रखे जायेंगें। प्राचीन इतिहास के अध्ययन में एक सबसे महत्वपूर्ण साधन पुरातत्व विज्ञान द्वारा एकत्र किये गये किसी संस्कृति के भौतिक अवशेष होते हैं। बहुत कम इतिहासकार इन स्त्रोतों पर वास्तव में काम करते हैं।

स्त्रोतों का मूल्यांकन

स्त्रोतों का सही-सही मूल्यांकन इतिहासकार की सबसे बड़ी कसौटी है। इसका अर्थ केवल दस्तावेज या स्त्रोत की विश्वनीयता और प्रामाणिकता की जाँच करने तक ही सीमित नहीं हैं। इतिहासकार को अपने सवालों का जवाब ढूंढने के लिए उस स्त्रोत से उसी तरह जिरह (cross examination) करनी पड़ती है जैसे वकील अदालत में गवाह से करता है। यह बात केवल लिखित दस्तावेजों पर ही लागू नहीं होती बल्कि पुरातत्व के भौतिक अवशेष भी हमें अपने आप कुछ नहीं बताते। यह ऐतिहासिक संवेदना से ही सीख पाते हैं हाँलाकि इस जिरह को भी काफी लचीला होना चाहिये। जिरह की हमें कई बार दिशा बदल नये सवाल अपने स्त्रोतों से प्राप्त सबूतों से पूछने पड़ते हैं। तभी इतिहासकार वैसे ही सबूत एकत्र कर पायेगा जैसे चुम्बक लोहे को अपनी तरफ खींच लेता है। यह स्त्रोतों का मूल्यांकन बहुत जरूरी प्रक्रिया है क्योंकि सबूतों के ढूँढने में स्त्रोत बहुत सीमित है और बहुत प्रामाणिक भी नहीं होते। पुलिस और न्यायालय गवाह की सब बात सच नहीं मान लेते उसी प्रकर इतिहासकार भी दस्तावेज में दी गई जानकारी को पूरी तरह सत्य नहीं मान कर चलते। जैसा एक व्यक्ति ने कहा है कि स्याही से आदमी कुछ भी लिख सकता है, वह सब सच तो नहीं होता। इतिहासकार संदेह करता है लेकिन एक निश्चित सीमा तक ही। यह जरूरी नहीं है कि संदेह करके कोई ज्यादा उत्तम किस्म का बौद्धिक उत्पादन ही हो। जैसे एक व्यक्ति था जो अखबार की किसी बात पर विश्वास नहीं करता था लेकिन हर दूसरे व्यक्ति की बातों तथा अफवाहों पर यकीन कर लेता था। हमारा रवैया स्त्रोतों के साथ संतुलित हो, न अंधविश्वास का उन्हें पूरी तरह सच मानने का, ना ऐसा संदेहास्पद की हम हर चीज पर संदेह ही करते रहे, चाहे संदेह करने की कोई वजह ना हो।

सामान्यतया ऐतिहासिक साक्ष्य को दो तरह के प्रमाणों के रूप में देखा जा सकता है। एक हमारे पूर्वजों द्वारा जानबूझ कर छोड़े गये स्त्रोत या दस्तावेज तथा दूसरे ऐसे जिनमें अनजाने में कुछ महत्व का सबूत छोड़ दिया जाता है। कई बार जान-बूझ कर छोड़े गये प्रमाण में भी हमें कई अनुपूरक

विषयों की जानकारी हासिल हो सकती है और कई बार अनजाने में छोड़े गये सबूतों में हमें काफी ऐतिहासिक महत्व की जानकारियाँ प्राप्त हो सकती हैं। अनजाने में छोड़े गये साक्ष्य में कई बार जो वे लिख रहे है या छोड़ रहे है—उससे पूरी तरह प्रबुद्ध नहीं होते या कई बार जानते हुये भी उसके व्यापक महत्व से अनजान होते हैं या सूचनायें इतनी सुस्पष्ट होती हैं कि अनायास में ही ये उनका वर्णन करते चलते हैं। चूँकि साक्ष्य या सबूतों को साबित करना स्त्रोतों पर निर्भर करता है। इसलिये हम 'तथ्य' तथा साक्ष्य (evidence) को छोड़कर स्त्रोतों पर उनके मूल्यांकन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। इतिहासकार मुख्यतया स्त्रोतों के बारे में ये सवाल पूछता है :—

1. क्या स्त्रोत विश्वसनीय है या वह वैसा ही है जैसा द ष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिये हम चोल शासक द्वारा एक मंदिर को दिये गये अनुदान की बात करें तो हमें यह स्पष्ट होना चाहिये कि अनुदान असली ही है, कहीं बाद में मंदिर के किसी पुजारी ने जमीन हथियाने के लिये नकली स्त्रोत तो नहीं बनवा लिया है। अगर यह वास्तविक है तब भी और अगर नकली निर्मित स्त्रोत (forgery) है तब भी इतिहासकार इसका उपयोग अलग-अलग तरीके से कर सकता है। इसकी प्रामाणिकता के लिए इतिहासकार को पुरालिपि (palaeography) की तकनीकी का उपयोग करना होगा। इसका एक और उदाहरण थॉमस हार्ड़ी नाम विक्टोरिया युग के ब्रिटिश उपन्यासकार की जीवनी The Life of Thomas Hardy से हम देख सकते हैं जो यह माना गया कि उनकी दूसरी पत्नी ने लिखी थी। लेकिन बाद में विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि वास्तव में यह जीवनी स्वयं थॉमस हार्डी ने ही लिखी थी। इसके आत्मकथा के रूप में प्रतिस्थापित हो जाने से इस ऐतिहासिक स्त्रोत का पूरा चरित्र ही बदल गया। किसी ऐतिहासिक स्त्रोत की प्रामाणिकता जाँचने का तरीका है कि हम उसके उद्‌गम-स्थल का सही-सही पता चला लें। यह भौतिक तथा पुरातत्व सामग्री के संदर्भ में और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि स्त्रोत की उत्पत्ति कहाँ हुई हैं ?

2. दूसरा मूल्यांकन का मापदंड है कि ऐतिहासिक स्त्रोत के काल तथा तिथि का ठीक-ठीक निर्धारण। अर्थात् स्त्रोत कहाँ और कब निर्मित या लिखित है ? इसका वर्णित घटनाओं से कितना नजदीक का सम्बन्ध है या हम जिस काल का अध्ययन कर रहे हैं उससे इसका कितना सम्बन्ध है ? इसका दूसरी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तिथियों से क्या सम्बन्ध है आदि महत्वपूर्ण सवाल इस मूल्यांकन में मुख्यतया उभरते हैं। कुछ अवस्थाओं में एक लिखित दस्तावेज या भौतिक अवशेष या ऐतिहासिक इमारत की तिथि का ठीक-ठीक अनुमान लगाना बेहद मुश्किल होता है लेकिन बिना तिथि के निर्धारण के इतिहासकार के लिये एक स्त्रोत का उपयोग कर पाना असम्भव सा ही हो जाता है।

3. ऐतिहासिक स्त्रोत के मूल्यांकन में तीसरी महत्वपूर्ण बात यह देखने की है कि इस स्त्रोत की प्रकृति किस तरह की है? क्या यह एक निजी पत्र हैं ? या एक सार्वजनिक दस्तावेज या कोई सरकारी रिपोर्ट या कुछ और ? सामान्यतया यह कोई मुश्किल और पेचीदा सवाल नहीं है, इसका जवाब सुस्पष्ट ही होगा लेकिन अगर कोई संदेह हो तो उसे साफ कर लेना उचित कदम रहेगा। एक सरकारी अधिकारी द्वारा भेजी गयी चिट्ठी में अलग तरह की सूचनायें होगीं तथा निजी पत्र जो वहीं अधिकारी अपनी पत्नी या माँ को लिखता है उसमें अलग तरह की जानकारी मिल सकती है—दोनों अवस्थाओं में हमारे विश्लेषण और व्याख्या का तरीका बदल जायेगा। इतिहासकार अपने विश्लेषण से अलग-अलग तरह के स्त्रोतों को अलग-अलग परम्पराओं तथा मूल्यों से जोड़कर देखना शुरू कर देते हैं ओर इनको ध्यान में रखना भी जरूरी हैं।

4. ऐतिहासिक स्त्रोत पहले किस प्रकार अस्तित्व में आता है और किस उद्देश्य के लिए इसकी रचना की जाती है। यह किन जीवन मूल्यों, रुझानों विश्व द ष्टिकोण, अंधविश्वासों तथा निहित

स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करता है ? यह किसके द्वारा तैयार किया गया और किसके लिये इसकी उत्पत्ति होती है ? ये सब सत्तामूलक सवाल भी इतिहास का रचियता स्वाभाविक रूप से उठता है। उदाहरण के लिये एक विदेशी यात्री का व तांत एक खास दिशा में वैचारिक झुकाव को दर्शा सकता है। एक सम्राट के लिए लिखी गई प्रशस्ति उसके क्रियाकलापों का, उसके विजय-अभियानों का बढ़ा चढ़ा कर गुणगान करेगी। अंग्रेजी राज में लिखित बहुत सी रिर्पोट यह प्रस्तुत करने की कोशिश करेंगीं की अंग्रेज शासन के आने से भारत में सुव्यवस्था तथा आर्थिक सम द्धि में व द्धि होती है। इसी प्रकार जब मुगल-शासन का पतन हो रहा था और उस पर आश्रित अमीर-उमराओं की स्थिति भी बिगड़ रही थी तब बहुत से साहित्यकारों ने इस 'अंधकारमय' युग का वर्णन किया तथा यह मुख्यतया अमीर-उमरा तथा मुगल-सम्राज्य के जागीरदारों के घटते प्रभाव के द ष्टिकोण से ही प्रेरित था जबकि बाद में सी०ए० बैली ने स्पष्टतया दिखाया कि आर्थिक अवनति की बजाय यह कृषि में अधिक मुद्रा के प्रचलन तथा क्षेत्रीय तथा स्थानीय भू सम्पत्तिवान वर्गों के लिये अपनी स्थिति सुद ढ़ करने का काल था। संक्षेप में हमें यह तय करना पड़ेगा कि ऐतिहासिक स्त्रोत के रचयिता के क्या व्यक्तिगत स्वार्थ और रुझान हैं।

5. ऐतिहासिक स्त्रोत का रचियता क्या उस विषय पर जानकारी देने की स्थिति में है जिस पर कोई इतिहासकार काम करना चाहता हैं ? कहीं वह सुनी-सुनाई अनुश्रुतियों पर तो अपना वर्णन नहीं कर रहा है ? एक उच्च जाति के ब्राह्मण द्वारा रचित ग्रंथ से उस समूह के निम्न वर्गों तथा जातियों के प्रति रवैये को समझने के लिये तो इस्तेमाल किया जा सकता है लेकिन निम्न जातियों की मानसिकता का अध्ययन इससे सम्भव नहीं हैं। जॉन रीड, एक अमेरिकन पत्रकार जिन्होंने, **दस दिन जब दुनिया हिल उठी** (1919) में बोल्सेविक रूसी क्रांति का आँखों-देखा हाल लिखा, क्या उसे हम पूरी तरह प्रामाणिक मान कर एक प्राथमिक स्त्रोत के जैसे 1917 की रूसी क्रांति के अध्ययन के लिये इस्तेमाल कर सकते हैं। या बिल्कुल पास का उदाहरण ले तो आर्य समाजी भजनियों—जैसे पं० बस्तीराम या चौ० ईश्वर सिंह के भजनों से क्या हम अपने हरियाणा प्रदेश की स्त्रियों की मनोदशा तथा आर्थिक-सामाजिक स्थिति को भली-भांति समझ पायेंगें ?

6. ऐतिहासिक स्त्रोत के उपयोगी होने के लिये हमें यह भी देखना पड़ेगा कि समकालीन इस स्त्रोत को कैसा समझते थे और यह वास्तव में हमें क्या जानकारी देता है। इस संदर्भ में कई बार इतिहासकार को पुरालिपि तथा भाषाशास्त्र (Philology) का भी सहारा लेना पड़ता है। कई बार शिलालेख, लिपि तथा हस्तलिपि को समझने की कठिनाइयाँ भी आ सकती है। इसके अलावा भी इतिहासकार को स्त्रोत में दी गई जानकारियों को कई बार स्पष्ट करना पड़ता है। जैसे अगर माप तौल या मुद्रा के मापदंड का वर्णन किया गया है तो यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि हमारी प्रचलित मापदंडों से इनकी तुलना कैसे की जाये।

7. अंत में यह सवाल भी उठता है कि स्त्रोत को दूसरे स्त्रोतों से (प्राथमिक तथा गौण दोनों) कैसे तुलनात्मक द ष्टि से आँका जाये यानि कि स्त्रोत से प्राप्त जानकारी दूसरे स्त्रोतों से प्राप्त जानकारी से मेल खाती है या नहीं। इसका अर्थ यह भी है कि इतिहासकार को दूसरे स्त्रोतों की, उनके संदर्भ की भी अच्छी जानकारी होनी चाहिये।

अंत में स्त्रोतों की प्रमाणिकता के महत्व को समझाने के लिये हम फिर एक दो महत्वपूर्ण उदाहरण देकर इस बात को साफ करने की कोशिश करते है। कौटिल्य रचित **अर्थशास्त्र** के बारे हम सभी जानते हैं। कौटिल्य निसंदेह चन्द्रगुप्त मौर्य के सलाहकार तथा मंत्री रहे लेकिन एक इतिहासकार जब कौटिल्य के अर्थशास्त्र को प्राथमिक स्त्रोत की तरह इस्तेमाल करना चाहता है तो उसे कुछ जाँच-पड़ताल करनी पड़ेगी। सबसे पहला सवाल यह कि अर्थशास्त्र जिस रूप में हमें मिलता है क्या

वह मौर्य-काल में ही लिखा गया था ? क्या कारण है कि अशोक के शिलालेख और राजा के उपलब्ध आदेश (edicts) प्राकृत में लिखे गये हैं, और अर्थशास्त्र संस्कृत में ? लिपि के प्रयोग के स्टाईल आदि को देखकर तथा अर्थशास्त्र में मौजूद कई तरह की ऐसी जानकारियों को देखकर जो हमारे मौर्यकालीन समय के ज्ञान से मेल नहीं खाते, विद्वान इस नतीजे पर पहुँचे कि मौजूदा अर्थशास्त्र को वास्तव में विष्णुदत्त ने चौथी सदी में संकलित किया था जिससे इसमें प्रक्षेपण (interpolation) यानि मूल ग्रंथ में बाद में नयी चीजें जोड़ देने की संभावना बहुत अधिक है। इस मूल्यांकन के साथ निस्संदेह इतिहासकार इस ग्रंथ को, इन सीमाओं को ध्यान में रखकर ही इस्तेमाल करेगा। इसका एक और उदाहरण अब हम आधुनिक भारत के इतिहास से लेते हैं। मुंशी जीवन लाल नाम के एक व्यक्ति ने 1857 के विद्रोह का आँखों-देखा वर्णन अपनी डायरी में 11 मई 1857 से लेकर 14 सितम्बर 1857 तक लिखा। इस डायरी को उन्होंने बाद में अपने मालिक अंग्रेज-अधिकारी सी०टी० मेटकॉफ को सौंप दिया जिन्होंने इसे एक दूसरे एक 1857 के इसी प्रकार के वर्णन के साथ छपवाने की सोची। यह 1898 में सी०टी० मेटकॉफ की म त्यु के बाद A Description of two Native accounts of Mutiny के नाम छपी। इसको इतिहास के स्त्रोत के रूप में इस्तेमाल करने के लिए इसकी विश्वसनीयता तथा प्रामाणिकता की जाँच करना आवश्यक है। पहले सवाल यह उठता है कि जीवन लाल का इस डायरी लिखने तथा अपने अंग्रेज मालिक को देने के पीछे क्या उद्देश्य था—जीवन लाल विद्रोह के बाद भी अंग्रेजों की सेवा करता रहा इसलिये एक लक्ष्य यह साफ होता है कि वह अपने को निर्दोष (अंग्रेजों की नजर में) साबित करना चाहता था। दूसरे वह सीधे जानकारी हासिल न करके अपने एजेन्टों के माध्यम से सूचनायें प्राप्त कर रहा था और स्वयं को अपने घर तक सीमित किये हुये था। स्वयं मेटकॉफ ने एक दो जगह सूचनाओं को निराधार घोषित किया है। इस प्रकार के मूल्यांकन के बाद भी हम इस स्त्रोत का इस्तेमाल कर सकते है, लेकिन यह कार्य बहुत सावधानी से करना पड़ेगा। इस तरह के मूल्यांकन को इतिहाकार बाह्य तथा आंतरिक आलोचना (External and internal Criticism of source) के नाम से जानते है।

शुरू में ही हम कह चुके हैं कि अनुभववादी कार्य-पद्धति (empirical method) यह मानकर चलती है कि इतिहासकार जो अतीत के जानकारी रखते है वह प्रमाण या सबूतों पर निर्भर करती है। इसलिये इतिहासकार के प्रशिक्षण में जो मुख्य बात है वह यह है कि अतीत के स्त्रोतों से प्रमाण का उपयोग कैसे किया जाये। प्रमाण घटना तथा उसके वर्णन के बीच एक सबसे नजदीकी साद श्यता या साम्य स्थापना करने का साधन माना गया है। सबूत के बिना इतिहास काल्पनिक लेखन बन जायेगा। इतिहासकारों के ज्ञान-शास्त्र में इसलिये प्रमाण का बेहद महत्वपूर्ण स्थान है। ज्यादातर इतिहासकार यह मानते हैं कि प्रमाण (स्त्रोतों) के अध्ययन से ही उस ऐतिहासिक परिपेक्ष्य की जानकारी मिलती है जिससे हम अतीत की वर्तमान से तुलना कर सकते हैं। ऐतिहासिक सर्जन तथा विश्लेषण का मुख्य भाग प्रमाण जुटाना, उन्हें परस्पर जोड़ना तथा अलग-अलग प्रभागों में विश्लेषण से पहले विभेद कर पाना तथा सबूतों की कमजोरियों को दूर करने की प्रक्रिया ही है। यह स्वाभाविक ही है कि इतिहासकार अतीत को अप्रत्यक्ष रूप से प्राथमिक प्रमाण (अतीत के पुरातत्व-अवशेषों, लिखित दस्तावेजों, मौखिक या अन्य भौतिक वस्तुओं) या गौण प्रमाण (दूसरे इतिहासकारों की रचनाओं) के माध्यम से ही देख सकता है। यह अपने आप में बेहद जटिल और पेचीदा काम है कि प्रमाणों के इस तरह के संकलन से कुछ विश्लेषण करके कोई अर्थपूर्ण वर्णन किया जाये। इस तरह की मुश्किलों के बावजूद अतीत का सही-सही वर्णन करना इतिहासकारों के अस्तित्व का सवाल है। जैसा हम कह चुके हैं कि व्यवहारिक कठिनाईयों से ज्यादा इसमें ज्ञान-शास्त्र (epistemology) तथा सत्तामूलक (Ontological) समस्यायें हैं जिनके आधार पर उत्तर-आधुनिकता इतिहास के व्यवसाय पर आजकल आक्रमण कर रही है। इतिहासकारों का मानना है कि स्त्रोतों के सही मूल्यांकन से, सही विधि अपनाकर वे अतीत की वास्तविकता के नजदीक से नजदीक पहुँचने की कोशिश करते हैं। जितनी ज्यादा साद श्यता अतीत और प्रमाणों के बीच होगी उतना ही हम ऐतिहासिक सत्य के करीब

पहुँचेगें इसलिये इतिहासकार प्राथमिक स्त्रोतों को उनकी प्रकृति, काल और उद्‌गम-स्थान के अनुसार वर्गीकरण करने तथा दूसरे स्त्रोतों से तुलना करके उनकी प्रामाणिकता स्थापित करने तथा उनकी विश्वसनीयता जाँचने में (स्त्रोत की रचना करने वाले का द ष्टिकोण परखने में) इतना समय और प्रयत्न लगाते हैं सबूत के आधार पर निष्कर्ष निकाल कर इतिहासकार इतिहास के कर्त्ताओं के निर्णय या गतिविधियों का समय और काल की विशिष्ट परिस्थितियों में विश्लेषण करते हैं। कर्त्ता के प्रयोजन, मंशा या नियत (agent intentionality) के बारे में निष्कर्ष निकालना काफी लम्बी प्रक्रिया है तथा इसके लिये इतिहासकार स्त्रोत की आंतरिक आलोचना पर भी निर्भर रहते हैं। अधूरे तथा गुमराह करने वाले सबूतों के आधार पर कोई ऐतिहासिक व्याख्या करना खतरनाक होता है इतिहासकार के खनन कार्य तथा खोज से स्त्रोत अपने आप किसी नतीजे पर नहीं पहुँचते लेकिन अपेक्षा की जाती है कि ऐतिहासिक पद्धति का सही उपयोग करके कम से कम हम सबसे ज्यादा उचित लगने वाली व्याख्या तक तो पहुँच ही जायेगें। यह व्याख्या अस्थायी ही होती है और तब तक मान्य होगी जब तक नये सबूतों के आधार पर इसमें बदलाव की जरूरत ना हो। उत्तर-आधुनिकतावाद की मान्यता है कि स्त्रोतों से प्राप्त सबूतों को संगठित रूप देकर लिखित वर्णन (narrative) की शक्ल देने में भाषा का बहुत अधिक महत्व है और भाषा केवल उपमाओं का खेल है जिनके माध्यम से वास्तविकता को पकड़ पाना असंम्भव है। हमारा सांस्कृतिक वातावरण, हमारी विचारधारा, व्यवसाय में शोध के विषयों का प्रचलन आदि-आदि तय करते हैं कि साक्ष्य या सबूत में क्या मूल्यवान है क्या नहीं। इनका मानना है कि चूँकि साक्ष्य या प्रमाण में ऐसा कुछ नहीं है जिससे वह इतिहास की रचना कर सके; इसलिये अपनी व्याख्या और कल्पना से इतिहासकार कैसे सबूत को संगठित करता है, कैसे कथा-वस्तु या कथानक की रचना (emplotment) करता है, इससे वह अतीत का एक खाका हमें दिखाता है। इसलिये इस इतिहास के उत्पादन की प्रक्रिया में प्रमाण/सबूत गौण ही रहता है और इतिहासकार यह कह कर अपनी जान बचाता है कि उनका विषय न पूरा विज्ञान के नमूने जैसा है ना पूरी कला के जैसा। इस तरह के सवाल काफी महत्वपूर्ण हैं और इनका दार्शनिक हल इतिहासकारों को नये सिरे से ढूँढने की जरूरत है।

अध्याय - 3

कारण–कार्य सम्बन्ध तथा वस्तुनिष्ठता
(Causation And Objectivity)

कारण–कार्य का सम्बन्ध दर्शाना इतिहासकार के लिये बहुत महत्वूपर्ण और मुश्किल मुद्दा है। यह भी काफी अचरज की बात है कि ज्यादातर व्यवसायिक इतिहासकार इस मुद्दे पर बातचीत और चर्चा करने से बचते हैं सामान्यतया हम जानते हैं कि दो घटनाओं के बीच एक कारण-कार्य का सम्बन्ध होता है यदि घटना 'क' दूसरी घटना 'ख' से पहले घटित होती है और अगर हम तर्कसंगत तरीके से यह दर्शा सकें कि घटना 'क' का होना दूसरी घटना 'ख', जो समय की क्रमबद्धता में बाद में होती है, की व्याख्या करने के लिये काफी है। इतिहासकार के लिये यहीं काफी पेचीदा मसला है कि यह बात कैसे साफ की जाये कि वास्तव में एक पूर्ववर्त्ती या पहले होने वाली घटना कैसे बाद में होने वाली घटना का निर्धारण करती है। वैज्ञानिकों के लिये यह काम अपेक्षाकृत आसान है क्योंकि यह सिद्ध करना कि सामान्य परिस्थितियों में 0° सैल्सियस तापमान पर बर्फ जमती है या 100° सैल्सियस पर वाष्प बन जाती है केवल पानी को उस हद तक ठंडा या गरम करके दर्शाया जा सकता है। लेकिन दुनिया में ऐसी कोई प्रयोगशाला नहीं बनी है जिसमें मानवीय क्रियाओं के बीच इस तरह का कारण-कार्य सम्बन्ध दिखाया जा सके। हम यह कहकर अपना पीछा छुड़ा सकते हैं कि घटनायें हुईं क्योंकि उन्हें होना था जैसे विद्यार्थी यह लिख सकते हैं दूसरा विश्वयुद्ध हुआ क्योंकि हिटलर युद्ध चाहता था–यह काफी सच भी है लेकिन किसी बात की व्याख्या नहीं हुई। इतिहासकार कारणों का अध्ययन करना चाहता है ? वह लगातार यह सवाल पूछता है कि घटनाओं का कारण क्या था ? वे क्यों घटित हुईं ? हिरोदोतस, जिन्हें पश्चिमी दुनिया में इतिहास का जनक माना जाता है उन्होंने अपने इतिहास-लेखन का उद्देश्य लिखा था कि वह सभ्य ग्रीक तथा बर्बर जातियों के कारनामों को बाद की पीढ़ियों के लिये याददाश्त के रूप में जिंदा रखना चाहते थे और यह भी दिखाना चाहते थे कि इनके बीच युद्ध क्यों हो रहे थे ? मोन्तेस्क्यू ने अपने एक लेख में रोमन साम्राज्य की महानता के कारणों तथा उनके ह्रास के कारण बताने की कोशिश की थी। इसमें उन्होंने कहा कि उनकी महानता के कुछ सामान्य कारण थे जो किसी भी राजतंत्र में होते हैं–नैतिक तथा भौतिक कारण। उसके बाद से ही इतिहासकार तथा इतिहास के दार्शनिक इस कोशिश में लगे रहे कि मानव के अतीत के अनुभवों को कैसे ऐतिहासिक घटनाओं तथा कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करके संगठित किया जाये और अगर सम्भव हो तो ऐतिहासिक विकास के नियम इसके आधार पर बनाये जायें। अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार इन कारण और नियमों की व्याख्या उन्होंने कभी यांत्रिकीय तथा जैविक उपमाओं के आधार पर, तो कभी आर्थिक, मनोवैज्ञानिक या आधिभौतिक कारणों से इन्होंने इतिहास की व्याख्या करने की कोशिश की। लेकिन इतिहास में यह एक मौलिक सिद्धांत बन गया कि इतिहास और अतीत की घटनाओं को समझने के लिये उन्हें कारण-कार्य सम्बन्ध दिखाते हुए सुव्यवस्थित ढंग से प्रदर्शित करना चाहिये। अतीत और इतिहास की नियमों के रूप में व्याख्या करना अब इतिहासकार छोड़ रहे हैं तथा 'कारण' की जगह 'व्याख्या' (Explanation/Interpretation)

की बात ज्यादा करने लगे हैं और कोई घटनायें क्यों हुई इसकी बजाय घटना कैसे हुई—इस पर ज्यादा बल देते हैं। लेकिन घटना कैसे हुई यह भी यह सवाल पैदा करेगा कि घटना क्यों हुई। अर्थात् कारण-कार्य के सम्बन्ध के बिना अतीत का विश्लेषण असम्भव सा जान पड़ता है।

कारणों की प्रकृति को लेकर इतिहास के दार्शनिकों के बीच काफी प्रभावशाली विवाद शुरू से ही रहा है। बेनड़ेटो क्रोचे तथा कॉलिंगवुड दोनों का यह मानना था कि सब इतिहास कर्त्ताओं के विचार का, सोच का इतिहास है। लेकिन इससे भी कारण-कार्य सम्बन्ध इतिहास में पूरी तरह बेमायना नहीं हो जाता, बल्कि इतिहासकार का काम, उसका उद्देश्य किसी ऐतिहासिक कर्त्ता की क्रिया के पीछे जो विचार काम कर रहा है-कर्त्ता की नियत, मंशा या प्रयोजन को तलाशने का हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि घटना अपने आप में गौण है तथा कर्त्ता के दिमाग में जो विचार पहले से मौजूद है—वह घटना को जन्म देने वाला कारण है जिसकी खोज इतिहासकार को करनी चाहिये। कार्ल हेम्पेल ने ऐतिहासिक घटनाओं को समझने के लिये छिपे हुए, आवरक नियम (Covering laws) खोजने की सलाह दी जिनके आधार पर विशिष्ट क्रियाकलापों तथा घटनाओं की व्याख्या की जा सके। कारण-कार्य के सम्बन्ध की व्याख्या अलग-अलग दर्शन से प्रभावित होकर इतिहासकार अलग-अलग तरीके से करते आये हैं। प्रत्यक्षवादी तथा आदर्शवादी विचारक अलग-अलग तरीके से इस सम्बंध को देखते रहे हैं। कारण-कार्य के सम्बन्ध को निर्धारित करने में इतिहासकार सदैव दो तत्वों के बीच संघर्ष और अंर्तविरोध देखता है—जो दिखाई पड़ता है और जो वास्तव में है। केवल पर्यवेक्षण के आधार पर हम कारण-कार्य के सम्बन्ध का निर्धारण करने वाली शक्तियों को नहीं पहचान सकते। लेकिन इतिहासकार मानते है कि प्रमाण का सहारा लेकर, एक सही पद्धति और सिद्धांत की मदद से वे इस समस्या से निपट सकते हैं और कारण-कार्य सम्बन्ध को ऐतिहासिक व्याख्या का केन्द्रीय पहलू बना सकते हैं। ऐतिहासिक व्याख्या की अपेक्षा रहती है कि इतिहासकार घटनाओं तथा प्रक्रियाओं के वास्तविक कारणों का सबूतों से निष्कर्ष निकाल कर पता लगाये। ई०एच० कार ने **इतिहास क्या है ?** नामक अपनी महत्वूपर्ण रचना में यह समझाने की कोशिश की कि इतिहासकार का कारणों से उसी प्रकार का रिश्ता है जिस तरह का ऐतिहासिक तथ्यों की खोज से। वह लिखते हैं कि "कारण ऐतिहासिक प्रक्रिया को उसके (इतिहासकार द्वारा) द्वारा व्याख्या का निर्धारण करते हैं और उसकी व्याख्या उसके द्वारा कारणों का चयन तथा विन्यास का निर्धारण करती है। कारणों का पदानुक्रम, एक कारण या कारणों के समूह की अपेक्षा दूसरे कारण को अधिक महत्व देना ही इस व्याख्या का सार है।"

इस प्रकार ई० एच० कार का मानना है कि अतीत और इतिहास का अध्ययन तथ्य तथा कारणों के बीच एक तरह का वर्त्ताकार सम्बन्ध स्थापित करता है। अगर ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या करनी है तो इतिहासकार को घटना के कई सम्भावित कारणों की सूची तैयार करनी चाहिये तथा फिर उनमें एक पदानुक्रम (hierarchy) निर्धारित करे अर्थात् तथ्यों और घटनाओं के बीच सम्भावित कारणों में सबसे महत्वूपर्ण कारणों को पहले रखे, फिर उससे कम महत्वपूर्ण कारणों को और बाद में सबसे कम महत्वपूर्ण तथा तत्कालीन कारणों को। इस तरह की व्याख्या से इतिहासकार अपने ऐतिहासिक व तांत को निर्मित कर सकता है। फ्रांस के एनाल्स् (Annales) मत के इतिहासकारों ने कारण-कार्य सम्बन्ध में इस तरह के पदानुक्रम को नहीं माना क्योंकि वे सम्पूर्ण मानवीय क्रिया-कलापों को इतिहास के अध्ययन का हिस्सा बनाना चाहते थे और इस सम्पूर्ण इतिहास (total history) के सर्जन में उनका मानना था कि विभिन्न कारणों—आर्थिक, सामाजिक, जनसंख्या सम्बन्धी, नैतिक, राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि का पारस्परिक एक दूसरे पर इतना प्रभाव पड़ता है कि किसी घटना के सभी कारणों को खोजना भी मुश्किल है ओर उनको अलग-अलग करके महत्व के हिसाब से कोई पदानुक्रम स्थापित करना तो नामुमकिन ही है। उनका इतिहास कारणों तथा विभिन्न ऐतिहासिक शक्तियों के पारस्परिक अंर्तसम्बन्ध (interactive relationship) का इतिहास था।

इन दार्शनिक और सैद्धांतिक सवालों को एक पल के लिये छोड़कर हम इतिहासकार के व्यवहार पर नजर डालते हैं कि इतिहासकार जब अतीत की घटनाओं का विश्लेषण करता है तो किस तरह कारणों की खोज करता है। यह सही है कि सामान्यतया कोई भी इतिहासकार एक ही घटना के कई सारे कारण बताता है। ये अनेक कारण एक दूसरे से काफी घुले-मिले भी रहते है यही इनकी जटिलता का कारण भी है। ऐतिहासिक घटनाओं में कारणों की बहुलता रहती है जैसे 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के कारणों को ही देखें तो आप अनेक कारण याद कर सकते हो—फ्रांस की सामाजिक वर्ग संरचना, जनता पर बढ़ता करों का बोझ, सम्राट की निरंकुशता, अभिजात्य या कुलीन वर्ग का अपने विशेषाधिकारों को छोड़ने के लिये तैयार न होना, भारी अन्तवानेत (रानी) का हठीलापन, प्रबोधन काल के तार्किक विचारों का प्रभाव, मध्यम वर्ग का अपने अधिकारों के लिये बलपूर्वक दावा पेश करना, तथा कुलीन वर्ग का वित्तिय सुधारों को मानने के लिए तैयार न होना आदि-आदि। यानि एक घटना की व्याख्या के लिये अनेक आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक तथा व्यक्तिगत कारणों का, लघुकालीन तथा दीर्घकालीन कारणों का जमावड़ा करना पड़ता है। सामान्यतया विद्यार्थी भी और व्यवसायिक इतिहासकार भी इस कारणों की लम्बी सूची में एक क्रमबद्धता स्थापित करने की कोशिश करते हैं। इतिहासकारों में, उनकी अपनी वैचारिक प ष्ठभूमि की वजह से, कई बार इस पर विवाद होता है कि कौन से कारण ज्यादा प्राथमिक हैं तथा कौन से कारण गौण हैं। कई इतिहासकार सब कारणों के कारण, अंतिम एक ऐतिहासिक नियम की खोज में भी जुटे रहते हैं। जिससे वे सब ऐतिहासिक घटनाओं तथा समाजों की व्याख्या कर सकें। अक्सर ऐतिहासिक तर्क इस सवाल के इर्द-गिर्द घूमता है कि किन कारणों को प्राथमिकता दी जाये। सामंतवाद से पूंजीवाद के बीच संक्रमण (transition) को लेकर पॉल स्वीजी, मॉरिश डॉब आदि विद्वानों के बीच जो विवाद है उसका मूल यही है कि इस संक्रमण में सबसे महत्वपूर्ण प्रेरक-शक्ति किसे माना जाये। इंग्लैण्ड में 19 वीं सदी के उदारवादी विग (Whig) इतिहासकारों ने ब्रिटिश शक्ति तथा सम द्धि के लिये इंग्लैण्ड के संविधान तथा अन्य राजनैतिक संस्थाओं को महत्वपूर्ण माना था लेकिन आधुनिक इतिहासकार आर्थिक-तकनीकी क्षेत्र में इंग्लैण्ड के अग्रणी होने पर ज्यादा बल देते हैं। इतिहासकारों में इस तरह के जो भी विवाद हों, सामान्यतया वे अंग्रेज दार्शनिक डेविड ह्यूम के संशयवादी द ष्टिकोण से सहमत नहीं होते जो इसमें संदेह व्यक्त करता है कि मानव-बुद्धि वास्तविक कारणों को जान सकती है। इतिहासकार हमेशा उन प्रेरक शक्तियों को खोजता है जो आवश्यक रूप से बाद की घटनाओं को जन्म देती हैं। इसको कभी-कभी **पर्याप्त कारण-कार्य सम्बन्ध** (sufficient causality) का नाम दिया जाता है। कारण-कार्य के सम्बन्ध के बारे में अनुभववादी सिद्धांत इसकी जटिलता को स्वीकार करते हुये भी यह मानता है कि तथ्य जाने जा सकते हैं और बिना किसी पूर्वाग्रह तथा पर्यवेक्षक की तरफदारी के हम उन्हें पा सकते हैं और तथ्यों के माध्यम से हम कारणों तक भी पहुँच सकते हैं। जैसे हम इतिहास का एक जाना-माना उदाहरण अब्राहम लिंकन की हत्या का मामला ही ले तो इतिहासकार इसकी व्याख्या लिंकन के इस प्रयोजन से कर सकता है कि लिंकन अपनी पत्नी के साथ थोड़ी मौज-मस्ती के लिए फोर्ड रेस्टोरैन्ट गया। चूंकि कुछ अमरीकी पहले से ही लिंकन से उसकी गुलामी विरोधी रवैये से खफ़ा थे (इन्सान की फ़ितरत जो घटना के पीछे छिपा नियम हो सकता है—या घटना के निर्धारण का कारण) और फिर यह कि बंदूक लोगों को मार सकती है (यांत्रिकीय नियम)। इब इन वर्णित तथ्यों में से किसी को भी लिंकन की हत्या का प्राथमिक कारण माना जा सकता है।

जैसे-जैसे इतिहास के अतीत को जानने का दायरा बढ़ता है वैसे-वैसे इतिहास में घटित घटनाओं के कारणों की जानकारी भी बढ़ती जाती है—आधुनिक समय में इतिहास के अनेक नये पक्षों—आर्थिक इतिहास, जनसंख्या की संरचना आदि का इतिहास, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा कानूनी इतिहास का ही दायरा नहीं बढ़ा है बल्कि स्त्री-विषयक अध्ययन, पर्यावरण- अध्ययन तथा निम्न वर्गों के इतिहास नये क्षेत्रों में भी इतिहास ने योगदान देना शुरू किया है। इस विस्तार से कारण-कार्य सम्बन्ध पर नयी रोशनी पड़ी है। 'इतिहासकार, अतीत को समझने के लिये, वैज्ञानिक की भाँति ही, अपने उत्तरों

की बहुलता को सरल करने की तथा उनमें एक व्यवस्था बनाने की कोशिश करता रहता है। इतिहासकार को दो भुलावों से अक्सर सामना करना पड़ता है—एक इतिहास में क्रियाओं का निर्धारण तथा दूसरा इतिहास में संयोग या आकस्मिक घटनाओं की भूमिका। कार्ल पॉपर ने 1930 के दशक में The *Logic of Scientific Enquiry* नामक पुस्तक लिखी तथा बाद में उनकी दो अन्य महत्वपूर्ण रचनायें, *The open society and its enemies* तथा *The Poverty of Historicism* भी प्रकाशित हुई थी। कार्ल पॉपर ने इसमें हेगेल तथा कार्ल मार्क्स के तथाकथित निर्धारणवाद (determinism) पर हमला बोला था। इसी तरह इशाइया बर्लिन ने भी मार्क्स तथा हेगेल की यह कहकर निंदा की थी कि मानवीय क्रिया कलापों को कारण-कार्य के सम्बन्ध के रूप में देखते हुए, मानवीय कर्मों में स्वेच्छा (free will) को नजरअन्दाज किया गया था। उनका मानना था कि इतिहास में घटनायें आवश्यक रूप से वैसे ही नहीं होती जैसा मार्क्स या हेगेल जैसे विचारकों ने निर्धारित करने की कोशिश की थी। यह निर्धारणवाद है क्या ? निर्धारणवाद ऐसा विश्वास है कि जो कुछ मानव-समाज में होता उसके कुछ कारण होते हैं और ये अलग तरीके से नहीं हो सकता बशर्ते कारणों में ही कोई बदलाव न आ जाये। निर्धारणवाद इतिहास की ही समस्या नहीं है, यह पूरी मानवीय व्यवहार पर लागू होता है। मानवीय क्रियाकलाप जिनका कोई कारण नहीं होता और इसलिये जिन्हें निर्धारित नहीं किया जा सकता वह भी एक ऐसी अमूर्त धारणा है जैसे समाज से अलग व्यक्ति का अस्तित्व। निस्संदेह, मानव-समाज में कुछ घटनायें अक्समात् होती है, लेकिन सब कुछ न प्रकृति में न समाज में संयोगवश नहीं होता। इतिहासकार का विश्वास है कि अतीत के मानवीय क्रिया-कलापों के कुछ कारण रहे होगें जिनको समझा जा सकता है। इस धारणा के बिना इतिहास का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। इतिहासकार वास्तव में मानवीय क्रियाओं के कारणों को ही खोजने की कोशिश करता है। यही कारण है कि इतिहासकार की मानव के निर्धारित कर्मों में (पूर्व निर्धारित नहीं) विशेष रुचि होती है। वह पूर्व-निर्धारण में विश्वास नहीं करता ना ही स्वेच्छा की भूमिका को नकारता है। हाँलाकि कई मौजूदा परिस्थितियों के दम पर, उनके प्रभावशाली असर को देखते हुये वह कह सकता है कि यह घटनाक्रम बिल्कुल बेहद आवश्यक (inevitable) था।

इतिहासकार पर्याप्त कारण तथा आवश्यक कारण में भी भेद करते हैं। पर्याप्त कारण उसे कहा जाता है अगर उस कारण के बाद एक निश्चित प्रभाव हमेशा देखने में आये। पर्याप्त कारण आवश्यक कारण से अलग होता है। एक कारण को आवश्यक कारण कहा जायेगा अगर इसके न होने की स्थिति में इसका प्रभाव भी न नजर आये। ज्यादातर ऐतिहासिक व्याख्याओं में आवश्यक तथा पर्याप्त कारणों को अलग-अलग दिखाया जाता है तथा कई बार इतिहासकार विभिन्न कारणों में एक पदानुक्रम कौन सबसे महत्वपूर्ण हैं और कौन कम—इस रूप में स्थापित करने की कोशिश भी करते हैं। प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञानों में हम एक घटना या प्रयोग का कई बार पर्यवेक्षण करके उसके आधार पर, पर्यवेक्षण में दिखने वाले नियमित घटना-क्रम से कारण-कार्य का सम्बन्ध दर्शाने वाली परिकल्पना (hypothesis) बनाते हैं और फिर दुबारा इस परिकल्पना की प्रयोग के द्वारा जाँच करते हैं। इस प्रकार घटना के पीछे क्या नियम काम रहा है इसका पता लगाया जाता है। मानवीय विज्ञान में, इतिहास भी जिसका हिस्सा है, ऐतिहासिक घटनाक्रम के पीछे काम कर रहे नियम का निर्धारण असम्भव सा काम है। इतिहास में कारण वह घटनाक्रम मान लिया जाता है जो अन्य कुछ घटनाओं के साथ मिलकर संयुक्त रूप से, उन खास परिस्थितियों में एक प्रभाव को जन्म देता है। अर्थात् इतिहास में व्याख्या के लिये सम्भावनाओं के साथ-साथ आवश्यक तथा पर्याप्त कारणों का सहारा हर इतिहासकार को लेना ही पड़ता है। इस यथार्थवादी कारण-कार्य सम्बन्ध की व्याख्या में ही इतिहासकार की पूर्ण-धारणाओं का काफी महत्व रहता है। इन पूर्व-धारणाओं में इतिहासकार मानवीय कर्मों को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों में किनको ज्यादा महत्व देता है—वह अपने आप में एक पूर्ण-धारणा ही है। इन अनेक निर्धारक शक्तियों में से वह किसी को भी ज्यादा अहमियत दे सकता है—स्वेच्छा, कर्त्ता का प्रयोजन, मनोविज्ञान या अन्य निर्धारणवादी कारक—जैसे भौगोलिक

परिस्थितियाँ, लिंग, विचारधारा, नैतिकता, भौत्तिकता, संस्कृति या नस्ल। इतिहासकार की वर्तमान में भविष्य के बारे में क्या धारणा है, यह भी यह तय करता है कि वह कारणों के बारे में, अतीत को समझने में, किस प्रकार का रुख अपनायेगा। कोई घटना क्यों हुई या अगर घटना किसी और तरह हुई होती तो उसका प्रभाव क्या होता या प्रमाण के चयन में तथा उनको व्यवस्थित करने में इतिहासकार के दिमाग में पूर्व-निर्धारित अर्थ पहले ही मौजूद रहते हैं तथा ये उसके अपने वर्तमान में वह भविष्य के प्रति क्या द ष्टिकोण रखता है—इस बात पर भी काफी हद तक निर्भर करते हैं।

कारणों का विश्लेषण काफी हद तक इतिहासकार के दिमाग में पहले से बनाये गये उन विचारों पर निर्भर करता है जो वह अतीत की घटनाओं के एक के बाद एक के होने के बारे में बनाये रहता है। वह किसी भी एक व्याख्या को प्राथमिकता देता है, एक प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं को ज्यादा अर्थपूर्ण नजरिये से देखता है (जलवायु/नस्ल या उत्पादन का ढाँचा) यह घटनाओं और उनके कारणों को ज्यादा प्रभावित करता है न कि प्रमाण या सबूत में मौजूद वस्तुनिष्ठ तथ्य। यहाँ तक कि उत्तर आधुनिकतावादी विचारक तो कहते हैं कि दुनिया अतीत में कैसी थी या वर्तमान में कैसी दिखाई पड़ती है—इन सवालों का जवाब इस बात पर निर्भर करता है कि आपके सत्तामूलक विश्वास कैसे हैं तथा दुनिया को समझने की किस पद्धति का सहारा आप लेते हैं। क्या आप ऐतिहासिक भौतिकवाद में ज्यादा विश्वास रखते हैं या कर्त्ताओं की नियत, मंशा या प्रयोजन को ज्यादा बल देते हैं ? इनके विचार में वस्तुनिष्ठ सत्य तक पहुँचना असम्भव है और इतिहासकार अपने-अपने विचारों के अनुरूप अलग-अलग अतीत की कहानियाँ ही गढ़ सकते हैं। इसलिये जैसाकि हम पहले ही कह चुके हैं कि उत्तर-आधुनिकतावादी विद्वानों का यकीन है कि साहित्य की काल्पनिक रचना और इतिहासकार की कहानी में कोई मौलिक अंतर नहीं होता है।

इसके विपरीत कुछ विद्वान यह तर्क देते है कि समाज में, अतीत के समाज में भी और वर्तमान में भी जो कुछ घटित हो रहा है या होता है, वह जरूरी नहीं है कि आवश्यकतावश वैसा ही होना था या हो रहा है। इनके विचार में ऐतिहासिक घटनायें संयोगवश आकस्मिक कारणों से ही होती हैं। अतीत में क्या घटित हुआ, इतिहासकार प्रमाणों का सहारा लेकर, स्त्रोतों से उन्हें ढूँढ निकालकर, इस सवाल का जबाव देते हैं अगर ऐसा न हुआ होता और घटना किसी और तरीके से घटित हुयी होती तो क्या होता—इस तरह की अटकलबाजी का इतिहासकार के लिये कोई मतलब नहीं है। जैसे 1857 के विद्रोह के संदर्भ में अगर-मगर के सवाल अगर हम खड़े करें तो वह एक अर्थहीन क्रिया ही होगी। हम कहें कि अगर विद्रोह सफल हो जाता तो इसका क्या नतीजा होता—क्या बहादुरशाह ज़फर मुगल साम्राज्य को स्थापित कर देता या क्या ताज के शासन न आने से भारत जापान के मेज़ीकालीन समय की तरह अपना स्वतंत्र आर्थिक-औद्योगिक विकास कर सकता था, फिर विश्व में भारत की स्थिति कैसी होती या सामंती कुलीन पुराने शासक वर्ग फिर शक्तिशाली होकर उभरते और उनके खिलाफ भारत के लोगों को फ्रांसीसी क्रांति जैसे ही एक प्रजातांत्रिक गणतंत्रीय सामंतवादी विरोधी क्रांति करनी पड़ती। ये सब बे बुनियादी फालतू बातें हैं। इसी तरह के सवाल हम दूसरे ऐतिहासिक घटनाक्रम के बारे में भी खड़े कर सकते हैं कि अगर भारत में बौद्ध धर्म का वर्चस्व कायम हो जाता तो इसका आने वाले समय में देशी संस्थाओं विशेषकर जाति-व्यवस्था पर क्या दूरगामी प्रभाव पड़ता या सांस्कृतिक विकास की दिशा क्या होती। या रूस ने अगर प्रथम विश्वयुद्ध में भाग न लिया होता, लेनिन अगर जर्मनी में प्रवास से वापस रूस न आ पाते या करेन्सकी की अस्थायी सरकार अगर सफल हो जाती या अगर लेनिन की म त्यु के बाद अगर स्टालिन की जगह बुखारिन या ट्रॉटस्की बोल्सेविक दल का नेत त्व करते तो रूस के आधुनिक इतिहास की दिशा क्या होती। हम यहाँ यही कहेगें कि अगर घटनायें अलग तरीके से होती तो उनके कारण भी अलग ही होते इसलिये इतिहास इस तरह की अटकलबाजी में नही पड़ता। इतिहासकार का उद्देश्य यह है कि जो घटित हुआ है—उसका व तांत प्रस्तुत करना तथा उसके घटित होने के कारणों को ढूँढना। कुछ यह भी कहते हैं कि इतिहास आकस्मिक घटनाओं की, संयोगवश होने वाली घटनाओं का ही क्रम-मात्र है; इसलिये इस अतीत की

व्याख्या की जाये तो अकस्मात् कारणों के रूप में ही की जा सकती है। जैसे मंगल पांडे नामक सिपाही ने मेरठ में बगावत शुरू की—वह अकस्मात ही हो गया था, सिद्धार्थ ने घर अकस्मात ही छोड़ा था और अगर वह घर नहीं छोड़ता तो एक राजा होता, निर्वाण प्राप्त बुद्ध नहीं। प्रथम विश्वयुद्ध संयोगवश ही शुरू हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध में हिटलर संयोगवश ही मौत के मुँह में जाने से बच गया था। वास्तव में अकस्मात् घटित होने वाली ऐतिहासिक घटनाओं का कुछ न कुछ तो कारण होता ही है। और यह कारण इतिहासकार द्वारा जाँचे जा रहे कारणों की श्रंखला से अलग होता है—इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि किसी ऐतिहासिक प्रभाव को दर्शाने के लिये कोई कारण नहीं है। यहाँ यह सवाल तो पैदा होता है कि हम इतिहास में कारण और उसके प्रभाव की एक श्रंखला कैसे ढूँढ सकते हैं, इतिहास में अर्थ कैसे ढूँढ सकते हैं जबकि हमें पता है कि कोई भी 'संयोगवश' होने वाली घटना, जिसका हमारे विश्लेषण में ज्यादा महत्व नहीं है इस श्रंखला को तोड़ देती है पोलिबियस पहला इतिहासकार था जिसने सबसे पहले इस तरह की समस्या को उठाया था। आधुनिक विश्व के इतिहास में दो विश्व-युद्धों के बीच आई अस्थिरता और अनिश्चिता की स्थिति में कुछ इतिहासकारों ने इतिहास में अकस्मात् होने वाली, संयोगवश होने वाली घटनाओं पर ज्यादा बल दिया था। यह वैसी ही बात है जैसे फिसड्डी विद्यार्थियों में यह धारण रहती है परीक्षा में अव्वल नम्बर लाना एक प्रकार से लाटरी जीतने जैसा होता है। मार्क्स ने एक बार कहा था कि संयोगवश होने वाली घटनायें इतिहास की धारा की गति को तेज या धीमा कर सकती हैं लेकिन उसे रोक नहीं सकती हैं क्योंकि एक संयोग का प्रभाव दूसरे संयोग के प्रभाव को खत्म कर देता है लेकिन वास्तव में कुछ संयोगवश घटनायें ऐसी होती हैं जो इतिहास में इस तरह का संतुलन बनाने नहीं देती। इतिहास, वास्तव में, ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं का और उनके कारणों का संकलन करने की विधा है। जैसे इतिहासकार प्रमाण और सबूत में से तथ्य चुनता है उसी प्रकार कारणों की खोज करके उन्हें ऐतिहासिक महत्व प्रदान करता है और अपने विश्लेषण में उन्हें जगह देता है। अकस्मात होने वाले कारणों को हम सामान्य कारण बताकर उन्हें सामान्य विश्लेषण का हिस्सा नहीं बना सकते क्योंकि इस तरह की घटनायें अपने आप में अद्वितीय होती हैं। यह पूरा विश्लेषण हमें यह बताता है कि इतिहास में कारण-कार्य या कारण-प्रभाव का सम्बंध केन्द्रीय और मौलिक सवाल है, लेकिन इतिहासकार की अन्य गतिविधियों की तरह ही, यह भी एक खुला सवाल है जिसके बारे में किसी अंतिम नतीजे पर हम नहीं पहुँच सकते हैं।

इतिहास में वस्तुनिष्ठता (Objectivity) का स्थान

इतिहास में वस्तुनिष्ठता एक बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल है—लेकिन वस्तुनिष्ठता है क्या ? वस्तुनिष्ठता का मतलब है कि इतिहासकार अतीत का वर्णन पूरी तरह तटस्थ भाव से, पूरी तरह उदासीन होकर, अपने परिवेश, विचारधारा, वर्तमान परिस्थितियों से प्रभावित हुये बगैर करें। यह अपने आप में एक अहम सवाल है कि क्या इतिहासकार अतीत के क्रिया-कलापों का इस तरह पूरी निष्पक्षता से वर्णन कर सकता है या नहीं ? अक्सर विद्वान विज्ञान तथा इतिहास में फर्क करते हैं। इतिहास इस रूप में भौतिक विज्ञानों से अलग है कि विज्ञान में पर्यवेक्षक या मानवीय कर्त्ता अपने अध्ययन के विषय या वस्तु से अलग होता है लेकिन मानवीय विज्ञानों में कर्त्ता तथा विषय-वस्तु जिसका यह कर्त्ता अध्ययन करता है एक ही वर्ग के है, उनकी प्रकृति एक जैसे होती है यानि इतिहासकार स्वयं भी मनुष्य है तथा अपने परिवेश से प्रभावित होता रहता है और उसके अध्ययन की विषय-वस्तु भी अतीत के मनुष्यों के क्रिया-कलाप, विचार या उनका परिवेश रहती है। इतिहासकार और अतीत के मनुष्य एक ही तरह के प्राणियों की प्रजातियाँ है। इतिहासकार जैविक-वैज्ञानिकों की तरह मनुष्यों की भौतिक संरचना या शरीर की आंतरिक रचना का ही अध्ययन नहीं करता है बल्कि मनुष्य की एक अलग तरह की क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनमें मानवीय इच्छा महत्वूपर्ण भूमिका अदा करती है। समाजशास्त्री और इतिहासकार यह जानने की कोशिश करते हैं कि एक खास परिवेश में इन्सान

जो करते हैं वह किन इच्छाओं से प्रेरित होकर वह वैसा करते है, क्योंकि मानवीय जीवन के जिन रुपों का वो अध्ययन करते हैं उनमें उनकी इच्छा महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अब मानवीय इच्छा का चयन अलग-अलग मनुष्य अलग-अलग तरीके से कर सकते हैं। एक ही प्रकार की हालातों में अलग-अलग मनुष्य अलग-अलग तरह की प्रतिक्रिया दर्शाते हैं जैसे कोई शारिरिक खतरा मौजूद हो तो कुछ इन्सान अत्यंत बहादुरी से पेश आते है कुछ देखते हैं कि दूसरे कैसे प्रतिक्रिया करेगें और कुछ बिल्कुल कायरता से पेश आयेंगें। यह एक साधारण सा उदाहरण हमने यहाँ दिया है लेकिन मानवीय जीवन में, जटिल परिवेश में, प्रतिक्रियाओं के अनेक रूप हमें देखने को मिल सकते हैं। समाज के ढांचे के अनुरूप, उसकी जटिलता के हिसाब से अलग-अलग लोग जैसे आजीविका के लिये अलग-अलग व्यवसाय अपनाते है, अलग-अलग तरह की विचारधाराओं से प्रभावित होते है और एक विशेष तरह की विचारधारा में ही काफी बहुलता दिखाई पड़ती है। जैसे धर्म की विचारधारा के कितने ही रूप हमें दिखाई पड़ते है। वेद या बाइबिल या कुरान की व्याख्या लोग अलग-अलग तरह से करके अलग-अलग मत ओर सम्प्रदाय बना सकते हैं। हमारे कहने का मतलब यहीं है कि समाज-शास्त्रों में पर्यवेक्षक तथा अध्ययन किये जाने वाले मानवीय क्रिया-कलापों के बीच एक खास तरह का रिश्ता है जो प्राकृतिक विज्ञान से बिल्कुल ही अलग तरह का है। अतीत का अध्ययन करते हुये भी इतिहासकार, इतिहास विषय की इस खासियत की वजह से, अपने स्वयं के कुछ नजरिये लेकर ही कोई भी ऐतिहासिक घटना का पर्यवेक्षण करता है। इतिहास में, दूसरे शब्दों में हम अगर कहें, तो निरपेक्ष सत्य (absolute truth) कुछ भी नहीं होता है। इतिहासकार अतीत के विषय में जो कुछ भी कहता है, तमाम सबूत तथा प्रमाणों पर आधारित होने के बावजूद, उसकी सच्चाई सापेक्ष ही होती है यानि कुछ अन्य कथनों की तुलना में हम उसे सही या गलत कह सकते हैं। कार्ल मानहाईम के शब्दों में, "अनुभव के अलग-अलग वर्ग जिनके अनुसार अनुभव के विभिन्न रूपों को इकट्ठा किया जाता है तथा उन्हें क्रमबद्ध किया जाता है, यह पर्यवेक्षक की सामाजिक स्थिति पर ही निर्भर करता है"। यहीं सच नहीं है कि विषय-वस्तु के अध्ययन में इतिहासकार का रवैया महत्वूपर्ण भूमिका निभाता है बल्कि अध्ययन या पर्यवेक्षण स्वयं भी अध्ययन की विषय-वस्तु को प्रभावित कर सकता है।

आजकल कुछ भौतिक-विज्ञानी भी परमाणु से छोटे स्तर के कणों के व्यवहार के बारे में अनिश्चितता का सिद्धान्त (Principle of Uncertainity) की बात कर रहे हैं जिसमें भौतिक-वैज्ञानिक का पर्यवेक्षण (Observation) भी कण की स्थिति को प्रभावित कर सकता है। मानवीय क्रिया-कलापों में अतीत में निर्धारण बहुत ही मुश्किल काम है। भौत्तिक विज्ञान में, जाने- माने वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाईन ने यह पाया कि हमारे ब्रह्माण्ड में समय तथा अंतरिक्ष में दूरी का नाप नापने वाले की स्थिति पर भी निर्भर करता है और मापने वाले को स्थिति बदल जाने से समय या दूरी का माप भी बदल जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परम्परागत न्यूटन के यांत्रिकी-सम्बंधी नियम पूरी तरह गलत हैं। हमारे वर्तमान जीवन के बहुत से यांत्रिकीय आविष्कार उन्हीं नियमों के अनुसार काम करते हैं लेकिन जैसा आइन्सटीन ने दिखाया कि ये नियम ब्रह्माण्ड की ज्यादा विशाल दूरियों या समय में काम नहीं करते। इसी तरह इतिहासकार का अतीत का ज्ञान भी, चाहे जितना ही विशाल और गूढ़ क्यों न हों, हमेशा अधूरा ही रहेगा। वह इतिहासकार की अपनी सीमाओं की वजह से, उसके परिवेश और विचारधारा के प्रभाव की वजह से, कभी पूरी तरह वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता—व्यक्ति-सापेक्षता (subjectivity) उस पर प्रभाव जरूर डालती रहेगी। लेकिन फिर भी इतिहासकार का उद्देश्य रहता है कि उपलब्ध कच्चे पदार्थ यानि इतिहास के मौजूदा निशान तथा अवशेषों का प्रमाण के रूप में इस्तेमाल करके अतीत की घटनाओं का सही-सही निर्धारण करके, उनके कारण और प्रभाव जानकर, पूरे उदासीन भाव से, अपने वर्तमान परिवेश से, निजी विचारों से प्रभावित हुये बगैर ऐतिहासिक सत्य को जानने की कोशिश करें। ज्ञान-अर्जन करने के अनुभववादी (empiricist) तरीके में जानने की कोशिश करने वाले कर्त्ता तथा जाने जानी वाली वस्तु के बीच विभेद किया था। जैसा कि हम देख

चुके है कि प्राकृतिक विज्ञान में यह विभेद (ज्ञान-अर्जन करने वाले मनुष्य तथा बाहरी प्रकृति जिसका उसे अध्ययन करना है) मौलिक है। लेकिन कर्त्ता और विषय-वस्तु का यह भेद हर क्षेत्र पर लागू नहीं हो सकता और अब वैज्ञानिक भी मानवीय कर्त्ता तथा बाहरी वस्तु को एक प्रकार के पारस्परिक अंर्तसम्बन्ध तथा निर्भरता की स्थिति में मानते हैं। सामाजिक-विज्ञान और विशेषकर इतिहास विषय में जैसा हम देख चुके हैं कि पर्यवेक्षक तथा विषय वस्तु का स्वरूप एक जैसा ही रहता है। यहीं कारण है कि इतिहास के तथ्य पूरी तरह वस्तुनिष्ठ (पर्यवेक्षक की स्थिति से स्वतंत्र) नहीं हो सकते क्योंकि इतिहासकार अपने रूझान ओर रवैये से प्रभावित होकर ही तथ्यों का, प्रमाणों का तथा सबूतों का चयन करता है। इतिहासकार का चयन ही असीमित तथ्यों में कुछ को छांटकर, क्रमबद्ध करके तथा उन्हें एक व तांत के रूप में संगठित करके इतिहास-लेखन के रूप में सामने आता है। इसलिये जैसा इतिहासकार ई०एच० कार ने स्पष्ट किया है कि इतिहास में वस्तुनिष्ठता तथ्यों की वस्तुनिष्ठता नहीं हो सकती क्योंकि "इतिहास तथ्य और उसकी व्याख्या और अतीत, वर्तमान और भविष्य के पारस्परिक सम्बंध पर टिका हुआ है"। इसलिये इतिहास और इसकी घटनाओं को इतिहास के बाहर से किन्हीं स्वतंत्र मूल्यों के मापदंड से नहीं आँका जा सकता है। ऐतिहासिक धारा से बाहर स्वतंत्र निरपेक्ष सत्य में विश्वास अऐतिहासिक होगा और सच नहीं हो सकता। अतीत के तथ्यों का सही-सही विवरण तथा सबूतों का अधिक से अधिक निष्पक्षता से मूल्यांकन कर पाना ही इतिहास में वस्तुनिष्ठता की कसौटी है। ज्यादातर इतिहासकार यह मानकर चलते है कि इतिहासकार का द ष्टिकोण गौण होना चाहिए तभी इतिहास को व्यक्तिपरक पक्षपात से बचाया जा सकता है। इसी में इतिहास की सत्यता, सम्पूर्णता तथा वस्तुनिष्ठता निहित है। हाँलाकि इतिहासकार इस समस्या से अवगत हैं कि प्रमाण तथा उसकी व्याख्या के बीच में हमेशा एक फासला बना रहता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिये कि हम एक सत्तामूलक सापेक्षवादी ऐसी धारणा में विश्वास करें जिसमें हम वास्तविकता (इतिहास) और काल्पनिक कहानी के फर्क को ही न समझ सकें या वस्तुनिष्ठता का यह मतलब भी नहीं है कि जो कुछ शब्दों के द्वारा इतिहासकार अतीत की कहानी गढ़ता है उसमें और वास्तविक जीवन्त अतीत में कोई फर्क न माने और शब्द और दुनिया में एक साद श्यता की धारणा (Correspondence of word and world) में विश्वास करना शुरू कर दें।

इतिहासकारों की वस्तुनिष्ठ सत्य की खोज मुख्यतया ज्ञान-अर्जन के तीन मुख्य नियमों पर आधरित है—सबसे पहले यह विश्वास कि अतीत एक समय जीवन्त रूप में मौजूद था, दूसरा यह कि इतिहासकार तथ्यों तथा सबूतों के माध्यम से, अनुभववादी तरीके से अतीत के मानवीय कर्त्ताओं के प्रयोजन और मंशा के बारे में ऐतिहासिक सच्चाई जान सकते हैं, तथा इतिहासकार ठोस तथ्यों को व्याख्या से अधिक महत्व देता है। इनके कुछ प्रमुख उपनियम भी हैं कि जैसे तथ्य तथा मूल्य में मौलिक अंतर होता है, या इतिहास और काल्पनिक साहित्य सर्जन में बहुत अधिक फर्क है तथा पर्यवेक्षक द्वारा जानी जाने वाली वस्तु में मौलिक विभेद है और ऐतिहासिक सत्य, इतिहासकार के व्यक्तिगत रूझान या द ष्टिकोण से स्वतंत्र रूप से मौजूद रहता है। ज्यादातर इतिहासकार अनुभववादी हैं लेकिन वे यह भी जानते हैं कि वे जो भी खोज प्रस्तुत करते हैं उस पर किसी न किसी रूप में वर्तमान विचारों का असर झलकता है तथा इतिहास के तथ्य विश्लेषण की पूर्व-निर्धारित धारणाओं की मानसिक छलनी से ही होकर निकलते हैं। उदाहरण के लिये एक समय इतिहास की विषय-वस्तु राजनैतिक संवैधानिक इतिहास आदि होते थे या फिर कुछ महान व्यक्तियों के जीवन तथा गतिविधियों पर इतिहासकार ध्यान केन्द्रित करते थे लेकिन पिछले कुछ दशकों में इतिहास-लेखन में काफी विविधता पैदा हुयी है और इतिहासकार न केवल आर्थिक, सामाजिक संरचनाओं पर ज्यादा ध्यान दे रहे हैं बल्कि वर्तमान समाज में बढ़ते निम्न वर्गों तथा स्त्रियों के सशक्तीकरण (empowerment) तथा पर्यावरण सम्बन्धी चिंताओं के कारण स्त्री-अध्ययन, दलित वर्ग के अध्ययन या पर्यावरण-अध्ययन जैसे नये क्षेत्र विकसित हुये है। इनका विकास इस बात को दर्शाता है कि कैसे हमारे वर्तमान की अपेक्षायें तथा चिंतायें अतीत के अध्ययन को प्रभावित कर सकती हैं। जैसा कि हम पहले भी कह

चुके है कि आजकल उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास-लेखन में वस्तुनिष्ठ सत्य के सवाल पर नये तरह की समस्याओं की तरफ इशारा कर रहे हैं। उनका मानना है कि स्त्रोतों में, प्रमाणों में जो भी सबूत हैं उनके आधार पर कोई वस्तुनिष्ठ इतिहास नहीं लिखा जा सकता क्योंकि इन तथ्यों तथा इतिहासकार के लिखित वर्णन में, व तांतों में कोई साद श्यता (correspondence) स्थापित नहीं की जा सकती है। यानि ऐतिहासिक तथ्य या सबूत को देखने वाला ऐसा कोई दर्पण इतिहासकार के पास नहीं है जिससे अतीत की हू-बहू नकल या झलक वह देख लें। अतीत का वर्णन वह भाषा के माध्यम से ही कर सकता है ओर इसी माध्यम को अपनाकर इतिहासकार लिखित अतीत का व तांत, सबूतों का संगठित रूप देकर निर्मित करता है। इसलिये इतिहासकार कैसे सबूत संकलित तथा संगठित करता है, कैसे किस प्रकार के कथानक की रचना करके, इनसे अतीत का एक खाका बनाता है, यह सब इतिहासकार के वर्तमान परिपेक्ष्य के द्वारा, उसके निजी तथा सामाजिक परिवेश, उसकी विचारध ाारा तथा सांस्कृतिक मूल्यों के द्वारा ही तय होता हैं इतिहास-लेखन की इन आलोचनाओं के संदर्भ में हम यहाँ कुछ बातें साफ करना चाहेंगें। सबसे पहले हम भाषा तथा वास्तविक विश्व के सम्बन्ध को ही लेते हैं। निस्संदेह भाषा का रूप प्रतीकात्मक है—यह वास्तविक जगत की वस्तुओं की प्रतिनियुक्ति करती है अर्थात् वस्तु या विचार के स्थान पर एक शब्द द्वारा उसका प्रतिस्थापन करने का काम करती है—इस तरह के प्रतिस्थापन से यह बात साफ है 'युद्ध' शब्द वास्तविक युद्ध से बहुत दूर है और यह शब्द लोगों में युद्ध की अलग-अलग तस्वीरें पैदा कर सकता है लेकिन केवल शब्द जाल में फँसकर 'दुनिया' और 'शब्द' (World and Word) के फर्क को मिटाकर हम यह उद्घोषणा नहीं कर सकते कि शब्दों के माध्यम से हम दुनिया की वास्तविकता को नहीं जान सकते। मनुष्य के पास इससे बेहतर विचारों को अभिव्यक्त करने का कोई और साधन है भी नहीं। शायद ही कोई दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान नाजियों द्वारा यहूदियों पर ढाये गये जुल्मों को नजरअन्दाज कर सके या नाभकीय शस्त्रों के विनाशकारी प्रभाव को नकारने की कोशिश कर सकता है। बहुत पहले Louis Gottschalk ने सत्याभाव (Veri-similitude) की बात इतिहास के संदर्भ में कही थी। यह धारणा इस तरह की थी, इतिहास का लक्ष्य इस सत्य के आभास के अधिक से अधिक पास पहुँचने का होना चाहिये यानि इतिहासकार ज्यादा से ज्यादा वस्तुनिष्ठ सत्य के करीब पहुँचने की कोशिश करता है। इतिहास का ज्ञान एक रेगिस्तान में बीज के समान है—अंकुरण की सम्भावनायें बहुत ही सीमित है लेकिन फिर भी इतिहासकार इस बीज की रक्षा करता है क्योंकि इसी में जीवन की सम्भावनायें छिपी हैं।

अध्याय - 4

इतिहास तथा अन्य विषय

(History and Other Discipline)

आजकल हम ऐसे बौद्धिक युग में जी रहे हैं जिसमें अलग-अलग विषयों के बीच की सीमायें खत्म हो रही हैं और नये बौद्धिक दरवाजे खुल रहे हैं। रूसी विद्वान मिखाइल बारब्तीन, पियरे ब्रोदू तथा ब्रोदेल, मिचेल फूको या क्लिफॉर्ड ग्रीत्ज़ जैसे विद्वानों ने इस तरह की सीमाओं को मिटाने में अहम भूमिका निभाई है। इन विद्वानों का जिक्र हमें पुरातत्व ज्ञान से लेकर इतिहासकार, भूगोल के अध्ययन कृत्ताओं, समाज शास्त्रियों आदि के लेखन में समान रूप से देखने को मिल जाता है। विभिन्न समाज-विज्ञानों के बीच जैसे मानव-विज्ञान और इतिहास, इतिहास और समाजशास्त्र के बीच विचारों का काफी आदान-प्रदान होने लगा है हाँलाकि मानविकी (Humanities) तथा समाज-विज्ञान के विषयों के बीच इस तरह का आदान-प्रदान काफी घट रहा है। यहां तक कि एक ही विषय की विभिन्न शाखाओं के बीच विचारों का लेन-देन कम हो रहा है। जैसे इतिहास की एक छोटी सी उप शाखा-सामाजिक इतिहास में दो श्रेणियों में विभाजन देखा जा सकता है—एक समाज के मुख्य धाराओं तथा संस्थाओं का अध्ययन करने वाले विद्वान तथा दूसरे छोटे स्तर के सामाजिक रूझानों का केस-स्टीडीज (Case Studies) करने वाले विद्वान इस तरह के विभाजनों के बावजूद समाज-विज्ञान के विषय साझा किस्म के विचारों तथा पद्धतियों का सहारा अपने अध्ययन में लेने लगे हैं। यह तर्कसंगत ढंग से कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि विषय अध्ययन की विषय-वस्तु की द ष्टि से इतिहास के काफी करीब हैं क्योंकि ये सभी किसी न किसी रूप में मनुष्य के समाज और मानवीय क्रियाकलापों से सम्बन्धित विषय हैं। इसके बावजूद इतिहास तथा अन्य समाजशास्त्रों में प्रायोगिक आंकड़ों के उपयोग करने, उनसे सामान्यीकरण के आधार पर निष्कर्ष हासिल करने की प्रक्रिया में काफी फर्क भी है। दूसरे समाज-विज्ञानी विश्लेषण के नमूनों (models) तथा सिद्धांतों (Theories) का ज्यादा इस्तेमाल करते हैं जबकि इतिहासकार अतीत के सबूतों और आँकड़ों को अनुभववादी पद्धति से इकट्ठा करने की कोशिश करते हैं। हालाँकि इतिहासकार पहले के समाज-वैज्ञानिकों द्वारा बनाये गये सर्वेक्षण तथा जनसंख्या जैसे आंकड़ों का खूब इस्तेमाल करते है। हालाँकि इतिहासकार नियंत्रित रूप से प्रयोगों से प्राप्त आँकड़ों को मॉडल या सैद्धान्तिक रूपों का उतना इस्तेमाल नहीं करता जितना कि अन्य समाज-वैज्ञानिक करते हैं। इतिहासकार को हमेशा विशिष्ट तथा आकस्मिक को वर्णन करना पड़ता है जबकि समाज-विज्ञान सार तत्व पर ज्यादा जोर देते हैं और उन्हें व्यापक तथा बार-बार दोहराने वाले सामाजिक स्वरूपों की दिशा में जाना पड़ता है। ई० एच० कार, मार्क ब्लाख तथा अनाल (Annales) स्कूल और अनेक अन्य इतिहासकार इतिहास को समाज के वैज्ञानिक अध्ययन को ही मानते हैं। कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहते हैं कि इतिहास ही केन्द्रीय समाज-विज्ञान है और अन्य विषयों को इसी को पोषित करना चाहिये। एन०सी० डार्बी का कहना है कि इतिहास उसी तरह समाज विज्ञान के लिए आधारभूत है जिस तरह प्राकृतिक विज्ञान के लिये गणित क्योंकि इतिहास वह अध्ययन है जो मानवीय अनुभव के सभी पहलुओं का अध्ययन

करता है। अठारहवीं सदी में इतिहासकार तथा समाजशस्त्रियों के बीच में कोई ज्यादा सैद्धान्तिक भेद नहीं था। मोन्तेस्क्यू, एडम फ्रग्यूसन तथा एडम स्मिथ जैसे विचारक सभी सामाजिक सिद्धांतकार थे और सभी "नागरिक समाज" (Civil-society) का सुव्यवस्थित अध्ययन करने के इच्छुक थे। ये सभी विद्वान आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करते हैं। जैसे एडम स्मिथ की बेल्द ऑफ नेशनस् वास्तव में समकालीन आर्थिक यूरोप का इतिहास ही लिखा है। मोन्तेस्क्यू ने रोम की महानता तथा पतन पर एक ऐतिहासिक रचना लिखी थी। इस समय जो विद्वान सिद्धांतों पर ज्यादा जोर नहीं देते थे वे भी सामाजिक इतिहास के लेखन की कोशिश कर रहे थे। लेकिन धीरे-धीरे समाज-विज्ञान के अलग-अलग विषयों के रूप में स्थापित हो गये। लेकिन किसी न किसी रूप में अलग-अलग विषयों के बीच आदान-प्रदान चलता रहता है।

(I) इतिहास तथा समाज-शास्त्र

इतिहास तथा समाजशास्त्र का रिश्ता बहुत पुराना और गहरा है। इतिहास और समाजशास्त्र के बीच सम्बन्ध उनके विषय-वस्तु से ही प्रारंभ होता है। इतिहास और समाजशास्त्र दोनों समाज में मनुष्य का अध्ययन करना चाहते हैं लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों मानव-समाज के अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन करते हैं। इतिहास के पेशेवर बनने की प्रक्रिया ने दोनों विषयों की दूरियाँ बढ़ना शुरू होती है लेकिन फिर भी अभी हाल तक दोनों विषयों में फलदायक पारस्परिक प्रभाव रहा है। यह परस्पर प्रभाव फ्रांस में काफी मजबूत रहा जहाँ एमिल दुरखाइम ने इतिहासकारों की कई पीढ़ियों को प्रभावित किया है। दुरखाइम का समय (1850–1917) ही वह काल था जब समाजशास्त्र ने अपनी स्वतंत्र अस्मिता कायम की। 1887 में दुरखाइम के बोर्दो विश्वविद्यालय में एक समाज-शास्त्र का एक विशेष पाठ्यक्रम शुरू किया था। 1898 में उन्होंने एक पत्रिका अनाल सोसिओलोजिक शुरू की जिसने फ्रांस में इतिहास के अध्ययन के विकास को गहराई से प्रभावित किया। लूसिआं फेबव्र इसमें लिखने वाले प्रमुख इतिहासकार थे। दुरखाइम मानव प्रव त्तियों की तर्कहीनता पर बल देता था ओर सामूहिक चेतना को अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बनाना चाहता था। इन अवधारणाओं ने लेफबव्र तथा ब्लाख जैसे फ्रांसीसी इतिहासकारों को प्रभावित किया। बेर्र एक अन्य समाजशास्त्री थे जिनका असर दुरखाइम पर भी पड़ा था। बेर्र का मानना था कि समाजशास्त्र "इतिहास के सामाजिक पहलू का ही अध्ययन है। इसका प्रारंभिक बिन्दु" निश्चित रूप से इतिहास के ठोस आंकड़े होने चाहिये। वह दुरखाइम की ऐतिहासक तथ्यों पर सुनिश्चित प्रयोगात्मक और तुलनात्मक पद्धति लागू करने की कोशिश को पसंद करता था लेकिन बेर्र का मानना था कि समाज-शास्त्र सम्पूर्ण इतिहास नहीं है। लेकिन बौद्धिक रूप से एक दूसरे के नजदीक होने के बावजूद, इतिहास और समाजशास्त्र एक दूसरे की तीखी आलोचना भी करते रहे हैं। इतिहास और समाज शास्त्र, सामाजिक मानव शास्त्र के साथ-साथ समाज का व्यापक अध्ययन करते हुए इसमें मानव-व्यवहार के विभिन्न पहलुओं को अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं। समाजशास्त्र मानव-समाज का ही अध्ययन है जिसमें इसकी संरचना तथा विकास के सामान्य पहलूओं के बारे में अध्ययन किया जाता है जबकि इतिहास अतीत के समाजों का तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करता है। इनमें विरोधाभास भी रहता है लेकिन ये दोनों विषय एक दूसरे के पूरक के रूप में काम कर सकते हैं। समाज तथा इसकी संरचनाओं में परिवर्तन दोनों का आपस में गहरा रिश्ता है। इतिहासकार एक विशिष्ट क्षेत्र के मानवीय जीवन का एक विशिष्ट समय में अध्ययन करते हैं। वे इसकी सामान्यतया तुलना दूसरे क्षेत्र से करके यह देखने की कोशिश नहीं करते, कि दोनों में क्या समानतायें या विभिन्नतायें मौजूद हैं। इसी तरह समाज शास्त्रियों का नजरिया भी अलग तरीके से संकुचित रहता है—वे अपने समकालीन समाज पर ही नजर डालते हैं—वह दीर्घकालीन सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन नहीं करते क्योंकि उसके लिये उन्हें अतीत में झाँकना पड़ेगा। इस द ष्टि से, इतिहास और समाज-शास्त्र दोनों एक दूसरे के नजरिये से अपने-अपने विषय की कमजोरियों को दूर करने की कोशिश कर सकते हैं।

दुर्भाग्य से इतिहासकार और समाजशास्त्री एक दूसरे को एक ही किस्म के खांचे में रखकर देखते रहे हैं। जैसे इतिहासकार मानते आये हैं कि समाज शास्त्री समय और स्थान को ध्यान में रखे बगैर मनुष्यों को कठोर बर्बर और अमूर्त श्रेणियों में बाँट कर देखते हैं और अपनी इन गतिविधियों को 'वैज्ञानिकता' का जामा पहनाकर पेश करते हैं। जबकि समाजशास्त्री मानते हैं कि इतिहासकार, गैर-व्यवसायिक तरीके से तथ्यों को इकट्ठा करते हैं और इनके तथ्य भी सुस्पष्ट नहीं होते और इनके विश्लेषण के लिये ये किसी ठोस पद्धति या नमूने का सहारा नहीं लेते। हाँलाकि कई इतिहासकारों तथा समाज-शास्त्रियों ने इतिहास तथा समाजशास्त्र दोनों ही विषयों को नजदीक लाने की कोशिश करते हुये नये किस्म के अध्ययन करने पर बल दिया है लेकिन यह लेन-देन बहुत ही सीमित रहा है क्योंकि जैसा फ्रांसीसी इतिहासकार फरनद ब्रॉदेल ने एक बार कहा था कि "इनकी बातचीत बहरों की बातचीत ही रही है।" यह समस्या इसलिये जन्म लेती है क्योंकि हर विषय का अपना विशिष्ट व्यवसाय या उप-संस्कृति है जो व्यवसाय में लगे लोगों को अलग-अलग तरह की भाषा, पद्धति और मूल्यों से लैस करती है। समाजशास्त्री सामान्य नियमों की बात करते हैं तो इतिहास के विद्यार्थी सामान्य प्रव त्तियों की बजाय ठोस विस्त त जानकारी और विशिष्टता पर ज्यादा ही बल देते आये हैं। कुछ समय पहले तक ज्यादातर समाजशास्त्री यह मानते आये थे कि इतिहास मात्र राजनैतिक घटनाओं का वर्णन ही है। इस तरह का नजरिया उन्नीसवीं सदी के इतिहासकार **रान्के** का रहा था लेकिन अनाल स्कूल तथा मार्क्सवादी इतिहास-लेखन के कारण इतिहासकार आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं का भी गंभीरता से अध्ययन करने लगे हैं। इसी प्रकार इतिहास के विद्यार्थी भी समाज-शास्त्र के बारे में जो धारणायें आगस्त कॉम्ते ने उन्नीसवीं सदी में दी थी जिसमें बड़े-बड़े व्यापक सामान्य कथनों की भरमार थी तथा ठोस अनुभववादी शोध तथा अध्ययन को नहीं अपनाया गया था। उन्नीसवीं सदी में इतिहासकारों के 'सामाजिक' इतिहास की अपेक्षा राजनैतिक इतिहास की तरफ मुड़ने के कई कारण थे। एक तो इस समय, यूरोप के राष्ट्रीय-राज्य इतिहास को राष्ट.ीय एकता और अस्मिता या पहचान स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण साधन मान रहे थे। जर्मनी तथा इटली के एकीकरण में तथा पुराने राज्यों इंग्लैंड, फ्रांस तथा स्पेन के अंदर क्षेत्रीय विभेदों को कम करके राजनैतिक एकीकरण में स्कूल तथा विश्वविद्यालय में पढ़ाई जाने वाले राष्ट्रीय इतिहास ने अहम भूमिका निभाई। दूसरे रांके तथा उनके अनुयायियों ने इतिहास-लेखन में सरकारी दस्तावेजों का इस्तेमाल शुरू करके और पुरानी वंशावलियों को छोड़कर, अभिलेखागारों की तरफ रूख किया। इतिहास का तेजी से व्यासायिकरण शुरू होता है लेकिन इस इतिहास में राजनैतिक पक्षों पर ही बल दिया गया क्योंकि राज्य और उसकी गतिविधियों का इतिहास राजनैतिक इतिहास ही हो सकता था। उन्नीसवीं सदी के अंत में दार्शनिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के लेखक विल्हेल्म ड़िल्दी ने समाजशास्त्र को छदम् वैज्ञानिक (pseudo-scientific) बताया। उनका तर्क था कि कॉम्ते तथा स्पैन्सर का समाजशास्त्र कारणों के रूप में समाज की व्याख्या करता है जो प्राकृतिक विज्ञान की भाषा है। उनका मानना था कि विज्ञान बाहरी (प्राकृतिक) तत्वों की व्याख्या करता है जबकि मानविकी तथा इतिहास 'आंतरिक' मानवीय अनुभव की भाषा बताते हैं। दूसरी तरफ समाज-शास्त्री विचारकों ने इतिहास को इस तरह के नजरिये से देखा जो इन विषयों को करीब लाने में मददगार न बन सका। कॉम्ते तथा स्पेन्सर जैसे विद्वानों ने इतिहास-लेखन की तीखी आलोचना पेश की। कॉम्ते के "सामाजिक इतिहास" में व्यक्तियों तथा नामों की कोई जरूरत नहीं थी। विभिन्न समाजों का तुलनात्मक अध्ययन करके उन्हें उन्होंने क्रमिक विकास के अलग-अलग चरणों पर रखा। स्पेन्सर के अनुसार, समाज-शास्त्र एक तरह का आलीशान भवन था तो इतिहास उसके इर्द-गिर्द पत्थर और ईंटों के समान था। उनका मानना था कि इतिहासकार अधिक से अधिक विभिन्न राष्ट्रों के बारे में सूचनायें इकट्ठी करके इनके तुलनात्मक समाजशास्त्र के अध्ययन में मदद ही कर सकता है लेकिन दूसरे समाजशास्त्री मानते थे इस रूप में इकट्ठी की गयी सूचनायें भी समाज के अध्ययन में कोई खास भूमिका नहीं निभा सकती क्योंकि इतिहासकार समाजशास्त्र के व्यापक और बुनियादी ढाँचे के लिये

मूल्यवान कच्चे पदार्थ भी नहीं जुटा रहे हैं।

इस काल के तीन महत्वूपर्ण समाज-शास्त्री—परेटो, बैवर तथा दुरखाइम—इतिहास के अच्छे ज्ञाता थे। विलफ्रेडो परेटो की महत्वपूर्ण कृति **ट्रीटिस ऑन जनरल सोसियोलॉजी** (1916) में विस्तार से एथेन्स, रोम और स्पार्टा का वर्णन किया था और मध्ययुगीन यूरोप के इतिहास के अनेक उदाहरण भी दिये थे। इसी प्रकार दुरखाइम ने समाज-शास्त्र को इतिहास से अलग पहचान देने की कोशिश की थी लेकिन वह स्वयं इतिहास के विद्यार्थी भी रहे थे। उन्होंने फ्रांस में शिक्षा के इतिहास पर भी एक किताब लिखी थी। इसी तरह से मैक्स वेबर (1864–1920) एक महान समाजशास्त्री थे जिन्होंने इतिहास के अध्ययन को सबसे अधिक प्रभावित किया था। बेवर फ्राईबुर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे और उन्होंने विधि (कानून), अर्थशास्त्र, धर्म-अध्ययन के साथ प्राचीन रोम में भू-सर्वेक्षण की तकनीकें तथा मध्य युग की व्यवसायिक कम्पनियाँ, आधुनिक सट्टा बाजार से लेकर जर्मन कृषि और कपड़ा-उद्योग पर भी लिखा। उन्होंने समाज के अध्ययन के लिये अनेक महत्वपूर्ण धारणाओं को विकसित किया—जिसमें एक वर्ग से भिन्न व्यक्ति के ओहदे (Status) की धारणा भी थी। उनकी काफी चर्चित पुस्तक **दि प्रोटेस्टैन्ट एथिक एंड स्पिरिट ऑफ कैपटिलिज्म** (1904-05) रही जिसमें उन्होंने प्रोटेस्टैन्ट नैतिकता का गहरा रिश्ता पूंजीवाद के विकास से स्थापित करने की कोशिश की थी। इस धारणा ने बाद में टॉनी को भी काफी प्रभावित किया। उन्होंने आधुनिक राज्य के विकास में नौकरशाही की भूमिका को समझने की कोशिश भी की। दुरखाइम तथा वेबर जैसे समाजशास्त्री जहाँ ऐतिहासिक सामग्री पर आधारित मानवीय क्रिया-कलापों से मानवीय-व्यवहार के बारे में सामान्य धारणायें बनाने की कोशिश कर रहे थे जबकि इतिहास और समाज शास्त्र के बीच की रेखा गहरी होती जा रही थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद समाजशास्त्र ने मानवीय समाज के सीमित क्षेत्रों का विस्त त अध्ययन शुरू किया था। इस तरह के अध्ययन में नमूने की तकनीक (Sampling) तथा प्रश्नावलियों का सहारा लिया गया ताकि समाजशास्त्र को एक ठोस अनुभववादी वैज्ञानिक आधार मिल सकें। यह सब समकालीन समाज पर किया गया और ऐतिहासिक पक्ष पर समाजशास्त्रियों ने ध्यान नहीं दिया। लेकिन इतिहास-लेखन में अब 'सामाजिक-इतिहास' का दौर शुरू हो रहा था और इतिहासकारों को समाज-शास्त्र से धारणायें ग्रहण करने में, उधार लेने में कोई हर्ज नहीं दिख रहा था। सामाजिक इतिहास ने समाजशास्त्र से समाज की संरचनाओं जैसे परिवार, जाति या वर्ग की—के अध्ययन को सूक्ष्मता से अध्ययन करने की विधि ही उधार नहीं ली है, बल्कि उनकी अनेक धारणाओं को भी समाज को समझने में इस्तेमाल करने की कोशिश की है। जैसे सामाजिक समूहों के विश्लेषण में समाजशास्त्र इतिहास का काफी मदद कर सकता है। जैसे-जैसे समाजशास्त्र एक अलग विषय के रूप में उभर रहा था और जैसे-जैसे विकासवादी का असर समाज-विज्ञान पर कम होता है वैसे-वैसे सामाजिक संस्थाओं को अतीत के विकासशील चरण या दूसरे संस्कृति से नकल या प्रसार (diffusion) द्वारा इसे समझने की बजाय सामाजिक प्रथाओं तथा संस्थाओं को उनके वर्तमान में सामाजिक, प्रयोजन या कार्य के आधार पर समझने पर समाज-शास्त्रियों ने बल देना शुरू किया था और इससे इतिहास का महत्व उनकी नजरों में और भी कम होता गया था अनाल स्कूल या मत के इतिहासकारों ने अपने पड़ौसी सामाजिक-विज्ञान के विषयों से नयी चीजें सीखने में बहुत तत्परता दिखाई। वर्तमान में उत्तर-आधुनिकता भी अलग-अलग विषयों की सीमाओं को खत्म करने की बात को आगे बढ़ा रही है।

(II) इतिहास और पुरातत्व-ज्ञान

पुरातत्त्व ज्ञान (archeology) मानवीय अतीत का उसके भौतिक अवशेषों के माध्यम से दिया जाने वाला अध्ययन है। यह अपने आप में पुरातत्व-ज्ञान को अलग नहीं करता क्योंकि लिखित दस्तावेज तथा पुस्तकें भी तो अतीत की भौतिक सामग्री ही तो है। यह भी सवाल उठता है कि शिलालेख या

सिक्कों का अध्ययन इतिहासकार की जिम्मेदारी है या दस्तावेजों के आधार पर लेखन करने वाले इतिहासकार का। इसका साफ सा मतलब यह निकलता है विभाजन की ये सीमायें बहुत ही धूमिल है। लेकिन चूँकि पुरातत्व-ज्ञान तथा इतिहास दोनों का मकसद मानव के अतीत का ज्ञान हासिल करना है इसलिये क्या यह मान लेना चाहिये कि दोनों विषय कुदरती तौर पर एक दूसरे के सहयोगी हैं। लेकिन हम देखते हैं कि पिछले कुछ दशकों में दोनों के बीच की दूरियाँ बढ़ी ही हैं। जैसे पूर्व मध्यकाल के बारे में पुरातत्व ज्ञान काफी मात्रा में उपलब्ध है जबकि दस्तावेजों का कुछ अभाव सा दिखता है लेकिन वहाँ भी इतिहास तथा पुरातत्व-ज्ञान के बीच चर्चा बहुत कम हुई है और लिखित प्रमाणों से प्राप्त ऐतिहासिक ज्ञान तथा उत्खलन से प्राप्त जानकारी को तुलनात्मक नजरिये से परखकर दोनों विषयों को जोड़ने की कोशिश नहीं की गयी है। सिद्धांत रूप में यह बात स्वीकार सभी कर लेते है कि इन दोनों विषयों के बीच घनिष्ठ सम्बंध है तथा दोनों को एक दूसरे के नजदीक आना चाहिये।

उन्नीसवीं सदी के अंत में पुरातत्वी 'संस्कृति' (Culture) की धारणा- एक खास किस्म के भौतिक अवशेष—बर्तन, औजार, गहने, घरों की बनावट तथा शवों की अंतिम क्रिया की विधियाँ—जो स्थायी रूप से संयुक्त रूप से पायी जाती थी, विकसित हुई थी। इसके माध्यम से एक खास क्षेत्र में इन सभ्यताओं के क्रमबद्ध वर्णन किये जा सकते थे या इनके एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में प्रसार को समझने की कोशिश की जाती थी। इस तरह के संस्कृति-इतिहास (Culture-history) का इस्तेमाल राष्ट्रवादी तथा नस्लवादी इतिहास में भी किया गया। जैसे नाजियों ने गुस्ताफ कोस्सीन्ना के विश्लेषण का इस्तेमाल किया और उनके आधार पर आर्य नस्ल की सर्वोच्चता तथा यूरोपीय सभ्यता की जड़े जर्मन लोगों में खोजने की कोशिश की थी। इस तरह के अध्ययनों को पुरातत्व वैज्ञानिकों ने धीरे-धीरे छोड़ दिया। 1930 के दशक से और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से पुरातत्व ज्ञान पर क्रियात्मक सिद्धांत (functionalist theory) का असर प्रभावशील होता चला गया। मानव-शास्त्री मेल्निोवस्की तथा रैडक्लीफ ब्राउन के प्रभाव में "संस्कृतियों" को इस तरह के क्रियामूलक व्यवस्थाओं के रूप में देखा जाने लगा—जिनका मकसद या प्रयोजन एक खास लक्ष्य की पूर्ति के लिये किया गया था। यानि किसी संस्कृति के अवयवों को या सामाजिक संस्थाओं को उनकी क्रिया या कार्य के संदर्भ में समझने की कोशिश की गयी। इससे एक वातावरण-निर्धारण की धारणा उभरी यानि वातावरण से समायोजन (adaptation) किसी संस्कृति के अवयवों के निर्धारण करने का महत्वूपर्ण आधार माना जाने लगा। बस्तियों (Settlement) के रूप, तकनीकी तथा अर्थव्यवस्था को वातावरण से तालमेल बिठाने के तरीकों के रूप में अध्ययन किया गया। हवाई पुरातत्व ज्ञान (आकाश से तस्वीरें लेकर प्राप्त जानकारी) तथा तिथि-निर्धारण की नयी विधि- कार्बन डेटिंग इस समय की मुख्य नयी विधियाँ थीं जिन्होंने पुरातत्व-ज्ञान को प्रभावित किया।

1960 के दशक में लुईस बिनफोर्ड ने नये पुरातत्व-ज्ञान की शुरूआत की। इतिहास की विशिष्टता के विरुद्ध इसका मकसद मानव-व्यवहार की सामान्य प्रव त्तियों को समझने और जानने का था। बिनफोर्ड का मानना था कि विभिन्न संस्कृतियों की तुलना से हम कुछ सामान्य नियम स्थापित कर सकते हैं। बिनफोर्ड ने समाज को एक क्रियात्मक व्यवस्था के रूप में देखा तथा इसमें भी एक प्रकार के वातावरण-निर्धारण का रूझान साफ झलकता दिखाई पड़ता है उनके विचार में सामाजिक सम्बन्ध जड़ता की ओर अग्रसर रहते हैं और बदलाव सामाजिक व्यवस्था के बाहर से ही आता है लेकिन इस बदलाव की भी व्यवस्था के अंदर की कार्य-प्रणाली की समझ कर ही समझा जा सकता था—इसका अर्थ कि व्यवस्था के आंतरिक सम्बन्धों का अध्ययन भी जरूरी था। इस पुरातत्व-ज्ञान की नयी प्रव त्ति को नव-विकासवाद का नाम भी दिया गया है। हालाँकि मनुष्य वातावरण में परिवर्तन से समायोजन तो कर लेते हैं लेकिन परिवर्तन की मुख्य प्रेरक शक्ति गैर-मानवीय वातावरण को ही बिनफोर्ड ने माना है। ब्रिटिश पुरातत्व-विज्ञानी डेविड क्लार्क भी लगभग इसी तरह के नतीजों पर पहुँचते हैं—हाँलाकि क्लार्क नव-भूगोल से ज्यादा प्रभावित थे और इतिहास के इस्तेमाल के विरोधी

नहीं थे। तमाम परिवर्तनों को समझने के लिये नव-पुरातत्व-विज्ञान ने जीव-विज्ञान तथा भूगोल के सांख्यिकीय नमूने (Models) का प्रयोग किया—'संस्कृति' के परिवर्तनों को समझने के लिये नव पुरातत्व विज्ञान ने बालेरस्टीन के 'विश्व-व्यवस्था' सिद्धांत के केन्द्र तथा परिधि (core and peripheri) की धारणाओं का सहारा भी लिया तथा कोलीन रेनफ्रू ने "पीयर-पोलिटी" की धारणा भी दी जिसमें यह माना गया कि एक जैसी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थाओं में बदलाव पारस्परिक नकल और होड़ से सम्भव हो पाता है। नव-पुरातत्व-विज्ञान दीर्घकालीन विकास में, सामाजिक संगठन के विकास या जटिल समाजों के पतन जैसे विषयों में ज्यादा रूचि रखते हैं। इन प्रक्रियाओं का अध्ययन तुलनात्मक संस्कृतियों के अध्ययन से ही सम्भव हो सकता है इसलिये नव पुरातत्व-विज्ञान को 'प्रोसेसुअल' पुरातत्व-विज्ञान (Processual archeology) भी कहा जाता है। नव पुरातत्व-विज्ञान की काफी आलोचना भी हुई है। इतिहास में कर्त्ताओं के प्रयोजन तथा स्वेच्छा की बजाय इसमें व्यवस्था की आवश्यकतायें ज्यादा महत्वपूर्ण समझ ली गयी थीं। विचारधारा के प्रभाव को भी इस नव-पुरातत्व-विज्ञान में कोई जगह नहीं दी गयी थी।

पुरातत्व-वैज्ञानिकों में एक सहमति है कि पुरातत्व का दस्तावेजों पर आधारित इतिहास से गहरा सम्बंध होना चाहिये लेकिन फिर यह बातचीत बहुत सीमित है। बहुदा दस्तावेज आधारित इतिहासलेखन तथा पुरातत्व-विज्ञान में इस बात को प्रमाणित करने के लिये प्रतियोगिता चलती रहती है कि इतिहास तथा पुरातत्व-विज्ञान के सबूतों में से कौन से ज्यादा सटीक हैं। काफी हद तक ये समस्यायें पुरातत्व-विज्ञान के एक विषय के रूप में हुये विकास की प्रक्रिया से भी जुड़ी हुई हैं। प्रारंभिक वर्षों में पुरातत्व-विज्ञान के सबूतों को राजनैतिक ऐतिहासिक व तांत को साबित करने या आगे बढ़ाने के सहयोगी विषय के रूप में देखा गया था। पुरातत्व-विज्ञान के प्रति इतिहासकारों का यह रवैया अभी भी कुछ हद तक विश्वविद्यालयों में पाया जाता है। नव पुरातत्व-विज्ञान ने कुछ हद तक, पुरातत्व-विज्ञान को एक स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित करने की भरसक कोशिश की ताकि पुरातत्व-विज्ञान इतिहास की नौकरानी या दासी की तरह बनकर न रह जाये। लेकिन इससे दोनों विषयों को नजदीक लाने की बजाय, उनकी दूरियों को और ज्यादा बढ़ाने में ही मदद मिली है। इतिहास ने पुरातत्व-विज्ञान को या तो उदाहरण के रूप में पेश किया जैसे भौतिक अवशेषों को दैनिक जीवन, लोगों तथा बस्तियों के उदाहरण के तौर दर्शाया गया। दूसरे पुरातत्व ज्ञान को इतिहास के ज्ञान की तर्कसंगत ठहराने के लिये प्रयुक्त किया गया या अतीत के ज्ञान के खाली स्थान भरने के लिये पुरातत्व का सहारा लिया गया। चूँकि पुरातत्व-विज्ञान को लिखित दस्तावेजों से प्राप्त ऐतिहासिक जानकारी के पूरक के रूप में ही इस्तेमाल करने की कोशिश की गई इसलिये पुरातत्व-विज्ञान का महत्व लिखित प्रमाणों की उपलब्धता का ठीक उल्टा माना जाता था यानि केवल तभी इनका सहारा लिया गया जब लिखित दस्तावेजों का किसी ऐतिहासिक काल में अभाव पाया गया। इतिहास और पुरातत्व विज्ञान को समुचित ढंग से एक दूसरे से जोड़ने के लिये इस तरह के रवैये को छोड़ना पड़ेगा।

सामान्यतया इतिहासकार पुरातत्व भौतिक सामग्री से मिले सबूतों का इस्तेमाल अलग-अलग चरणों में इस प्रकार से करता है। पहले चरण में लिखित दस्तावेजों के सबूतों से प्राप्त जानकारी के आधार पर पुरातत्व-विज्ञान या भौतिक अवशेषों से प्राप्त सबूतों को एक संरचना में ढाला जाता है या कई बार भौतिक-अवशेष ही लिखित दस्तावेजों के आधार पर उठाये गये सवालों के जबाब के लिए इकट्ठे किये जाते हैं। दूसरे चरण में लिखित दस्तावेजों से प्राप्त जानकारी का मिलान भौतिक अवशेषों से प्राप्त जानकारी से करने की कोशिश की जाती है। फिर तीसरे अंतिम चरण में यह तय किया जाता है कि क्या दोनों तरह के प्रमाणों का साथ-साथ उपयोग किया जा सकता है या नहीं। जहाँ इस तरह का मिलान नहीं हो पाता वहाँ यह मान लिया जाता है कि दोनों तरह के सबूतों को एक साथ उपयोग नहीं लाया जा सकता। कई बार इसे इस सूक्ति में रखा जाता है कि "पुरातत्व-विज्ञान यह बताता है कि लोग क्या करते थे, जबकि इतिहास यह बताता है कि लोग क्या सोचते थे।" यह काफी

भ्रम पैदा करने वाला कथन है क्योंकि इसमें यह मान लिया गया है कि लोग जो काम करते हैं उसके बारे में यह नहीं सोचते कि वे क्या कर रहे। और क्यों कर रहे हैं। यहाँ एक उदाहरण देकर हम इसे स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं। रोमन-साम्राज्य के पतन के बाद गौल-कालीन कब्रों में धर्म के अध्ययन की कोशिश की गई। लिखित दस्तावेजों से यह साबित था कि ईसाई धर्म तथा पहले के प्रचलित बहुदेववादी धारणाओं में काफी भेद था। इसी विचार से कब्रों का, उनके भौतिक अवशेषों का अध्ययन किया गया। पुरातत्व-विज्ञान में भी यह मान लिया गया कि कुछ भौतिक वस्तुओं के साथ दफनाये गये शव बहुदेववादियों के रहे होंगे तथा उनके बिना पायी गयी कब्रें ईसाइयों की रही होगी। इसके साथ कुछ अन्य धार्मिक प्रतीक भी इसमें मान लिये गये—एक यह कि ईसाइयों की कब्रों की दिशा पश्चिम-पूर्व में रहती थी। लेकिन जल्द ही इन विचारों की कमियाँ सामने आ गई। पहली बात यह थी कि चर्च ने अपने अनुयायिों को मुर्दा शवों के साथ वस्तुयें तथा सामग्री रखने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया था और इसके लिखित तथा पुरातत्व-विज्ञान दोनों में प्रमाण थे बल्कि यह पाया गया कि शव के साथ सामग्री रखना म तक की आयु तथा लिंग पर भी निर्भर करता था। इसी प्रकार पश्चिम-पूर्व दिशा में शवों को दफनाने की शुरूआत ईसाई धर्म के विकास से पहले ही शुरू हो चुकी थी। हाल में ही जॉन मोरलैण्ड नामक पुरातत्व-विज्ञानी ने यह सुझाया है कि कैसे पुरातत्व-विज्ञान तथा इतिहास के बीच एक लाभदायक सम्बन्ध कायम किया जा सकता है। मौरलैण्ड का सुझाव है कि कैसे भौतिक-अवशेषों को पाठ्य सामग्री (text) की तरह अध्ययन किया जाये और पाठ्य-सामग्री को भी एक तरह के भौतिक अवशेष के रूप में देखा जा सकता हैं। इसका मतलब यह है कि विषयों की सीमायें खत्म होने से सरल तरीके से पुरातत्व-आंकड़ों को इतिहासकार इस्तेमाल नहीं कर सकता महत्वूपर्ण बात यह भी है कि विश्लेषण ज्यादा परिष्कृत बनें।

(III) इतिहास और अर्थशास्त्र

अन्य सामाजिक-विज्ञानों की अपेक्षा अर्थशास्त्र और इतिहास के बीच सम्बन्ध ज्यादा प्रत्यक्ष है। अर्थशास्त्र वास्तव में में भौतिक उत्पादन का विज्ञान है। अगर हम इसे विज्ञान ना भी माने तो भी लोग आर्थिक निर्णय लेते ही और उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं में भाग लेते ही और विभिन्न आर्थिक संगठनों में भाग लेते ही जिनका वर्णन हमें अर्थशास्त्र की किताबों में मिलता है। इसी प्रकार अतीत में मनुष्य आर्थिक क्रिया कलापों में, उत्पादन तथा वितरण में हिस्सा लेता रहा है और इसीलिये राजनीति शास्त्र का राजनैतिक इतिहास से भी उतना गहरा रिश्ता नहीं हैं जितना कि अर्थशास्त्र का आर्थिक इतिहास से है। इसीलिये हर इतिहासकार के लिये उसके अध्ययन का जो भी काल हो, अर्थशास्त्र की जानकारी उत्पादन के संगठन तथा वितरण प्रणाली को समझने में मददगार हो सकती है। समाज में मनुष्य के क्रिया-कलाप, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर से आर्थिक कार्यों से सम्बन्धित होते हैं। अठारहवीं सदी में, जब अलग-अलग पेशेवर विषय विकसित नहीं हुये थे तब तक अर्थशास्त्र और इतिहास में कोई विशेष दूरी नहीं थी लेकिन बाद में जब अर्थशास्त्र गणित पर आधारित विषय बनता गया और आर्थिक सिद्धांत जटिल बनते चले गये तो इतिहास और अर्थशास्त्र के बीच पहले वाली नजदीकियाँ नहीं रहीं। यह सही है कि इतिहासकार को आधुनिक आर्थिक सिद्धांत का आधारभूत तथा कामचलाऊ ज्ञान तो होना ही चाहिये। लेकिन यह हर इतिहासकार के लिये व्यवहारिक नहीं हो सकता कि वह जटिल आर्थिक सिद्धांतों की पूरी कुशलता हासिल कर सके। अलग-अलग विषयों में अध्ययन की द ष्टि से जो श्रम-विभाजन हमें विश्व-विद्यालयों में देखने को मिलता है-वह भी आवश्यक है। लेकिन इसके बावजूद इतिहास आर्थिक पहलुओं के अध्ययन में अब काफी दिलचस्पी ले रहा है। अर्थशास्त्र के ज्ञान के बिना इस तरह का आर्थिक इतिहास नहीं लिखा जा सकता। यहाँ यह सवाल खड़ा होता है कि आर्थिक इतिहासकार को इतिहास के प्रति ज्यादा लगावा है या अर्थशास्त्र के प्रति। पश्चिम देशों में बहुत से आर्थिक इतिहास के विभाग अर्थशास्त्र विभाग में सहायक विषय के रूप में काम करते हैं। लेकिन आर्थिक इतिहास, इतिहास को समझने का एक कारगर साधन बनकर उभरा है। आर्थिक इतिहासकार अतीत के आर्थिक पहलुओं को ज्यादा गहराई से अध्ययन

करना चाहता है और इसके लिये आर्थिक उपकरणों का उपयोग बहुत जरूरी है अन्यथा यह आर्थिक इतिहास अधिक उपयोगी नहीं होगा। लेकिन इसके लिए यह भी जरूरी है कि उसके नतीजे स्पष्ट तथा सरल हो ताकि उस अतीत काल के मानवीय अनुभवों को पूर्णता से अध्ययन करने का इच्छुक इतिहासकार भी उसका उपयोग कर सके।

अर्थशास्त्र तथा इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का सवाल हमें इतिहासकार द्वारा आंकड़ों के उपयोग का सवाल भी पैदा करता है। लफेबव्र ने कहा था कि इतिहासकार के लिये "गिनना जरूरी है"। गणित और सांख्यीकी के उपयेाग का सवाल, आधुनिक अर्थशास्त्र में मूलभूत सवाल है। इतिहास में बहुत से विषय ऐसे हैं कि जिनका विश्लेषण इस तरह के अर्थशास्त्र तथा सांख्यिकी के उपकरणों की मदद के बिना इतिहासकार नहीं कर सकता जैसे—1929 की महान आर्थिक मंदी, अमेरिका के राष्ट्रपति रुजवेल्ट की 'न्यू डील' आर्थिक नीतियाँ या 16 वीं सदी की व्यापारिक क्रांति तथा मूल्य क्रांति आदि। आर्थिक इतिहास सामान्यतया मात्रात्मक या परिमाणत्मक (Quantitative) होता है लेकिन परिमाणात्मक तथा गुणात्मक इतिहास के बीच कोई विरोध नहीं है। एक खास तरह के आर्थिक इतिहास को "क्लियोमैट्रिक्स" या "इकनोमैट्रिक हिस्ट्री" का नाम भी कई लोगों ने दिया है। इसमें सांख्यिकी पद्धतियों और परिभाषाओं तथा वर्गीकरण की सुनिश्चिता पर ज्यादा बल दिया जाता है और जो गणनायें पहले आर्थिक इतिहासकार नहीं कर पाते थे, उन गणनाओं के लिये कम्प्यूटर का उपयोग किया जाता है। आर० डबल्यू फोजेल एक अग्रणी इकनोमेट्रिक इतिहासकार हैं, उनके शब्दों में, "अतीत के जीवित मानदंड़ों को, जिनका अब अस्तित्व नहीं रहा, पुर्ननिर्मित करने के लिये आर्थिक और सांख्यिकी के सिद्धांतों का उपयोग भी पुरानी पद्धति से सम्बन्ध तोड़ने जैसा नहीं है। सतही ढंग से किये गये परोक्ष परिमाणीकरण (Quantification) का उपयोग उदाहरण के लिये ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति के इतिहास-लेखन में जीवन स्तर के विवाद में या फिर उन्नीसवीं सदी में आयरलैण्ड में गिनेस बीयर की बिक्री के माध्यम से वित्तिय अर्थव्यवस्था के विस्तार के मामले में किया गया था। आजकल इस तरह के अध्ययन में इकनोमैट्रिक इतिहासकार गणितीय अर्थशास्त्र तथा सांख्यिकी के तमाम तकनीकी तथा सूक्ष्म उपकरणों का उपयोग करते हैं।

बीसवीं सदी में ऐतिहासिक अध्ययन में गणना का उपयोग कम्प्यूटर के आने से पहले से ही हो रहा था। नेमियर से लेकर लफेबव्र जैसे इतिहासकारों ने इस विधि के अपनाने पर जोर दिया था। धीरे-धीरे इतिहासकार इस तरह के कथनों से बचने लगे जैसे 'लोगों ने सोचा', 'बहुमत इसके पक्ष में था' या 'राजा को व्यापक समर्थन प्राप्त था' और उसके स्थान पर गणना पर आधारित सवाल उठाने शुरू कर दिये जैसे 'कितने लोग', वास्तव में 'कितना प्रतिशत', 'देश का कौन सा वर्ग' या 'कौन सा क्षेत्र' जैसे प्रश्नों के उत्तर ढूँढने लगे। प्रारंभ में इस तरह के सवालों का जवाब पेंसिल- कागज की मदद से गुणा-भाग द्वारा सरल विधि से निकाला जाता था। लेकिन कम्पयूटर से भारी मात्रा में तथ्यों को सैंकड़ों में तेज रफ्तार से निपटा जा सकता है। आर्थिक इतिहास तथा जनसंख्या शास्त्र (demography) के अध्ययन को इससे काफी मदद प्राप्त हुई। जनसंख्या में परिवर्तन, जन्म-म त्यु दर, उर्वरता दर या आप्रावसन जैसे विषयों पर जटिल आंकड़ों को इस तरह के गणनात्मक उपकरणों के बिना अध्ययन नहीं किया जा सकता।

(IV) इतिहास और भूगोल

इतिहास और भूगोल, जिसे सब वास्तविक समाजविज्ञान मानते हैं, के बीच एक अच्छा सम्बन्ध शुरू हो रहा है। स्तरीय जैविक इतिहास और कूटनीतिक या राजनैतिक इतिहास के लिये कम से कम प्रारंभिक भौगोलिक जानकारी का होना जरूरी है। आंतरिक इतिहास को भी भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में रखना पड़ता है। लोग किन भौगोलिक परिस्थितियों में रहते हैं, यह उनके जीवन की शैली को भी प्रभावित करता है तथा अन्य क्रिया-कलापों को भी। उन्नीसवीं सदी के फ्रांसीसी इतिहासकार मिशले ने कहा था कि इतिहास भूगोल पर आधारित होता है। उन्होंने कहा कि—"बिना भौगोलिक

आधार के इतिहास के निर्माता उन चीनी तस्वीरों की तरह, जिनमें भूमि नहीं बनायी जाती, हवा में चलते मालूम पड़ते हैं। कार्य क्षेत्र में भी केवल भूमि को नहीं देखना चाहिये। उसका प्रभाव विविध प्रकार से पड़ता है जैसे भोजन, जलवायु आदि"। भौगोलिक संदर्भ से इतिहासकारों का गहरा सरोकर रहा है और लूसियाँ फेबव्र और मार्क ब्लाख के इतिहास-लेखन में या फ्रांस के इतिहास-लेखन में यह प्रभाव साफ झलकता दिखाई पड़ता है। मिशले की बातों को स्वीकार करते हुये ब्लाख ने लिखा है कि :—"हमारे गाँवों का परिद श्य अपने कुछ मूल रूपों में बहुत पुराना है। उन दस्तावेजों की व्याख्या के लिये, जिससे उनके धूमिल प्रारंभ का पता लगता है, सही प्रश्न उठाने के लिये, कम से कम अपनी ही बात को समझने के लिये, वर्तमान परिद श्य का सर्वेक्षण और विश्लेषण करने की प्रारंभिक शर्त पूरी करनी होगी।" फ्रेडरिख रेटजेल नामक भूगोल-विज्ञानी ने प्राकृतिक वातावरण या भूगोल का लोगों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विवेचन किया। अनाल मत के फ्रांसीसी इतिहासकारों ने "घटना-केन्द्रित" इतिहास के स्थान पर जलवायु तथा भौगोलिक परिवर्तनों के मानवीय जीवन पर दीर्घकालीन प्रभावों पर बल दिया। फेबव्र ने रेटजेल के भौगोलिक-निर्धारण के सिद्धांत को नहीं माना लेकिन दूसरे महान फ्रांसीसी भूगोल-वैज्ञानिक विडाल देलाब्लाच का उनके ऊपर काफी प्रभाव था। उन्होंने यह जानने की कोशिश की थी कि भूगोल आदमी को क्या करने के योग्य बनाता है ना कि इसका कि भूगोल और वातावरण मनुष्य को क्या करने से रोकता है। ब्रोदेल को अर्थशास्त्र और भूगोल का काफी गहरा ज्ञान था। भूगोल तथा इतिहास के रिश्तों को 'ऐतिहासिक भूगोल' नामक विषय के विकास ने मजबूती प्रदान की तथा जनसंख्या सम्बन्धी अध्ययनों में भी भूगोल, इतिहास और अर्थशास्त्र के बीच एक फलदायक सम्बन्ध कायम हुआ। इतिहास में भूगोल के इस्तेमाल का सबसे मूल्यवान उदाहरण ब्रोदेल की पुस्तक—The Mediterranean Sea and its World at the Time of Philip II में मिलता है। इस मोटे ग्रन्थ में पहला भाग भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करता परिवेश का अंश ही है और दूसरे भाग में सामाजिक परिवर्तन का वर्णन मिलता है तथा अंतिम भाग में लेखक "घटनायें, राजनीति और जन" के नाम से राजनैतिक घटनाओं तथा व्यक्तियों का वर्णन करता है। पहला भाग ही वास्तव में, भौगोलिक वर्णन ओर विश्लेषण के रूप में इस अध्ययन का आधार-स्तम्भ है जो बाद में सामाजिक-राजनैतिक वर्णन के लिये नींव का काम करता है।

वास्तव में भौगोलिक संदर्भ बिना किसी पेशेवर दक्षता के इतिहास लिखने की पुरानी परम्परा में भौगोलिक ज्ञान का उपयोग सामान्य ज्ञान के अनुसार किया जाता था। जैसे प्राचीन इतिहास की पुस्तकों में हम ऋग्वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल के भूगोल का आम वर्णन देख सकते हैं। लेकिन बीसवीं सदी की पेशेवर दक्षता ने इतिहास की भूगोल पर निर्भरता जैसी स्पष्ट बात को और अधिक अस्पष्ट किया है। मैकाते, जे० आर० ग्रीन या मेटलैण्ड जैसे इतिहासकार भूगोल के इतिहास-लेखन में महत्व को समझते थे। सामान्य इतिहास की बहुत सी पुस्तकों में हम देश या क्षेत्र के भौगोलिक प्रारूप का वर्णन पा सकते हैं। भूगोल का यह प्रयोग अक्सर सतही और प्रभाववादी होता है। हाँलाकि इतिहास का भूगोल के साथ सम्बन्ध किसी और समाज-विज्ञान की अपेक्षा काफी पुराना और व्यापक रूप से स्वीकृत रहा है। अनाल मत के इतिहासकारों ने जैसे फेबव्र तथा ब्लाख ने स्वयं अपने नक्शे आदि भौगोलिक सामग्री बनाने की बजाय उन्होंने पेशेवर भूगोलविदों की मदद ली। फेबव्र ने अपनी पुस्तक, ए जॉग्रफिकल इंट्रोडक्शन टु हिस्ट्री (1925) में घोषित किया कि अतीत के समाजों का परिवेश से सम्बंध का अध्ययन, भौतिक भूगोल के गंभीर अध्ययन पर आधारित होना चाहिये। इसकी अपेक्षा करना मुश्किल है कि इतिहासकार भौतिक भूगोल की वैज्ञानिक जटिलताओं पर महारत हासिल कर लेगा लेकिन भूगोलविद द्वारा उपयोग में आने वाले वर्गीकरण सम्बन्धी विभाजन की (कोई क्षेत्र पठार है, मरूस्थल, पहाड़ी या मैदानी आदि या किस तरह के जलवायु-क्षेत्र में स्थित है) इतिहासकार के लिये उपयोगिता में कोई संदेह नहीं होना चाहिये। हर क्षेत्र और देश की जलवायु और भौगोलिक स्थिति अलग-अलग होती है। भारतीय महाद्वीप में इनका असर कभी-कभी इतिहास की राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों पर भी पड़ता है। जैसे हम देख सकते है कि ज्यादातर साम्राज्यों का आधार गंगा-धाटी और इसके आसपास का क्षेत्र ही था क्योंकि यहाँ के उपजाऊ मैदानों से राज्य कृषि-अधिशेष का बड़ा भाग भू-राजस्व के रूप में लेकर बड़ी संगठित सेनाओं का निर्माण कर सकता

था। जबकि दक्षिण भारत में एक आध उदाहरणों को छोड़कर, भौगोलिक पठारीय परिस्थितियों में इतने बड़े तथा शक्तिशाली राजतंत्रों की स्थापना बेहद मुश्किल काम था। एक भूगोलविद ही भारतीय महाद्वीप के भौगोलिक तथा जलवायु-सम्बंधी जटिलताओं की सही और सटीक जानकारी इतिहासकार को दे सकता है। इस तरह नगरीकरण तथा नगरों के पतन की प्रक्रिया को समझने के लिये, या विदेश-व्यापार तथा व्यापार मार्गों की दिशा या भारत में आक्रमणकारियों के मार्गों को समझने में भी भूगोल की जानकारी सहायक हो सकती है।

(V) इतिहास और राजनैतिक-शास्त्र

इतिहास और राजनैतिक-शास्त्र का सम्बन्ध शायद अन्य समाज-विज्ञानों से ज्यादा प्रगाढ़ और पुराना है। राजनीति-शास्त्र तथा इतिहास का अध्ययन लगभग साथ-साथ किया जाता रहा है और राजनीति शास्त्र का व्यवसायीकरण अपेक्षाकृत देर से हुआ। रांके जैसे इतिहासकार ने सरकारी दस्तावेजों तथा राज्य की गतिविधियों के प्रमाणों के आधार जिस तरह के इतिहास-लेखन की शुरूआत की थी—उससे परम्परागत राजनैतिक इतिहास के विकास को ही मदद मिली थी। यह एक सामान्य ज्ञान की बात है कि इतिहास और राजनीति-शास्त्र दोनों एक ही तरह के विषयों का अध्ययन करते रहे हैं। यह एक जाहिर सी बात है कि इतिहास के व्यवसायीकरण के बाद जिस तरह के इतिहास-लेखन का प्रारंभ किया गया उसमें राजनैतिक इतिहास और राज्य का इतिहास प्रमुख था क्योंकि सरकारें इसी तरह के इतिहास लेखन को आर्थिक सहायता देना चाहती थीं। चूँकि यूरोप के राष्ट्रीय राज्य इस काल में (विशेषकर 19 वीं सदी में) इतिहास को राष्ट्रीय पहचान या अस्मिता का केन्द्र-बिन्दु बनाना चाहते थे तथा क्षेत्रीय विभेदों को खत्म करने के पक्ष में थे, इसलिये भी उन्नीसवीं सदी के ऐतिहासिक लेखन में राजनैतिक इतिहास ही छाया रहा था। तीक्-यूविल की पुस्तक, दि ओल्ड रेजीम एंड दि फ्रेंच रेविल्यूशन (The Old Regime and French Revolution) (1856) प्राथमिक स्त्रोतों पर आधारित इतिहास की एक महत्वपूर्ण कृति थी लेकिन साथ ही साथ इस रचना में सामाजिक और राजनैतिक सिद्धांत का भी खुलकर विश्लेषण किया गया था। बीसवीं सदी में इतिहासकारों का रुझान अनाल मत तथा मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की धारा के प्रवाह में सामाजिक तथा आर्थिक पहलुओं पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने का रहा हाँलाकि चूँकि यह युग राजनैतिक उथल-पुथल (क्रांतियों, युद्धों तथा तानाशाही शासकों के उत्थान और पतन) का काल भी था इसलिये राजनीति तथा इतिहास में कोई अलगाव नहीं होता है। राजनैतिक इतिहास में क्रांतियों की तुलनात्मक अध्ययन काफी रुचि का विषय रहा है जिसने इतिहासकार तथा राजनैतिक सिद्धांतकारों को आपस में बाँध कर रखा है। वैरिंगटन मूर की महत्वूपर्ण कृति, तानाशाही तथा प्रजातंत्र का सामाजिक उद्भव (Social origins of Dictatorship and Democracy) तथा लारेंस स्टोन का इंग्लिस क्रांति का अध्ययन तथा विभिन्न यूरोपीय समाजों में प्रजातंत्रीकरण की बढ़ती प्रक्रिया ने तथा उपनिवेशों के मुक्ति संग्रामों ने राजनीति और इतिहास को एक जैसे विषय-वस्तु का अध्ययन करने के लिये भी प्रेरित किया।

राजनीति-शास्त्र और इतिहास में विषय-वस्तु की काफी समानता रहती है क्योंकि राजनीति का सिद्धांतकार जहाँ अतीत के राज्य-व्यवस्थाओं के विकास के बारे में या अतीत के कर्त्ताओं के बारे में, उनकी राजनैतिक विचारधारा के बारे में जानकारियाँ ले सकता है, वहीं इतिहासकार भी राजनीति-शास्त्र से राज्य की संरचना, विकास और अवधारणाओं के बारे में विश्लेषण के लिये काफी कुछ सीख सकता है। राजनैतिक-शास्त्र, राजनैतिक क्षेत्र का, सत्ता के संगठन का तथा अन्य राजनैतिक संगठनों के अध्ययन पर जोर देता है। राजनैतिक सत्ता सभी समाजों में पायी जाती है यहाँ तक कि जहाँ राज्य की औपचारिक संरचनायें भी नहीं मिलती। राज्य-सत्ता कैसे अपनी वैधता स्थापित करती है। इतिहासकार भी राजनैतिक व्यवस्थाओं के संगठन तथा राज्य के सिद्धांत के क्षेत्र में, सामाजिक-राजनैतिक नियंत्रण की विधियों के बारे में या विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच शक्ति के वितरण के बारे काफी सैद्धांतिक उपकरण उधार लेता है। सामान्यतया इतिहासकार स्थानीय

समुदायों तथा क्षेत्रीय या केन्द्रीय सत्ता के सम्बन्धों का अध्ययन भी करता है और सत्ता (Power) की धारणा का उपयोग घटनाओं के विश्लेषण में करता है। मैक्स बेवर ने सत्ता की व्याख्या इस रूप में की थी कि यह वह योग्यता है जिससे सामाजिक क्षेत्र में कोई कर्त्ता, दूसरों के प्रतिरोध के बावजूद अपनी इच्छा को मूर्त रूप दे सकता है। इस प्रकार की सत्ता, वर्तमान में भी और अतीत के समाजों में भी व्यापक आधार पर प्राप्त की जा सकती है हाँलाकि भौतिक तथा अन्य संसाधनों पर नियंतत्र इस में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इतिहासकार एक समय बल या दमन या सैन्य-शक्ति को अतीत की राज्य-व्यवस्थाओं में मुख्य साधन मानता था हाँलाकि अब यह बात साफ हो रही है कि निरंकुश शासक को वैधता स्थापित करने के लिये अनेक सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक प्रतिबंधों में भी रहकर सत्ता का प्रदर्शन करना पड़ता था। फ्रांसीसी विचारक मिचेल फूको ने संगठित, औपचारिक सत्ता की संरचना के बजाय दैनिक जीवन में हर बिन्दु पर सत्ता को ढूँढने की कोशिश की है और ज्ञान (Knowledge) तथा सत्ता (Power) के बीच एक गहरे सम्बंध होने की बात उठायी है और अब राजनैतिक-विज्ञानी तथा अन्य समाजशास्त्री भी सत्ता के नये आधारों को समझने की कोशिश कर रहे हैं। एक अन्य तरीके से भी राजनीति शास्त्र ने इतिहास का प्रभावित किया है। जैसे-जैसे वर्तमान समाज में प्रजातांत्रिक संरचनाओं को विकास हुआ है वैसे-वैसे इतिहास-लेखन ने भी महान-व्यक्तियों के गौरव-गाथाओं के स्थान पर निम्न वर्गों-मेहनत-मजदूरी करने वाले श्रमिकों या किसानों को और सदियों से उत्पीड़ित-दलित समुदायों तथा स्त्रियों को तथा उनके स्वयं के प्रयोजन, चेतना या गतिविधियों को अहम महत्व दिया जाने लगा है।

(VI) मानव-विज्ञान तथा इतिहास (Anthropology and History)

मानव-विज्ञान तथा इतिहास के सम्बन्ध को लेकर काफी चर्चा और विवाद हुआ है। इस विवाद से दोनों ही विषयों को काफी लाभ पहुँचा है। यह विवाद काफी मूल्यवान साबित हुआ है क्योंकि दोनों विषय कई प्रकार के सिद्धांत-सम्बन्धी, प्रक्रिया-सम्बन्धी या दर्शन सम्बंधी एक जैसी समस्याओं से काफी लम्बे समय से जूझते रहे हैं। अलग-अलग विद्वानों ने इतिहास तथा मानव-विज्ञान के सम्बन्ध को अलग-अलग तरीके से स्पष्ट किया है और इसमें उनकी इन विषयों के बारे में अपनी अलग-अलग धारणायें उनको प्रभावित करती रहीं है। लेविस्ट्रॉस ने इतिहास और मानव विज्ञान के सम्बन्ध के बारे में कहा कि इतिहास हमेशा अद्वितीय, अति विशिष्ट घटनाओं तथा व्यक्तियों के अध्ययन पर बल देता है जबकि मानव-विज्ञान की कोशिश समाज के संगठन तथा संरचना के सामान्य नियम तलाशने की रही है। वे कहते हैं कि "इतिहास तथ्यों की सामाजिक जीवन के चेतन अभिव्यक्ति से जोड़ता है जबकि मानव-विज्ञान की शुरूआत ही सामाजिक जीवन के अचेतन आधार को समझने से होती है।" उन्होंने इतिहास की तुलना उन विकासवादी तथा प्रसारवादी सिद्धांतों से की जिनमें दर्शाये गये चक्र या प्रक्रियायें वैचारिक हैं, अनुभववादी आधार पर टिकी हुई नहीं। हाँलाकि लेविस्ट्रॉस के विचारों से सब इतिहासकार या मानव-विज्ञानी सहमत नहीं हैं और वे इन विषयों के सम्बन्ध को अपने-अपने नजरिये से देखते हैं। जैसे एक दूसरे प्रमुख मानव-विज्ञानी ईवानस् प्रितचार्ड ने तर्क दिया कि दोनों विषयों में काफी मौलिक समानता तथा एकरूपता है क्योंकि दोनों का ही आधार मानवतावादी और व्याख्यात्मक है, जो मानवीय सामाजिक जीवन को "वैज्ञानिक", (या नियमों पर आश्रित) नहीं बनाता। ये दोनों विषय ही सामाजिक घटनाओं की व्याख्या और 'अनुवाद' में ज्यादा यकीन करते हैं। इसके विपरीत बोआस नामक जाने-माने मानव-विज्ञानी ने ऐतिहासिक विशिष्टवाद (Historical Particularism) की धारणा दी और कहा कि इनका लक्ष्य सामाजिक जीवन का सूक्ष्म-अध्ययन होना चाहिये। व्यापक ऐतिहासिक रुझानों को नजरअन्दाज करके उन्होंने स्थानीय विशिष्ट मानवीय क्रियाओं के अध्ययन पर अधिक बल दिया था।

विकासवादी ऐतिहासिक धारणा जो समाज को एक रैखिक दिशा में विकास के अलग-अलग चरणों से गुजरते हुये देखती थी, उसका मैलिनोवस्की के प्रक्रियावादी विचार (functionalism) में भी विरोध किया गया। उन्होंने इतिहास को पूरी तरह नकारते हुये सामाजिक संरचना तथा प्रक्रिया का एक ही समय में (synchronic), अलग-अलग काल में नहीं, अध्ययन पर बल दिया जबकि इतिहास हमेशा घटनाओं तथा समाज की कार्य प्रणाली को काल-अवधि में ही परखने की कोशिश करता है। इस

विधि में ऐतिहासिक परिवर्तन को पूरी तरह नजरअन्दाज करने के कारण मैलिनोवस्की की काफी आलोचना भी हुई। हाँलाकि लेविस्ट्रॉस द्वारा सुझाया गया विचार कि इतिहास और विकासवादी सिद्धांत एक दूसरे के विरोधी हैं और इतिहास केवल विशिष्ट तथा स्थानीय सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है और समाज की कोई सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत नहीं करता—यह भी काफी विरोधाभाषी जान पड़ता हैं क्योंकि इतिहास में आर्थिक गतिविधियों से इतिहास की गति निर्धारण से लेकर वातावरण द्वारा इतिहास के निर्धारण की अलग-अलग व्याख्यायें भी दी गई हैं और इन सामान्य धारणाओं में भी आंतरिक रूप से परखने पर हम काफी विविधता दिखा सकते हैं और यह इतिहास और मानव-विज्ञान के सम्बन्ध में अनेक जटिलतायें पैदा करता है। दोनों विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि मानव-विज्ञान में ऐतिहासिक सामग्री तथा पद्धतियों का इस्तेमाल किया गया है। आधुनिक समय में कार्य क्षेत्र में जाकर काम करने का (field-work) की मानव-विज्ञान की पुरानी पद्धति—एक ही समय की विस्त त जानकारी किसी समुदाय में लम्बे समय तक रहकर, घुलमिल कर **भागीदारी पर्यवेक्षण** (Participatory Observation) में बहुत कुछ रद्दोबदल अब मानव-विज्ञानी इतिहास के प्रभाव के कारण करते हैं। जैसे अब वे ऐतिहासिक सूचनाओं की जरूरत महसूस करते हुये, स्थानीय, क्षेत्रीय या यहाँ तक कि राष्ट्रीय और अंर्तराष्ट्रीय परिपेक्ष्य को अपने कार्यक्षेत्र की प ष्ठभूमि के रूप में अध्ययन करने पर भी बल देने लगे हैं। वे अब समुदाय की वर्तमान की परम्पराओं और कार्यपद्धति के आधार पर इतिहास को समझने की कोशिश (इस अध्ययन की ethno-history कहा जाता है) भी कर रहे हैं तथा ऐतिहासिक दस्तावेजों के आलोचनात्मक अध्ययन के द्वारा ज्यादा जानकारियाँ—उस समुदाय के अतीत के बारे में इकट्ठी करने की कोशिश भी करते हैं। यह सब मानव-विज्ञानी, आलोचनात्मक मानव-विज्ञान तथा मार्क्सवादी मानव विज्ञान की इस आलोचना के कारण करने लगे कि मानव-विज्ञान में तथा उनके कार्य-क्षेत्र में काम करने की पद्धति में ऐतिहासिक भौगोलिक तथा इस तरह के अन्य परिपेक्ष्य को नजरअन्दाज करके, मानव-विज्ञान किसी कबीले या मानवीय समुदाय की बिल्कुल अलग-थलग अध्ययन कर रहे थे जो ज्यादा मूल्यवान नहीं हो सकता था। दूसरी तरफ मानव-विज्ञान का इतिहास लेखन पर भी गहरा असर पड़ना शुरू हुआ। विशेषकर फ्रांस के अनाल मत के कई इतिहासकारों पर यह प्रभाव साफ देखा जा सकता है। अनाल मत के इतिहास-लेखन में किसी समुदाय या काल की मानसिकता (mentality) का अध्ययन मानव-विज्ञानी लुसियन लेवि-ब्रुहल के प्राथमिक "आदिम मानसिकता" (primitive mentality) के अध्ययनों से प्रेरित था। गिल्बर्टो फ्रायेर मानव-विज्ञानी फ्रांज बोआस के शिष्य थे लेकिन उन्होंने ब्राजील के सामाजिक इतिहास पर बहुत महत्वपूर्ण रचनायें लिखीं। उन्होंने नये तरह के इतिहास के स्त्रोत इस्तेमाल किये। इसी तरह डच इतिहासकार जोहान हुईजिंगा का चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी के यूरोप की संस्कृति का अध्ययन, Waning of the Middle Ages (1919) मुख्यतया सामाजिक-मानव-विज्ञान के विचारों से प्रभावित था। 1960 के दशक से इतिहास तथा मानव-विज्ञान के बीच की दूरियाँ और भी कम हुई है। बहुत से सामाजिक मानव-विज्ञानी, खासकर क्लिफोर्ड़ ग्रीत्ज तथा मार्शल साहलीनस् ने मानव-विज्ञान को ऐतिहासिक पक्ष दिया है। इससे इतिहास तथा मानव-विज्ञानी एक जैसे बौद्धिक धरातल पर काम करने लगे हैं और 'ऐतिहासिक मानव-विज्ञान' (historical anthoropology) नाम का नया विषय ही शुरू हुआ है जो इन विषयों के घनिष्ठ सम्बन्ध को दर्शाता है।

इकाई - II

अध्याय - 5

इतिहास लेखन की परम्परायें
(Traditions of Historical Writing)

यूनान और रोम का इतिहास-दर्शन

यूनानी इतिहास-चेतना

1. यूनानी संस्कृति में मूर्तता और साकारता की प्रव त्ति—यूरोपीय संस्कृति का उद्‌गम "हेंल्लांस" है। जैसाकि फिशर ने लिखा है "हम यूरोपीय हेल्लास की सन्तान हैं। हेल्लास नामक संस्कृति यूनान की क्रोड में विकसित हुई। इसका मुख्य लक्षण स्थायित्व का अन्वेषण था। इसका प्रमुख उद्देश्य स्थायित्व में मूर्तता की प्रतिष्ठा करना था। अतः यूनानी चिंतन-पद्धति, स्थायी मूर्त और साकार तत्वों के आश्रय पर अग्रसर हुई। यूनानियों के मतानुसार मानव-मस्तिष्क उसी तत्व को ग्रहण कर सकता हैं जिसका निश्चित स्वरूप और आकार हो। गतिमान और परिवर्तनशील तत्वों में ऐसा स्थायित्व नहीं होता जिसे मस्तिष्क चिन्तन-परम्परा में परिबद्ध कर सकें। अतः यूनानी प्रतिभा गणितशास्त्र में प्रस्फुटित हुई जिसके तत्त्व अचल, अमर, निश्चित और शाश्वत हैं। पाइथागोरस के सम्प्रदाय के अनुसार अंक सकल स ष्टि का सार हैं। यह अंक मूर्त, साकार और निश्चित है। आज कल का अनन्त दशमलव भिन्न यूनानी गणित के सर्वथा प्रतिकूल है। इसी प्रकार सांकेतिक अंक (इररेशनल नम्बर) उनकी पद्धति से विपरीत हैं। यूकलिद की ऋजु-रेखा और उस पर आधारित ज्यामिति उनकी बौद्धिक क्षमता के उपयुक्त प्रतीक हैं। इस द ष्टिकोण के कारण देश की अनन्तता और काल की तरलता का भाव यूनानी मस्तिष्क में कभी नहीं घुस सका। यह लक्ष्य करने की बात है कि यूनानियों में ज्योतिष विद्या का चलन कभी नहीं हो पाया। अफलातूं और अरस्तू नक्षत्र-निरीक्षण से अपरिचित थे। इस विषय का कोई यंत्र या तंत्र प्राचीन यूनान में अविष्कृत नहीं हुआ। पेरीक्लीज के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में एथेन्स के नागरिकों ने यह कानून बनाया कि जो कोई व्यक्ति ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करे उसपर मुकद्दमा चलाया जाय और उसे समुचित दण्ड दिया जाय। काल की गति से अपरिचित होने के कारण वे कोई काल-सूचक यंत्र भी नहीं बना सके। पेरीक्लीज़ के समय तक छाया के विस्तार से ही दिन का परिमाण निर्धारित किया जाता था। अरस्तू के समय में सर्वप्रथम घण्टों का विभाजन प्रचलित हुआ। अफलातूं के समय तक किसी सूर्य-घड़ी या जल-घड़ी का रिवाज नहीं था। अफलातूं ने एक "क्लेपसिद्रा" का नक्शा बनाकर एक घड़ी का काम देने वाला यंत्र बनाया, किन्तु यह उनके दैनिक उपयोगिता और व्यवहार का सामान्य उपकरण रहा। इससे यूनानियों के सामान्य जीवन में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि इसका सार्वजनिक प्रचलन नहीं हो सका। यह द ष्टिकोण यूनानी और रोमन जातियों के दैनिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में प्रतिबिम्बित होता है। उदाहरण के लिए रोमन कानून के अनुसार भूमि का विक्रय और आघान तभी सम्पन्न हो सकता था जब उसमें विक्रेता के नाम का पत्थर गाढ़ दिया जाय। केवल कागजी कार्रवाई से उन्हें संतोष नहीं होता था। अतः यह स्पष्ट है कि यूनानी संस्कृति और चिन्तन-शैली ठोस तथा साकार और स्थायी वस्तुओं पर केन्द्रित थी। यूनानी लोग वस्तुवाद (सब्स्टेन्श्यिलिज्म) के अनुयायी और उपासक थे। यह

धारणा उनके इतिहास-लेखन में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है।

2. छठी शताब्दी पू० खी० में चिन्तन-प्रधान मनोव त्ति का आविर्भाव—छठी शताब्दी पू०खी० में यूनानी विचारधारा में एक महान् परिवर्तन हुआ। यूनानी मस्तिष्क कल्पना-प्रधान प्रव त्ति को छोड़कर चिन्तन-प्रधान होने लगा। अतः पुरोहितों, न्यायाधीशों और उच्च अधिकारियों की तालिकाओं, राजाओं की वंशावलियों, संधि-विग्रह के लेखों के संरक्षण की सतर्कता बढ़ने लगी। आयोनिया के बहुत से लेखक नगरों, निगमों, जातियों, राजवंशों और मन्दिरों की उत्पत्ति की परम्पराओं और किंवदन्तियों को सरल गद्य में लिपिबद्ध करने लगे। इनमें आरगोस का अकूसिलौस (500 पू०ख्री०) मिलेतस का कादमस (550 पू० खी०), लेसबोस का हिलेनिकस (482–397), मिलेतस का हिकेतियस (550–478), मिलेतस का दायोनिसस, लेम्पसेकस का चारोन (470) और लेरोस का फेरेसिदेस (450) प्रसिद्ध हैं। इन्हें सामूहिक रूप से "लोगोग्राफी" कहते हैं। हेरोदोतस से पहले इन्हीं के लेख इतिहास का काम देते थे। ये लेखक सामयिक घटनाओं में अधिक रुचि रखते थे। अतीत में इन्हें विशेष प्रेम नहीं था। एक बार जब हिकेतियस मिस्र गया और वहाँ के पुरोहितों के पूछने पर कहने लगा कि 15 पीढ़ी पहले मेरा पूर्वज देवता था तो वे उसकी अनभिज्ञता पर हँस पड़े और बोले कि हमारा पूर्वज तो 345 पीढ़ी पहले हो चुका। इसी प्रकार उक मिस्त्री ने सोलन से मजाक करते हुए कहा कि यूनानी तो अभी बाल्यावस्था में ही हैं, उनका कोई अतीत ही नहीं है। अफलातूं ने "तेमियस" में इस कथोपकथन को उद्धत किया है।

हिरोदोतस

1. **जीवन परिचय और वर्ण्य-विषय**—"लोगोग्राफी" वर्ग के इतिहासकारों की रचनाएँ हिरोदोतस के प्रसिद्ध इतिहास में परिणत हुईं। हिरोदोतस आयोनियन संस्कृति के केरियन थे। अतः आयोनियन इतिहासकारों की परम्परा को उन्होंने भली-भाँति आत्मसात् किया था। 453-445 पूर्व खी० के लगभग इनका "इतिहास" समाप्त हुआ। उन्होंने यूनान पर ईरान के संघर्ष का सांगोपांग वर्णन किया। एशिया का सबसे पहला नरपति जिसने यूनान पर आक्रमण किया था, क्रोसस् था। अतः हिरोदोतस ने उसकी वंशावली का वर्णन किया और उसके उत्थान और पतन का इतिहास लिखा। इसके पश्चात् लीदिया और साइरस् (कुरुष) का आधिपत्य जम गया था। हिरोदोतस ने मीदिया के साम्राज्य और कुरुष के कथानक का विस्त त विवेचन किया। कुरुष के उत्तराधिकारी केम्बीसस् (कम्बुजीय) ने एशिया और मिस्र पर अधिकार किया। अतः हिरोदोतस को मिस्र के इतिहास और जीवन का निरूपण करना पड़ा। कम्बुजीय के उत्तरवर्ती देरियस (दारयवइश्) और जेर्कसंस (ख्यार्श) ने यूनान पर विजय प्राप्त करने का भागीरथ-प्रयत्न किया। अतः हिरोदोतस पुनः यूनान के इतिहास की ओर दत्तचित्त हुए। यद्यपि हिरोदोतस अन्धविश्वासी थे और अपनी भाषा के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा नहीं जानते थे, तो भी उनकी जिज्ञासा, बुद्धिमत्ता, ओर स्पष्टहृदयता सराहनीय थी। कथाकार की द ष्टि से उनका स्थान अद्वितीय है। उनकी शैली में आश्चर्यजनक सरलता और प्राकृतिक प्रवाह है। उनकी शब्दावली स्पष्ट, सुन्दर और प्रचलित है। अतः वे इतिहास के ही नहीं, गद्य साहित्य के भी पिता कहलाते हैं।

2. **'हिस्ट्री' शब्द का प्रथम प्रयोग और स्वरूप**—हिरोदोतस ने "हिस्ट्री" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। इससे उनका अभिप्राय खोज और अनुसंधान था। यूनानी जाति की अदम्य ज्ञान-पिपासा और अत प्त अनुसंधित्सा 'हिस्ट्री' की परिभाषा में प्रस्फटित हो उठी। हिरोदोतस असम्बद्ध घटनाओं के ढेरको इतिहास का सुव्यवस्थित रूप देने में सिद्धहस्त थे। उनके मतानुसार इतिहास में एकता और अक्षुण्णता का सूत्र गतिमान रहता है। यूनान और ईरान, यूरोप और एशिया इतिहास की श ंखला की कड़ियाँ हैं। समस्त परिज्ञात और संस्कृत जगत् इतिहास के सूत्र में ग्रथित है। अतः एक घटना का वर्णन करते-करते हिरोदोतस को एक

लम्बी उड़ान करनी पड़ती है और सीथिया से मिस्र तथा से सिन्धु तक का प्रदेश उनके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। यद्यपि उनके इतिहास के नौ भागों में प्राचीन यूनानी किंवदन्तियाँ, कथानक और गीत भरे पड़े हैं तथापि उसमें समन्वय, व्यवस्था और एकता का वातावरण है। यदा-कदा उनकी आलोचनात्मक द ष्टि उनके विश्वासी मन को पार कर जाती है। वे बहुत-से भवनों के ऐतिहासिक महत्व को संदिग्ध समझते थे। उनको पता था कि यूनानी मन्दिरों के बहुत से अभिलेख बनावटी हैं। देल्फी के मन्दिर में लेकदेमोनियन परिवार ने एक कृत्रिम अभिलेख उत्कीर्ण कराकर अपने अधिकारों की पुष्टि की थी। किन्तु हिरोदोतस अभिलेखों के महत्व को अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने एक ऐसे स्तम्भ का उल्लेख किया है जिसे यूनानियों ने देल्फी में प्लातिया के युद्ध के पश्चात् बनाया था। बाद में उसे बाईजेन्तियम में ले जाया गया था। उन्नीसवीं शती में वहीं से यह प्राप्त हुआ है। इसमें प्राचीन लिपि में उन 31 राज्यों का उल्लेख है जिन्होंने इस युद्ध में भाग लिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिरोदोतस की आलोचनात्मक द ष्टि बड़ी गहरी और पैनी थी।

3. **"हिस्ट्री" के लक्षण**—हिरोदोतस के मतानुसार इतिहास के चार प्रमुख लक्षण हैं—(1) यह वैज्ञानिक विद्या है अर्थात् इसकी पद्धति आलोचनात्मक है; (2) यह मानवीय विद्या है अर्थात् इसका उद्देश्य मानव कार्य-कलाप का अध्ययन करना है; (3) यह तर्कसंगत विद्या है अर्थात् इसके निष्कर्म और तथ्य साक्ष्य पर आधारित होते हैं; (4) यह शिक्षाप्रद विद्या है अर्थात् इसका कार्य अतीत के आलोक में भविष्य की खोज करना है और मनुष्य को मार्ग दिखाना है। "हिस्ट्री" शब्द का अर्थ ही अनुसंधान है, अतः इतिहास मुख्यतः एक खोज है, गवेषणा है।

4. **हिस्ट्री का संदेश**—हिरोदोतस के अनुसार इतिहास का संदेश यह है कि किसी बात का उत्कर्ष क्रमशः अपकर्ष में परिवर्तित हो जाता है। प्रत्येक तथ्य चरम सीमा पर पहुँच कर अपने विरोधी तथ्यों को जन्म देता है। क्रोइसस और पोलीक्रोतस् की धनाढ्यता इस बात की सूचक थी कि वे शीघ्र ही दरिद्रता की दिशा में चलने वाले हैं। "अति सर्वत्र वर्जयेत्" इतिहास के प्रत्येक प ष्ठ पर अमिट रूप से अंकित है। प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति को इसका ध्यान रखना चाहिए।

5. **इतिहास का स्वर और क्रम**—हिरोदोतस के अनुसार इतिहास में गति और प्रवाह है। साम्राज्य और शासन उठते-गिरते रहते हैं। वस्तुतः यूनानी मनोव त्ति ही भयंकर गति और परिवर्तन के भाव पर निर्भर थी। ज़ियस की शक्ति वज्र के संचालन में प्रकट होती है, पोज़ीदोन भूकम्पों के द्वारा अपनी शक्ति का परिचय देता है, अपोलो संक्रामक रोगों की विभिषिका में अभिव्यक्त होता है, अफ्रोदित इस भावातिरेक की प्रतीक है जो फ्रेदा के गर्व और हिपोलितस सतीत्व का नाशक सिद्ध होता है। इस प्रकार प्राकृतिक परितर्वन ही दैवगति के द्योतक है। इस द ष्टिकोण से इतिहास भी परिवर्तन की प्रक्रिया है। हिरोदोतस की कृति में घटनाओं का चलचित्र सतत गति से चलता रहता है।

6. **हिरोदोतस की कमियाँ**—हिरोदोतस में वह कमियाँ भी हैं जो यूनानी स्वभाव में बद्धमूल थीं। उनके व त्तान्त साक्षियों की सूचनाओं पर आधारित थे। इससे एक संकीर्ण परिधि उत्पन्न हो गयी थी जिसमें इतिहासकार फँसकर रह गया था। यह केवल सामयिक घटनाओं का ही सिंहावलोकन कर सकता था। सूदूर अतीत उसके लिए एक गूढ़ पहेली थी। तथापि हिरोदोतस सुक्रतु की तरह एक युगान्तरकारी नेता थे। जिस प्रकार सुक्रतु की विचार-पद्धति उनके बाद विभिन्न मतमतान्तरों में फँसकर स्वातन्त्र्य के मार्ग से अलग हो गयी इसी प्रकार इतिहास की पद्धति उनके बाद समाप्त-सी हो गयी।

थूसीदाइदीस

1. **जीवन-परिचय और परिस्थिति**—थूसीदाइदीस (454–399 पू० ख्री०) हिरोदोतस से केवल 14 वर्ष छोटे थे। किन्तु इन दोनों महान् इतिहासकारों की मानसिक प्रव त्तियों में बहुत अन्तर है।

थूसीदाइदीस केवल घटनाओं का व त्तान्त लिखने में ही रुचि नहीं रखते थे वरन् उनके कारणों की छानबीन करने में भी उत्सुक थे। वे उस काल में जन्मे थे जब 431-404 पू० खी का सत्ताइस वर्षीय युद्ध यूनानी सभ्यता को निर्बल बना रहा था। युद्ध के आठवें वर्ष में वे एथेन्स के दस सेनापतियों के मण्डल के सदस्य नियुक्त हुए थे। उनको सैनिक कार्यों के अतिरिक्त नागरिक शासन का भी संचालन करना पड़ता था। 424–423 की शरद ऋतु में वे थासोस में एथेन्स के जंगी बेड़े के अधिनायक थे। इस वर्ष ब्रासिदस के नेत त्व में एक लेकेदेमोनी सेना ने उनके बेड़े को परास्त करके एम्फीपोलिस पर अधिकार कर लिया। इसपर एथेन्स के नागरिक बिगड़ गये और उन्होंने थूसीदाइदीस को अपराधी घोषित करके निर्वासित कर दिया। इस निर्वासनकाल में उन्होंने इस युद्ध में विविध पक्षों का अध्ययन करके इसका व त्तान्त लिपिबद्ध किया। इस ग्रन्थ के दो-तिहाई भाग को ही वे पूरा कर पाये क्योंकि लगभग 50 वर्ष की उम्र में उनकी आकस्मिक म त्यु हो गयी। किन्तु उनकी कृति ने उन्हें और उनके समय की धटनाओं को अमरत्व प्रदान कर दिया।

2. **थूसीदाइदीस की विशेषता और महत्ता**—थूसीदाइदीस को अनुभव हो रहा था कि यह एथेनीपेलोपोनेसियन युद्ध हेल्लास की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। इसने यूनानी जगत् में जो भयंकर भूकम्प उत्पन्न किया था उसकी प्रतिध्वनि थूसीदाइदीस के इतिहास में सुनाई देती है। वे युद्ध- शास्त्र में निष्णात थे। अतः उनकी रचना में युद्ध के अनेक प्रसंगों का शास्त्रीय विवेचन मिलता है। विशेष रूप से वे एडमिरल माहन् की तरह नाविक शक्ति के उपासक थे। उसके मतानुसार त्रॉय का युद्ध यूनानी नाविक शक्ति की अभिव्यक्ति था। एथेन्स का जीवन ही नाविक शक्ति पर निर्भर था। अतः उन्होंने यूनानी नौ-सेना का विस्त त विवेचन किया है। युद्ध-शास्त्र के अतिरिक्त थूसीदाइदीस आर्थिक प्रतिक्रियाओं के प्रति भी जागरूक थे। एक सुदीर्घ युद्ध के लिए सम्पन्न कोष अनिवार्य है। पेरिक्लीस के एक भाषण से इस तथ्य पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। सिसली के उपनिवेशीकरण पर उन्होंने मार्मिक विचार प्रकट किये हैं। यूनानी जगत् के उन्नतिशील व्यापार के महत्व को उन्होंने अच्छी तरह पहचाना है। नगरों के विकास की ओर भी उनका ध्यान गया है। साथ ही साथ नैतिक परिस्थितियों का प्रभाव उनसे छिपा नहीं है। पेरीक्लीस के प्रसिद्ध अन्त्येष्टि-भाषण (फ्यूनरल औरेशन) को विस्त त रूप से उद्ध त करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि सबल राष्ट्र की शक्ति नैतिक उत्थान में निहित है। यह सभ्यता का अभिन्न अंग है। उनके ये उद्‌गार कि "न्यायप्रियता अवसरसेविता से अधिक श्रेष्ठ है, भगवान् सत्य का समर्थक है, ख्याति-प्रियता बहुधा मनुष्य को विनाश की ओर ले जाती है, राजनीतिक अन्याय हिंसा से भी जघन्य है, कानून का शब्दशः प्रयोग हानि पहुँचाता है" आदि उनके नैतिक आदर्शों के परिचायक हैं। संसार में जो युद्ध, क्रांति, हिंसा, क्रूरता आदि निकृष्ट बातें दिखाई देती हैं उनके पीछे मनुष्य का मात्सर्य, ईर्ष्या, अस्थिरता, अन्ध ाविश्वास, अभिमान आदि प्रच्छन्न हैं। शक्ति-संचय की प्रव त्ति तथा अपने से दुर्बल पर शासन करने की इच्छा मनुष्य की प्रकृति में इतनी गम्भीरता से बद्धमूल है कि इसका निष्कासन या परित्याग सम्भव नहीं है। म त्युदण्ड आदि कठोर उपायों से भी इसका नियंत्रण करना कठिन है। वे अधिनायकशाही और अभिजात-दल के शासन की अपेक्षा जनतंत्र को श्रेष्ठ समझते थे। यद्यपि जनतंत्र भी संकटपूर्ण है तथापि यह अन्य शासन-पद्धतियों से उत्तम है। एथेन्स की जनतंत्रप्रियता उसकी उन्नति का सार था। राष्ट्र के स्वरूप का थूसीदाइदीस को स्पष्ट ज्ञान था।

3. **थूसीदाइदीस पर हिप्पोक्रेतिक चिकित्साशास्त्र का प्रभाव**—इस प्रकार हम देखते है कि उन्होंने घटनाओं के भीतर छिपी हुई मनोव त्तियों का विश्लेषण किया है। उनकी कृति सामाजिक मनोविज्ञान का आकरग्रन्थ कही जा सकती है। जैसा कि सी०एन० कोकरेन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "थूसीदाइदीस एण्ड दि साइन्स ऑव हिस्ट्री" (थूसीदाइदीस और

इतिहास-विज्ञान) में लिखा है—थूसीदाइदीस पर हिप्पोक्रेतिक चिकित्सा-शास्त्र का गम्भीर प्रभाव है। हिप्पोक्रेतीस औषधिशास्त्र के ही जन्मदाता नहीं थे, वरन् मनोविज्ञान के भी प्रथम आचार्य थे। थूसीदाइदीस ने सामाजिक मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का जो विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है वह बहुत कुछ हिप्पोक्रेतीस की मान्यताओं पर आधारित है। उदाहरण के लिए उनका प्लेग का वर्णन, युद्ध की उत्तेजना का विवेचना, कोर्सीश की क्रांति के आवेग और आवेश का पर्यवेक्षण इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रव त्ति से ओत-प्रोत है। इस मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का लक्ष्य उन नियमों को निर्धारित करना है जिनके अनुसार घटनाएँ गतिशील रहती हैं। थूसीदाइदीस को घटनाओं की अपेक्षा उनके पीछे कार्य करने वाले नियमों में अधिक रुचि थी। इस प्रकार के यूनानी विज्ञान की प्रचलित स्थापनाओं के अनुसार स्थायी नियमों के अन्वेषक सिद्ध होते हैं।

4. **आलोचनात्मक बुद्धिवाद**—थूसीदाइदीस विशुद्ध बुद्धिवादी थे। उन्होंने इतिहास के अध्ययन में यूनानी आलोचनात्मक दर्शन का उपयोग किया। वे देववाणी (ओरेकिल) को अठारहवीं शती के एक बुद्धिवादी की तरह संशय की द ष्टि से देखते थे। उन्हें अलौकिक घटनाओं और देवी क्रियाओं में विश्वास नहीं था। वे कथा, व्याखान और किंवदन्तियों पर श्रद्धा न रखते हुए उनको बौद्धिक आलोचना की कसौटी पर परखते थे। चन्द्रग्रहण के प्रभाव को मानने के विषय में वे निसियस की खुली आलोचना करते हैं। किन्तु उनका ग्रीष्म और शरद् ऋतु सम्बन्धी कार्यक्रम कहीं-कहीं भ्रांतिमूलक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त उनकी सम्भाषणों को जैसे का तैसा उद्ध त करने की प्रव त्ति काफी खटकती है। जैसा कि ग्रोटे ने सिद्ध किया है मीलियन कथोपकथन एकदम कल्पना-प्रसूत है। इन दोषों के रहते हुए भी थूसीदाइदीस की रचना इतिहास की एक मौलिक विचारधारा पर आधारित है। घटनाओं की प्रक्रिया का इतना मार्मिक अध्ययन अन्यत्र सुलभ नहीं है। इस द ष्टि से थूसीदाइदीस एक युगान्तकारी विचारक और इतिहासकार थे।

जिनोफोन

1. **जीवन-परिचय**—जिनोफोन (430-350 पू०ख्री०) ने थूसीदाइदीस की अपूर्ण कृति को पूरा करने की चेष्टा की। वे उनके इतिहास को पचास वर्ष तक और आगे ले गये। उनकी "हेलोनिका" शीर्षक पुस्तक में 411 से 363 पू०ख्री० तक का व त्तान्त मिलता है। 362 पू०ख्री० के मेन्तिनिया युद्ध के वर्णन पर उन्होंने दुखी होकर अपनी लेखनी रोक दी थी। इस युद्ध में उनके प्रिय पुत्र का निधन तो हुआ ही था, साथ ही महान् थीबन राजनीतिज्ञ इपामिनोन्दास भी वीर-गति को प्राप्त हुआ था। यही एक ऐसा व्यक्ति था जो हेल्लास की शान्ति और व्यवस्था को सुरक्षित रख सकता था। अतः उसकी म त्यु से जिनोफोन का दिल टूट गया था। निराश होकर उन्होंने यह अन्तिम पंक्ति लिखी कि "इस युद्ध के बाद हेल्लास में ऐसी अशान्ति और अव्यवस्था हुई, जैसी पहले कभी नहीं हुई थी। किन्तु मैं अपने कथानक को आगे ले जाना नहीं चाहता और इसके निष्कर्ष को लिखने का कार्य अन्य इतिहासकारों के लिये छोड़ता हूँ जिन्हें इसमें रुचि हों।" जिनोफोन-जैसे शांत प्रकृति के लेखक की यह पंक्ति उस काल की असीम कटुता का परिचय देती है।

2. **तात्कालिक परिस्थिति**—जिनोफोन युद्ध और अशांति के काल में उत्पन्न हुए थे। उस समय सत्ताईस-वर्षीय युद्ध चल रहा था। एक प्राचीन किंवदन्ती है कि उन्होंने 524 पू० ख्री० में देलियम के युद्ध में भाग लिया था और सुक्रतु की सहायता से उनकी जान बची थी। किन्तु यह किंवदन्ती प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। ऐसा लगता है कि उस कथा के अनुसार जिनोफोन की जो उम्र बतायी जाती है वे वस्तुतः उससे दस वर्ष छोटे थे। उपर्युक्त अथेनो-पेलापोनेसियन युद्ध की समाप्ति पर उन्होंने अखामनि वंश के एक दावेदार कुरुष की सेना में नौकरी की।

उनके गुरू सुक्रतु ने उन्हें ऐसा करने से रोका भी, किन्तु वे न माने और फलतः उन्हें एथेन्स से देशनिकाला मिला। किन्तु से स्पार्ता चले गये और वहाँ के शासक अगेसिलाउस के यहाँ नियुक्त हो गये। 394 पू० ख्री० में वे स्पार्ता की सेना मं सम्मिलित होकर कोरोनिया के युद्ध में अपने नगरवासी अथीनियनों के विरुद्ध लड़ें। उनकी वीरता से उनके स्वामी इतने प्रभावित हुए कि उन्हें पेलोपोनीज के पास स्किलस की शान्त ग्राम्य रियासत इनाम में दी गयी। वहाँ रहकर उन्होंने बीस वर्ष तक साहित्य-सेवा की। लेकेदेमीनियन राज्य के पतन के पश्चात् ईलियन लोगों ने उन्हें वहाँ से निकाल दिया।

3. **विद्वत्ता और ज्ञान**—जिनोफोन बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखें। दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति, युद्ध-विद्या, कृषि, व्यापार, खेलकूद-शिकार, घुड़सवारी, शिक्षा आदि पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा। उनके प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ "हेलेनिका" और "एनेबेसिस" हैं। हेलेनिका की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसका स्तर थूसीदाइीस से निम्न है। सूक्ष्मता और निष्पक्षता की कमी हो गयी है और शैली भी बोझिल बन गयी है। तथापि इपामीनोन्दास और पेलापीदास की जीवन-झाँकियाँ भी आकर्षक है। एनेबेसिस कुरुष के दस सहस्त्र सैनिकों के 404–401 पू० ख्री० के अभियान की कथा है। इसमें सैनिक प्रयाण, कुनाक्सा के युद्ध और साइरस की म त्यु के ज्वलन्त चित्र मिलते हैं। चित्रमय वर्णन और चरित्र-चित्रण की द ष्टि से यह ग्रन्थ अनूठा है। इस लेखक का स्पार्ता के गणतंत्र का वर्णन और अगोसिलाउस का जीवन-चरित्र स्पार्ता के कठोर शासन और नियंत्रण की यशःप्रशस्तियाँ हैं। इनमें उन्होंने अन्योक्ति द्वारा एथेन्स की संस्थाओं की निन्दा की है। जोनोफोन ने सुक्रतु के बहुत-से संवादों को भी सुरक्षित रखा। "साइरस महान् की शिक्षा" शीर्षक ग्रन्थ में उन्होंने एक आदर्श ओर न्यायपरक व्यवस्था का लेखाचित्र प्रस्तुत किया। यह सर टॉमस मूर के "यूटोपिया" की तरह का ग्रन्थ है।

अन्य यूनानी इतिहास

1. **आइसोक्रैतीस का प्रभाव**—इस युग के अन्य यूनानी इतिहासकारों में आयोन और स्तेसिमब्रोतस के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने क्रमशः चिओस राज्य का इतिहास और थेमिस्तोक्लीस, थूसीदाइदीस तथा पेरिक्लीस के जीवन-चरित्र लिखे। इनसे तात्कालिक पक्षपातपूर्ण राजनीतिक द ष्टिकोण का परिचय मिलता है। मेसिलिया के निवासी पाइथियास की ब्रिटेन और बाल्टिक की यात्राओं के विवरण के अंश भी उस युग के महत्वपूर्ण साहित्य में स्थान रखते हैं। चौथी शती पू० ख्री० के प्रारम्भ होते ही इतिहास-लेखन आलंकारिक वक्त ता की शैली में परिणत हो जाता है। उस युग के संकीर्ण विद्वेषपूर्ण वातावरण से दुखी होकर आइसोक्रेतीस (338 पू०ख्री०) ने शान्ति और संगठन की योजना बनायी। 355 पू०ख्री० में "शांति" पर एक सारगर्भित व्याख्यान दिया और एथेन्स को अपने उपनिवेशों तक को तिलांजलि देकर शांति का सूत्रपात करने की सलाह दी। यद्यपि यूनानी समाज की एकता एक महान् समर्थक स्वयं इतिहासकार नहीं था, किन्तु इसके प्रभाव से इतिहासकारों का द ष्टिकोण बदला और वे समस्त यूनानी समाज की एकता का प्रतिदान करने लगे। इन इतिहासकारों में एफोरस (400–336 पू० ख्री०) अग्रगण्य हैं। ये एशिया माइनर में कीम के रहने वाले थे। इन्होंने एथेन्स, स्पार्ता, थीबिस आदि विभिन्न यूनानी राज्यों के इतिहासों को संग्रहीत करके यूनानी जाति का संपूर्ण इतिहास लिखने की चेष्टा की। उनकी पद्धति आलोचनात्मक और श्लाघनीय थी। साक्ष्य का विवेचन उनकी मुख्य विशेषता थी। किन्तु खेद यह है कि उनका यह प्रशस्त ग्रन्थ काल के प्रवाह में विलीन हो गया। दियोदोरस पोलिबस, स्त्राबो, प्लतार्क आदि के ग्रन्थों में उनकी रचना के जो उद्धरण मिलते हैं उन्हीं से उनकी योजना और विचारधारा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। आइसोक्रेतीस का एक दूसरा शिष्य थियोपोम्पस था। उसने "हेलेनिका" में थूसीदाइदीस की कृति को आगे

चलाया और "फिलिपिका" में मकदूनिया के उत्कर्ष का वर्णन किया। उसका ग्रन्थ 1204 के चौथे ईसाई धर्मयुद्ध में कुस्तुनतुनिया की लूटमार में नष्ट हो गया। किन्तु इसके उद्धरण भी काफी मिलते हैं। इसकी शैली आलंकारिक और श ंगारिक है। इस युग का अंतिम इतिहासकार ओलिन्थस का निवासी केलिस्थिनीस था। वे अरस्तु के सम्बन्धी थे और सिकन्दर के शिविर के एक प्रमुख अधिकारी थे। सिकन्दर के प्राच्य-प्रेम की आलोचना करने के अपराध में उस भावुक विजेता ने भाले के प्रहार से उनका वध कर दिया था। उन्होंने 387 से 357 तक का यूनान का इतिहास लिखा, ईरान में सिकन्दर के आक्रमण का व त्तान्त लिपिबद्ध किया और फोसियन युद्ध का कथानक तैयार किया। सिसरो और लोंजीनस ने इनकी शैली की बड़ी प्रशंसा की है। प्राचीन काल में उनकी कृतियों का बड़ा मान था। 338 पू० ख्री० में यूनान पर मकदूनिया की विजय के अनन्तर यूनानी इतिहास-लेखन का स्वर्णयुग समाप्त हो गया।

सिकन्द्रिया के इतिहासकार

1. **क्लियोमनीस**—सिकन्दर के अनुचरों ने उसके जीवन की घटनाओं को क्रमबद्ध किया था। इनमें क्लियोमनीस और तोलेमी सोतर के नाम उल्लेखनीय हैं। क्लियोमनीस मिस्त्र के निवासी थे। सिकन्दर ने 331 मे ंउन्हें लाल सागर के व्यापार की चुंगी का ठेका दिया था और अरब का प्रशासक नियुक्त किया था। इसके बाद उन्होंने सिकन्द्रिया के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया और अनाज के सट्टे में अतुल धन कमाया। तोलेमी प्रथम ने उन्हें कत्ल करके उनकी अपार धनराशि पर अधिकार कर लिया। उन्होंने सिकन्दर का इतिहास लिखा जो अब लुप्त हो गया है और जिसके कुछ अंश बाद के लेखकों की कृतियों में उद्ध त पाये जाते हैं।

2. **तोलेमी**—तोलेमी सदा सिकन्दर के निकट रहे। उन्होंने सिकन्दर को बहुत पास से देखा। अतः अरियन आदि लेखकों ने उनके संस्मरणों की बहुत प्रशंसा की है। दुर्भाग्य से यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लुप्त हो गया और इसके उद्धरण मात्र कर्तियस, प्लूतार्क, अरियन आदि की कृतियों में बच पाये हैं। सिकन्दर के अनुचर युमनिस और चारेस ने भी तात्कालिक घटनाओं के व त्त तैयार किये, किन्तु वे सब कालकवलित हो गये। इन लेखकों की कृतियों में प्रामाणिक और अप्रामाणिक सभी बातें मिल जाती हैं। प्रशंसा के भाव ने यथार्थ को प्रायः दबा लिया है।

3. **स्त्राबो, थियोफ्रेस्तस, दाइलस, दूरिस आदि**—सिकन्दर के आक्रमण के भौगोलिक यात्रा, प्राकृतिक अनुसंधान और वैज्ञानिक अन्वेषण का क्षेत्र बढ़ गया। स्त्राबो और तोलेमी की कृतियों में इस विस्तीर्ण मानसिक क्षितिज का आभास मिलता है। नियार्कस, मेगस्थनीज, दोइमेकस, दोयोनिसस, बेसिलिस, पेत्रोक्लीस, आदि ने भारत-जैसे सुदूर देश के विषय में महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। अरस्तू के प्रिय शिष्य थियोफ्रेस्तस (372-287 पू० ख्री०) ने कानूनों का संग्रह किया, धर्म का इतिहास लिखा और बहुत-से महापुरुषों की जीवनियाँ लिखीं। उनके समसामयिक दाइलस (331–298 पू० ख्री०) ने विस्त त अध्ययन और अनुसंधान के आधार पर यूनान और सिसली का इतिहास लिखा। थियाफ्रेस्तस के शिष्य दूरिस ने 270 से 291 तक का यूनान का इतिहास, अपनी जन्मभूमि सामोस का इतिव त्त और अगेथोक्लीस का जीवन चरित्र लिखा। किन्तु उनकी रचनाएँ प्रामाणिक नहीं मानी जातीं। अरस्तू के शिष्य क्लितार्कस द्वारा लिखित सिकन्दर के इतिहास में गल्प का तत्व बहुत अधिक आ गया है। फिलार्कस के निवासी पिरहस के आक्रमण से क्लियोमनीस की म त्यु तक के इतिहास में बहुधा अतिश्योक्तियाँ पायी जाती हैं। जोयलस ने मकदूनिया के फिलिप तक का एक सार्वभौम इतिहास तैयार किया और पोजोदोनियस ने इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे। किन्तु इस लेखकों में तथ्यों का वैज्ञानिक निरूपण नहीं मिलता।

4. **स्थानीय इतिहासकार मानेथो, बेरोसस आदि**—इस युग में यूनानी भाषा बहुत दूर तक फैल गयी थी। मानेथो ने मिस्त्र का इतिहास और बेरोसस ने खल्दिया का इतिहास इसी भाषा में लिखे। सिसली में भी यूनानी भाषा के कई इतिहास लिखे गये। सिराक्यूज निवासी अन्तिओकस ने "इटली और सिसली" के इतिहास लिखे। इसी नगर के रहने वाले फिलिस्तस और तिमयस ने भी सिसली के इतिहास लिखे। स्थानीय इतिहास भी काफी लिखे गये। अन्द्रोतियन ने एथेन्स का इतिहास लिखा और फिलोकोरस ने अतीका का इतिहास लिपिबद्ध किया। वास्तव में यह विद्वत्ता, वर्गीकरण और गवेष्णा का युग था। इसमें इतिहासकार दार्शनिकों या अलंकार-शास्त्रियों के समान प्रदर्शनप्रिय हो गये थे। जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से उनका सम्पर्क कम हो गया था। पोलीबस ने इस प्रव त्ति का विरोध किया।

पोलीबस

1. **जीवन-परिचय**—पोलीबस (205–123 पू० ख्री०) थूसीदाइदीस के बाद यूनानी जगत् का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार है। उनका जन्म 205 पू० ख्री० में आर्केदिया के मेगालोपोलिस नामक नगर में हुआ। उनके पिता लिकोर्तास अखियन लीग के सेनापति फिलोपो-मेन के मित्र थे। वे अरातस और लिदिकादास की यूनानी एकता की नीति के प्रबल समर्थक थे। 181 पू० ख्री० में वे अखियन राष्ट्रमंडल की ओर से सिकन्द्रिया में तोलेमी एपीकानिस की सभा में दूत नियुक्त किये गये। 171 में द्वितीय रोम-मकदूनिया का युद्ध छिड़ गया। 167 में मकदूनिया की पराजय हुई। यूनान के प्रमुख राजनीतिज्ञ रोम को भेज दिये गये। इन 1000 अखियनों में पोलीबस भी थे। 166 से 150 पू० ख्री० तक वे तटस्थ द ष्टि से रोम के उत्कर्ष को देखते रहे। सिपियों से उनकी मित्रता हो गयी। 147 में सिपियों को कार्थेज के विरुद्ध युद्ध का नेत त्व करने के लिए अफ्रीका भेजा गया। पोलीबस भी उनके साथ मोर्चे पर गये। वहाँ उन्होंने कार्थेज के ध्वंस का अन्तिम काण्ड देखा। इतने में रोम और अखियन राष्ट्रमण्डल में फिर युद्ध छिड़ गया। कोरिन्थ का अघःपतन हुआ। रोमन राज्य ने यूनानी रियासतों के प्रबन्ध के लिए जो दस प्रशासकों का दल नियुक्त किया उसमें पोलीबस को भी स्थान मिला। वास्तव में इन रियासतों के शासन और नियमन का कार्यभार उन्हीं के कन्धों पर पड़ा। वहाँ उन्होंने यूनानी संस्कृति के अवशेषों को यथाशक्ति रक्षा की। फिलोपोमेन की मूर्तियों को बचाया। इसके बाद वे अपने कार्य-कलाप का लेखा-जोखा देने के लिए रोम गये। फिर वे राजनीतिक क्षेत्र से प थक हो गये। एक बार वे अपने मित्र सिपाहियों के युद्ध में सम्मिलित होने के लिए स्पेन अवश्य गये, किन्तु इनके जीवन के अन्तिम 15 वर्ष अध्ययन, अनुसंधान और इतिहास-लेखन में व्यतीत हुए। उच्च चरित्र, त्वरित बुद्धि, म गया-प्रेम और साहित्यिक रुचि उनके जीवन की अपूर्व विशेषताएँ थीं। 82 वर्ष की आयु में घोड़े से गिरकर उनकी म त्यु हुई।

2. **तात्कालिक परिस्थिति**—219 से 167 पू० ख्री० तक की अर्धशताब्दी में इतिहास ने बड़ी तेजी से करवट पलटी। इस युग में क्रमशः रोम का सार्वभौम साम्राज्य स्थापित हुआ। पोलीबस के बाल्यकाल से कुछ पहले की पश्चिमी जगत् की आठ प्रधान शक्तियाँ रोम की एकीकृत सार्वभौमता में परिणत हो गयीं। दूसरे और तीसरे प्यूनिक युद्ध, दूसरे और तीसरे मकदूनिया के युद्ध, सीरिया के अन्तियोकस त तीय का युद्ध तथा स्पेन का नुमन्तियन युद्ध जिसके फलस्वरूप स्पेन में रोमन प्रभुत्व जम गया, पोलीबस के देखते-देखते हुए। संसार के एकीकरण की यह प्रक्रिया इतनी रोमांचकारिणी थी कि एक संवेदनशील इतिहासकार का मन इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकता था। पोलीबस की ओकेमेनिकल हिस्ट्री (विश्व-इतिहास) इन उत्तेजक परिस्थितियों का सुन्दर प्रतिबिम्ब हैं। इस ग्रन्थ में 221 से 146 पू० ख्री० तक का लेखक के समय का इतिहास सुरक्षित है किन्तु प्रस्तावना के रूप में 264 से 211 पू० ख्री० तक के इतिहास की रुपरेखा भी दी गयी है। इसके एक अंश में भूगोल की भी चर्चा थी।

यह अंश अब लुप्त हो चुका है। पोलीबस ने युद्ध-शास्त्र और व्याकरण पर भी ग्रन्थ लिखे। फिलोपोमेन की जीवनी और नुमन्तिया के युद्ध के व तान्त भी उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

3. **पोलीबस की विचारपद्धति**—पोलीबस के युग में प्राचीन काल की राजनीतिक इकाइयाँ रोमन साम्राज्य के सार्वभौम प्रसार में विलीन हो रही थीं। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है, "नियति सकल संसार ओर उसके इतिहास को एक लक्ष्य की ओर ले जा रही है और वह है रोम का साम्राज्य।" वह वस्तु-स्थिति जिससे विश्व का समस्त कार्य-कलाप एक ही दिशा में अग्रसर हो उठा है और एक ही लक्ष्य की ओर चल पड़ा है, वर्तमान काल का प्रमुख लक्षण हैं। घटनाओं की एकता के इतिहास के सूत्रों में भी एकता आ गयी है। इस एकता को प्रकट करना इतिहासकार का मुख्य कार्य है।" इस द ष्टिकोण से पोलिबस ने इतिहास की प्रक्रिया में एकता, अक्षुण्णता और सार्वभौमता के दर्शन किये। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"इतिहास के विशेषज्ञों की कृतियों द्वारा विश्व-इतिहास के स्वरूप को सामूहिक द ष्टि से हृदयंगम करना सम्भव नहीं हैं। स्पेन और सिसली के कार्यकलाप के एकदेशीय व त्तांत को पढ़कर इन घटनाओं की एकता और विस्तार को नहीं समझा जा सकता और नियति के उन साधनों और संस्थाओं का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता जो हमारे युग की अलौकिक महत्वपूर्ण प्रव त्तियों को जन्म दे रही हैं। यह प्रव त्ति समस्त ज्ञात जगत् का एक साम्राज्य के रूप में संगठन है। इतिहास में किसी ऐसे दूसरे घटनाक्रम का पता नहीं लगता। सिराक्यूज और स्पेन पर रोम के आधिपत्य का आंशिक कथानक विशेषज्ञों की रचनाओं से भी जाना जा सकता है। किन्तु विश्व-इतिहास के बिना यह समझना कठिन है कि रोम कैसे विश्व-साम्राज्य के सोपान पर चढ़ा। ..... जब हम यह जानें और देखें कि जब ये युद्ध चल रहे थे उसी समय अनेक विविध क्षेत्रों में इनकी बहुमुखी प्रतिक्रिया हो रही थी तभी हम इस सर्वतोमुखी विश्वव्यापी ऐतिहासिक प्रक्रिया के आंतरिक मर्म को ठीक से पहचान सकते हैं।"

4. **विश्व-इतिहास की धारणा**—यूनानी संस्कृति का रोमन जीवन पर जो गम्भीर प्रभाव पड़ा उसके फलस्वरूप विश्व-इतिहास की भावना का जन्म हुआ। यह विश्व-इतिहास वास्तव में राष्ट्रीय इतिहास था जिसका नेता सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा जाति थी। पोलीबस के इतिहास का वर्ण्य-विषय रोमन जाति का उत्कर्ष है। यद्यपि वे राजनीतिक घटनाओं और युद्ध-शास्त्रीय विवेचन में ही विशेष रुचि रखते थे, उनकी पद्धति कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त पर आधारित थी। यद्यपि थूसीदाइदीस भी कार्य-कारणवाद के अनुयायी थे, परन्तु पोलीबस इस सिद्धान्त में बहुत अधिक निष्ठा रखते थे। वे दैवी कारणों में विश्वास नहीं रखते थे। वे विशुद्ध बुद्धिवादी थे। आकस्मिकता को वे वही स्थान देते थे जहाँ वास्तविक कारण नहीं मिल पाते थे। इस प्रकार थूसीदाइदीस के अतिरिक्त उनपर अरस्तू की भी गहरी छाप थी।

5. **अन्य विशेषताएँ**—पोलीबस राष्ट्रीय आय और शक्ति के सभी स्रोतों के प्रति सजग थे। आर्थिक, सामाजिक और युद्ध-सम्बन्धी तथ्यों का उन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण किया था। यूनान की जनसंख्या के कम होने की प्रक्रिया का उन्होंने जो विवेचन किया उससे आजकल के सभी इतिहासज्ञ और समाजशास्त्री सहमत हैं। भौगोलिक अध्ययन के प्रति भी उनकी विशेष रुचि थी और प्राचीन अभिलेखों के उपयोग में तो वे सिद्धहस्त थे। साथ ही वे थियोपोम्पस-जैसे आलंकारिक इतिहासकारों के कटु आलोचक थे। उनका कथन था कि प्राचीन लेखों की छानबीनमात्र से ही कोई व्यक्ति इतिहासकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार प्राचीन चित्रों के अवलोकनमात्र से कोई व्यक्ति चित्रकार नहीं बन सकता। उनकी आलोचनात्मक पद्धति से रोमन इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। उन्होंने रोमन संविधान के महत्व को भली भाँति पहचाना और इस दिशा में सिसेरो और तेसीतस का मार्गदर्शन किया।

पोलीबस की दुर्बलता उनकी भाषा और शैली है। उन्होंने गढ़ी-मढ़ी एतिक भाषा का प्रयोग

किया जिसमें कृत्रिमता की गन्ध आती है। उनकी शब्दावली पर दार्शनिक और वैज्ञानिक परिभाषाओं की दूरूहता की गहरी छाप है। कहीं-कहीं अधिक पदत्व दोष भी खटकता है।

रिपब्लिक के अन्त तक का रोमन इतिहास-लेखन

1. **फेबियस पिक्तर और केतो प्रथम**—रोमन लोगों ने यूनानियों के सम्पर्क से ही इतिहास-लेखन सीखा। प्रारम्भिक रोमन इतिहासकारों ने भी यूनानी भाषा का आश्रय लिया। फेबियस पिक्तर सबसे पहले रोमन इतिहासकार थे। उन्होंने एनियस के समय से अपने इतिहास का श्रीगणेश किया और रोमन जाति को यूनानी वीरों से संबंधित किया। लिवी के काल तक यह कृति प्रचलित रही। उनके बाद **एल० सिन्सियस एलीमन्तस, सी० एसीलियस, पी० कोर्नेलियस, सिपियो अफ्रीकानस और ए० पोस्तूमिनस** एलबीनस के द्रुत क्रम से इतिहास-लेखन का कार्य किया। केतो प्रथम (234–149 पू० ख्री०) ने रोमन इतिहास-लेखन को नूतन दिशा प्रदान की। उनकी "ओरिजिनीस" ने रोमन इतिहास में युगान्तर प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ केती के जीवन के अन्तिम वर्ष तक का क्रमबद्ध कथानक है। इसमें पुरातन कथाओं और किंवदन्तियों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण भौगोलिक, आर्थिक तथा जाति-विषयक तथ्यों का संग्रह है। स्पेन के विषय में लिखते समय लेखक ने वहाँ के जीवन का सर्वांगीण वर्णन किया है। इब्रो की मछलियों, चाँदी की खानों और हवाओं की गति तक पर उनका ध्यान गया है। इस ग्रन्थ की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें किसी भी व्यक्ति का नाम नहीं मिलता। केतो प्लेब थे और अभिजात वर्गों से घ णा करते थे। उनकी धारणा थी कि रोम के उत्कर्षों और उत्थानों का श्रेय रोम की जनता को है, न कि उच्चवर्गीय नेताओं को। युद्धों में रोम की विजय सेनाओं के पराक्रम का फल था, न कि सेनापतियों की योग्यता का परिणाम। अतः हम देखते हैं कि यह इतिहास वैयक्तिक नामों से एमदम शून्य है। यदि इसमें कोई वैयक्तिक नाम है तो वह सुरुस नामक एक हाथी का है जिसने कार्थेज के युद्ध में अद्‌भुत शौर्य और चातुर्य का परिचय दिया था। उनकी धारणा थी कि इतिहास का निर्माण जनता द्वारा होता है, न कि विशेष व्यक्तियों द्वारा। केतो का विचार था कि इतिहास व्यावहारिक शिक्षा का साधन है। इनसे नैतिक आचार का आदर्श निर्धारित होता है। वे इतिहास के अध्ययन में भूगोल, कानून, रिवाज, भाषा, संस्था, धर्म, साहित्य, सभ्यता आदि का मूल्य भी भली भाँति समझते थे। अपने ग्रन्थ के तीसरे और चौथे भाग में उन्होंने इन विषयों की विशद चर्चा की है। यह ग्रन्थ लातीनी गद्य का सुन्दर निदर्शन है। किन्तु दुर्भाग्य से यह अनुपम कृति कालकवलित हो गयी है।

2. **केतो के अनुयायी, साल्लुस्त, सीजर आदि**—केतो से इतिहासकारों के एक नये सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। केसियस हेमीना तथा केलपुरनियस पिसो फ्रुगी केतो के अनुयायी थे। किन्तु इनकी आलोचनात्मक प्रतिभा साधारण थी। ये केवल संग्रहकर्ता थे। कोइलियस एन्तीपेतर का द्वितीय प्यूनिक युद्ध का इतिहास कुछ अधिक महत्व रखता है। इस क्षेत्र का सबसे प्रसिद्ध लेखक साल्लुस्त (73–34 पू० ख्री०) था। उनका जन्म एक प्लेव परिवार में हुआ था। उन्होंने क्वीस्टर और ट्रिब्यून के पदों को अलंकृत किया। वे सिसेरो के विरोधी थे। सीज़र के साथ वे अफ्रीका गये जहाँ उन्होंने अतुल धन कमाया। रोम में उनके बाग विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। उनके "केतलीन का षडयंत्र" और "जुगुरथीन का युद्ध" प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उन्होंने एक "रोम का इतिहास" भी लिखा था, किन्तु वह अब लुप्त हो गया है। साल्लुस्त शब्द-चित्रों के सुन्दर चितेरे थे। उनकी चित्रमयी शैली एक चलचित्र सा प्रस्तुत करती चलती थी। इसी युग में जूलियस सीज़र (44 पू० ख्री०) ने गॉल के युद्ध पर अपनी "व्याख्याएँ लिखीं। किन्तु यह एक प्रचार-ग्रन्थ है। इस युग की प्रसिद्ध रचनाओं में कोर्नेलियस नीपोस (99–24 पू० ख्री०) की "जीवनियाँ" (दि विरिस इलस्त्रीबस) का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आजकल इनके कुछ भाग

ही मिलते हैं। किन्तु भाषा की प्राज्जलता की द ष्टि से वे अद्वितीय हैं।

इस युग में दिनचर्याओं और संस्मरणों के लेखन की प्रथा भी चली। सेम्प्रोनियस एसेलियो, रूतिलियस रूफस, लूतेतियस केतेलस आदि के नाम इस विषय में उल्लेखनीय हैं।

साम्राज्यवादी इतिहासकार

1. **लिवी**—44 पू० ख्री० में सीज़र की हत्या के बाद रोम में ग हयुद्ध चल पड़ा। 13 वर्ष के विप्लव के पश्चात् 31 पू० ख्री० में एकतियम के युद्ध में आगस्तस की विजय हुई। इस काल से साहित्य का भी पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। 29 पू० ख्री ने वरजिल ने "एनिद" की रचना आरम्भ की। 27 पू० ख्री में लिवी के इतिहास का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इन दोनों लेखकों का विश्वास था कि स्वर्णयुग का दिव्य विहान विश्व को उद्भासित कर रहा है। उन्हें रोम की महत्ता और विशालता में अटूट श्रद्धा थी। उनके लिए उसके विश्वव्यापी साम्राज्य का प्रतीक सम्राट एक देवता (दिवस्) था।

   लिवी (59 पू०ख्री० 71 ख्री०) पदुवा के निवासी थे। उन्होंने रोमन गणतंत्र का विघटन, रोमन साम्राज्य की स्थापना और ऑगस्तस के युग का चरमोत्कर्ष अपनी आँखों से देखा था। वे रोम में वरजिल और होरेस की तरह आगस्तस की सभा के रत्न बन गये थे। उनका इतिहास इटली में एनिस के आगमन से आरम्भ होकर 9 ख्री० तक चलता है। लगता है कि लिवी अपने ग्रन्थ को आगस्तस के राज्यपाल के अन्त तक ले जाना चाहता थे। यह महान् ग्रन्थ धीरे-धीरे लुप्त हो गया। अब इसे 35 भाग ही उपलब्ध हैं। इसका संक्षेप इतना प्रचलित हुआ कि उसने मौलिक ग्रन्थ की हत्या कर दी। इस इतिहास की प्रस्तावना में लिवी ने रोमन इतिहास को दो भागों में बाँटा है : 1—प्राचीन काल, 2—अर्वाचीन काल। पोम्पे और सीज़र के युद्ध से प्रथम काल का अन्त और दूसरे का आविर्भाव हुआ। उनका विचार रोमन जाति का सम्पूर्ण इतिहास लिखने का था। वे इतिहास को अलंकार-शास्त्र का अंग समझते थे। अतः उनकी शैली पुष्पित, सज्जित और प्रवाहमयी है। उनके मतानुसार इतिहास का उद्देश्य नैतिक आदर्शों की शिक्षा देना और देशप्रेम के भाव को द ढ़ करना है। यद्यपि उनका इतिहास अत्यन्त रोचक है, उनकी आलोचनाशक्ति इतनी तीव्र नहीं है। इस युग में त्रोगस पोम्पीयस, फेनेस्तेल्ला, हाइजीनियस, कालपुरनियस, वोलुमनियस, मराथस, अकन्तियस और लिसिवियस आदि ने भी इतिहास-लेखन में बहुमूल्य योग दिया। किन्तु ऐतिहासिक साहित्य का यह उमड़ता हुआ स्त्रोत शीघ्र ही रुक गया। विचार-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह वातावरण 86 ख्री० तक रहा। इसमें वेलियस पेतरकुलस और वालेरियस मेक्सीमस-जैसे साधारण इतिहासकार ही कार्य कर सकते थे।

2. **तेसीतस**—इस युग के अन्त में सी० कोर्नेलियस तेसीतस ने रोम का सबसे महत्वपूर्ण इतिहास लिखा। उनका जन्म 55 ख्री में हुआ और म त्यु 120 ख्री० में हुई। उन्होंने कानून का अध्ययन किया, किन्तु वेस्पेसियन के राज्यकाल में वे राज्यकार्य में प्रविष्ट हुए और 88 ख्री० में प्रीटर तक बने। 'अग्रीकोला का जीवनचरित्र' 'जर्मनिया', 'हिस्तोरे' और 'अनाल' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। तेसीतस की शैली एक प्रवक्ता-जैसी है। वे अपने ही वाक्य पात्रों से कहलाने लगते हैं। इस नाटकीयता में आजकल कुरूपता दिखाई देती है वे सम्राटों के आलोचक थे। साम्राज्यशाही पर छींटें कसते थे। किन्तु अपने विचारों के प्रवाह में वे बहुधा सत्य से विचलित हो जाते थे। उदाहरण के लिए उन्होंने ताइबेरियस को न शंस, क्रूर और अत्याचारी सिद्ध किया है, किन्तु आधुनिक शोध से सिद्ध हो चुका है कि वे एक श्रेष्ठ शासक थे। इसी प्रकार उनकी निन्दा का पात्र क्लदियस वर्तमान अनुसंधान से एक अच्छा नरपति सिद्ध हो चुका है। उनकी उक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हुई हैं। उनमें उनकी दार्शनिकता और वैयक्तिकता झलकती हैं। उन्होंने "जर्मानिया" में जर्मन संस्थाओं का अध्ययन करके जर्मन लोगों के स्वतंत्रता-प्रेम ओर

व्यक्तिवाद का आदर्श प्रस्तुत किया और रोम के एकतंत्र प्रतिबंध और पराधीनता के वातावरण का व्यंग्य रूप से विरोध किया। तेसीतस में वह विस्त त द ष्टिकोण नहीं मिलता जो पोलीबस की विशेषता है। वे रोम के आंतरिक मामलों में ही उलझे रहे। सिनेट के दल के प्रति उन्हें बड़ा पक्षपात था। शांतिपूर्ण व्यवस्था से उन्हें घ णा थी। युद्ध और विजय में उन्हें आनन्द मिलता था। किन्तु युद्ध-शास्त्र से वे पूर्णतः अपरिचित थे। उनका चरित्र-चित्रण भी कृत्रिम ओर काल्पनिक था। वे पुण्य और पाप के निदर्शन प्रस्तुत करना चाहते थे। अतः उनके पात्र मूर्तिवत् हो गये हैं। उनमें सजीवता नहीं है। अग्रीकोला और दोमीतियन ऐसे ही परिपूर्ण निर्जीव आदर्श हैं जैसे ग्लोकोन ने सुक्रतु के सामने प्रस्तुत किये थे, जिनकी पूर्ण अच्छाई और पूरी बुराई को देखकर उस महान् एथीनियन दार्शनिक ने उन्हें कहा था कि ऐसा प्रतीत होता है कि तुम किसी पारितोषिक-प्रतियोगिता के लिए मूर्तियों पर जमकर पालिश कर रहे हो। ये आदर्श चरित्र जीवन की विविधता से कोसों दूर हैं और परिस्थितियों के सन्दर्भ से बिल्कुल प थक् हैं। ऐसे चरित्र-चित्रण में ऐतिहासिकता नहीं होती, क्योंकि ये स्थायी आदर्शों के प्रतीक होते हैं, गतिमान जीवन के प्रतिबिम्ब नहीं होते।

3. **स्वेतोनियस**—तेसीतस के निधन के पश्चात् रोमन इतिहास-लेखन के स्वर्णयुग का ही नहीं, लातीनी साहित्य के उत्कर्ष-काल का भी अन्त हो गया। मारसियल और जुबेनाल तेसीतस के सम-सामयिक थे। इतिहास-परम्परा का पतन स्वेतोनियस (75-160 ख्री०) की कृतियों में परिलक्षित होता है। यह लेखक सम्राट हेद्रियन का अनुचर था। यद्यपि वे राजकीय पत्रों और लेखकों का मौलिक अध्ययन कर सकते थे, किन्तु उन्होंने पूर्व-विदित परम्पराओं को ही दोहराना पर्याप्त समझा। उनकी "बारह सम्राटों की जीवनी" बहुत प्रसिद्ध है। इनमें सीज़र से दोमिनियसन तक प्रत्येक सम्राट का जीवन-चरित्र, उसका वंश-परिचय, शिक्षा-दीक्षा, आकृति-प्रकृति, जीवन-निधन आदि दिया हुआ है। यह ग्रन्थ इतिहास का नहीं, अपितु जीवन-चरित्र का सुन्दर निदर्शन है। राजनीतिक और सामरिक तथ्यों के प्रति लेखक की उदासीनता बहुत खटकती है। साहित्यिक द ष्टि से यह रचना मूल्यवान है। दोमिनिसन की चर्चा करते समय स्वेतोनियस ने ईसाइयत के स्वरूप को तेसीतस से भी अच्छा समझा और व्यक्त किया है। बाद के लेखकों के लिए यह एक कृति एक आदर्श बन गयी।

रोमन साम्राज्य के अन्तिम इतिहासकार

1. **फ्रोन्तो और सेवेरी**—द्वितीय शती ख्री० में इतिहास-लेखन की परम्परा लुप्त-सी हो गयी। आलंकारिक शैली के उत्कर्ष के फलस्वरूप श्रेष्ठ इतिहास-लेखन समाप्त हो गया। इस युग का उत्तम इतिहास शिलालेखों या कानूनी संहिताओं में ही द ष्टिगोचर होता है। तथापि इस युग के कुछ लेखक उल्लेखनीय हैं। फ्रोन्तों (100–170 ख्री०) ने वेरस के पूर्वी अभियान का व त्तान्त लिखा और अन्तोनियस पियस और मार्कस ओरेलियस को बहुत-से पत्र लिखे। इनके ग्रन्थों में "प्रिन्सिपिया हिस्तोरे" (इतिहास के सिद्धान्त) भी महत्वपूर्ण हैं। (193–235 ख्री०) की रचना "हिस्तोरिया अगस्ता" शीर्षक संग्रह में विलीन हो गयी है। इस संग्रह में जो जीवनियाँ उपलब्ध हैं वे पहली रचनाओं के संवर्धित ओर परिमार्जित रूप हैं। उनमें मौलिकता की कमी है। इनसे ज्ञात होता है कि इस युग में एलियस जूवियस कोर्दस, पारहेनियासन, एलियस माउरस और मार्सेलिनस ने भी इतिहास-लेखन का कार्य किया।

2. **ओरेलियस विक्तर और यूत्रोपियस वालेन्स**—चौथी शती के इतिहास-लेखकों में ऑरेलियस विक्तर तथा यूत्रोपियस के नाम अग्रगण्य हैं। विक्तर का जन्म कार्थेज के निकट 325 ख्री० में हुआ था। उन्होंने कौन्सतेनताइन तक सीजरों का व त्तान्त और एक रोम का का संक्षिप्त इतिहास लिखा। यूत्रोपियस वालेन्स के समसामयिक थे। इनका रोम का संक्षिप्त इतिहास (ब्रेवियारियम एवं उर्बे कोन्दिता) मध्यकाल में बड़ा लोकप्रिय रहा। इनके अतिरिक्त फ्रोन्तियस

और फ्लेवियस वेजेतियस ने युद्ध-शास्त्र पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।

3. **अम्मियानस मार्सेलिनस**—रोम का अन्तिम उल्लेखनीय इतिहासकार अम्मियानस मार्सेलिनस था। वे सम्भवतः सीरिया के निवासी थे। उन्होंने सेना में बहुत से स्थानों पर कार्य किया। 363 में जब सम्राट जूलियन ईरानियों के साथ लड़ता हुआ मारा गया तो वे उसके साथ थे। इसके बार उन्होंने अवकाश ग्रहण किया और रोम जाकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "वेरूम गेस्ताकम लिब्री 40" तैयार की। यद्यपि वे जन्म से यूनानी थे उन्होंने लातीनी भाषा का प्रयोग किया। उनका विचार तेसितस की कृति को आगे ले चलना था। दुर्भाग्य से इस अनुपम ग्रन्थ के 14 से 31 भाग तक का अंश ही शेष रहा है। इनमें 352 से 378 ख्री० तक का इतिहास मिलता हैं उनमें सामरिक विषयों, प्रशासकीय संस्थाओं, भौगोलिक परिस्थितियों, जातीय अवस्थाओं आदि पर मूल्यवान सूचनाएँ मिलती हैं। उन्होंने सबसे पहले बर्गन्दी, अलैन और हून जातियों के रीति-रिवाजों की चर्चा की। उनके तथ्य प्रायः विश्वास-योग्य होते हैं। उन्होंने यूनानी और लातीनी सामग्री का पूर्ण उपयोग किया। उनके ग्रन्थ का महत्व यह है कि इसमें सांस्कृतिक सामग्री—धर्म, नीति, विज्ञान, अन्धविश्वास, आदि का समुचित समावेश है। मार्सेलिनस ईसाइयत के विरोधी और प्राचीन पेगेन धर्म के समर्थक थे। उन्होंने रोम के बढ़ते हुए भ्रष्टाचार, प्रदर्शनप्रियता और छिछोरेपन के विरुद्ध आवाज उठायी। वे थोथे दार्शनिक तत्वज्ञान के आलोचक थे। युग की निराशा और उदासीनता को उन्होंने अपने प्रबन्ध में उँडेल दिया। उनके ये शब्द बड़े मार्मिक हैं—"आतंक और अश्रु के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहा, अतीत की संस्म ति कटु हो गयी और भविष्य की आशा इससे भी अधिक मन्द पड़ गयी।"

पाँचवीं शती के अन्त में हम मध्यकाल में प्रवेश करते हैं। प्राचीन रोमन धर्म म तप्राय हो चुका था। ईसाइयत का बोलबाला था। प्राचीन लातीनी भाषा और शैली बदल चुकी थी। क्लौदियन की कृतियों में इस अधःपतन का वातावरण झलकता है। प्रोतोदियस ने गॉल का इतिहास और सिदोनियस एपोलीनारिस ने अतीला के युद्धों का व त्तान्त लिपिबद्ध करने की चेष्टा की, किन्तु वे यह कार्य पूरा न कर सके। उनके पत्र-संग्रह प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त सिम्मेकस और साइनेसियस के पत्र-संग्रह में भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है।

हेलेनिक सभ्यता और इतिहास-लेखन

1. **हेलेनिज्म का प्रसार**—यूनानी सभ्यता के प्रसार की प्रक्रिया को "हेलेनिज्म" कहते हैं जहाँ कहीं यूनानी गये और बसे वे अपनी संस्कृति साथ लेते गये। एटलाण्टिक से मंगोलिया तक इस संस्कृति का विस्तार हो गया। किन्तु इस संस्कृत का राजनीतिक रूप वही छोटी रियासतों का समूह रहा जिसमें सदा आपसी लड़ाई-झगड़े चलते रहे। एशिया की इन रियासतों का इतिहास कार्दिया के हीरोनीमस ने "दियोदोखोई" और "एपीगोनी" नामक ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया। वे सिकन्दर के साम्राज्य की एकता के प्रथम समर्थक थे और युमनिस और एन्तीगोनस प्रथम के अनुयायी थे। किन्तु ये राज्य पारस्परिक विद्वेष, वैमनस्य और संघर्षों की अग्नि में झुलसे जा रहे थे। अतः हीरोनीमस की रचनाएँ अधिकतर युद्धों के व तान्त बन कर रह गयी हैं।

2. **कल्पनाओं (यूतोपिया) का प्रचलन**—यूनानी उपनिवेश—नगरों पर प्राच्य भावनाओं का प्रचुर प्रभाव था। नगरों के प्रतिष्ठाता देवता माने जाते थे। दुरायोरोपोस की खुदाई से सेल्युकस का जो चित्र मिला है उसमें उसे देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन नगरों में काल्पनिक सामूहिक व्यवस्थाओं के अनेक चित्र खींचे गये। यूहेमरस ने हिन्दसागर के पंखिया नामक एक काल्पनिक द्वीप का वर्णन किया जहाँ मकान और बाग के अतिरिक्त और कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं रखी जा सकती थी और शेष सब वस्तुएँ राष्ट्र की धन थीं। इसी प्रकार

इयाम्बुलस ने हेलियोपोलिस की कल्पना की जहाँ पत्नी और सन्तान तक समाज की सम्पत्ति माने जाते थे। इस द्वीप में सेनाएँ भी नहीं रखी जाती थीं और सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य था। अपार जलनिधि इसका सबल प्रहरी था। राजा की अवस्था जब 150 वर्ष की हो गयी तो उसे जान-बूझ कर मार डाला गया। इन कल्पनाओं (यूतोपिया) पर स्तोइक दर्शन का गहरा प्रभाव था। हेलेनिक संस्कृति की मौलिक भावनाएँ इन्हीं कल्पना-चित्रों में अभिव्यक्त हुई। कल्पना और आदर्श की इस खोज में इतिहास-जैसा इतिव त्तात्मक विषय नहीं पनप सकता था। स्थायित्व के अनुसंधान में गतिशील तथ्यों का महत्व नगण्य हो गया था। धर्म, यातु, ज्योतिष ने विज्ञान, विवेचन और आलोचना का स्थान ले लिया था। हेलेनिक एशिया में सहस्त्रों व्यक्तियों की कब्रों पर जो लेख मिले हैं उनमें अमरत्व की असीम पिपासा प्रकट होती है। मिस्त्र, सरापिस और इसिस के धर्म इस अमरत्व और मुक्ति के प्रधान साधन बन गये थे।

3. **हेलेनिक काल के यूनानी भाषा के इतिहास**—यह हम ऊपर कह आये हैं कि दूसरी शती ख्री० में लातीनी इतिहास- लेखन का प्रायः अन्त हो चुका था, किन्तु यूनानी इतिहास-लेखन चलता रहा। रोम पर यूनानी प्रभाव इतना गहरा था कि वहाँ की अनेक परम्पराओं को लेखक यूनानी भाषा में अनूदित करने लगे। पोलीबस से लगभग 100 वर्ष बाद कोर्नेलियस ने 42 भागों में इतिहास और भूगोल पर एक से लगभग 100 वर्ष बाद कोर्नेलियस ने 42 भागों में इतिहास-ग्रन्थ लिखा जिसके यहूदियों से संबंधित कुछ अंश ही बच रहे हैं। हेलीकारनेस के निवासी दायोनिसस ने यूनानी भाषा में रोम का इतिहास लिखा। स्त्राबो (63 पू०ख्री०—24 ख्री०) ने 17 भागों में भूगोल पर एक अद्वितीय ग्रन्थ लिखा जो ऐतिहासिक सूचनाओं से परिपूर्ण है। दियोदोरस ने "बिबलियोथिका" शीर्षक एक विस्तीर्ण विश्व-इतिहास लिखा। इसमें मिस्री, असुरी, हब्शी आदि यूनानी जातियों की परम्पराओं से लगातार सिकन्दर और सीज़र तक के इतिहास की क्रमबद्ध श्रंखला प्रस्तुत की गयी है। किन्तु लेखक की आलोचना-शक्ति तीव्र नहीं थी और उनकी शैली भी बोझिल थी। मध्य-पूर्व में दश्मिक के निवासी निकोलस ने सीज़र और ऑगस्तर के जीवन चरित्र लिखे। जोज़ेफस ने यहूदियों के इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे। प्लूतार्क (48 ख्री०) की जीवनियाँ हेलेनिक संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट उपज हैं। उनका लक्ष्य यूनान के पुरातन आदर्शवाद और नैतिकता को पुनर्जीवित करना था। अपियन ने यूनानी भाषा में रोम का इतिहास लिखा, मौसेनियस ने यूनान का वर्णन किया और अरियन ने सिकन्दर का कथानक लिखा। तालेमी का भूगोल भी इस काल की प्रसिद्ध रचना है। हिरोदियन और दियोकेसियस यूनानी भाषा का अन्तिम प्रसिद्ध इतिहासकार थे, जिन्होंने रोम के विकास का गम्भीर अध्ययन किया। इन लेखकों ने पार्थिया और सासानी ईरान के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान कीं।

रोमन इतिहास-लेखन की विशेषताएँ

1. **मानववाद**—ऊपर जो यूनानी-रोमन इतिहास-दर्शन का विवेचन किया गया हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी प्रमुख विशेषता मानववाद थी। इसका लक्ष्य मनुष्य के कार्य-कलाप, सफलता-असफलता, उत्थान-पतन आदि का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करना था। इसके द ष्टिकोण से मनुष्य एक बुद्धि-प्रधान प्राणी है। उसकी बुद्धि के विकास में ही उसकी सफलता सन्निहित है। दैवी तत्वों में उसकी विशेष निष्ठा नहीं थी। दूसरे, यूनानी-रोमन इतिहास-दर्शन में स्थायी तत्वों की प्रधानता थी। घटनाओं का महत्व इसी में था कि वे सनातन तथ्यों पर प्रकाश डालती थीं। मानव-प्रकृति के निरन्तर स्वरूप का अध्ययन ही इतिहास का उद्देश्य था। इतिहास राजनीतिक प्रशिक्षण की पाठशाला समझा जाता था। इससे पेरीक्लीस-जैसे राजनीतिज्ञ को दीक्षा मिलती थी। चौथी शती में आइसोक्रेतीज़ की यही धारणा थी, किन्तु स्तोइक दर्शन के प्रभाव से बाद में यह समझा जाने लगा था कि मनुष्य की वास्तविक सफलता बाहर की परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने से नहीं होती, बल्कि

आन्तरिक मनःस्थितियों पर अधिकार करने से मिलती है। पोलीबस का विचार था कि इतिहास का अध्ययन बाह्य सांसारिक सफलता का माध्यम नहीं हैं, वरन् आत्म-विजय और आन्तरिक संतुलन का साधन है। दुःखान्त नाटकों का उद्देश्य यह नहीं है कि उनको देखकर या पढ़कर मनुष्य दुःखों से बचे, बल्कि उनके अन्दर उन दुखों को झेलने की शक्ति और तत्परता उत्पन्न हो। मानव-जीवन के सुख का रहस्य भाग्य के आघातों को शांतिपूर्वक सहन करने में निहित है। मनुष्य को बाह्य प्रसार से हटकर आन्तरिक समाधि पर ध्यान देना चाहिए। नैतिक चेतना विश्व को विजय करने वाली शक्ति नहीं हैं, बल्कि बाह्य अज्ञात और विपरीत जगत् से हटकर विश्वस्त संरक्षण प्राप्त करने का दुर्ग है। यूनानी नीति-शास्त्र का यह महान् परिवर्तन पोलीबस की रचनाओं में द ष्टिगत होता है। उसके बाद के सब रोमन और यूनानी इतिहासकार भी इससे ओतप्रोत हैं। इतिहास-दर्शन स्तोइक और एपीक्यूरियन दर्शनों का पिछलग्गू बन गया है।

2. **विश्वव्यापी द ष्टिकोण**—उपर्युक्त हेलेनिक विचारधार के परिवर्तन का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि इतिहासकार की द ष्टि संकीर्ण परिधियों से हटकर समूचे विश्व में फैल गयी। स्तोइक और एपीक्यूरियन विचारक विश्वभ्रात त्व के अनुयायी थे। वे प्राचीन यूनानी नगर-राज्य-व्यवस्था के विरोधी थे। साथ ही वे आर्थिक विषमता और सामाजिक असमानता के भी शत्रु थे। ज़ेनो ने अपनी "रिपब्लिक" में जो अब लुप्त हो चुकी है, ऐसी आदर्श व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। अतः इतिहासकार भी ऊँची उड़ान करके विश्वव्यापी प्रव त्तियों पर द ष्टिपात करने लगे। रोम के उत्कर्ष ने इस द ष्टिकोण को बहुत बढ़ावा दिया। फलतः इतिहासकार जातिवाद से ऊपर उठकर विश्वव्यापी मानववाद का अनुयायी हो गया। उसके लिए "ओर्बिस" (संसार) और "उर्बी" (नगर) में कोई भेद न रहा। रय्तिलियस नेमे़न्तियानस के शब्दों में उसने भी रोम की तरह "उबरम् फेशिस्ती की प्रायस ओर्बिस इरात" (जो पहले विश्व था उसे नगर बना दिया)।

सामान्य रोमन नागरिक इतिहास के प्रति सतर्क नहीं था। हेरोल्ड मेर्तिंगली के शब्दों में "रोमन नागरिक को काल की वस्तु बहुत कम अनुभूति थी। अतः यद्यपि इतिहास उपयोगी, शिक्षाप्रद ओर आदरास्पद समझा जाता था, यह एक विशुद्ध बौद्धिक क्रीड़ा रह गया था, एक म तविज्ञान बन गया था। रोम के पतन के साथ यूनानी-रोमन इतिहास-लेखन का भी ह्रास हो गया।

चीनी इतिहास की परम्परा

चीनी इतिहास दर्शन

1. **चीनी विचारधारा की ऐहिकता और उपयोगिता**—चीनी विचारधारा और द ष्टिकोण के दो प्रमुख लक्षण है। वह ऐहिक है अर्थात् प थ्वीतल पर मनुष्य के कार्य-कलाप से संबंधित है। वह उपयोगितापरक है, अर्थात् दर्शन और सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष की ओर आकर्षित है। अतः व्यक्ति और समाज के मंगल और सन्तुलन को द ष्टि में रखकर चीनी संस्कृति अग्रसर हुई। आरम्भ से ही यह सामाजिक विचार की अक्षुण्णता के प्रति जागरूक थी। पूर्वज पूजा इस प्रव त्ति का महत्वपूर्ण प्रतीक है। प्रत्येक अभिजात वर्ग का व्यक्ति अपनी वंशपरम्परा से पूर्णतः परिचित होता था और अपने को प्राचीन वीरों से सहज ही संबंधित कर सकता था। इन पूर्वजों की आत्म के लिये वह निश्चित क्रम से श्राद्ध और बलि दिया करता था। विभिन्न कुलों के व्यक्ति केवल अपने ही पूर्वजों का श्राद्ध कर सकते थे और अपने ही हाथ से वे इस श्राद्ध को सम्पन्न कर सकते थे। किसी स्थानापन्न पुरोहित द्वारा समर्पित श्राद्ध ग्राहय नहीं था। अतः चीन में एक और किसी पुरोहित वर्ग या सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय (चर्च) का विकास न हो सका और दूसरी ओर अतीत के प्रति सतर्कता बहुत बढ़ गयी।

2. **थ्यान और थ्यान-मिङ**—चीन के सबसे बड़े देवता "थ्यान" का आदिम रुप एक मानव पूर्वज था। एक मत के अनुसार "थ्यान का अर्थ" "महा-पुरुष" है। यह बात ध्यान योग्य है कि चीनी लिपि में थ्यान् के लिए जो चिहन है वह एक मनुष्य का है जिसकी भुजा और टाँगें फैली हुई हैं। चू राजवंश के काल में 'थ्यान' भूतकालीन सब महापुरुषों की अर्थात् चू राजाओं के सब पूर्वजों की सामूहिक संज्ञामानी जाने लगी ओर 'थ्यान-मिङ' का अर्थ 'पूर्वजों की अनुमति बन गया। अन्त में यह शब्द उस क्षेत्र का अभिघान बन गया जहाँ पूर्वज निवास करते हैं, इस प्रकार यह आकाश का पर्याय हो गया। इसको एक मानव रुप भी प्रदान कर दिया गया। किन्तु सामान्यतः यह गगन-वाची बना दिया। थ्यान का समकक्ष सार्वभौम आदिम सम्राट था। उसके द्वारा थ्यान की मिङ अर्थात् अनुमति राजाओं को प्राप्त होती थी। उसका वंशज होने के कारण चीनी सम्राट थ्यान-त्जू 'देवपुत्र' कहलाता था। किन्तु वह स्वयं देवता नहीं था। वह एक मानव मात्र था। परन्तु थ्यान की ओर 'ली' (प्राकृतिक शासन) के अनुसार राज्य करने की मिङ (अनुमति) उसे प्राप्त होती थी। इसका अर्थ यह है कि जब तक शासन को सुचारु रूप संचालित रखता था तब तक वह सम्मान और सेवा का पात्र था। किन्तु जब वह व्यवस्था को सुरक्षित रखने में असमर्थ हो जाता था, जब उसका आचार औचित्य की सीमा का उल्लंघन करने लगता था, जब उसके राज्य में बाढ़, भूकम्प, अग्नि-प्रकोप आदि प्राकृतिक आपत्तियों की अधिकता हो जाती थी तो थ्यान अपनी मिङ उससे वापस ले लेते थे। इस प्रक्रिया को 'कोमिङग्' कहते थे। यह लक्ष्य करने की बात है कि अब तक क्रान्ति को चीनी भाषा में 'को-मिङग्' कहते हैं।

3. **पित पूजा**—चीनी विश्वास के अनुसार मनुष्य के भीतर दो आत्माएँ होती हैं। 'पो' जो कब्र में साथ रहती है और उसका क्षय होने पर निम्नलोक में विलीन हो जाती है। और "हुन" जो थ्यान् के प्रसाद की और अग्रसर हो जाती है। और सदा अपने वंशजों का नियंत्रण और नियमन करती है। पूजा और श्राद्ध द्वारा उस 'हुन' का आह्वान किया जाता है। अतः वंशावलियों का ज्ञान बड़ा आवश्यक है राजा और प्रजा दोनों के लिए यह ज्ञान अनिवार्य है। इससे इतिहास को बड़ी प्रेरणा मिली क्योंकि पूर्वजों की अक्षुण्ण परम्परा द्वारा ही 'हून' और 'थ्यान का प्रसाद और आदेश प्राप्त हो सकता है।

4. **यिन-याङ् की विकासशील व्यवस्था**—चीनी लोग सामाजिक व्यवस्था और प्राकृतिक विधान दोनों को विकासशील मानते हैं। इस विकास में गति है। इसके दो पक्ष यिन या याङग् कहलाते हैं यिन स्थिति का परिचायक है और याङ गति का। इन दोनों तत्वों की प्रक्रिया से विश्व की जीवन-चर्या चलती है। 'यिन' स्थावर शान्त संतुलन है; 'याङ' गतिशील अत प्त विक्षेप है। सैद्धान्तिक द ष्टि से वे विरोधी है। किन्तु तात्विक द ष्टि से वे सहयोगी है। उनमें से प्रत्येक क्षण दूसरे में संक्रान्त होता रहता है। इस प्रकार उनकी पारस्परिक प्रक्रिया सर्वत्र और सर्वदा अक्षुण्ण रहती है। चीनी भाषा के प्राचीनतम ग्रन्थ ई-चिङ (परिवर्तन-पुस्तक) में इन दोनों तत्वों का विशद विवेचन है। विश्व के आठ विभाग विविध मात्राओं में इन तत्वों के सम्मिलत और संतुलन द्वारा निर्मित होते हैं। जल से जीवन की उत्पत्ति हुई और विभिन्न रुपों द्वारा विकसित होता हुआ यह जीवन मनुष्य के रूप तक पहुँचा। म त्यु के पश्चात् मानव शरीर पांच तत्वों में विर्कीण हो जाता है। यह सिद्धान्त वर्तमान वैज्ञानिक विकासवाद से मेल खाता है। इसके अनुसार सब चराचर प्रकृति गतिमान है।

5. **अवनति-उन्नति का क्रम; जापानी बौद्ध दर्शन की इतिहास-चेतना**—उपर्युक्त 'यिन' और 'याङ' के सिद्धान्त के आधार पर जो चिन्तन-पद्धति पल्लवित हुई उसका स्वरूप वस्तुतः ऐतिहासिक था। इससे इतिहास के कालक्रम को अवनति और उन्नति के द ष्टिकोण से वर्गीकृत करने की प्रव त्ति का सूत्रपात हुआ। जापान के बौद्ध सम्प्रदायों में यह प्रव त्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है। बारहवीं शताब्दी में जापान में बौद्ध धर्म का बड़ा बोलबाला था।

अनेक शिक्षक और प्रचारक इसे फैलाने में लगे हुए थे। 1175 में होनेन शोनीन (1133–1212) ने जो दो (पवित्र देश) नामक बौद्ध सम्प्रदाय स्थापित किया और उनके शिष्य शिनरान (1173–1262) ने जोदो शिन्शु (जोदो का सच्चा सम्प्रदाय) का श्रीगणेश किया। इसी समय ईसाई (1141–1215) और दोगेन (1200–1253) ने चीनी 'छान' सम्प्रदाय के अनुसार "जैन" सम्प्रदाय का सूत्रपात किया और निचिरेन (1222–82) ने होक्के (पद्मदल) सम्प्रदाय की आधारशिला रखी। इन सब धार्मिक नेताओं और विचारकों ने बौद्ध धर्म की अवनति-उन्नति के द ष्टिकोण से इतिहास की व्याख्या की। निचिरेन ने इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया—

1. शोबो—युग जो इनके मतानुसार 647 पू रत्री० से अर्थात् बुद्ध के निर्वाण से प्रारम्भ होता है और जिसमें हीनयान का सच्चा धर्म प्रचलित था।
2. जोबो—युग जो प्रथम युग से एक सहस्त्राब्दी बाद आरम्भ हुआ और जिसमें महायान का मूर्ति-धर्म प्रचलित रहा और
3. माप्पो युग जो लगभग 1053 रत्री० सी आरम्भ हुआ और जिसमें धर्म की ग्लानि और सदाचार का ह्रास होने लगा।

इस अवनति काल को दूर करने के लिए उपर्युक्त बौद्ध सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। इतिहास की यह जापानी बौद्ध व्याख्या धर्म के उत्थान-पतन के द ष्टिकोण से हिन्दुओं की चतुर्युगीन व्याख्या और दीके की उन्नति-अवनति के विचार से यूनानियों की स्वर्णयुग और लौहयुग वाली व्याख्या से मिलती जुलती है।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है, चीनियों का प्रकृति और समाज विषयक द ष्टिकोण ऐतिहासिक है। 'थ्यान' के आदेश और उनके अनुसार 'यिन' और 'यांङ', की प्रक्रियाएं इतिहास में गतिमान होती हैं। कुङ्ग-चिऊ (कनफ्यूशियस) (551–478 पू० रत्रीद्ध ने अपनी विचारधारा को इतिहास की प ष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। उसके मतानुसार प्रकृति और समाज की विकासशील व्यवस्था इतिहास में प्रतिबिम्बित होती है। पुरातन ऋषियों ने प्रकृति से 'विचार' ग्रहण किये और उन्हें समाज में प्रसारित किया। सभ्यता का इतिहास इन 'विचारों' को सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न स्वरूपों में अनुदित करने की प्रक्रिया है। इन 'विचारों' को अनुकूल मनुष्यों ने समय-समय पर कानून बनाये और ये कानून राज्य-शासनों के रूप में प्रकट हुए। यह बौद्धिक विकास सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला के रूप में अतीत काल में सम्पन्न हुआ।

चीनी चिन्तना की प्रमुख प्रव त्ति अत्यन्त प्रारम्भ से ही समाज को मनुष्य से अधिक महत्वपूर्ण मानती रही है। सामाजिक नियमों का पालन तथा सामाजिक परम्पराओं के प्रति आदर की भावना मनुष्य के लिए परमावश्यक है। मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रमुख प्रतिमान उसके द्वारा अपने विभिन्न सामाजिक संबंधों का सम्यक् निर्वहन है। समाज में रहते हुए मनुष्य के अस्तित्व के विभिन्न आयाम होते हैं। जिनमें उसकी स्थिति-विशेष प्रकार के व्यवहारों की अपेक्षा रखती हैं। पूर्व-प्रतिष्ठापित नियमों तथा परम्पराओं के अनुसार इस विविध अपेक्षाओं की पूर्ति से ही समाज में शान्ति और सुव्यवस्था संभव है। इसी कारण चीनी अमूर्त सिद्धान्तों की अपेक्षा पूर्व-द ष्टान्तों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं; ऐतिहासिक द ष्टान्तों तथा सुनिश्चित साहित्यिक अभिव्यक्तियों की प्रभूतता का स्त्रोत तथा उद्गम इन प्रव त्तियों में ही ढूँढना चाहिए। सामाजिक नियम का आधार प्राचीन परम्पराएँ तथा पूर्व-द ष्टान्त होने चाहिए; चीन के विचार में, किसी व्यक्ति विशेष की चिन्तना-शक्ति की अपेक्षा समाज तथा संस्कृति के प्राचीन अनुभवों के फल का सारांश अधिक प्रमाणिक तथा औचित्यपूर्ण है। जीवन के नियन्त्रण तथा नियमन में किसी अमूर्त तथा भावमय विचार से उतनी सहायता नहीं मिल सकती जितनी की उन व्यक्तियों के जीवन संबंधी अनुभवों से जिन्होंने अतीत में जीवन के विभिनन पक्षों का साक्षात्कार किया, तत्संबंधी समस्याओं के समाधान की चेष्टा की तथा इसमें सफल अथवा असफल रहे। इस प्रकार

चीनवासियों के लिए ज्ञान का अर्थ होता है अतीतकालिक द ष्टान्तों का ज्ञान; चीनी भाषा में, इसी कारण, ज्ञान को 'चि-कु' अर्थात् 'प्राचीन मार्गों का अन्वेषण' कहते हैं। चीनी साहित्य में ऐसी अभिव्यक्तियों की भरमार दिखाई पड़ती है जोकि विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं का निर्देश करती हैं, किन्तु परम्परागत प्रयोग ने जिन्हें सार्वभौमिक तथा अमूर्त भावों की अभिव्यक्तियों का स्वरूप प्रदान कर दिया है।

पाँच उत्कृष्ट ग्रन्थ

इस प्रकार की चिन्तन-पद्धति में अतीत का महत्व स्वतः स्पष्ट है। चीनवासियों ने सुदूर अतीत में संकलित 'पांच उत्कृष्ट-ग्रन्थों' को अपने जीवन के प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया। इन ग्रन्थों में मानव-अनुभवों के विभिन्न प्राचीन द ष्टान्तों का संकलन है और यह माना गया कि मानव-जीवन में चाहे जितना परिवर्तन आ जाय, इन ग्रन्थों में इससे सम्बद्ध सभी प्रमुख सत्य उपलब्ध रहेंगे। 'चिंग' (= 'उत्कृष्ट-ग्रन्थ') के लिए चीनी भाषा में अन्य शब्द 'तिएन' (= 'नियम' अथवा 'चङग' (= 'चिरन्तनता') है जिससे इन 'पांच उत्कृष्ट-ग्रन्थों' में निहित सत्य के शाश्वत होने में विश्वास का निर्देश होता है। कन्फ्यूशियन के मत में तो इन पाँच ग्रन्थों को अपरिहार्य माना जाता था; किन्तु अन्य विचार-सम्प्रदायों में भी इन्हें आदर का स्थान प्राप्त था। चीनवासियों ने सदैव अपने दैनन्दिक जीवन को इन ग्रन्थों में संस्थापित प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया और इसी कारण प्राचीन चीनी समाज तथा संस्कृति में एक प्रकार के स्थायित्व तथा अपरिवर्तनशीलता का भान होता है।

'ली' की अवधारणा—समाज तथा व्यक्ति के जीवन का न्यामक तत्त्व

इस प्रसंग में चीनी चिन्तना में 'ली' की अवधारणा का अवबोध अत्यन्त आवश्यक है। प्रसंग में 'ली' का प्रयोग केवल धार्मिक स्वरूप के अनुष्ठानात्मक कृत्यों के लिए होता था, किन्तु कालान्तर में इस शब्द से विविध सामाजिक महत्व के कार्य-व्यापारों-यथा, विभिन्न प्रकार के पारिवारिक संबंध, राजदूतों का पारस्परिक मिलन, राज-दरबार में अपेक्षित व्यवहार, युद्ध-भूमि में मनुष्य का कर्त्तव्य इत्यादि का निर्देश होने लगा। कन्फ्यूशियस तथा उसके अनुयायियों ने 'ली' को एक नैतिक अर्थ प्रदान किया तथा इसे समाज तथा व्यक्ति के जीवन का नियामक तत्व माना जिसके अभाव में ये दोनों अशान्ति, अव्यवस्था तथा उच्छ ंखलता से ग्रस्त हो जाते हैं। 'ली' विभिन्न स्वाभाविक व त्तियों को समाज द्वारा स्वीकरणीय आकार प्रदान करता है तथा जीवन के सभी कर्मों में आत्म-नियन्त्रण का अनुप्रवेश करता है। उदाहरणार्थ, यदि साहस के ऊपर 'ली' का नियन्त्रण न हो तो तो वह अविचारी दुःसाहस का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। परस्पर विलग सामाजिक स्थितियों में रहने वाले लोगों के बीच जो सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वह इस 'ली' के नियन्त्रण के ही कारण है। सुव्यवस्थित तथा सुखी जीवन के लिए 'ली' का ज्ञान तथा पालन परम आवश्यक है।

चीनी इतिहास लेखन में 'थिए' (इतिहासकार) का कार्य

उपरोक्त विवेचन से हमें संक्षेप में चीन की उस वैचारिक प ष्ठभूमि का अभिज्ञान होता है जिसके संदर्भ में वहाँ इतिहास-लेखन का कार्य अग्रसर हुआ। समाज तथा संस्कृति के प्राचीन अनुभवों के महत्व के अवबोध ने चीनी जनता में इनकी सुरक्षा के प्रति विशेष रुचि जाग्रत की ओर इस प्रकार, इसकी व्यावहारिक उपादेयता को देखते हुए, इतिहास-रचना को एक विशिष्ट महत्व प्रदान किया गया। तथापि, परवर्ती सिद्धान्तों तथा औचित्य-स्थापनों की अधिकता के कारण एवं इस संबंध में कुछ प्रमुख स्त्रोत ग्रन्थों (उदाहरण के लिए 'चोउ में अनुष्ठान' या 'चोउली') की तिथि की अनिश्चिता के कारण चीनी इतिहास-लेखन के प्रारम्भ का प्रश्न पर्याप्त उलझा हुआ है। यहाँ तक की इतिहासकार के लिए प्रयुक्त शब्द 'शिह' का मौलिक अर्थ दीर्धकाल तक अशुद्ध रूप में व्याख्यायित रहा है; इसका मुख्य कारण परवर्ती कालीन कोशकार सू-शेन (100 ईसवी) की अशुद्ध व्याख्या थी जिसने 'शिह' को

'घटनाओं का लेखन करने वाला व्यक्ति' के रूप में परिभाषित किया तथा लिखावट की व्याख्या करते हुए कहा कि यहाँ एक हाथ को 'मध्य' (चीनी शब्द 'चुङग') को पकड़े हुए दिखाया गया है, उसने 'मध्य' (= चुङग) को 'यथार्थ' (चीनी 'चेङग) के रूप में परिभाषित किया। शङगकालीन भविष्यवाणी से संबंधित अस्थियों पर उत्कीर्ण शब्दों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर चीन में वङग् कुओ-वेइ तथा जापान में नाइतो तोराजिरो अलग-अलग इन समान निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस शब्द से एक पात्र-जिसमें कि धनुर्विद्याा की प्रतियोगिताओं के समय लक्ष्य-संधानों का हिसाब रखा जाता था—को धारण किए हुए हाथ का निर्देश होता है; तथा यह कि शङग काल में इस उपाधि को धारण करने वाले राजकीय अधिकारी का कार्य इस प्रकार की प्रतियोगिता में लक्ष्य-संधानों का लेखन था। यद्यपि इस प्रसंग में निश्चित साक्ष्य नहीं है, इससे यह कल्पना की जा सकती है कि कालान्तर में 'शिह' उपाधिकारी राजकर्मचारियों का कार्यक्षेत्र बढ़कर सामान्यरूपेण सभी प्रकार की घटनाओं का लेखन हो गया।

चोउ शासन वंश के काल में इस राजकीय पद के स्वरूप तथा कर्त्तव्य अधिक निश्चित रूप में दिखाई पड़ते हैं। संभवतः इस समय शिह महत्वपूर्ण कार्यों के लिए भाग्यशाली तथा दुर्भाग्यपूर्ण दिनों का निर्धारण करता था, युद्ध-भूमिक में राजा के साथ जाता था, तथा पूर्ववत्, लक्ष्य-संधान की प्रतियोगिताओं का भी निरीक्षण करता था। यह पद अब पैत्रिक उत्तराधिकार से निश्चित होने लगा था एवं समाज में इसे अत्यन्त सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

शिह उपरोक्त कार्यों से स्पष्ट है कि उससे लिखने पढ़ने का ज्ञान अपेक्षित था एवं महत्वपूर्ण कार्यों में वह राजा का मुख्य परामर्शदाता होता रहा होगा। ऐतिहासिक विवरणों की सुरक्षा का कार्यभार सम्भवतः परवर्ती विकास है जो इस परिस्थिति विशेष से उद्‌भूत हुआ होगा कि राजा की विविध प्रशासकीय सभाओं में उसकी उपस्थिति होती रही होगी तथा भविष्य में इनके निष्कर्षों के अभिज्ञान के उद्देश्य से उनका लेखन आवश्यक समझा गया। चोउ राज्य के स्वरूप में विस्तरण के परिणामस्वरूप प्रशासकीय ढांचा जटिल होने लगा; विभिन्न राजनयिक समस्याओं के समाधान के लिए विदेशी राज्यों से राजदूतों का आगमन सामान्य हो गया तथा साम्राज्य विस्तार की आकांक्षाओं से युद्धों की संख्या में अभिव द्धि हुई। इन सभी का विवरणात्मक लेखन शिह के कार्यक्षेत्र का अंग बना और तत्परिणामस्वरूप उसके पद की गरिमा भी बढ़ी।

उपरोक्त विकास-प्रक्रिया-अर्थात् यह तथ्य विशेष की प्रारम्भिक इतिहासकार राजदरबारों के कार्य-कलापों, धार्मिक अनुष्ठानों तथा महत्वपूर्ण राजकीय कार्यों से संबद्ध एक प्रकार का अर्ध-धार्मिक राजकर्मचारी था जो कालान्तर में प्रलेखों का संरक्षक अथवा दैनन्दिक ऐतिहासिक व त्तों का विवरणगार बना का समर्थन चीन की दो प्रमुख ऐतिहासिक कृतियों—**प्रलेखों का ग्रंथ अथवा इतिहास का ग्रंथ** (शुचिङग) तथा **बसंत एवम् शरद इतिव त्त** (छुन छिउ) के उनके इसी अनुक्रम में आने से भी होता है। प्रथम ग्रन्थ में प्राचीन शासकों तथा उनके परामर्शदाताओं से संबद्ध भाषणों, आज्ञाओं एवं उपदेशों का संकलन है। जैसा कि स्वयं चीनियों की धारणा रही है, यह मुख्यतः कार्यों का नहीं शब्दों का संग्रह है। इस संग्रह का प्रमुख प्रयोजन नैतिक-शिक्षाओं का उपदेश तथा राजनीतिक प्रश्नों पर उपर्युक्त निर्देशन प्रदान करना है और इस प्रकार उनकी प्रमुख प्रव त्ति ऐतिहासिक नहीं अपितु नैतिक एवं साहित्यिक है। इसके विपरीत, दूसरा ग्रन्थ तथ्यों का संग्रह है एवं उपदेशात्मक प्रव त्ति का इसमें सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक संस्कृति का प्राचीनतम साहित्य पौराणिक होता है जिसमें कल्पनात्मक विवरणों की प्रचुरता होती है। धीरे-धीरे ही तथ्यों के यथारूप लेखन की चेष्टा प्रारंभ होती है। वर्तमान संदर्भ में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

ली-चि में यह अभिकथन मिलता है कि "जब सम्राट किसी कार्य में प्रव त्त होता है तो उसका लेखन दक्षिण पार्श्व के इतिहासकार द्वारा किया जाता है, जब वह कुछ कहता है तो उसके लेखन का

कार्य-भार दक्षिणी पार्श्व के इतिहासकार का होता है।" इस कथन की पुराव त्ति हान-शू द्वारा भी होती है यद्यपि वह इन दोनों के कार्यों को उलट कर बताता है; आगे वह यह भी जोड़ता है कि इस रूप में राजा के अभिकथनों का संग्रह एक ग्रन्थ बन गया तथा उनके कार्यों तथा अभिकथनों के लेखन के लिए दो प थक इतिहासकारों की नियुक्ति वस्तुतः इस तथ्यविशेष के परवर्ती औचित्य स्थापन की चेष्टा के कारण है ये दोनों ग्रन्थ इस प्रकार की भिन्न वस्तु सामग्रियों से युक्त हैं। सु-मा-चिएन इस सिद्धान्त की कोई चर्चा नहीं करता; या तो वह इससे परिचित नहीं था अथवा वह इसे बहुत महत्वपूर्ण नहीं समझता था। किन्तु अपनों से पहले हो चुके इतिहासकारों का वह प्रायः उल्लेख करता है। इतिहासकार के पद की उसकी अवधारणा केवल इसके धार्मिक एवं अनुष्ठानात्मक महत्व से संबंध नहीं रखती थी अपितु वह इतिहासकार को प्राचीन शासकों के नैतिक गुरू एवं निदेशक के रूप में देखता है। चोउ शासनवंश की कृतियों में आरंभित इस परम्परा का निरन्तर विकास होता गया तथा हान काल की कृतियों में भी इस विश्वास की निरन्तरता बनी दिखाई पड़ती है। अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में ही प्रसिद्ध इतिहासकार सु-मा-चिएन द्वारा प्राचीन इतिहासकार का चित्र प्रस्तुत किया गया है। चिन राजकुल के इतिहास के संदर्भ में वह इस कथा को देता है जो अल्पायु सम्राट चेङग और उसके छोटे भाई के बीच घटी खेल-खेल में बड़े भाई ने तुङग व क्ष का एक पत्ता उठाकर छोटे भाई को दिया और कहा कि इससे मैं तुम्हें जागीर प्रदान करूँगा। दरबारी इतिहासकार ने तुरन्त उपयुक्त दिन का चयन करने की अनुमति मांगी। इस पर बड़े राजकुमार ने कहा कि वह तो हँसी कर रहा था। इतिहासकार ने उपदेशात्मक स्वर में कहा 'ईश्वर पुत्र कुछ भी हँसी में में नहीं कहते' और बड़े भाई को अपने वचन की पूर्ति करनी पड़ी।

सामन्तीय राज्यों के प्रारम्भिक इतिव त्त

सामन्तीय राज्यों के इन प्रारम्भिक इतिव त्तों के विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें से बहुत कम ही शेष बचे हैं। किन्तु, इनमें से अकेले **बसन्त एवं शरद् इतिव त्त** ने चीनी ऐतिहासिक चिन्तन पर प्रभूत प्रभाव डाला है; यह स्वरूप तथा अवधारणा दोनों में ही परवर्ती ऐतिहासिक कृतियों द्वारा प्रतिमान के रूप में ग्रहण किया गया।

बसन्त तथा शरद् इतिव त्त लु राज्य के बारह सामन्तों का इतिव त्त है जो 722 ई० पू० से लेकर 481 ई० पू० के समय-विस्तार से संबंधित है। इसमें लु राज्य के आन्तरिक मामलों, कूटनीतिक सभाओं, सामन्तीय युद्धों के साथ-साथ लु का अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध, ग्रहण, बाढ़, भूकम्प तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों का भी लेखन हुआ है। विवरण सर्वथा निर्वेयक्तिक है तथा कहीं भी लेखक के व्यक्तित्व अथवा विचार का चिन्ह नहीं दिखाई पड़ता। चीनी परम्परा इसे कन्फ्यूशियस की रचना मानती है; यह असंभव नहीं कि कन्फ्यूशियस तथा उसके शिष्यों ने इस इतिव त्त में अंकित घटनाओं तथा अस्पष्ट अवरतणों की व्याख्याओं का सम्यक् प्रयास किया हो और इनके प्रयासों के फलस्वरूप ही इस ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई हों; कालान्तर में इन्हीं व्याख्याओं तथा विस्तरणों के संकलन से इस ग्रन्थ की विभिन्न टीकाएँ अस्तित्व में आई होंगी। इस इतिव त्त की तीन प्रमुख टीकाएँ हैं; कुङग-यङग, कु-लिअङग तथा त्सो-शिह। इनमें से प्रथम टीका प्राचीनतम जान पड़ती है।

इन टीकाओं में बलात् आरोपित एवं असंगत व्याख्याओं का प्राचुर्य होने पर भी हम इन निम्नांकित तीन अवधारणाओं को देख सकते हैं जिन्हें सभी टीकाएँ इस ग्रन्थ के साथ सम्बद्ध करती प्रतीत होती हैं; इनमें से प्रथम दो पूर्णतः परस्पर विरोधी हैं : एक, इतिहासकार को तथ्यों का यथार्थ तथा निर्वेयक्तिक विवरण प्रदान करना चाहिए तथा दो, उसे तथ्यों का लेखन मात्र नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करना चाहिए कि वे पूर्वकल्पित विचारों के साथ संगत हों। इसकी तीसरी प्रमुख अवधारणा यह है कि अकाल, जल-प्लावन, ग्रहण, भूकम्प इत्यादि प्राकृतिक जगत् की असामान्य घटनाओं का मानव-कार्यकलापों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तथा ये इतिहास को प्रभावित करती हैं।

यह इतिव त्त सामान्यतया तथ्यों के वास्तविक तथा यथार्थ लेखन का प्रयास प्रदर्शित करता है, साथ ही यह इतिहासकार के लिए इस अपेक्षा का निर्देश करता है कि उसे निश्चितरूपेण ज्ञात वस्तु से अधिक का लेखन नहीं करना चाहिए। सामन्त हुआन के पांचवें वर्ष में छेन के सामन्त पाओं की दो म त्यु-तिथियाँ क्यों दी गई हैं और उत्तर में यह टीका कहती है कि कन्फ्यूशियस का इस विषय में निश्चित-मत नहीं था और इसी कारण उसने दोनों तिथियाँ दे दीं। कुज-यज शाखा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्याता तुज चुज-शु ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि 'उसने वही लिखा है जो उसने स्वयं देखा तथा जो स्पष्ट नहीं था उसके विषय में उसने कुछ नहीं कहा है।' इस प्रकार, जैसा कि हमें इसकी टीकाओं की व्याख्याओं में परिलक्षित प्रतीत होता है, **बसन्त तथा शरद इतिव त्त** द्वारा तथ्यों का सावधानीपूर्वक लेखन तथा उनकी निर्भीक एवं पूर्वाग्रहविहीन समीक्षा इतिहास-लेखन का महत्वपूर्ण मानदण्ड स्वीकृत होता है।

किन्तु, इसके साथ ही कुछ प्रतिपक्षी मानदण्ड अथवा आदर्श भी दिखाई पड़ते हैं। जिनसे इस इतिव त्त का पूर्वोक्त उच्चस्तरीय स्वरूप नष्ट होता है। उदाहरणार्थ, इन टीकाओं में 'हुई' (= 'परिवर्जन', 'निषेध ा') नामक अवधारणा की चर्चा हुई है। सामन्त चिन के दसवें वर्ष के प्रसंग में कुङग-यङग में यह विवरण मिलता है : बसन्त तथा शरद् आन्तरिक मामलों का विस्त त किन्तु बाहरी मामलों का संक्षिप्त लेखन करता है। अन्य राज्यों के प्रसंग में यह छोटे दोषों पर ध्यान न देकर उनके गम्भीर दोषों का लेखन करता है, किन्तु आन्तरिक मामलों के प्रसंग में (अर्थात् लु राज्य के भीतर) यह बड़े दोषों का 'परिवर्जन' करते हुए केवल छोटे दोषों की चर्चा करता है। पुनः सामान्त मिन के प्रथम वर्ष के प्रसंग में कुङग यङग में यह स्पष्ट कथन मिलता है कि इतिव त्त में 'पूजार्ह व्यक्तियों, घनिष्ठ संबंध एवं पुण्यशील व्यक्तियों' के द ष्टान्तों में इस प्रकार के 'परिवर्जन' के सिद्धान्त का पालन किया गया।

इसके साथ ही इतिव त्त में नैतिक तथा उपदेशात्मक कथाओं की अधिकता है। प्रायः ये कथाएँ तथ्यों के सरल तथा यथार्थ विवरण का स्थान लेती दिखाई पड़ती हैं। अत्यन्त प्राचीन विषयों एवं घटनाओं का लेखन होने पर भी तथा कन्फ्यूशियस की रचना के रूप में स्वीकृत होने पर भी वास्तविक इतिहास-लेखन के लिए यह इतिव त्त एक दुर्बल आदर्श था और इसी कारण परवर्ती चीनी साहित्यकारों में से बहुत ही कम ने अपनी कृतियों को इसके सिद्धान्तों के आधार पर व्यवस्थित किया गया स्वीकार किया है। तथापि इस ग्रन्थ का परवर्ती इतिहास-लेखन पर विपुल प्रभाव पड़ा है, विशेषरूपेण सुमा-चिएन के द ष्टान्त में।

सुमा-चिएन की कृतियाँ

सुमा-चिएन (145 ई० पू०—90 ई० पू०) प्रथम चीनी इतिहासकार है जिसके विषय में हमें अपेक्षाकृत प्रचुर सूचना प्राप्य है; साथ ही वह चीन के प्रमुखतम इतिहासकारों में एक है। उसने **शिह-ची** (इतिहासकार के लेख) नामक ग्रन्थ की रचना की जो 130 अध्यायों में विभक्त है तथा जो सुदूर अतीत से लेकर सुमा-चिएन के अपने काल तक के चीनी तथा अन्य विदेशी जातियों के इतिहास का विवरण प्रदान करता है। लगभग 2000 वर्षों से-जब से यह लिखा गया—चीनी ऐतिहासिक कृतियों में यह सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है एवं परवर्ती काल की बहुसंख्यक ऐतिहासिक रचनाओं द्वारा इसके स्वरूप को एक प्रतिमान के रूप में स्वीकृत किया गया; इसकी वस्तुसामग्री तथा वर्णनशैली ने न केवल चीनी साहित्य को अपितु चीनी संस्कृति के प्रभाव में स्थित अन्य देशों के साहित्य को भी प्रभूत मात्रा में प्रभावित किया है। चीन, कोरिया तथा जापान में सुमा-चिएन का प्रभाव स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है।

सुमा-चिएन का इतिहास पाँच मुख्य शासनवंशों एवं बहुसंख्यक अपेक्षाकृत गौण सामन्तकुलों के इतिहास का निरूपण करता है। यह ग्रन्थ वस्तुतः परिवर्तन का इतिहास है जिसमें 2000 वर्षों के काल-विस्तार में विभिन्न शासनवंशों के गौरव के उत्थान तथा पतन की कथा एक विशिष्ट लयात्मकता के साथ प्रस्तुत की गई है। इतिहास-लेखन के अपने लक्ष्य का उद्घाटन करते हुए सुमा-चिएन ने कहा है कि वह "अतीत के कार्य-व्यापारों एवं घटनाओं का परीक्षण एवं उनकी

सफलताओं एवं असफलताओं, उनके उत्थान तथा पतन के पीछे स्थित सिद्धान्तों का अनुसंधान" करना चाहता है। प्राचीनकाल के अन्य प्रमुख इतिहासकारों के समान उसकी कृति भी उपदेशात्मक है जो-जैसाकि इसे एक प्राचीन अभिकथन में अभिव्यक्त किया गया है—"पाप के निराकरण एवं पुण्य के प्रोत्साहन" में प्रव त्त है।

इस उपदेशात्मक लक्ष्य के कारण चीनी ऐतिहासिक कृतियों में कथाओं की विपुलता दिखाई पड़ती हैं; ये कथाएँ कभी-कभी पर्याप्त दुर्बाध एवं साहित्यिक सूक्ष्मताओं से युक्त होती हैं। प्रायः धटनाओं अथवा व त्तों के प्रत्यक्ष विवरण को छोड़कर नाटकीय घटनाओं अथवा द श्यों के माध्यम से इतिहासकार द्वारा बिना किसी टिप्पणी के ऐतिहासिक पात्रों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। शिह-ची में ऐसे द ष्टान्तों का विपुल भण्डार प्राप्य है। बहुसंख्यक परवर्ती इतिहासकारों ने ऐसी कृतियों का प्रणयन किया है जो अधिक विस्तारपूर्ण तथा व्यवस्थित हैं अथवा इतिहास के रूप में अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक हैं, किन्तु इनमें उस नाटकीय शक्ति तथा कल्पनाशील अभ्यर्थना का अभाव है जो **शिह-ची** में दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि चीन के साहित्य पर इसका अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा है और आज भी इसकी लोकप्रियता पूर्ववत् बनी हुई है।

सुमा-चिएन का विचार था कि ऐतिहासिक तथ्य जिस रूप में उसे प्राप्त हुए हैं उस रूप में ही वह कही जाने वाली कथा को पर्याप्त रोचक एवं शिक्षाप्रद ढंग से प्रस्तुत कर सकेंगें; उनको यथारूप प्रस्तुत करना ही वांछनीय है। यह सिद्धान्त **बसन्त एवं शरद इतिव त्त** में भी मिलता है। किन्तु इसके साथ ही दूसरा सिद्धान्त अर्थात् इतिहास घटनाओं का केवल यथारूप लेखन ही नहीं हैं प्रत्युत नैतिक एवं उपदेशात्मक प्रयास भी है, समान रूप में सुमा-चिएन के ग्रन्थ में स्थान पाता है; यह उल्लेखनीय है कि ऐसे बौद्धिक परिवेश में जहाँ। इतिव त्त तथा उसकी टीकाएँ प्रधानतम ऐतिहासिक कृतियों के रूप में स्वीकृत थीं, उनके प्रभाव से बच सकना अत्यन्त दुष्कर था।

शिह-ची के एक आधुनिक समीक्षक, ची-चेन-हुआई ने दो सिद्धान्तों की ओर निर्देश किया है जो, उसके अनुसार, किसी घटना विशेष अथवा व्यक्ति के विषय में उसके लेखन को नियन्त्रित करते हैं। प्रथम सिद्धान्त पर्याप्त स्पष्ट है अर्थात् यह कि इतिहासकार इस बात से बचना चाहता था कि एक ही घटना का दो अथवा तीन स्थानों पर भी, समय बचाने के उद्देश्य से, पूरी घटना का विस्त त विवरण केवल एक बार दिया गया है और कभी-कभी किसी अन्य महत्वूपर्ण पात्र की चर्चा आने पर पूर्वोक्त विशद विवरण का उद्धरण मात्र देकर काम चलाया गया है। दूसरा सिद्धान्त पहले का स्वतः अनुगमन करता है। घटना विशेष का विवरण उस व्यक्ति की जीवनी के संदर्भ में किया जाय जिसके साथ वह घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित है और जो इससे वस्तुतः प्रभावित रहा है। तथापि इन दो सिद्धान्तों से सुमा-चिएन की अधिकांश कार्यविधाएं, व्याख्यायित हो सकती हैं, किन्तु ये सभी की व्याख्या नहीं प्रस्तुत कर सकती।

पानकू का पूर्ववर्ती हान युग का इतिहास : हान-शु

सुमा-चिएन के लगभग डेढ़ सौ वर्षों बाद पानकू नामक इतिहासकार ने पूर्ववर्ती हान युग का इतिहास लिखा। यह त तीय शताब्दी ई०पू० में हान वंश की स्थापना से लेकर अनधिकार रूप से राज्य सत्ता हस्तगत कर लेने वाले वाङग मङग के पतन के पश्चात् 23 ई० में इस शासनवंश से सम्बद्ध लिउ कुल के एक व्यक्ति द्वारा इसके पुनः स्थापन तक का दो शताब्दियों का इतिहास था। पूर्ववर्ती हान वंश का इतिहास **हान-शु** विविध रूपों में **शिह-ची** के स्वरूप के आधार पर लिखा गया था; इन दोनों में केवल यह स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है कि विषय-वस्तु सीमित होने के कारण पान कु में प्राचीन इतिहास के प्रति उपेक्षा भाव दिखाई पड़ता है। केवल एक अपवाद 'प्राचीन तथा आधुनिक व्यक्तित्वों की सारिणी' में मिलता है (इसमें भी 'आधुनिक' का सर्वथा अभाव है और प्रारम्भिक चीनी विद्वानों ने इस भाग के उद्देश्य-निर्वाह की पर्याप्त आलोचना की है)। तथापि, इन दोनों ग्रन्थों में भिन्नताएँ बहुत की कम हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सुमा-चिएन द्वारा **शिह-ची** का प्रणयन सर्वथा व्यक्तिगत प्रयास था और यही बात पानकू के पिता पान-पिआओ द्वारा रचित परवर्ती परम्पराएँ **होउ चुआन** के विषय में भी कही जा सकती है। जब पानकू ने अपने पिता के कार्य को विस्तारित करने का विचार किया तो उसने भी व्यक्तिगत रूप से ही इस कार्य को प्रारम्भ किया, किन्तु बाद में इस क्षेत्र में उसके कार्य सम्राट मिङग की इच्छा पर किए गए थे।

किन्तु **हान-शु** में पूर्ववर्ती हान वंश को गौरवान्वित रूप में प्रदर्शित करने का कोई ऐच्छिक प्रयास नहीं दिखाई पड़ता। विभिन्न शासकों तथा उनके शासन कालों का विवरण प्रदान करते समय इनके दोषों और कमियों को उद्घाटित करने के प्रति कोई उदासीनता नहीं दिखाई गई है, यहाँ तक कि जहाँ अध्यायों के सारांश दिये गये हैं और जिसमें इतिहासकार का अपना निर्णय सन्निविष्ट है, उन स्थानों पर भी। यहाँ पान कू के हान शासकों के प्रति समीक्षात्मक बुद्धि का एक द ष्टान्त लें: परवर्ती हान के शासक अन्तिम शासन कर रहे सम्राट के वंशधर नहीं थे, वे अपना वंश-सम्बन्ध केवल सम्राट चिङग् से स्थापित कर सकते थे जिसकी 140 ई० पू० में म त्यु हुई थी। इनके इस पूर्वज के जीवन के दो अत्यन्त कुत्सित कार्यों को बिना किसी हिचकिचाहट के उल्लिखित किया गया है। 154 ई०पू० में अपने प्रमुख समर्थक चाओ-त्सो की हत्या को न रोक सकने की दुर्बलता तथा अपने परामर्शदाता चोउ-य-फु के प्रति उसकी घ णा और कालान्तर में उसकी हत्या। यदि केवल यह माना जाय कि यहाँ पान कू ने केवल शिह-ची के विवरण का अनुकरण किया है, तो भी अपने ग्रन्थ में उसके स्वतंत्र निर्णय लिए जाने का तथ्य स्थापित होता सार्जेन्ट ने पान कु के ग्रन्थ को 'सर्बसीडाइज्ड हिस्टरी' कहा है, तथा यह केवल शासन कर रहे राजवंश का राज्य-प्रेरित राजनीतिक इतिहास है, यह कहकर आलोचना की है। किन्तु, यह विचार ठीक नहीं जान पड़ता तथा डब्स एवं हुल्सवे नामक विद्वानों ने इसका गंभीर प्रत्याख्यान किया है।

विश्लेषणात्मक इतिहास का उद्भव

परवर्ती हान युग में इतिहास-लेखन के क्षेत्र में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास हुआ वह था विद्वानों का इतिहासकार के पद पर नियुक्ति। अब तक राजदरबार के ज्योतिषी ही इतिव त्तकार के कार्य का भी सम्पादन करते थे और दोनों पद अभिन्न थे। इस काल में यह परम्परा समाप्त हुई एवं उनकी वस्तु-सामग्री का बाहर के लोगों में हस्तान्तरण हुआ। यह कार्य 177 ई० तक चलता रहा। जिस मकान में रहते हुए विद्वान यह कार्य करते थे, उसके आधार पर इसे पूर्वी मंडप से उपलब्ध हान-इतिव त्त **तुंग-कुआन हान ची** की संज्ञा प्राप्त हुई। प्रथम शताब्दी ईसवी में पान कू तथा अन्य विद्वानों को राजकीय पदाधिकारी के रूप में नियुक्ति की प्रव त्ति के परिणामस्वरूप सातवीं शताब्दी में तुङग काल में इतिहास-लेखन के विभाग की स्थापना हुई।

एक अन्य महत्वपूर्ण विकास दूसरे क्षेत्र में हुआ—विशुद्धतः विश्लेषणात्मक इतिहास का उद्भव। इस समय तक **बसंत एवं शरद् इतिव त्त** ही प्रथम यथार्थतः ऐतिहासिक लेखन की अभिव्यक्ति करती था तथा सुमा-चिएन ने भी अपने **शिह-ची** में इतिव त्त को एक अभिन्न अङग के रूप में ग्रहण किया था। संभवतः संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित कृतियों के प्रणयन की इच्छा के फलस्वरूप सुन-युएह द्वारा विशदाकार **हान-शु** का संक्षेपन किया गया। इस संक्षेपन में एक निरन्तरतायुक्त विश्लेषणात्मक संरचना के अनुसार वस्तु-सामग्री को पुनः व्यवस्थित किया गया तथा जीवनियों एवं ग्रन्थों से उपलब्ध सूचनाओं को भी इसमें जोड़ा गया। परवर्ती कालों में भी इन हान शासन वंश के इतिव त्तों में हान-ची के उदाहरण को सदैव एक अनुकरणीय मानदण्ड के रूप में लिया गया; इस प्रकार के ग्रन्थों का सर्वोत्तम प्रसिद्ध इतिहासकार **सु-मा-कुङग** (1019–86 ई०) लिखित प्रशासन में सहायता का दर्पण **त्सु-चिह तुग चिएन** हैं। हान-इतिव त्त हमें सर्वथा सुरक्षित रूप में प्राप्त होते हैं। **शिह-ची-हान-शु** की सूचनाओं की शुद्धता के परीक्षण के लिए इसका एक प्रामाणिक उपकरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

उन चौबीस 'मानक इतिहासों' (चेङग-शिह) में जिन्हें चिङग शासनवंश के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त हुई नौ इतिहास ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय का समय-विस्तार तङग शासनवंश से मिङग शासनवंश तक का है। एक विशिष्ट वर्ग के रूप में लेने पर ये 618 ई० से लेकर 1644 ई० बीच विभिन्न अवसरों पर संपूर्ण चीन अथवा इसमें किसी भू-खण्ड पर शासन कर रहे विभिन्न शासनवंशों के राजकीय प्रलेखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव इन ग्रन्थों में निहित सिद्धान्तों तथा शैलियों के अध्ययन से चीन के राज्य-प्रेरित इतिहास-लेखन की स्वरूप-संरचना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

चीनी इतिहास ग्रंथों की विशेषताएँ

इन सभी इतिहास-ग्रन्थों की कुछ महत्वपूर्ण विशिष्टताएँ हैं। ये सभी विनष्ट शासन-वंश के अनुवर्ती शासनवंश के अन्तर्गत अथवा और बाद की तिथि में लिख गए। इस बात का महत्व इसमें निहित है कि इस प्रथा का निरन्तर निर्वाह किया गया एवं बाद में आने वाले शासन-वंश ने विनष्ट शासन-वंश के समय की घटनाओं तथा शासकों के विषय में लेखन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण समझा। इनकी दूसरी विशिष्टता यह है कि इनमें से प्रत्येक किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर एक विभाग के सम्मिलित कार्य का फल है; अर्थात् राज्य की ओर से इतिहासकारों के एक वर्ग को यह कार्य-भार दिया गया; इसका केवल एक अपवाद पाँच शासन-वंशों का नवीन इतिहास **सिन-वु-ताइ-शिह** है जो कि एक ही व्यक्ति-ओउ-चङग-सिउ द्वारा लिखित स्वतन्त्र कृति है। इस प्रकार ये तङग युग के पहले लिखे गये 'मानक इतिहासों'—जो सामान्यरूपेण किसी एक व्यक्ति द्वारा स्वतन्त्ररूपेण प्रारम्भ किये गये कार्य के परिणाम हैं—के विपरीत राज्य-प्रेरित इतिहास-ग्रन्थ है। तुङग शासन-वंश से राज्य-प्रेरित इतिहास ग्रन्थों की प्रमुखता दिखाई पड़ती है और सभी विद्वानों ने इस प्रव त्ति को चीनी इतिहास-लेखन में एक विशिष्ट विकास के रूप में लिया है। इन ग्रन्थों की एक तीसरी विशिष्टता यह है कि ये एक संघटनात्मक कथानक—जीवनी शैली में लिखे गये हैं: अर्थात् संपूर्ण ग्रन्थ को तीन या चार विभागों में विभक्त किया गया है और ये सभी एक दूसरे के पूरक हैं। इन शैली-विशेष को सदैव इतिव त्तों की शैली से प थक् रखकर देखा जाता है, जिसमें बहुतेरी महत्वपूर्ण एवं प्रभावी इतिहास-ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु 'मानक इतिहासों' में जिसका कभी भी प्रयोग नहीं हुआ है। इस संघटनात्मक शैली का 'मानक इतिहासों' के साथ इतना घनिष्ठ संबंध है कि अत्यन्त प्राचीन काल से, तुङग शासन काल में ही 'मानक इतिहासों' को इस शैली के आधार पर परिभाषित किया गया।

इन इतिहास-ग्रन्थों में स्त्रोत क्रमानुगत शासन-वंशों में एक लघु काल-विस्तार से संबद्ध ऐतिहासिक लेखन थे। इनमें प्रमुख राजकीय लेखन प्रत्येक शासक से संबद्ध कार्य तथा विश्राम की दैनन्दिनी (ची-चू-चू) थी जो विशिष्ट रूप से इस कार्य के लिए नियुक्त राजकीय इतिहासकार द्वारा तैयार की जाती थी। पुनः 'सत्तावान प्रशासन के लेख' (शिह-ङग-ची) होते थे जो प्रधानमंत्रियों एवं उनके सहायकों द्वारा तैयार किये जाते थे। प्रमुख रूप से इन दोनों के आधार पर 'दैनिक लेखों' **(जिह-ली)** का लेखन अथवा संकलन किया जाता था; और ये सभी मिलकर शासक के 'विश्वसनीय लेखों' **(शिह-लू)** का स्त्रोत बनते थे। इन कृतियों तथा अन्य राजकीय संकलनों के आधार पर कुछ शासन-वंशों ने अपने राजकीय इतिहासकारों द्वारा कथाकथित राष्ट्रीय इतिहास **(कुओ-शिह)** का प्रणयन करवाया, जो संघटनात्मक शैली में लिखे गए थ।

इन 'मानक इतिहासों' के लेखन में अन्तर्निहित सिद्धान्तों में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'क्यों ? और कैसे' ? प्रश्नों से सम्बद्ध हैं। प्रथम प्रश्न के उत्तर में दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त लेख की निरन्तर तथा लाभप्रद उद्धरण के संप्रेषण के संदर्भ में आते हैं।

जहाँ तक लेखन की निरन्तरता का प्रश्न है, प्रत्येक शासन-वंश पूर्ववर्ती शासनवंश अथवा शासन-वंशों के विषय में अभिज्ञान आवश्यक समझता था। पूर्ववर्ती लिआओ तथा चिन शासन-वंशों के विषय में लेखन कार्य के महत्व पर बल देते हुए युवान-कालीन विद्वान वङगओ ने लिखा—प्राचीनकाल से यह

नियम द्रष्टव्य है कि राज्य नष्ट हो सकता है किन्तु इसका इतिहास कभी नष्ट नहीं होता। सामान्य रूप में पूर्ववर्ती शासन-वंशों का इतिहास अनुवर्ती शासनवंश द्वारा इसलिए लिखाया गया है क्योंकि परवर्ती पीढ़ियों द्वारा ही निर्णय तथा मूल्यांकन में निष्पक्षता लाई जा सकती है। इस विद्वान का समय लगभग 1261 ईसवी है। 1369 ईसवी में मिङग शासनवंश के संस्थापक सम्राट ताई-त्सु ने अपने दरबार को संबोधित करते हुए कहा—'अभी युवान राजधानी (पीकिङग) के पतन के पश्चात् हमें तेरह शासकों के 'विश्वसनीय लेख' प्राप्त हुए हैं। यद्यपि उनका राज्य नष्ट हो गया है तथापि इसकी घटनाओं का लेखन किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, इतिहास सफलता एवं असफलता का व त्तान्त प्रदान करता है जिससे एक ओर प्रोत्साहन और दूसरी ओर चेतावनी मिलती है; इस कारण इसका परित्याग उचित नहीं है।

जहाँ तक दूसरे सिद्धान्त—अर्थात् लाभप्रद उद्धरण का प्रश्न है इतिहास को एक दर्पण तथा शिक्षा-स्रोत के रूप में ग्रहण करने की अवधारणा अत्यन्त प्राचीन काल तक ढूँढी जा सकती है और सभी इतिहास-ग्रन्थों में इस समानरूपेण सम्मानीय मान्यता प्राप्त रही है।

सत्यलेखन तथा सत्य संगोपन

'कैसे' ? के प्रश्न पर हमें परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों के दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं; सत्य-लेखन और इसके विरोध में नैतिक पक्षपात अथवा उचित संगोपन (**हुई**)।

सत्य-लेखन का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है त्सो-परम्परा (**त्सोचु आन**) जो कि प्राचीन इतिव त्त है, में **बसंत तथा शरद्युगीन** ऐसे विविध इतिहासकारों की चर्चा मिलती है जिन्होंने अपने जीवन की चिन्ता न करते हुए सत्य-लेखन के कर्त्तव्य का निर्वाह किया। इस सिद्धान्त के पीछे यह अवधारणा थी कि इतिहास-लेखन करते समय इतिहासकार आकाश के नीचे स्थित सभी लोगों तथा भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायी होता है। इतिहासकार का स्वातंत्रय अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था। राजकीय इतिहासकार के मन में किस प्रकार की दुश्चिन्ता न रहे इस उद्देश्य से शासन से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने शासनकाल की कार्य तथा विश्राम की दैनन्दिनी को न पढ़े; इस परम्परा का प्रायः उल्लेख मिलता है।

किन्तु, इतिहासकार के स्वातंत्रय का व्यतिक्रमण सर्वथा असामान्य नहीं था। यद्यपि शासक अपने शासन-काल की दैनन्दिनी को पढ़ने से विरत हो सकता था, तथापि उसके अपने शासन-काल के तथा विनष्ट शासनवंश के संबंध में सभी ऐतिहासिक-लेखन उसके अन्तिम अनुमोदन के लिए लाए जाते थे। इस अनुमोदन की अपेक्षा तथा इसके साथ इस परम्परा के कारण कि प्रधानमंत्री ही इस प्रकार की सभी ऐतिहासिक परियोजनाओं का अधीक्षक होता था, ऐतिहासिक लेखन के ऊपर राजनीतिक प्रभावों का पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक था। मिङग तथा चिङग शासन-काल में राज्य की निरंकुशता में व द्धि के साथ-साथ इस प्रकार के प्रभाव में भी व द्धि होती गई। समय-समय पर प्रध ाानमंत्री की प्रार्थना पर शासक द्वारा इन ऐतिहासिक परियोजनाओं से संबद्ध इतिहासकारों के लिए राजकीय निर्देश दिए जाते रहे। स्वाभाविक था कि आज्ञापालक संकलनकर्त्ताओं द्वारा इन निर्देशों का पालन किया जाता क्योंकि इससे उनका स्वयं का उत्तरदायित्व हल्का हो जाता था।

सत्य-लेखन के सिद्धान्त के समान सत्य-संगोपन का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है। बसंत **शरद् इतिव त्त** की टीका **कुंग-यंग** में यह सूचना दी गई है कि अपने इतिहास-लेखन में कन्फ्यूशियस ने तीन श्रेणियों के लोगों की गंभीर गलतियों का संगोपन किया था : आदरणीय (त्सुन-चे), घनिष्ठ संबंधी (चिन-चे) तथा योग्य (सिएन-चे)। अर्थात् इतिहासकार को ऐसे वर्गों के व्यक्तियों की गलतियों को नैतिकता में व द्धि के लिए यथास्थान उल्लिखित नहीं करना चाहिए।

सत्य-लेखन तथा सत्य-संगोपन के सिद्धान्तों के परस्पर-विरोध को समझते हुए राजकीय इतिहासकारों ने सदैव प्रथम सिद्धान्त की दूसरे की अपेक्षा अधिक चर्चा की है। सत्य-संगोपन के द ष्टान्त

इतिहास-लेखन की सभी अवस्थाओं में तथा सभी प्रकारों में प्रयत्न प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। इस सिद्धान्त में यह माना जाता था कि यदि किसी एक अवस्था में सत्य-संगोपन किया गया है, बाद में कभी उसका सुधार किया जा सकता है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि कोई भी व्यक्ति विभिन्न पीढ़ियों की द ष्टि में समानरूपेण आदरणीय हो। किन्तु, व्यवहार में ऐसा होना संभव नहीं था और प्रायः पुराने संगोपन बने रहते थे और नए जुटते रहते थे। चाओ प्रथम ने सत्य-संगोपन की एक रोचक विधि बताई है, स्पष्टतः जिसका प्रयोग तङग तथा मिङग काल के इतिहास में किया जाता था। उदाहरणार्थ उस व्यक्ति के प्रसंग में जो अत्यन्त नैतिकतासंपन्न था, उसकी छोटी-मोटी गलतियों को उसकी जीवनी में नहीं देकर अन्य स्थानों पर दिया गया। चाओ प्रथम ने इस विधि को सामान्यतः इतिहास-लेखन में उचित बताया और इसका औचित्यस्थापन इस सिद्धान्त के आधार पर किया कि इतिहासकार का यह प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह सत्य-लेखन के सिद्धान्त के प्रति आदरभाव रखते हुए भी नैतिकता में व द्धि लाने का प्रयास करे।

निष्कर्ष

चीनी चिन्तन में अध्ययन या ज्ञान की समीचीनता उस ज्ञान की व्यवहारिक उपयोगिता पर आश्रित मानी जाती है। प्राचीनकाल में किसी भी विश्वास या कथन का, सामाजिक संदर्भ में, क्रियान्वयन महत्वपूर्ण समझा जाता था। 'जानने' की सार्थकता तभी है जब वह कर्म को किसी प्रकार प्रभावित कर सके। इसलिए चीनी चिन्तन में समाज मनुष्य के अधिक महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड उसके द्वारा सामाजिक आदर्शों का परिपालन हैं। किसी व्यक्ति के विचारों की अपेक्षा समाज और संस्कृति के प्राचीन अनुभवों के फल का सारांश प्रामाणिक और औचित्यपूर्ण समझा गया है। इस प्रकार चीनवासियों के लिए 'ज्ञान' का अर्थ होता है 'अतीतकालिक द ष्टान्त का ज्ञान'। चीनी भाषा में इसीलिए ज्ञान को **चि-कू** अर्थात् 'प्राचीन मार्गों का अन्वेषण' कहते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की चिन्तन पद्धति में अतीत महत्वपूर्ण होगा। संभवतः इसीलिए चीनियों ने सुदूर अतीत में संकलित 'पाँच उत्कृष्ट ग्रन्थों को-जिनमें मानव अनुभवों के द ष्टान्त संकलित है-अपने जीवन के प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया। ये ग्रन्थ—**शू-चिंग, छुन-छिऊ, शी-चिंग ई-चिंग** तथा **ली-ची** के नाम से ज्ञात हैं। चिंग का अर्थ होता है उत्कृष्ट ग्रन्थ। इसके लिए चीनी भाषा में दूसरा शब्द है तिएन = नियम अथवा यंग = निरन्तरता। इससे इन ग्रन्थों में निहित सत्य के शाश्वत होने का निर्देश होता है। इसमें मानव अनुभवों के प्राचीन द ष्टान्तों का संकलन है और यह मान लिया गया है कि मानव जीवन में भले ही परिवर्तन हो जाय, परन्तु इन ग्रन्थों में जीवन से सम्बद्ध सभी प्रमुख बातें सत्य रहेगीं। चीनियों ने सदैव अपने जीवन को इन ग्रन्थों में सम्पादित प्रतिदानों के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया। इसलिए चीनी समाज में एक प्रकार के स्थायित्व तथा अपरिवर्तनशीलता का आभास होता है। इन ग्रन्थों के सम्पादन का श्रेय कन्फ्यूशियस को दिया जाता है।

चीनी समाज में प्राचीन अनुभवों के महत्व के अवबोध ने चीनी जनता में सुरक्षा के प्रति विशेष रुचि जाग त की। अनुभवों की व्यावहारिक उपादेयता को देखते हुए इतिहास लेखन को विशेष महत्व प्रदान किया गया। किसी भी पूर्व देश और अधिकांश पश्चिमी देशों की अपेक्षा चीन के इतिहास पर सर्वाधिक मूल स्त्रोत उपलब्ध है। चीनी इतिहास लेखन परम्परा विश्व की श्रेष्ठ परम्पराओं में से है। इससे चीन में घटी प्राचीन घटनाओं का न केवल वर्ष, माह बल्कि दिन तक जान सकना संभव है।

चीन में इतिहासकार राजकीय अधिकारी व्यक्ति होता था। उसकी संज्ञा थी 'शीह'। प्रारम्भ में इतिहासकार धार्मिक अधिकारी या 'देवज्ञ' होता था। जिसका कार्य धार्मिक अनुष्ठानों को कराना, सम्राट के लिए भाग्यशाली और दुर्भाग्यपूर्ण दिनों की घोषणा करना था। उसके लिए लिखना पढ़ना आवश्यक होता था क्योंकि वही पंचांग को भी देखता था। परवर्ती युग में यह पद पैत्रक उत्तराधिकार का हो गया। धार्मिक अधिकारी के कार्यों में सुरक्षा का भार परवर्ती विकास है। इस प्रकार उसके कार्यों में राज दरबार के कार्य-कलापों और राजकीय अनुदेशों को लिपिबद्ध करना भी सम्मिलित हो

गया। इसीलिए प्रलेखों के संरक्षण का भार भी उसी पर आया। इस बात का समर्थन दो कृतियों से होता है—"प्रलेखों का ग्रन्थ" एवं "इतिहास का ग्रन्थ"।

चीन के प्राचीन इतिहासकारों अथवा उनके ग्रन्थों के विषय में कुछ भी कहना कठिन है। क्योंकि दुर्भाग्य से दूसरी शती ई०पू० में शी-हांग-टी नामक सम्राट ने प्राचीन ग्रन्थों को नष्ट करवा दिया। इसलिए चीन का प्राचीनतम ज्ञात इतिहासकार 145 ई०पू० में जन्मा सूमा-चिएन है। उसने तत्कालीन समय में उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर अतीत का पुनः इतिहास लिखने का प्रयत्न किया। सूमा-चिएन ने स्वीकार किया है उसके समय में केवल चिन राज्य के सामन्ती इतिव त्त शेष थे और वे भी अधूरे। सम्पादित होकर वे और भी संक्षिप्त हो गए। उसके अनूसार प्राचीन ग्रन्थों में **शी-चिंग** तथा **शू-चिंग** का अस्तित्व इसीलिए बना रहा कि उनकी कुछ प्रतियाँ प्राचीन परिवारों में सुरक्षित थीं। दूसरी ओर स्म ति से भी लोग **शू-चिंग** की कविताओं का संगायन करते थे। परम्परा से ज्ञात होता है कि सम्राट वेन (179–157 ई० पू०) के समय में एक 90 वर्ष के व्यक्ति ने शू-चिंग के एक भाग का पाठ किया था। इसके कुछ अध्याय दूसरी शती के अन्त में कन्फ्यूशियस के घर की दीवार से उपलब्ध हुए। इस प्रकार किसी तरह से प्राचीन इतिव त्त का पुनर्निर्माण किया गया। सूमा-चिएन के पश्चात् तो इतिहास लेखन की परम्परा अबाधगति से चलती रही। वेई-ली ने सूमा-चिएन से प्रारम्भ करके चौबीस अधिकारिक इतिहासों की सूची दी है।

सूमा-चिएन में कुछ दशक पश्चात् पन-पियाओ (3–54 ई०) ने सूमा-चिएन की रचना पर आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। इसके ग्रन्थ का नाम था **होऊ-चुआन** (परवर्ती परम्पराएँ)। यह स्वतन्त्र रूप से लिखा गया विवरण था—विषयवस्तु सीमित होने के कारण पान कू की रचना में प्राचीन इतिहास के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाई देता है। यह स्मरणीय है कि इस ग्रन्थ में हानवंश को गौरवान्वित करने का प्रयत्न दिखाई नहीं देता है। इसमें तत्कालीन शासक तथा उनके शासनकाल के दोष और कमियों का विवरण दिया है। कहीं-कहीं पर इतिहासकार स्वयं अपना निर्णय भी देता है। यह बात पुरानी परम्परा के विपरीत नए मापदण्ड की स्थापना करती है।

चीनी परम्परा का यह विश्वास महत्वपूर्ण है कि राज्य नष्ट हो सकता है परन्तु इतिहास नष्ट नहीं होता। चीन में सत्य लेखन का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है किन्तु इतिहासकार से स्वातन्त्रय का अतिक्रमण सर्वथा असामान्य बात नहीं थी। सत्य लेखन के समान चीन में सत्य संगोपन का सिद्धान्त भी उतना ही प्राचीन है। सत्य संगोपन में इतिहासकार नैतिकवादी व द्धि के लिए विशिष्ट व्यक्तियों की त्रुटियों को यथास्थान उल्लिखित न करके दूसरे स्थान पर दूसरी प्रकार से उल्लिखित करते थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास-दर्शन और परम्परा

प्रकृति और विश्व का अवयवित्व; समष्टि और व्यष्टि का एकीकरण—हिन्दू दर्शन के अनुसार विश्व और प्रकृति एक प्रकार के अवयवी हैं। इनके समस्त कार्य-कलाप इस प्रकार परस्पराश्रित हैं कि उनका प्रत्येक पक्ष उनके संपूर्ण विधान की क्रिया पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ जब एक बीज बनता है तो उसमें प्रकृति का सकल तंत्र सक्रिय हो जाता है। उसका विकास जलवायु के प्रभाव, भूमि की प्रक्रिया और अनुकूल वातावरण पर आधारित है। ये कारण इतने ही प्रबल है जितनी बीज की शक्ति। सांख्य-योग में इस विचारधारा का सफल प्रतिपादन हुआ है। इसके अनुसार कार्यकारण की प्रक्रिया अवयवित्वमय संपूर्ण तत्व का प्रत्यक्षीकरण है। यह सम्पूर्ण तत्व का प्रत्यक्षीकरण अवयवों का भी प्रत्यक्षीकरण है। किसी वस्तु के विकास और निर्माण की प्रव त्ति एक और इसकी अन्तर्निहित शक्ति का प्रत्यक्षीकरण है और दूसरी ओर अन्य वस्तुओं के विकास और निर्माण के इतिहास की कड़ी है।

इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि का विकास अन्योडन्य-संबंधी और परस्पराश्रित है। योग की तरह वेदान्त में भी कारणत्व का अर्थ माया और अध्यास द्वारा ब्रह्म के विविध रूपों का विस्तार है। देश,

काल और कारणत्व को ब्रह्म में विलीन करने का अर्थ अहंकार और व्यक्तित्व की कारणात्मक सत्ता का निषेध है। न्याय-वैशेषिक के यथार्थवादी दर्शन में भी जहाँ परमाणुओं के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। वहाँ एक सर्वोपरि क्रियात्मक सत्ता का उपादान कारण के रूप में ग्रहण किया गया है। बौद्ध दर्शन में कारणत्व की परिभाषा 'पच्चय-सामग्री' है। कारण (हेतु) के वैयक्तिक अस्तित्व का खण्डन किया है। इस द ष्टि से किसी वस्तु का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हैं। आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ भी वर्तमान है या द ष्टिगोचर है वह अक्षुण्ण प्रगति का स्वरूप है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ समग्र स ष्टि के संविधान की परस्पराश्रिता को प्रतिबिम्बित करता है। व्यक्ति केवल संस्कारों की रचना है या स्कन्धों का समूह है। वह न कारक है, न वेदक।

'आदि पुरुष और 'विराट-रूप'—भारतीय दर्शन में निहित प्रकृति के दस अवयवी द ष्टिकोण के प्रतीक ऋग्वेद (10, 90) का आदि पुरुष और भगवद्गीता का विराट रूप है। इसमें समस्त चराचर जगत् की एकता प्रतिपादित की गयी है। एक सर्वव्यापी अवयवी के माध्यम से प्राकृतिक शक्तियों और सामाजिक तत्वों का समन्वय किया गया है। जिस आदि पुरूष के मुख, बाहु, उरु और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति होती है। उसी के मन, नेत्र, मुख और श्वास से चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और अग्नि तथा वायु की स ष्टि होती है। तथा उसकी नाभि, सिर, चरण और कान से देश, आकाश, प थ्वी और दिशाओं का विस्तार होता है। इसी प्रकार गीता का विराट रूप सूर्य में चमकता है, मेघों में गरजता है, सागर में संचरण करता है। और झंझाओं में प्रवाहित होता है वह जन्म, म त्यु और काल है। उसके इंगित पर योद्धा युद्ध में लड़ते हैं और एक दूसरे का संहार करते हैं। व्यक्ति केवल उसकी इच्छा का साधन है, निमित्तमात्र है।

कालवाद और अहोरात्रवाद—उपर्युक्त विवरण में विराट् रूप को काल कहा गया है। काल गति का परिचायक है। अथर्ववेद में काल को एक घोड़ा बताया गया है। जो सात रासों द्वारा सबको खीचें ले जा रहा है। आगे चलकर सब वस्तुएं उसके पहिये बतायी गयी है उससे आकाश और प थ्वी की स ष्टि हुई है। मन, प्राण और नाम का काल के साथ अभिन्न संबंध है। समस्त प्रकृति की क्रीड़ा में काल की गति सन्निहित है, अर्थात् समस्त विश्व गतिमान है, जगत है काल के 3 रूप है। 1. अनन्त काल या अव्यय निरपेक्ष भूतकाल, 2. कराल काल या सापेक्ष काल और 3. कुटिल काल या गणन काल। वर्तमान विज्ञान के सापेक्षतावादी दर्शन ने भी देश और काल की मौलिक एकता को स्वीकार किया है। प्राचीनकाल में काल प्रजापति को स ष्टि का कारण मानने वाले दार्शनिक 'अहोरात्रविद' कहलाते थे। नासदीय सूक्त में स ष्टि के दशवादों में अहोरत्रवाद का भी उल्लेख मिलता है।

पाणिनि, पंतजलि और भ तहरि का काल-चिन्तन—पाणिनिसूक्त 'वर्तमान लट्' की व्याख्या करते हुए पंतजलि ने कुछ काल-विषयक मत प्रस्तुत किये हैं जो बड़े रोचक हैं। भूत वर्तमान और भविष्य सापेक्ष व्यंजनाएं हैं। वर्तमान का कोई अर्थ ही नहीं है क्योंकि जिन वस्तुओं का अस्तित्व हम स्वीकार करते है वे तो सदा से रही है। वर्तमान का अस्तित्व इसलिए भी असम्भव है कि जो क्रिया पूर्ण हो चुकी है वह भूत है और जो पूर्ण होनी है वह भविष्य है। ऐसी किसी वस्तु की कल्पना की जा सकती जो एक साथ ही पूर्ण और अपूर्ण दोनों हो। इसमें अतिरिक्त पदार्थों का अस्तित्व क्षणिक है। वे प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं। और बिनष्ट हो जाते हैं। अतः भूत, वर्तमान और भविष्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है यहाँ पंतजलि का विवेचन आध्यात्मिक दर्शन से मेल खाता है। किन्तु पंतजलि उत्तर देते हैं कि वर्तमान का अर्थ वह क्रिया है जो संपूर्ण और समाप्त नहीं हुई है। काल, भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया है। सुगमता के लिए हम इसे दिन, मास और वर्ष में विभक्त कर देते हैं।

भ र्तहरि ने वैशेषिक दर्शन की तरह काल को अद्वैत, शाश्वत और व्यापक घोषित क्रिया है। यह विश्व-तन्त्र का यांत्रिक है। काल सूत्रधार के समान विश्व के समस्त कार्य-कलाप का नियंत्रण करता है। भावों का स्थगन और उन्मज्जन काल का कार्य है। इस प्रकार काल वस्तु-जगत का

उपकरण है। यह सार्वभौम क्रिया है। यह विकास का मूल है। यह अरहट की तरह घूमता रहता हैं इसका प्रमुख रूप वस्तुओं, भावों और स्वरूपों का क्षय और लोप है। इसे भर्तृहरि ने 'जराख्या-काल शक्ति' कहा है।

काल स ष्टि की मौलिक प्रक्रिया है। निर्यात की प्रेरणा से जब परमाणु प्रकम्पित होने लगते हैं और उनकी सुषुप्त क्रिया जाग्रत हो जाती तो गति आरम्भ होती है और स ष्टि शुरू हो जाती है। इस गति और क्रिया से जो स्वरूप निष्पन्न होते है। वे काल शक्तियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। कारण और कार्य के बीच की प्रक्रिया 'समवाय' है। जिसके द्वारा कार्य वैयक्तिक इकाइयों के रूप में द ष्टिगत होता है। इसमें क्रम और रुपता प्रकट होती है। चूंकि काल शाश्वत है। इसलिए वस्तुओं का अन्त कभी नहीं होता, केवल परिवर्तन होता है।

काल की गति का चक्रात्मक रूप; यांत्रिक और नैतिक द ष्टियों का संतुलन—उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि हिन्दु दर्शन की मुख्य धाराओं के अनुसार विश्व के अवयव संविधान और संतुलन में गति और क्रिया हैं जिसे काल कहते हैं। यह एक और शाश्वत है तो दूसरी और क्षणिक। इसकी गति यांत्रिक और चक्रात्मक है इसके दो पक्ष ब्रह्मा के दिन और रात है। जैन ग्रन्थों में इन्हें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक दो कल्प कहा गया है। पहले में धर्म गिरता हुआ निम्नतक बिन्दु पर पहुंच जाता है और दूसरे में वह उन्नति करता हुआ चरम सीमा पर पहुँच जाता हैं इन कल्पों को छः युगों में बाँटा गया है।

1. सुसमासुसमा (महासुख का युग)
2. सुसमा (सुख का युग)
3. सुसमा-टुसमा (सुख-दुःख का युग)
4. दुसमा-सुसमा (दुःख और सुख का योग)
5. दुसमा (दुःख का युग)
6. दुसमा-दुसमा (महा दुःख का योग)

इस युग परिवर्तन में धर्म का उत्थान और पतन सन्निहित है। इसी प्रकार पुराणों के 4 युगों—कृत, त्रेता, द्वापर, कलि—में धर्म की उन्नति और अवनति सन्निविष्ट है। एतरेय ब्राह्मण के एक सारगर्भित उल्लेख के अनुसार इन युगों का क्रम मनुष्य की क्रिया सुषुप्ति और जाग ति के अनुसार है। जब मनुष्य अर्थात् मानवों का समूह या समाज कार्यशील रहते हैं। तो कृतयुग रहता हैं जब वे आलस और नींद के कारण निष्क्रिय होने लगते है तो त्रेता और द्वापर आ जाते है और जब वे एकदम गतिहीन हो जाते है तो कलियुग छा जाता है। अतः युगों में बदलाव मानवों की क्रिया-शक्ति प्रच्छन्न रहती है। इस प्रकार इस यांत्रिक प्रक्रिया का मूलरूप नैतिक है। इसमें मनुष्य की इच्छा भी कुछ कार्य करती है। इसलिए विराट् रूप के दर्शन का प्रतिपादन करने के उपरांत और मनुष्य को प्रकृति का निमित्तमात्र सिद्ध करने के बाद भी श्रीकृष्ण को कर्म की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। बौद्ध, जैन और हिन्दुत्व के कुछ सम्प्रदायों में इस कर्म-स्वातंत्र्य की सुन्दर स्थापना की गई है।

नियतिवाद और परिणामवाद—कुछ भारतीय दर्शन और सम्प्रदाय ऐसे भी है जिनमें प्रकृति की प्रक्रिया की एकदम यांत्रिक परिभाषा पायी जाती है सांख्य के अनुसार विकास एक निश्चित नियम के अधीन है। जिसका उल्लंघन सम्भव नहीं है। यह परिणाम-क्रय-नियम है। अतः विकास की प्रक्रिया को ऐसा पथ ढूँढना पड़ता है जो इस नियम के विपरीत न हो। आजीविक दर्शन में इस परिणामवाद को पूर्णतः यांत्रिक, अटल और अमानवीय बना दिया गया है। इसके अनुसार सारी प्रकृति नियति, संगति और भाव के नियंत्रण में आगे बढ़ती हैं। नियति जीवन की अटल गति है। संगति आकस्मिकता की क्रिया है और भाव प्रकृति का निजी स्वरूप है। इस दर्शन की चर्चा करते हुए जैन टीकाकार गुणरत्न ने यह वाक्य उद्धत किया है। "कांटों की तीव्रता और पशु-पक्षियों की विचित्रता को कौन

बनाता है ? यह सब स्वभाव से होता हैं ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इच्छानुसार कार्य करती हैं ? प्रयत्न का क्या अर्थ है। अतः कारणों की खोज व्यर्थ है। इसलिए आजीविक दर्शन अहेतुवादी कहलाता है। जीव एक प्राकृतिक प्रक्रिया से जन्मों और कल्पों की विधियों से गुजरता हुआ संसार-शुद्धि की ओर चल रहा है। इस द ष्टिकोण से विश्व और प्रकृति को क्रियाशील माना गया है, किन्तु इसी का एक पक्ष यह भी है कि प्रकृति एकदम स्थावर है। यह अविचलित-नित्यत्वम' का सिद्धान्त बाद में आजीविक दर्शन में प्रचलित हो गया था। आजीविक दर्शन के अनुसार नियति से काल की उत्पत्ति होती है। अतः काल के विशाल और अपरिचित विस्तार की काफी चर्चा मिलती है। गंगा का विस्तार 250 योजन है। यह अर्धयोजन चौड़ी है। सात गंगा मिलकर एक महागंगा बनती है। सात महागंगा एक सादीणगंगा के बराबर है। सात सादीणगंगा मच्चुगंगा कहलाती है। सात मच्चुगंगा का समूह लोहियगंगा होता है। सात लोहियगंगा एक आवती गंगा होती है और सात आवतीगंगा एक परमावती बनती है। इस प्रकार एक परमावती 117,649 गंगाओं के तुल्य होती है। यदि इस काल्पनिक परमावती से प्रति शताब्दी एक रेत का कण निकाला जाए तो इस पूरी नदी को खाली करने में जितना समय लगेगा वह एक 'सर' है। ऐसे 300,000 सर महाकप्प के बराबर होते है और ऐसे 8,400,000 महाकप्पो का नाम महामाणस है जो जीव के संचरण की अवधि है। इस विशाल अविन्तय और असंख्य काल-क्रम में जो नितान्त यांत्रिक है। ऐतिहासिक युगों की क्या गणना या कल्पना हो सकती है।

व्यक्ति के स्थान पर प्रव त्ति का महत्व—उपर्युक्त विवेचन से भारतीय दर्शन की विभिन्न द ष्टियों पर कुछ प्रकाश पड़ा है। यद्यपि कुछ दर्शन स्पेंगलर की विचारधारा की तरह पूर्णतः नियतिवादी है और एतिहासिक क्रम को यांत्रिक मानते हैं, कुछ दर्शन इसमें नैतिकता का समावेश करके मानव स्वतन्त्रता और स जनात्मकता को भी कुछ स्थान देते हैं। किन्तु इस बात पर सब सहमत है कि व्यक्ति समष्टि के अधीन है। इतिहास में व्यक्तियों का इतना महत्व नहीं है जितना प्रव त्तियों का है। घटनाएँ इतनी सारगर्भित नहीं हैं जितने आंदोलन हैं। महापुरुष ऐतिहासिक प्रव त्तियों के निमितमात्र है। इतिहास का विषय मानवता के द ष्टिकोण से धर्म का उत्थान पतन है। मानव जीवन की कालक्रमात्मक घटनाएँ मानवता के जीवन की युगपरक व्यवस्था के अधीन हैं। अतः हिन्दुओं में जीवन-चरित्रात्मक इतिहास का प्रचलन नहीं हुआ। पुराणों में राम, रावण, मान्धाता, भगीरथ, सगर, ककुस्थ, युधिष्ठर, अर्जुन, कार्तकीय आदि प्रसिद्ध पुरुषों तक के अस्तित्व को संदेह की द ष्टि से देखा गया और यहाँ तक कहा गया कि हम नहीं कह सकते कि वे कभी हुए भी या नहीं। कुछ थोड़े ही इतिहासकार ऐसे हुए जिन्होंने इस प्रव त्ति के अपवादस्वरूप वैज्ञानिक द ष्टि से इतिहास का अध्ययन किया।

भारतीय इतिहास-दर्शन का अभ्युदय—वस्तुतः भारतीय इतिहास-लेखन का श्रीगणेश वैदिक साहित्य की वंश और गोत्र-प्रवर तालिकाओं में मिलता है। सामवेद शाखा के वंश ब्राह्मण में वैश्रव से लगाकर 60 आचार्यो की परम्परा का उल्लेख मिलता है। इनमें प्रारम्भिक आचार्य तो अग्नि, इन्द्र, वायु, म त्यु, प्रजापति, ब्रह्म देवता ही हैं। शतपश ब्राह्मण के व हदारण्यकोपनिषन् में भी ऐसी ही 58 आचार्यो की एक सूची है। कुछ प्राचीन और सामायिक घटनाओं के उल्लेख वैदिक साहित्य में संग हीत नाराशंसी कहानियों में मिलते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के चार प्रकार दिखाई पड़ते हैं अथवा, यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय, प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक लेखन को इन चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता : 1. धार्मिक कथाओं तथा पुराणकथाओं के रूप में इतिहास, 2. शासन वंशीय प्रलेखों के रूप में इतिहास, 3. जीवन-चरित (जिसमें धार्मिक पुरुषों की जीवनियाँ भी सम्मिलित हैं) के रूप में इतिहास, तथा 4. इतिव त्त के रूप में इतिहास।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत साहित्य का वह प्रकार आता है जिसमें अतीत का विवरण संयोगवश कर दिया गया है अर्थात् जिसमें ऐतिहासिक सामग्री धार्मिक कथाओं तथा पुराण कथाओं के साथ घनिष्ठ रूपेण

संलग्न है एवं इतिहास को उसमें से निकालना होता है। सर्वप्रथम हम वैदिक साहित्य को ही लें तो देखेंगे कि दशरज्य युद्ध जैसे स्पष्ट ऐतिहासिक अवतरणों को छोड़ भी दें तो विभिन्न धार्मिक एवं पुराण-कथा-विषयक अवतरणों में प्रचुर ऐतिहासिक सूचनाएं भरी पड़ी हैं। वे हमें न केवल धार्मिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विचारों के विकास से परिचित करती हैं, अपितु उनसे समसामयिक जीवन के विविध पक्षों—सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक का चित्रण भी प्राप्त होता है जो इतिहासकार के अध्ययन का एक प्रमुख विषय है। देवताओं का विवेचन हमारे समक्ष वैदिक मनुष्यों का सही स्वरूप प्रकाशित करता है—ऐसे लोग जो युद्ध-प्रिय थे, जो जीवन की सभी सुखकर वस्तुओं (रायः) तथा शक्तिवर्धक वस्तुओं (बाजः) को पाना चाहते थे, जो अपने शत्रुओं को पराजित करने में सहायक उपादानों, शक्ति तथा अश्व, को उच्च मूल्य प्रदान करते थे तथा जो देवताओं की प्रार्थना एक दुर्बल एवं असहाय प्राणी के रूप में नहीं अपितु समानता के स्तर से करते थे। यह देखने के लिए कि किस प्रकार एक देवता विशेष का परिवर्तनशील स्वरूप हमें सामाजिक परिवर्तन का अभिज्ञान करा सकता है, हम इन्द्र का उदाहरण ले सकते हैं, जो कि वैदिक मंत्रों का प्रमुख देवता है। इन्द्र का 'युद्ध-देवता' से 'वर्षा के देवता' में परिवर्तन एक घुमक्कड़ तथा लड़ाकू समुदाय का कृषकों के एक स्थायी स्थान पर रहने की अवस्था में संक्रमण का परिचायक है। पुराण-कथाओं द्वारा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकने का एक अन्य द ष्टान्त पुरुष सूक्त है जिसमें पुरूष के चार अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों का उद्‌भव बताया गया है; अब इसे सर्वमान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि मंत्र का प्रमुख प्रयोजन वस्तुतः सामाजिक-शरीर तथा इसके चार घटक अंगों की चर्चा है।

यहां हम दो महाकाव्यों—रामायण और महाभारत को छोड़कर सीधे पुराणों को लेते हैं जो इस प्रकार के साहित्य के सर्वोत्तम उदाहरण है। सिद्धांत के अनुसार पुराण में पांच बातों का विवेचन हैं :—सर्ग (स ष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (ऋषियों तथा राजाओं की वंशावलियां), मन्वन्तराणि (मनुओं की वंशावली) तथा वंशानुचरित (राजाओं की वंशावलियां)। इनमें से प्रथम दो तथा चतुर्थ ब्रह्माण्ड—स्वरूप के विषय से संबद्ध है एवं वंश तथा वंशानुचरित मानवीय इतिहास से संबंधित है। पुराणों में हमें विभिन्न शासकों, शासन वंशों तथा शासकों के कार्यों की चर्चा प्राप्त होती हैं पुराणों में एक अध्याय का नाम भुवनकोश है, शब्दशः जिसे विश्व व त्तान्त से संबद्ध होना चाहिए। किन्तु, इसका प्रमुख प्रयोजन भारत वर्ष के भूगोल का विवरण प्रदान करना है। यह भारत वर्ष राजनीतिक द ष्टिकोण से अस्तित्वमान भारत वर्ष नहीं अपितु वह समस्त भू-क्षेत्र है जो भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत समझा गया है। इस कारण भारत के विवरण के प्रसंग में पुराण मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया को भी सन्निविष्ट कहते हैं जो वस्तुतः इससे बाहर है। सामान्यरूपेण चौथी शताब्दी तक के भारत के भूगोल के विषय में पुराणों में बड़ी मूल्यवान सूचनाएं निहित हैं। कुछ समय पहले तक पुराणों को ऐतिहासिक मूल्य से सर्वथा शून्य माना जाता था। पुराणों का अध्ययन करते समय इस तथ्यविशेष को सदैव मस्तिष्क में रखना चाहिए कि वे मनुष्य-इतिहास को एक सार्वभौमिक इतिहास के संदर्भ में रखते तथा समझते हैं, और इस द ष्टिकोण से आधुनिक इतिहास लेखन के बहुत बड़े भाग को पौराणिक कहा जा सकता है। कभी-कभी पुराण शासकों की शासनविधियों को अविश्वसनीय रूप से बहुत बड़ी संख्या प्रदान करते हैं एवं देशों एवं लोगों के विषय में अतिश्योक्तिपूर्ण विवरण देते हैं। इन कारणों से मेकाले जैसे आलोचकों ने इन्हें अविश्वनीय तथा निरर्थक कहने को प्रेरित किया। किन्तु पुराणों के ये आलोचक यह भूल जाते हैं कि यह अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण कलियुग अर्थात् वर्तमान काल से पहले की घटनाओं तथा व्यक्तियों के प्रसंग में हैं, कलियुग के प्रसंग में दिए गए विवरण तथा संख्याएं अत्यन्त विवेकपूर्ण हैं और पौराणिकों में इस बोध का अस्तित्व प्रदर्शित करते हैं कि वर्तमान ऐतिहासिक काल के तथ्यों को नहीं विकृत करना चाहिए। इसी प्रकार वे जब भारत के बाहर के प्रदेशों का विवरण देते है तभी उनमें अविश्वनीयता दिखाई पड़ती है और यहां वे यात्रियों की कथाओं का स्वरूप ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः सुनी गई परम्परा तथा कल्पना के आधार पर दूरस्थ प्रदेशों का इस प्रकार का विवरण अकेले पुराणों की ही विशिष्टता नहीं है। इस प्रकार के विवरण

यहां तक कि तथाकथित 'इतिहास के पिता' हेरोडोटस में भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, हेरोडोटस एक भारतीय जनजाति की चर्चा के प्रसंग में कहता है कि उनके कान इतने बड़े होते है कि वे अपने संपूर्ण शरीर को इसमें लपेट लेते हैं। कुछ विद्वानों की शङकालुता के बावजूद, पुराणों के अध्ययन से उपलब्ध राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सूचनाओं को अन्य विद्वानों द्वारा विश्वसनीय माना गया है। पार्जिटर, वासुदेवशरण अग्रवाल तथा हाजरा जैसे विद्वानों ने विद्वान्-समाज का पुराणों के प्रति द ष्टिकोण को बदल दिया है। आधुनिक शोधों ने पुराणों को पुनः प्रतिष्ठापित ही किया है एवं उनसे स्मिथ जो यद्यपि भारतीय इतिहास के प्रति सहानुभूति परक द ष्टिकोण रखने वाला लेखक नहीं है—के इस कथन का समर्थन होता है कि "आधुनिक योरोपीय इतिहासकारों ने गलती से पौराणिक सूचियों के प्रति अविश्वास की प्रव त्ति अपनाई है, किन्तु सूक्ष्म अध्ययन से उनमें पर्याप्त विशुद्ध तथा मूल्यवान परम्परा प्राप्त होती है।"

वैदिक साहित्य में विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक लेखनों का अस्तित्व प्रमाणित होता है : वंश, गाथाएं, नाराशंसी एवं दानस्तुति। वंश पुराहितों तथा राजाओं की वंशावलियों की सूची देते हैं जब कि अन्य तीन राजकीय जननायकों एवं संरक्षकों की प्रशंसा से संबद्ध है। परवर्ती काल में इन अव्यवस्थित ऐतिहासिक रचनाओं को एक सुसंगठित एवं व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त हुआ। जहां एक ओर इस प्रकार के लेखनों का राजाओं तथा संरक्षकों की जीवन कथाओं (जिन्हें 'चरित' कहा जाता था) तथा शासकीय इतिव त्तों (उदाहरणार्थ, कल्हण की **राजतरंगिणी**) के रूप में विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर इन्हीं ने राजाओं को अपने शासन-काल की घटनाओं के विवरण-संग्रह के लिए भी प्रेरित किया। प्रारंभिक कालों में, जब कि राजकीय शक्ति का स्त्रोत ब्राह्मणों की प्रार्थनाओं में स्थित माना जाता था, तब राज्य इन ब्राह्मणों को संरक्षण प्रदान करते थे एवं इस प्रकार के शासकीय विवरणों के लेखन का कार्यभार उन्हीं के ऊपर होता था; किन्तु कालान्तर में राजकीय शक्ति के स्त्रोत की इस अवधारणा में अविश्वास होने पर तथा राजाओं द्वारा अपने स्वतंत्र एवं सर्वोपरि प्रभुत्व की उद्घोषणा के पश्चात् ब्राह्मणों ने इस ओर उदासीनता दिखाई और उन्होंने राजनीतिक घटनाओं में रुचि लेना बन्द कर दिया। उनके लिए राजा का जीवन तथा उसके कार्य उतने महत्वपूर्ण नहीं रह गए और उन्होंने इन्हें ब्रह्माण्डीय इतिहास के एक गौण अंग के रूप में समझा। समय-समय पर कुछ दरबारी लेखकों ने अपने संरक्षकों की जीवन कथा पर पुस्तकें लिखीं किन्तु उनका विशेष प्रयोजन उन्हें साहित्यिक प्रतिभा तथा चातुर्य के एक प्रकाशन के रूप में प्रस्तुत करना था, एक ऐतिहासिक विवरण के रूप में प्रस्तुत करना नहीं। दूसरी ओर, राजाओं ने इस कार्य के लिए अपने अधिकारियों को नियुक्त करना प्रारंभ कर दिया जिनसे सावधानी पूर्वक घटनाओं के लेखन की अपेक्षा की जाती थी। कम से कम मौर्यकाल से इस प्रकार के विभाग का अस्तित्व प्रमाणित होता है; अशोक के लघु शिलालेख की येरागुडी-प्रति में 'करणिक' नामक अधिकारी की चर्चा है जो संभवतः लेखा-अधिकारी था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो निश्चितरूपेण इस प्रकार के एक विभाग का अस्तित्व प्रमाणित होता है। गुप्त अभिलेखों में 'अक्षपटलाधिकृत' नामक अधिकारी का उल्लेख है जिसे राजकीय प्रलेखों का प्रधान संग्रहक कहा जा सकता है। हर्ष के समय तक इस विभाग की निरन्तरता का समर्थन युवान च्वांङग के साक्ष्य से होता है। किन्तु, प्रभूत मात्रा मुं हुए राजनीतिक उथल-पुथल के कारण ये राजकीय प्रलेख सुरक्षित नहीं रह सके और अब हमें नहीं प्राप्त हैं। यह स्मरणीय है कि प्राचीन भारत में लिखने वाले ब्राह्मण नहीं थे। ब्राह्मणों को राजकीय महत्व के इन प्रलेखों से कोई महत्व नहीं था और इस कारण उनके द्वारा बाद की पीढ़ियों के लिए इनकी सुरक्षा तथा संप्रेषण को आवश्यक न समझा जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है ब्यूयर का यह कथन उपयुक्त है कि भारतीय पंडितों ने श्री हर्ष के **नैषधीय चरित** पर टीकाएं लिखने तथा उसे सुरक्षित रखने में बड़ी रुचि दिखाई है किन्तु **नवसाहसांक चरित**, जिसमें कि लेखक के संरक्षक राजा के कार्यों का विवरण है, को विस्मरण के गर्त्त में जाने देने से रोकना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। प्राचीन भारत में ब्राह्मण ही अतीत के संरक्षक तथा संप्रेषक थे और इस प्रकार के लेखनों की विलुप्ति के लिए उनके उदासीन द ष्टिकोण को ही उत्तरदायी समझना चाहिए। इसके लिए उन

पर दोष आरोपित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके द ष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण नहीं था।

तथापि कभी-कभी वे अपने समसायियक शासकों तथा संरक्षकों की जीवन-कथा लेखन में प्रव त्त हुए; साहित्य के इस वर्ग को 'चरित' कहा गया। वैदिक आख्यानों को परवर्ती चरित-साहित्य का पूर्वरूप कहा जा सकता है। यहाँ मैं इन चरितों को उनसे प थक् करना चाहता हूँ जो कि राजकीय प्रलेखों तथा प्रशस्तियों के आधार पर लिखे गए और जिस कारण जिन्हें इतिव त्त कहना अधिक उपयुक्त होगा (उदाहरणार्थ बाण रचित **हर्षचरित**)। प्रथम वर्ग में वे जीवन-चरित भी आएंगे जो महान् धार्मिक पुरुषों की जीवन-कथा से संबद्ध है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि **रामायण** को भी राम के चरित के रूप में प्रस्तुत किया गया है। (रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु ऋषिसत्तम—**रामायण** 1. 31, ब्रह्मा की बाल्मीकि से प्रार्थना)। इस प्रकार चरित-साहित्य पर्याप्त प्राचीन है। भवभूति विरचित **महावीर चरित** तथा **उत्तर रामचरित** निस्संदेह राम के उपरोक्त 'चरित' पर आधारित है; मास का एक प्राचीनतर नाटक **बाल चरित** भी उसी आदर्श पर लिखा गया है। यह सच है कि इन पुस्तकों का इसके अतिरिक्त कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है कि ये विभिन्न धार्मिक एवं पौराणिक कथाओं को आगे बढ़ाती हैं। जीवन-कथा के स्वरूप वाली कुछ और भी कृतियां हैं जिन्हें ऐतिहासिक प्रणय-कथा कहना अधिक उपयुक्त होगा; इन पुस्तकों का कथानक एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्ति के ऊपर होता है किन्तु इसमें लेखक की कल्पना तथा आलंकारिक प्रदर्शन का बहुत अधिक पुट होता है। भास विरचित **स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण** तथा कालिदास लिखित **मालविकाग्निमित्रम्** इस वर्ग के अन्दर आएंगें। इस श ंखला के एक परवर्ती द ष्टान्त के रूप में हम पद्मगुप्त लिखित (1005 ईस्वी) **नवसाहसांकचरित** को ले सकते हैं। जिसमें लेखक ने एक पौराणिक कथानक के परिवेश में मालवा के सिन्धुराज नवसाहसांक का इतिहास देने का प्रयास किया है। इन कृतियों में प्रसंग में यह विचारणीय है कि यद्यपि इनका मूल कथानक किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर आधारित है, किन्तु इसे पौराणिक कथाओं अथवा कल्पनाओं से मुक्त रखने की कोई चेष्टा नहीं की गई है। वे काव्यात्मक अलंकारों से पूर्ण हैं तथा इनमें घटनाओं के यथा तथ्य निरूपण अथवा प्रमाणिक विवरण की अपेक्षा काव्यात्मक उत्कृष्टता लाने पर अधिक ध्यान दिया गया है। ऐतिहासिक तथ्य उसी सीमा तक दिए गए हैं जहां तक कि वे काव्यात्मक अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं। इस प्रसंग में दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख आवश्यक है जो इतिहास के अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं यद्यपि वे उपरोक्त दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। ये हैं : वाक्पतिराज लिखित **गौडवहो** तथा विल्हण रचित **विक्रमाङ्क् देवचरित**। प्रथम में कवि के संरक्षक कनौज शासक यशोवर्मन् द्वारा किसी गौड शासन की पराजय का विवरण है (इस शासक का नाम नहीं दिया गया है); **विक्रमाङ्क् देवचरित** में चालुक्य शासन विक्रमादित्य की जीवन-कााि दी गई है।

बाण रचित **हर्ष चरित** तथा कल्हण रचित राजतरंगिनी इसी कोटि से उद्भूत है किन्तु इनके विकसित तथा विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप के कारण इन्हें इतिव त्त के अन्तर्गत रखा गया है। ऐतिहासिक लेखन की एक स्वतंत्र कोटि के रूप में इन पर विचार करने के पूर्व हम धार्मिक जीवनकथाओं पर संक्षिप्त चर्चा करना चाहेंगे।

हम लोग पहले ही वैदिक साहित्य में प्राप्त वंश-सूचियों का उल्लेख कर चुके हैं जिसमें कभी कभी अट्ठावन तथा साठ नामों तक शिक्षकों की अनुक्रमिक सूची दी गई है। सामान्यरूपेण यह विश्वास किया जाता है कि सूची के प्रारंभ में दिए गए देवताओं के नामों को छोड़कर मनुष्यों के नाम अधिक संभवतया ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं किन्तु, ये केवल नाम मात्र हैं एवं जीवन-कथा संबंधी अन्य कोई विवरण नहीं मिलता। उपनिषदों में अवश्य ही व्यक्तियों के दार्शनिक विश्वासों तथा व्यक्तियों के पारस्परिक संवादों का लेखन हुआ है, किन्तु यहां भी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के साथ नामों का आकस्मिक संबंध मात्र दिखाई पड़ता है तथा इन व्यक्तियों के जीवन इत्यादि के विषय में अधिक कुछ नहीं ज्ञात होता। भारतीय लेखन में एक नियमित पवित्र जीवनकथा अथवा संघ के इतिहास

के अनुप्रवेश का श्रेय बौद्ध धर्म को जाता है। यह स्मरणीय है कि प्रारंभिक बौद्ध धर्म में प्रारंभिक धर्मानुयायियों का ध्यान शास्ता के जीवन के प्रति उतना अधिक नहीं है जितना कि उनकी शिक्षाओं के ऊपर। इसी कारण प्रारंभिक पालि ग्रन्थों में हम बुद्ध की उतनी व्यवस्थित जीवन कथा नहीं पाते जितनी कि **महावस्तु, ललित-विस्तर** तथा **निदान कथा** जैसे परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होती है। यद्यपि एक विद्वान द्वारा यह सुझाव प्रस्तावित हुआ है कि मूल **विनय** के स्कन्धक भाग के प्रारंभ में बुद्ध की उनके जन्म से लेकर शिक्षण कार्य की अवस्था तक ही जीवन कथा दी गई थी, वह मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति से प्रारंभ होकर पालि विनय वस्तुतः मूल तथा ऐतिहासिक स्थिति का अनुसरण करता है। तथापि, प्रारंभिक पालि ग्रन्थों में यत्र-तत्र ऐसे कई सूक्त तथा अवतरण मिलते हैं जिनके आधार पर बुद्ध की एक व्यवस्थित जीवन-कथा प्राप्त होती है। बुद्ध की जीवन पर परवर्त्ती ग्रन्थों के साथ तुलना करने पर हम यह रोचक तथ्य पाते हैं कि इन प्रारंभिक अवतरणों में ऐतिहासिकता को अवरुद्ध करने वाली पौराणिकता का प्रायः अभाव दिखाई पड़ता है। इन अवतरणों में पुराणकथाएं बहुत ही कम हैं तथा इनमें अतिशयोक्ति की मात्रा भी बहुत कम है; इन कारणों से ऐतिहासिक सत्य बहुत कम आच्छन्न हुआ है।

बुद्ध के परवर्त्ती ईश्वरीकरण के परिणामस्वरूप परवर्ती जीवनियों महावस्तु, ललित-विस्तार तथा निदानकथा के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। बुद्ध की जीवनी की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं के विषय में प्रारंभिक लेखकों द्वारा मौन-ग्रहण अथवा सामान्य विवेचन ने काल्पनिक कथाओं तथा पुराणकथाओं के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ रखा था। यह एक रोचक तथ्य है कि ये सभी बुद्धत्व प्राप्ति तक ही बुद्ध की जीवनी प्रदान करते हैं। अश्वघोष रचित **बुद्धचरित** तथा **सौन्दरानन्द** भी इसी कोटि में आते हैं; पहले ग्रन्थ का कथानक बुद्ध का जीवन है जब कि दूसरे में नन्द द्वारा बौद्ध धर्म के स्वीकरण की कथा दी गई हैं। ये ग्रन्थ आंलकारिक भाषा में है तथा साहित्यिक रचनाओं के रूप में अधिक मूल्यवान है।

जैन पट्टावलियां भी पौराणिकता के दोष से संयुक्त दिखाई पड़ती हैं। इनमें उनके तीर्थङग्करों के विषय में समान प्रकार का विवरण दिया गया है जिनमें ऐतिहासिक भावना का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता हैं; यह अवश्य है कि चन्द्रगुप्त जैसे ऐतिहासिक नामों के साथ विभिन्न कथाओं तथा किंवदन्तियों का भी इसमें समावेश हुआ है।

भारतीय ऐतिहासिक लेखन के चौथे वर्ग का प्रतिनिधित्व **बाण विरचित हर्ष चरित** तथा कल्हण विरचित **राजतरंगिणी** जैसे ग्रन्थों द्वारा होता है। **हर्षचरित** एक समसामयिक लेखक द्वारा प्राथमिक ज्ञान पर आधारित एक शासक-विशेष से संबद्ध इतिव त्त है; **राजतरंगिणी** एक **शासनवंशीय** इतिव त्त है जिसे पूर्ववर्त्ती इतिव त्तों, प्राचीन लेखों एवं राजकीय प्रलेखों के आधार पर लिखा गया है। एक इतिव त्तकार के रूप में बाण के मूल्यांकन के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि उसकी कृति की प्रामाणिकता अन्य साक्ष्यों से भी सिद्ध होती है और इस कारण इसे हर्ष के प्रारम्भिक जीवन पर एक प्रामाणिक साक्ष्य स्वीकार किया जाता है। किन्तु इतिव त्तकार के साथ-साथ बाण 'कवि' भी था। उसमें स्थित कवि के कारण ही हम कहीं-कहीं मानवीय कार्यव्यापारों में दैवी हस्तक्षेप, स्वप्नों के सत्य होने में विश्वास तथा चमत्कारिक कार्यों के अस्तित्व की चर्चा पाते हैं। कहीं-कहीं काव्यात्मक चातुर्य के प्रकाशन की प्रबल आकांक्षा के कारण महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएं गौण हो गई दिखाई पड़ती हैं। कल्हण अपेक्षाकृत कहीं अधिक संतुलित इतिव त्तकार है। उसने अपने ग्रन्थ के लिए और अधि ाक व्यापक कथानक—अर्थात् कश्मीर का इतिहास लिया है तथा निर्णय की निष्पक्षता प्रदर्शित करता है। वह स्वयं कहता है कि केवल वही इतिहासकार प्रशंसा का पात्र है जो एक दण्डाधीश के समान पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त है। वह न केवल ऐतिहासिक पात्रों का विस्तारपूर्ण निरूपण प्रस्तुत करता है अपितु उनकी वैदेशिक नीतियों, एवं प्रशासन इत्यादि की भी चर्चा करता है। ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में आधारहीन किंवदन्तियों एवं कथाओं की उपेक्षा करते हुए वह एक समीक्षात्मक-द ष्टि-संपन्न इतिहासकार के रूप में उपस्थित होता है। कभी-कभी वह किसी घटनाविशेष पर प्राप्त विविध

विवरणों को देता है एवं स्वयं अपनी निर्णायक बुद्धि द्वारा उनके मिथ्यात्व का प्रदर्शन करता है। किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह तथ्यविशेष है कि एक इतिहास लेखक के रूप में कल्हण ने इतिहास-अध्ययन से शिक्षाएं प्राप्त करने की चेष्टा की हैं एक उदाहरण के रूप में हम शिरःशिला के दुर्ग के विरुद्ध जयसिंह की तैयारियों पर उसकी टिप्पणी को ले सकते हैं जिसमें वह कहता है कि शत्रु के साधनों को बढ़ाकर देखने तथा उस पर आक्रमण करने में अनावश्यक तर्क-वितर्क करने में असफलता ही प्राप्त होती है। राजतरंगिणी में इस प्रकार के दृष्टान्त प्रभूत मात्रा में प्राप्त होते हैं।

मध्यकालीन इतिहास-दर्शन (पश्चिम)

बर्बर आक्रमणों के इतिहासकार

1. **गॉथ जाति के इतिहासकार**—रोम के पतन के समय जो बर्बर जातियों के आक्रमण हुए उनसे यूरोप में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। पाँचवीं और छठी शती इन परिवर्तनों से भरपूर है। सामन्तशाही का विकास, ईसाई चर्च का प्रसार, पोप की शक्ति का उत्कर्ष इस काल की मुख्य विशषताएँ हैं। इस वातावरण में इतिहास-दर्शन का कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हुआ। जो प्रवृत्तियाँ पहले से चल रही थीं वे ही गतिमान रहीं। इस युग के इतिहास-लेखकों की संख्या भी अधिक नहीं है। अतः संक्षेप में उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देना पर्याप्त है।

   पश्चिमी गॉथ जाति के स्पेन में बस जाने के बाद उनके इतिहास की ओर लेखकों का ध्यान गया। प्रसिद्ध ईसाई लेखक सेविल निवासी इसिदौर ने गॉथ और वेन्दल जातियों का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया जो प्रशंसा की भावना से ओतप्रोत है। तालेदो के पादरी जूलियन (680–690) ने भी इस विषय में एक ग्रन्थ लिखा, किन्तु उसमें पक्षपातपूर्ण शब्द-जाल का बाहुल्य है।

2. **वैंदल जाति के इतिहासकार**—वेन्दल जाति की अफ्रीकी विजय (429-439) के विषय में विक्तर वितेन्सिस का इतिहास उपलब्ध है। किन्तु इसकी शैली व्यंग्यपूर्ण और कालक्रम अशुद्ध है। पोसिदियस की 'ऑगस्तीन की जीवनी', कुछ अधिक महत्त्व रखती है और प्रोकोपियस का 'वेन्दल युद्ध का इतिहास' इससे भी अधिक उत्कृष्ट है। इस युग में अफ्रीका के लेखक फुलगेन्तियस (480-550) ने एक विश्व-इतिहास लिखने की चेष्टा की, किन्तु वह कुतूहलपूर्ण चमत्कारों और किंवदन्तियों में उलझ कर रह गये। तुनुन्ना निवासी विक्तर का इतिवृत्त इससे कुछ अधिक महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि इसका क्षेत्र सृष्टि के प्रारम्भ से 566 तक हैं, इसमें छठी शती की घटनाओं का ही संग्रह प्रामाणिक हैं।

3. **ओस्त्रोगोथ जाति के इतिहासकार**—ओस्त्रोगोथ जाति के इतिहास के विषय में पाविया के पादरी इन्नोदियस द्वारा लिखित थियोदोरिक का प्रशंसापत्र महत्वपूर्ण है। गॉथ इतिहास का प्रसिद्ध लेखक मेगनस ऑरेलियस केसियोदोरस सिनेतर (490–575) था। उसके तीन ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—(1) विश्व-इतिहास, जो यूसेबियस और प्रोस्पर की कृतियां पर आधारित है, (2) सोक्रेतीस, सोजोअन तथा थियोदोरतस के इतिहासों की लातीनी छाया और (3) गॉथ जाति का इतिहास। यह अन्तिम कृति बहुत ही सारगर्भित थी किन्तु दुर्भाग्य से यह लुप्त हो गयी है और ज़ोदीन द्वारा संक्षिप्त इसका एक गँवारू-सा संस्करण मिलता है। वास्तव में उस युग में पढ़े-लिखे लोग मुख्यतः पादरी होते थे और उन्हें लौकिक इतिहास में कोई विशेष रुचि नहीं थी। वे सन्तों और साधुओं के वृत्तों में अधिक श्रद्धा रखते थे। अतः केसियोदोरस का महत्वपूर्ण इतिहास कालकवलित हो गया। ज़ोदीन के संस्करण में जर्मन जाति के संक्रमण का पूर्ण वृत्तान्त मिलता है। लेखक का दृष्टिकोण जर्मन है उसने बर्बर-जगत् को जातियों की उद्योगशाला, (ओफीसीना जेन्तियम) कहा है। कहीं-कहीं इसमें उत्तेजना-जनक दृश्य भी मिलते हैं जो वियोबुल्फ की याद दिलाते हैं। इसके वातावरण में धार्मिक रंग नहीं है। लेखक की आलोचना-शक्ति भी तीव्र नहीं है।

4. **ग्रिगोरी का फ्रेंक राजाओं का इतिहास**—बर्बर द ष्टिकोण को सुन्दरता से चरितार्थ करने वाला इतिहास ग्रन्थ तूर के पादरी ग्रिगोरी का 'फ्रेंक राजाओं का इतिहास' है। ग्रिगोरियस फ्लोरेन्तियस (539-594) ने गॉल के छठी शताब्दी के वातावरण को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था। गॉल में रोमन, ईसाई और जर्मन (फ्रेंक) संस्कृतियों के सम्मिश्रण से एक सुन्दर मेरीविंजियन संस्कृति निष्पन्न हुई थी। ग्रिगोरी ने इस वातावरण को प्रतिबिम्बित किया। उनका 'फ्रेंक जाति का इतिहास' (हिस्तोरिया, फ्रेङकोरम) मध्यकाल की सर्वप्रसिद्ध रचना है। यह 591 तक के फ्रेंक इतिहास का सम्पूर्ण विवरण है। इसमें चर्च, प्रशासन, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक कार्य-कलाप, सांस्कृतिक वातावरण आदि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। व्यापार, दासता, आचार, नीति, शिक्षा, अन्धविश्वास आदि विषयों की भी उसमें बहुमूल्य सूचनाएँ भरी पड़ी हैं। इसकी भाषा में ओज और तेज है। कहीं-कहीं लातीनी भाषा अशुद्ध और अर्सयत हो गयी है जैसा कि बर्बर साहित्य की भाषा बहुधा होती है।

   फ्रेगेदर के इतिहास की भाषा तो और भी अधिक भ्रष्ट हो गयी है। इस युग में सन्त-चरित भी बहुत कुछ लिखा गया। किन्तु यह साहित्य अधिकांशतः गल्पपूर्ण है।

5. **इंगलैंड के इतिहासकार**—पांचवीं शती के अन्तिम भाग में इंगलैंड में जूट, आंग्ल और सेक्सन जातियों के आक्रमण हुए। किन्तु किसी इतिहासकार ने उनका प्रामाणिक व त्तान्त लिपिबद्ध नहीं किया। गिल्डास और नेन्नियस ने कुछ कथानक संग हीत किये, किन्तु उनमें आलोचनात्मक द ष्टि का अभाव-सा है। नेन्नियस के ग्रन्थ "हिस्तोरिया ब्रितोनम" के आर्थर के आख्यान पाये जाते हैं। इस युग में "इतिव त्त" (क्रोनिकिल) अधिक लिखे गये। इनमें एंग्लो-सेक्सन इतिव त्त प्रसिद्ध हैं। वे केवल तिथियों की तलिकाएँ नहीं हैं, वरन् घटनाओं के क्रमबद्ध विवरण भी हैं।

केरोलिंजियन युग का इतिहास-लेखन

1. **मठों के इतिव त्त**—सातवीं शताब्दी का सबसे अन्धेरा काल था। किन्तु इस निशीथ में अरुणोदय का आश्वासन भी था। अंग्रेज धर्मप्रचारक विलिबरोर्द, विलिबाल्द, बोनीफास इत्यादि फ्रिसिया में कार्य करने लगे। वहाँ से यह धर्म-प्रचार की लहर गॉल और जर्मनी में फैल गयी। नवीन मठ और विहार बनने लगे। ऐंग्लो-सेक्सन क्राननिकिल की प्रेरणा से पुल्दा का इतिव त्त और सन्त आमान्द्र का कथानक लिपिबद्ध किया गया। शार्लमेन के आदेश से प्रत्येक मठ ने अपने-अपने वार्षिक विवरण रखने शुरू कर दिये। इस प्रकार के बहुत-से इतिव त्त उपलब्ध हैं। लोश के मठ का इतिव त्त तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका एक अंश, जिसमें 793 से 801 तक की घटनाओं का वर्णन है, सम्भवतः शर्लमेन के जामाता एगिलबर्त का लिखा हुआ है। उनको होमर की उपाधि से पुकारा जाता था। इस इतिव त्त का एक भाग शार्लमेन के सचिव आइनहार्द का लिखा हुआ है। इस प्रकार इस इतिव त्त का रूप अर्धराजकीय है।

2. **शार्लमेन के इतिहासकार**—इस युग का सर्वश्रेष्ठ लेखक आइनहार्त या आईनआर्द था। उनकी 'विता करौली' स्वितोनियस के 'लाईव्ज ऑफ सीजर्स' के नमूने की रचना है। इसमें पुरानी यूनानी लातीनी जीवन-चरित्र-पद्धति को अपनाया गया है। यद्यपि इसमें शार्लमाइन का उत्कृष्ट चित्रण हुआ है परन्तु शिल्देरिक त तीय का व्यक्तित्व हास्यमय और व्यंग्यप्रधान हो गया है। ऐसे स्थलों पर प्रचारक-द ष्टि प्रमुख हो गयी है। शार्लमाइन ने मोन्ते कासिनी के पादरी पॉल वार्नेफ्रिद को लोम्बार्द जाति का इतिहास लिखने के लिए नियुक्त किया। उनका इतिहास मध्यकाल की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमें स्केन्दीनेविया से लोम्बार्द जाति के प्रस्थान और विजययात्राओं का सजीव वर्णन है। ग्रिगोरी की तरह इसमें चमत्कारपूर्ण और अलौकिक घटनाओं का उल्लेख नहीं है। यद्यपि लेखक कवि भी था, पर उसकी द ष्टि अधिक संतुलित है। इस युग में जीवन-चरित्र-लेखन का भी प्रचार बढ़ा। ईजिल द्वारा लिखित 'स्तुर्मी की जीवनी', इस ढंग की उत्तम कृति है।

शार्लमेन की म त्यु के पश्चात् (814) उसका विशाल साम्राज्य जर्जरित हो गया। नोर्स जाति के आक्रमणों ने सर्वत्र ध्वंस-लीला मचा दी। किन्तु इतिहास-लेखन की परम्परा चलती रही। नवीं शती में लुई दि पायस (पवित्र लुई) की दो जीवनियाँ लिखी गयीं। शार्लमेन के दौहित्र नितहार्द ने, 'इतिहास के चार अध्याय', (हिस्तोरियारम लिब्री क्वातुऔर) में शार्लमेन की म त्यु और उससे सम्बन्धित ग हयुद्ध और 843 के वरदून के राज्य-विभाजन का प्रामाणिक वर्णन किया। मठों के इतिव त्त भी चलते रहे। प्रूम के रेजिनो ने अपने, 'क्रानिकोन', (इतिहास) में इनमें से कुछ का सारांश लिखा और घूम-घामकर बहुत से तथ्य एकत्रित किये। पोपों की जीवनियाँ भी बराबर लिखी जाती रहीं। जान दि दीकोन ने ग्रिगोरी महान् की एक व हदाकार जीवनी लिखी। आर्कबिशप एगनेलस ने रावेन्ना के पादरियों की जीवनियाँ तैयार कीं।

3. **नवीं शती के इतिहासकार**—नवीं शती में धर्म और राष्ट्र की कलह शुरू हो गयी। अतः इतिहासकारों में भी पक्षपात भर गया। रातबर्तस ने वाला और अदलहार्द की जीवनियों में लुई दि पायस का विरोध किया। आर्कबिशप हिंकमार ने, 'दि ओदिने पालाति', (राजमहल या शासन) में कृत्रिम साक्ष्य का सहारा लेकर धर्मपरक राज्य के सिद्धान्त का समर्थन किया। किन्तु इस युग में क्लासिकल विद्या को सुरक्षित रखने का भी कुछ प्रयास हुआ। अबोत लूचुस के पत्र इस प्रयत्न का साक्ष्य देते हैं। दुर्भाग्य से उनकी प्रसिद्ध 'हिस्तोरिया रोमाना' नष्ट हो गयी है। नोर्स आक्रमणों के फलस्वरूप यह कृति तथा अन्य उत्कृष्ट इतिहासग्रन्थ लुप्त हो गये।

जर्मन इतिहासकार

1. **सेक्सनी का इतिहासलेखन**—नवीं शती में पश्चिमी और मध्य यूरोप अराजकता और अव्यवस्था में विनिमज्जित हो गया। इसके बाद सर्वप्रथम जर्मनी के सेक्सन वंश (919-1024) ने शान्ति और शासन की स्थापना की। फलतः सेक्सनी में इतिहास-लेखन का प्रचार बढ़ा। सर्वत्र मठों के इतिव त्तों का क्रम चल निकला। इनमें राइशेनाऊ, लोब्स, सन्त एमेराम, सन्त मेक्सिमिन, वाइनगार्तन और सन्त गॉल के इतिव त्त उल्लेखनीय है। लोरेन और मेत्स में बौद्धिक वातावरण विशेष रूप से फैला और इतिहास-लेखन की भी उन्नति हुई।

2. **विदुकिन्त का सेक्सन जाति का इतिहास**—सेक्सन युग में उत्तरी आक्रमणकारियों का द ष्टिकोण विशेष रूप से इतिहास-लेखन में प्रतिबिम्बित हुआ। कोर्वे निवासी विदुकिन्त ने एक विस्त त सेक्सन इतिहास लिखा। इस लेखक की शिराओं में विशुद्ध रक्त गतिमान् था। उन्हें अपनी जाति पर गर्व था। उन्होंने अलिखित कथानकों और आख्यानों का प्रयोग करके अपना इतिहास तैयार किया। उन्होंने सेक्सनों को एक पश्चिमी जाति बताया। उनके मतानुसार सेक्सन लोग एक तेज छोटी तलवार (सहस) रखते थे। इसी से उनका नाम सेक्सन पड़ा। उन्हें एल्बे के पार रहने वाले स्लावों से घ णा थी। अतः उन्होंने हेनरी प्रथम के 929 के हेवल के पार के अभियान का ज्वलन्त वर्णन किया। 933 की उन्सत्रुत की विजय का वर्णन करते हुए तो उनकी लेखनी बड़ी तीव्र हो जाती है। हंग्री के लोगों पर सेक्सन जाति की विजय का चित्रण करते हुए लेखक उन्मत्त हो जाता है। यद्यपि इस ग्रन्थ की भाषा मध्यकालीन लातीनी है, इसकी आत्मा विशुद्ध सेक्सन है।

3. **थाइतमार का क्रोनिकोन**—बाद के सेक्सन राजाओं का व त्तान्त मेर्सेबर्ग के पादरी थाइतमार की 'क्रानिकोन' में सुरक्षित है। यह ग्रन्थ बहुमूल्य सूचनाओं का भण्डार है। विशेषतः हेनरी द्वितीय के पोलिश युद्धों और स्लावों के विरुद्ध उनके अभियानों का वर्णन और विवरण इस ग्रन्थ की विशेषता है। लेखक का द ष्टिकोण विस्तीर्ण था। उन्होंने आर्थिक और सांस्कृतिक तथ्यों की ओर भी संकेत किये हैं।

4. **हिल्देब्रांत का युग**—सेक्सन वंश हेनरी प्रथम से आरम्भ होकर हेनरी द्वितीय के राज्यकाल तक अर्थात् 919 से 1024 तक रहा। उसके बाद सेलियन वंश के नरपतियों ने 1024 से 1125 तक राज्य किया। इसमें मठों में सुधार हुए ओर चर्च और राज्य का संघर्ष बढ़ा। यह हिल्देब्रांत का युग था। इस युग का इतिहास-लेखन भी इसकी महत्ता के अनुरूप रहा। विपो ने कोनराद द्वितीय की जीवनी से इस युग के इतिहास-लेखन का श्रीगणेश किया। राइशनीऊ के इतिव त्त के लेखक हेरभान कोन्त्रकतस ने ईसाई संवत्सर के प्रवर्तन से 1054 तक का एक विश्व-इतिहास लिखा। इसका अन्तिम भाग महत्वपूर्ण है। ग्यारहवीं शती के जर्मनी की सर्वश्रेष्ठ इतिहास-कृति लाम्बर्त का हेर्सफेल्द का इतिव त्त है। इनकी शैली रोचक है और उन पर रोमन इतिहासकार लिवी की स्पष्ट छाप है। किन्तु उनका कोनोसा काण्ड (1077) का व त्तान्त असत्य सिद्ध हो चुका है।

5. **राष्ट्र और चर्च का द्वन्द्व**—सम्राट हेनरी चतुर्थ और पोप ग्रिगोरी सप्तम के संघर्ष से राष्ट्र और चर्च का जो द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ था उसने इतिहास-लेखन की दिशाएँ बदलीं। लेखक एक या दूसरे के समर्थन में लेखनी उठाने लगे। ग्रिगोरी दल का सर्वश्रेष्ठ लेखक लाउतनबाख निवासी मानेगोल्द था। उन्होंने ऑगस्तीन की युक्ति पर चलते हुए यह सिद्ध किया कि चूँकि राजा प्रजा पर निर्भर रहता है और उसकी शक्ति और प्रभूत्व प्रजा की देन है, इसलिए यह दैवी शक्ति पर आधारित चर्च की सत्ता से निम्न है। इस लेख की ध्वनि सत्रहवीं शती के राजनीतिक विज्ञापनों से मिलती-जुलती है। हेनरी के पक्ष का प्रमुख लेखक रावेन्ना का वकील पेत्रस क्रासस था। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि राजा और पोप के क्षेत्र विभिन्न हैं और दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वोपरि हैं।

6. **ग्यारहवीं शती का इतिहास-लेखन**—ग्यारहवीं शती में पुरानी इतिहास-पद्धति बेकार हा गयी थी। इतिहास-लेखन विशुद्ध तथ्यात्मक न रहकर व्याख्यापरक भी होने लगा था। कार्य-कारण श्रंखला को खोजने का प्रयास बढ़ रहा था। कोन्त्रेक्तस के विश्व-इतिहास में यह प्रव त्ति द ष्टिगोचर होती है। उनके शिष्य बर्थोल्द ने इस इतिहास को आगे बढाया। एक्केहर्दि ने भी एक विश्व-इतिहास लिखा। उनकी कृति मध्यकाल की सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है। उनकी द ष्टि भी व्यापक थी। यूरोप के सब देशों के व त्तान्त उन्हें हस्तामलकवत् थे। उनकी द ष्टि इतनी संतुलित थी कि इसाई धर्म-युद्ध (क्रूसेड) की आँधी में भी वे अपना तटस्थ द ष्टिकोण बनाये रहे।

ग्यारहवीं शती के विश्व-इतिहास इस काल की राजनीतिक अवस्था के प्रतिबिम्ब हैं ओटो महान् के राज्यकाल से जर्मन साम्राज्य का महत्व बढ़ गया था। जर्मन सम्राट कैंसर रोम और शार्लमेन के उत्तराधिकारी माने जाते थे। बाल्तिक सागर से एद्रियातिक और रोम-सागर तक उनका प्रभुत्व था। अतः उनके इतिहासकारों की द ष्टि भी व्यापक हो गयी थी। बारहवीं शती में प्रचलित रूढ़ियों और परम्पराओं के विरूद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना और अरबी तथा रोमन विद्याओं के पुनरुत्थान से मानसिक क्षितिज बदलने लगे थे। इस वातावरण का प्रभाव इतिहास-लेखन पर भी पड़ा।

उन दिनों जर्मनी में यह विवाद बढ़ रहा था कि प्रत्येक डची का स्वतन्त्र शासन हो या समूचे देश में एकतंत्रीय राज्य हो। हेनरी पंचम की म त्यु के पश्चात् ग हयुद्ध की सम्भावना बढ़ी, किन्तु एक निर्वाचन-समिति ने लोथार को राजा नियुक्त कर दिया। लोथार के अभिषेक से इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। स्थानीय इतिव त्तों का तांता बँध गया। इनमें से बहुत से इतिव त्त बाद के संग्रहीं में संचित हो गये। इस युग में प्रसिद्ध सेक्सन इतिहासकार आनालिस्ता सेक्सो का आविर्भाव हुआ। इन्होंने चार्ल्स मारतल (714-741) से लगाकर लोथार द्वितीय तक का व त्तान्त लिपिबद्ध किया। इसी युग में लोक भाषा में पद्यबद्ध 'कोइजेरक्रोनिक'

लिखी गयी। इसमें जूलियस सीजर से कोनारादत तीय तक के काल की घटनाओं का वर्णन है। ऐतिहासिक दष्टि से इस कृति का विशेष महत्व नहीं है। किन्तु इसने लोक-भाषाओं के इतिहासलेखन को यथेष्ट प्रेरणा दी।

6. **ओटो की क्रोनिका**—बारहवीं शती की सर्वश्रेष्ठ रचना फाइसिंग के ओटो की, क्रोनिका, (इतिहास) है। यह लेखक सम्राट फ्रेडरिक प्रथम बारबारोसा का चचा था। उन्होंने ऑगस्तीन की प्रेरणा से इतिहास का अध्ययन किया। उनकी स्थापना यह थी कि मध्यकालीन साम्राज्य रोमन साम्राज्य का ही विवर्त है। उनकी व्यापक दष्टि सष्टि से धर्मयुद्ध तक पहुँची। उनके आलोचनात्मक मस्तिष्ट ने यह खोज निकाला कि कोंसतेन्ताइन का प्रसिद्ध दानपत्र कृत्रिम हैं। उनकी धारणा थी कि इतिहास की प्रत्येक घटना ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट एक विशाल और महान् योजना का अंग है। इस विश्व-इतिहास के अतिरिक्त ओटो ने अपने भतीजे फ्रैडरिक बारबारोसा का एक विस्तत इतिहास लिखा। यह इतिहास मौलिक सामग्री से परिपूर्ण है। प्राच्य व्यापार द्वारा लोम्बार्द नगरों ने जो समद्धि और स्वाधीनता प्राप्त कर ली थी और उसके फलस्वरूप उन्होंने अपने-आप को सम्राट और पोप दोनों से मुक्त करने की जो चेष्टा की थी उसका इस ग्रन्थ में विशद वर्णन है। इस सामाजिक क्रान्ति का श्रेष्ठतर विवरण आज तक नहीं लिखा गया। ओटो के इतिहास को उन्हीं के नामराशि सन्त ब्लाजीन के एक पादरी ने जारी रखा।

इस युग में जर्मन जाति की प्राच्य प्रगति का और उसके द्वारा एल्बे के पार की स्लाव जातियों की पराजय का इतिहास भी प्रमुख रूप से लिखा गया। इन लेखकों में ब्रेमन निवासी, आदम, होल्सताइन-निवासी हेलमाँद और ल्यूबक-निवासी आनोल्द के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जर्मनी के इन इतिहासकारों ने महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया और अपनी विस्तीर्ण दष्टि का परिचय दिया।

इटली के इतिहासकार

1. **वैनेदिक्त और लिउतप्रान्त**—932 में ओटो महान् ने इटली पर जर्मन राज्य स्थापित किया। तब से जर्मनी और इटली का इतिहास एकीकृत हो गया। बहुत-से इटली के इतिहासकार तो जर्मन आधिपत्य को अभिशाप समझते थे। वेनेदिक्त नामक एक पादरी ने 360 से 973 तक का इतिहास लिखा और इटली के पराभव पर बड़ा खेद प्रकट किया। यह ग्रन्थ पूर्व इतिहासकारों के लेखों के उद्धरणों का संग्रह-मात्र हैं इसका भौतिक महत्व कम है। केवल इसका दष्टिकोण नया है साथ ही बहुत से इतिहासकारों ने इटली पर जर्मनी के साम्राज्य की सराहना की। इनमें लिउतप्रान्त का नाम उल्लेखनीय है। उनकी, 'हिस्तोरिया ओतोनिस', और 'एन्तापोदोसिस', दसवीं शती के इटली के इतिहास के आकर-ग्रन्थ हैं। इनका सांस्कृतिक महत्व भी बढ़ा-चढ़ा है। 938 में लिउतप्रान्त को ओटो ने राजदूत बनाकर कुस्तुनतुनिया भेजा था। उन्होंने इस दौत्य का वर्णन अपनी प्रसिद्ध कृति 'रिलासिओ द लिगासियोने', में किया है। इनमें उन्होंने पश्चिमी लातीनी जर्मन देशों और बाइजेन्ताइन के पूर्वी साम्राज्य के राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक भेदों पर यथेष्ठ प्रकाश डाला। पाश्चात्य ईसाइयत और प्राच्य ईसाइयत के इन दो क्षेत्रों को यह लेखक भिन्न समझता था। उन्होंने लातीनी संस्कृति और यूनानी संस्कृति के भेद का विस्तत वर्णन किया है। सांस्कृतिक और सामाजिक दष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है। आजकल रूस और पाश्चात्य यूरोप का जो विरोध है। उसके मूल में ट्वायनबी-जैसे इतिहास-मर्मज्ञ रोम की लातीनी ईसाइयत और बाईजन्तियम की यूनानी ईसाइयत के भेद को प्रतिष्ठित करते हैं और लिउतप्रान्त के उक्त विवरण का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

2. **आरनुल्फ**—नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं शतियों में रोम में इतिहास-लेखन में विशेष प्रगति हुई। केवल लिबेर पोन्तीफिकेलिस के रूप में पोपों के जीवन-चरित्रों की परम्परा चलती रही। ग्यारहवीं शती में 'लोम्बार्दी में जो नागरिक और आर्थिक क्रान्ति हुई उसके फलस्वरूप उत्तरी इटली में स्वतंत्र ओर स्वाधीन नगर-राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ और नागरिक इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। इस द ष्टि से मीलान के आर्कबिशप आरनुल्फ का, अपने युग का इतिहास, (रेरूम सुई तेम्पोरिस) महत्वपूर्ण रचना है। इन दिनों राजा और पोप का संघर्ष चल रहा था। इटली के उदीयमान नगरों के लोग सम्राटों के पंजे से बचने के लिए पोपों की स्वायत्तता का समर्थन करते थे। चूंकि यह लेखक सम्राट-पक्ष से सम्बन्धित था, अतः एक उत्तेजित जन-समूह ने गिरजे में घुसकर इसे मुख्यासन से घसीटकर मारा-पीटा और म त समझकर छोड़ दिया। तात्कालिक परिस्थितियों को समझने के लिए यह ग्रन्थ मूल्यवान् है।

3. **नागरिक इतिहास**—फ्रेडरिक प्रथम ने लोम्बार्दी में जो युद्ध किये उनसे स्थानीय इतिहास को यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। बारहवीं शती से इटली के नगरों में इतिहास-लेखन का प्रचार बढ़ा। मीलान, जेनोवा, पीसा, वेनिस, फ्लोरेन्स, बेरगामो, पियासेन्जा लोदी आदि के स्थानीय व त्त लिपिबद्ध किये जाने लगे। ये व त्त आर्थिक द ष्टि से महत्वशाली हैं। इस युग में प्राचीन विद्याओं का भी पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। इतिहास को सार्वजनिक और लोकप्रिय रूप प्रदान करने की चेष्टा शुरू की गयी।

4. **दक्षिणी इटली और सिसली का इतिहास-लेखन**—दक्षिणी इटली में लातीनी, यूनानी, अरबी और नॉर्मन फ्रेंच संस्कृतियों का संगम हो रहा था। इस प्रदेश का इस युग का इतिहास यूनानी, अरब और लातीनी लेखकों ने लिपिबद्ध किया। अमातुस की हिस्टोरिया नोर्मेन्नोरम नॉर्मन युग पर अच्छा प्रकाश डालती है। आपुलिया निवासी विलियम का रॉबर्ट गुइसकार्द का जीवन-चरित्र नॉर्मन इतिहास को कवित्व के रस में सानता है। इसके विपरीत बेनेबन्तुम के निवासी फाल्को का इतिव त्त नॉर्मन-विरोधी द ष्टिकोण को मुखरित करता है। तेलेसनिवासी एलेग्ज़ेन्दर नॉर्मन विजेताओं के प्रति अनुकूल भाव रखता था। इस युग में सालेनों के आर्कबिशप रोम्बाल्द ने स ष्टि से लगातार अपने युग तक का एक विश्व-इतिहास लिखा। इसका बहुत-सा भाग व्यर्थ है। तात्कालिक घटनाओं का वर्णन सूचनापूर्ण अवश्य हैं, किन्तु लेखक की पक्षपातपूर्ण द ष्टि उसे भी संदिग्ध बना देती है। सिसली के इतिहास को अमरत्व प्रदान करने वाला महान् इतिहासकार पालेर्मो-निवासी ह्यगो फालकान्दस था। इनका 'लिबेरदूरेग्नो सिसिलिए', (सिसली के राज्य का व त्त) मध्यकाल की एक महत्वपूर्ण रचना मानी जाती है। बहुत-से आधुनिक लेखक इस इतिहासकार को थूसीदाइदीस, पोलीबस, तेसीतस, लिबी आदि की टक्कर का समझते हैं। इन्होंने पालेर्मो की आर्थिक और व्यापारिक व्यवस्था का सुन्दर चित्र खींचा है। और रेशम के निर्माण के विषय में अनोखे तथ्य प्रस्तुत किये हैं। उनपर प्राच्य प्रभाव भी प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होता हैं उनकी कृति सूचनाओं की महार्घ निधि है।

सामान्तशाही युग के अन्य इतिहासकार

1. **आंजू के सामन्तों ओर नॉर्मन जाति का इतिहास-प्रेम**—दसवीं शती के फ्रेंच इतिहासकारों में फलोदर और रिशर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने क्रमशः 'रहें के चर्च का इतिहास' ओर 'इतिहास के 4 अध्याय', लिखे। तथ्यात्मक द ष्टिकोण से ये ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। ग्यारहवीं शती में सार्वजनिक चेतना (ग्रुप माइण्ड) की अभिव्यक्ति हुई। इस शती में आर्थिक और सामाजिक विकास भी हुआ। धर्म-युद्धों ने भावनाओं को उत्तेजित किया। धार्मिक आस्था बहुत बढ़ गयी। सर्वत्र रोमानस्क शैली के नये गिरजे बनने लगे। पादरियों और सामन्तों में संधि हो गयी जिसे 'ट्रूस ऑव गॉड' कहते हैं। आंजू के सामन्तों ने इतिहास लेखन को प्रोत्साहन दिया। काउण्टफुल्क रेचिन की जीवन-कथा एक प्रसिद्ध रचना है। शबान के निवासी आदमार की

रचनाएँ और विशेषतः उनका विश्व-इतिहास (क्रोनिकोन) इस काल की महनीय कृतियाँ हैं। उन्हें तात्कालिक इतिहास का प्रचुर ज्ञान था। अरबों के कार्य-कलाप का भी उन्हें पता था। उनका विस्तीर्ण द ष्टिकोण उस युग में श्लाघनीय था। नॉर्मन विजय और आधिपत्य के बाद नॉर्मन लोग भी इतिहास में रुचि प्रकट करने लगे। उनमें दुर्दो का नाम अग्रगण्य है। इस लेखक ने पद्य और गद्य दोनों में नॉर्मन्डी के ड्यूकों का इतिव त्त लिखा। विलियम केलकूलस ने इस इतिव त्त को आगे बढ़ाया और हेसटिंग्स के युद्ध तक पूरा कर दिया। इस युग के इतिहासकारों में प्वातिए का निवासी विलियम भी प्रसिद्ध है। उनका, 'विलियम दि कोन्करर' का इतिहास मुख्यतः प्रशंसात्मक है।

2. **बारहवीं शती का इतिहास-लेखन और गुइर्बत दू नोजन्त**—बारहवीं शती में बुद्धिवाद की लहर दौड़ पड़ी। नये-नये विश्वविद्यालय खुलने लगे। नागरिक सम द्धि और व्यापार बढ़ने लगे। गोथिक कला और लोकसाहित्य उन्नति करने लगे। गुईर्बत दू नोजन्त ने इस नवीन वातावरण को मुखरित किया। 1095 की घटनाओं को समझने के लिए वे आर्थिक और सामाजिक तत्वों का विश्लेषण करते हैं। जन-मनोविज्ञान का उन्हें काफी ज्ञान था और क्रूसेडों के इतिहास में उन्होंने इसका परिचय दिया। उनका बुद्धिवाद अपने युग से बहुत ऊँचा उठा हुआ था। वे अन्धविश्वासों के विरोधी थे और पुनरुत्थान के अग्रदूत थे। बारहवीं शती के मध्य से सन्त देनिस के पादरी फ्रैंच साम्राज्य के अधिकारी इतिहासकार थे। इस शती का सर्वश्रेष्ठ इतिहास-ग्रन्थ ओदेरिकल वीतालिस (1142) का 'हिस्तोरिया एक्लीजियास्तिका' है। यह इतिहास 1143 तक चलता है। वे मानते थे कि इतिहास दर्शन की व्यावहारिक शिक्षा है। अतीत के अध्ययन के आलोक में वर्तमान को समझा जा सकता है। अतः वे इतिहास के अध ययन को बहुत महत्वपूर्ण समझते थे।

   फ्रांस में सर्वप्रथम लोक-भाषा में इतिहासलेखन प्रारम्भ हुआ। गैमार, बास और विनोवा ने इतिहास के लिए लोक-भाषा का उपयोग किया।

3. **नॉर्मन युग का अंग्रेजी इतिहास-लेखन**—नॉर्मन आधिपत्य के फलस्वरूप अंग्रेजी इतिहास-लेखन को भी एक विस्तीर्ण द ष्टिकोण प्राप्त हुआ। आदमेर (1124) की 'हिस्तोरिया नावोरूम इन इंग्लिया', इस द ष्टिकोण को प्रकट करती है। डरहम-निवासी साईमियन, हन्टिगडन निवासी हेनरी, मेलमसबरी-निवासी विलियम, न्यूबरा-निवासी विलियम, पीटरबोरो-निवासी बेनिडिक्ट, होवेडन-निवासी रोजर, केन्टरबरी-निवासी जरवास और सन्त अलवान के सम्प्रदाय के इतिहासकार, जिनमें मेथ्यू पेरिस का नाम उल्लेखनीय है, इस युग के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक थे। इनमें आलोचनात्मक द ष्टि की प्रमुखता थी। इस युग में केल्तिक इतिहास-लेखन का भी प्रवर्तन हुआ। इसका सुन्दर प्रतीक मनमाउथ-निवासी ज्योफ्रे की 'हिस्तोरिया ब्रितोनम' है। उनमें आर्थर के आख्यान और कथानक द ष्टिगोचर होते हैं।

   बारहवीं शती के इतिहासकारों में रेल्फद्दिसतो (1202) का नाम उल्लेखनीय है। उनकी 'इतिहास की रूपरेखा', प्रसिद्ध रचना है। केन्टरबरी के आर्कबिशप स्तेफिन लेंगटन की 'रिचार्ड प्रथम की जीवनी', भी एक महत्वपूर्ण कृति थी, किन्तु अब यह लुप्त हो चुकी है। इस युग में इतिहास का द ष्टिकोण वैज्ञानिक और विस्तीर्ण हो गया था। गिरजाघरों में जो धार्मिक व त्त लिखे गये और सन्त चरित तैयार किये गये उनमें आख्यानिक तत्वों के स्थापन पर आलोचनात्मक तथ्यों की प्रधानता हो गयी।

तेरहवीं शती के इतिहासकार

1. **मध्यकाल और पुनरुत्थान काल की संक्रान्ति**—तेरहवीं शती मध्यकाल और पुनरुत्थान युग का संक्रान्तिकाल थी। अतः इसमें मध्यकाल और आधुनिक दोनों कालों की झलक मिलती है।

इसमें धार्मिक द ष्टिकोण के साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष द ष्टिकोण भी पल्लवित हुआ। लातीनी साहित्य के साथ लोक-भाषाओं के साहित्य भी विकसित हुए। सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि ग्यारहवीं-बारहवीं शतियों में अभिजात कुलों तथा उच्च वंशों और पदों के व्यक्ति ही इतिहास-लेखन में रुचि रखते थे, किन्तु तेरहवीं शती में निम्न वर्गों के लोगों का महत्व बढ़ा। मिनोरित जैसे साधु सम्प्रदायों ने काफी अच्छा कार्य किया। नागरिक, व्यापारी और साहित्यिक भी इतिहास के प्रति विशेष रुचि प्रकट करने लगे। इनमें से कुछ तो सामन्तवर्गीय थे। बिलहारदुँई और ज्वाँविल इस वर्ग के लेखक थे। शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के परिणामस्वरूप बुर्जुवा वर्ग नागरिक और स्थानीय इतिहास की ओर दत्तचित्त था। अतः तेरहवीं शती से नगरों के स्थानीय इतिहासों का प्रचलन बहुत बढ़ा। धार्मिक और लौकिक इतिहास का भेद लुप्त होने लगा। मानव इतिहास के छः युगों का सिद्धान्त त्याज्य हो गया। आलोचनात्मक द ष्टि की प्रमुखता हो गयी। बारहवीं शती में सन्त विक्तर के निवासी ह्यगो ने यह सिद्ध किया कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को देश, काल और परिस्थिति की प ष्ठभूमि में रखकर जाँचना आवश्यक है। तेरहवीं शती में यह प्रव त्ति बहुत बढ़ी। फ्रोइदमाँ के पादरी हेलीनन्द के 'विश्व-इतिहास' में, जो 49 भागों में विभक्त है, संतुलन-द ष्टि और स्त्रोत-सामग्री के निर्देशन बहुत विकसित अवस्था में मिलते हैं। इसी ढ़ंग के ओक्सरे के निवासी रॉबर्ट तथा त्रोवा फोंतेन के निवासी आँबी के विश्व-इतिहास हैं।

2. **दोमिनिकन पादरियों की रचनाएँ**—इसी शती में धार्मिक और साम्प्रदायिक इतिहासकारों के द ष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। विशेष रूप से दोमिनिकन पादरियों ने नवीन दिशा में प्रगति की। सन्त लुई के तत्त्वाधान में बोवे के निवासी बिसेण्ट (1190-1264) ने 'स्पेकुलम हिस्टोरियाले' (इतिहास का दर्पण) शीर्षक ब हत् विश्व-कोश लिखा। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक क्षितिज बड़ा विशाल है। इसमें प्राचीन हिब्रू, मिस्त्री, बाबुली और रोमन धर्मों के विषय में भी आवश्यक सूचनाएँ हैं, किन्तु यह एक संग्रह मात्र है। बर्नार्ड गुइ (1331) का फलोरेंज क्रोनीक्रम (इतिहास के युद्ध) विद्वता, वैज्ञानिकता ओर प्रामाणिकता की द ष्टि से श्रेष्ठतर ग्रन्थ है। लेखक की सूक्ष्मता, संतुलन और निष्पक्षता सराहनीय है। त्रोषी के निवासी मार्तिन की 'क्रोनिकन पोन्तीफिकम एत इमपेरातोरम', एच०जी० वेल्स की 'आउटलाइन ऑव हिस्ट्री' की तरह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ था। इसके अनुवाद अनेक लोकभाषाओं में हुए।

3. **राजकीय इतिहासकार**—इस युग में शासक और राजा भी इतिहास में रुचि प्रकट करने लगे। फ्रांस, इंग्लैंड, स्पेन आदि में राजकीय इतिहासकार नियुक्त किये जाने लगे। फ्रांस में गुय्याम ह नाँगिस (1285-1300) का विशाल संग्रह और 'ग्राँ कोनिक द् सें देनी' उल्लेखनीय है। ज्वाँविल का 'वी द् सें लुई' (सन्त दे लुई का जीवन चरित्र) मध्यकालीन सामन्तशाही संस्कृति का दर्पण है। उसमें सामन्तशाही प्रथाओं को आदर्शरूप दिया गया है। इसका वातावरण वीरता और शूरता के कथानकों से ओतप्रोत है। मिस्त्र में नील के युद्ध का वर्णन तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इंग्लैंड के इतिहासकारों में मेथ्यू पेरिस और कोवण्ट्री के वाल्टर की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें 'मेग्नाकार्ता' के युग का वातावरण प्रतिबिम्बित है। मेथ्यू पेरिस सन्त आल्बन्स के मठ की परम्परा के अनुयायी थे। वे हेनरी त तीय के प्रिय लेखक थे। उनकी, 'क्रोनीका मेजोरा' और 'हिस्टोरिया माइनर' उस युग की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। तिलबरी के जर्वास की 'ओतिया इम्पेरियालिया' विस्तीर्ण द ष्टिकोण और आदर्श से अनुप्राणित हैं इसे मध्यकालीन युग के अन्त और पुनरुत्थान युग के आविर्भाव का दर्पण कहा जा सकता हैं। लेखक की द ष्टि प्राचीन रोम की इमारतों पर ठहरी है। फ्रांस, स्पेन, इटली आदि देश उनके द ष्टिपथ पर बने रहते हैं। रोमन इतिहास और मध्युगीन इतिहास एक सूत्र में बँध गये हैं। यह ग्रन्थ ओटो चतुर्थ को भेंट किया गया था।

इटली में तेरहवीं शती में नगर-इतिहासों का बोलबाला रहा। गेरार्दी मोरिसियो, फेरेतो, रोलन्दिनों और मुसातो के इतिहास बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें-बुर्जुवा संक्रान्ति की झाँकी मिलती है। इनके अतिरिक्त वेनिस, जिनोवा और फीसा के इतिव त्त इस युग के परिवर्तनों का साक्ष्य देते हैं। कुछ और महत्वपूर्ण विश्व-इतिहास भी इस युग में लिखे गये, इनमें फ्रा सेलिम्बेने (1167–1287) की 'क्रोनीकिल' ओर सेन जेर्मानी के रिचार्ड की 'क्रोनीका रेगुनी सिसिलिए' उल्लेखनीय है।

जर्मनी इस शती में लगभग 300 रियासतों में विभक्त हो गया था। उनमें कुछ पद्यबद्ध इतिहास अवश्य लिखे गये। किन्तु कोई विशेष उल्लेखनीय कृति नहीं रची गयी।

बाइजेन्तियम का इतिहास-लेखन

1. **यूनापियस और जीसिमस**—मध्यकाल के पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी इतिहासकार पश्चिमी राज्यों के लातीनी इतिहासकारों से अधिक वैज्ञानिक और सूक्ष्मदर्शी थे। यूनापियस और जोसिमस श्रेष्ठ इतिहासकार थे। जोसिमस अन्तिम पेगन इतिहासकार था। उसने पोलिबियस की परम्परा को जीवित रखा। उसके मतानुसार नियति इतिहास का नियामक तत्व है। इनके अतिरिक्त ओलिम्पियोदोरस प्रिस्कस और मालकस के इतिहास प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विशिष्ट युगों का इतिहास लिपिबद्ध किया। किन्तु विश्व-इतिहास की परम्परा भी चलती रही। एपीफानिया के निवासी यूसतेथियस और मिलेनस के निवासी हेसीवियस ने विश्व-इतिहास लिखे। अन्तियोक के जोन ने भी आदम से लगाकर सन् 518 के सम्राट् एनेस्तेसियस के निधन तक का व त्तान्त लिखा।

2. **जस्तीनियन-कालीन पुररुत्थान**—छठी शती में सम्राट् जस्तीनियन (527–565) के राज्यकाल में जो साम्राज्य का पुनरुत्थान हुआ, उससे इतिहास-लेखन को बड़ी प्रेरणा मिली। उस समय इतिहासकारों की नूतन परम्परा का सूत्रपात हुआ जो अविच्छिन्न रूप से 1204 में क्रूसेडों के सैनिकों द्वारा कुस्तुनतुनिया की विजय तक चलती रही और जिसके फलस्वरूप प्राच्य साम्राज्य का राजनीतिक इतिहास क्रमबद्ध रूप से लिखा जाता रहा। ये इतिहासकार एक महान् ऐतिहासिक परम्परा को अक्षुण्ण रखने की चेतना से अनुप्राणित थे। इन्होंने यथासम्भव प्राचीन यूनानी लेखकों के आदर्श का अनुसरण किया। कुछ ने हिरोदोतस और थूसीदाइदीस का अनुकरण किया और कुछ जीनोफोन और पोलीबियस के पदचिह्नों पर चले। इन आदर्शों के फलस्वरूप उनका द ष्टिकोण सत्यनिष्ठ, तत्वग्राही और नीरक्षीरविवेकी बन गया। अतः उनकी कृतियों का वैज्ञानिक महत्व बहुत अधिक है। प्राच्य साम्राज्य के धर्म-सम्प्रदाय की प्रमुखता नहीं थी। वहाँ धर्म राज्य के अधीन था, राज्य धर्म के अधीन नहीं था। अतः वहाँ के इतिहासकारों ने बाइबिल सम्बन्धी इतिहास के भ्रामक उदाहरण और समानताएँ प्रस्तुत नहीं कीं। न वे स ष्टि के आदि या विकास से लगातार इतिहास लिखने के झंझट में पड़े। उनकी रुचि तात्कालिक इतिहास में ही केन्द्रित रही। सामान्यतः राजकीय कर्मचारी होने के नाते उन्हें घटनाओं के सूक्ष्म आन्तरिक स्वरूप का वैयक्तिक ज्ञान था। अतः उन्होंने विस्तुत रूप से घटनाचक्र का विश्लेषण किया। यह लक्ष्य करने की बात है कि बाइजेन्तियम के साम्राज्य में पादरियों का बहुत कम महत्व रहा। प्रायः सभी प्रख्यात इतिहासकार धर्म-निरपेक्ष थे। यह लक्षण प्राच्य और पाश्चात्य ईसाई संस्कृतियों के भेद का प्रतीक है।

3. **प्रोकोपियस**—जसतीनियन के युग का प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोकोपियस था। उन्होंने सेनापति वेलीसेरियस के साथ अफ्रीका, इटली और फारस के अभियानों में भाग लिया था। अतः बहुत-सी तात्कालिक घटनाएँ उनके वैयक्तिक अनुभव में आयी थीं। उन्हें जर्मन और लातीनी जातियों से घ णा थी। जस्तीनयन की शासन-पद्धति की भी उन्होंने खुली आलोचना की।

धार्मिक संन्यास और बिहार-जीवन से उन्हें बड़ी अरुचि थी। उनपर थूसीदाइदीन का गम्भीर प्रभाव पड़ा। भाषा और शैली में वे उनका अनुसरण करते हैं। वे नियतिवादी थे और इतिहास में नियति की क्रीड़ा को मानते थे।

4. **एगेथियास और मीनान्दर**—एगेथियास ने 532 से 559 तक के जस्तीनियन के ईरानी युद्धों का इतिहास लिखा। उन्होंने सासानी सामग्री का गम्भीर अध्ययन किया। वे व्यवसाय में वकील थे और पेगन संस्कृति में बड़ी रुचि रखते थे। जस्तीनियन ने 529 में एथेन्स के विद्यापीठों को बन्द कर दिया था, जिसके फलस्वरूप यूनानी विद्वान् ईरान जाकर खुसरो महान् के दरबार में रहने लगे थे। एगेथियास ने इस घटना का मार्मिक वर्णन किया है। मीनान्दर ने उनके इतिहास को 558 से 582 तक बढ़ाया। उन्होंने दक्षिणी रूस की बर्बर जातियों का विस्त त वर्णन किया और उनकी भौगोलिक तथा जातीय व्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन किया। बाइजेन्तियम के निवासी थियोफेनस ने 566 से 581 तक की घटनाओं को लिपिबद्ध किया।

5. **जॉन ऑव एपीफानिया**—जस्तीनियन के निधन के बाद की घटनाओं को एपीफानिया के निवासी जॉन ने 'फारसी युद्ध के इतिहास' में लेखबद्ध किया। यह लेखक खुसरो महान् का मित्र था। बहुत-से फारसी सामन्तों और अमीरों पर उनका गहरा प्रभाव था। इस युग में इबेग्रियस और एफेसस के निवासी जॉन ने, जो ईसाई था, इतिहास-लेखन में काफी प्रगति की।

6. **थियोफिलेक्तस सिमोकाता**—सम्राट मोरिस (582–602) के राज्यकाल के लिये थियोफिलेक्तस सिमोकाता का इतिहास महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने पूर्वी एशिया के साम्राज्य का सुन्दर वर्णन किया है जो चीन ही हो सकता है मार्कोपोलो से पहले यही यूरोपीय साहित्य में चीन का वास्तविक और प्रामाणिक वर्णन है। लेखक ने यह सूचनाएँ कुस्तुनतुनिया के तुर्क राजदूत से प्राप्त की थी।

7. **जॉन ऑव निकिऊ**—मिस्र में बाइजेन्ताइन साम्राज्य के ह्रास और मुसलमानों की विजय के व त्तान्त पर निकिऊ के निवासी जॉन द्वारा लिखित 'विश्व इतिहास' की खोज से नवीन प्रकाश पड़ा है। 1901-5 में इस ग्रन्थ का पता चला है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मिस्रियों ने मुसलमानों का साथ देकर बाइजेन्ताइन साम्राज्य का विरोध और विद्रोह नहीं किया था। लेखक यह निष्पक्ष और सत्यनिष्ठ इतिहासकार था।

8. **थियोफेन्स और निकेफोरस**—मूर्ति-विध्वंस-आन्दोलन के युग में थियोफेन्स ओर निकेफोरस ने अपने-अपने इतिहास लिखे। नवीं शती में जार्ज दि मोंक ने इनको राजी रखा। यह शती विद्वत्ता का युग था। इसका प्रमुख प्रतिनिधि पादरी फोतियस था। उन्होंने प्राचीन साहित्य का विशाल अध्ययन करके एक डायरी लिखी थी। जिसमें लगभग 280 ग्रन्थों का उल्लेख और टिप्पणी मिलती हैं। इनमें बहुत-से इतिहासग्रन्थ भी हैं जो अब लुप्त हो चुके हैं। पाश्चात्य ईसाइयों ने, 'फिलिओक', नामक जिस नवीन सिद्धांत का सूत्रपात किया था उसका फोतियस ने कड़ा विरोध किया। तब से पश्चिमी और पूर्वी ईसाइयत का भेद और भी प्रबल हो गया। किन्तु इस शती में इतिहास-लेखन धीमा रहा। दसवीं शती में जब बाइजेन्ताइन साम्राज्य का सूर्य मध्याह्न में पहुँचा तो इतिहास-लेखन में नूतन स्फूर्ति आयी। रोमानस प्रथम लिकेपनस (919–944) का इतिहास एक गुमनाम लेखक ने लिखा। उसी ने 948 तक का विश्व-इतिहास भी लिखा। इसका मूल रूप अब नष्ट हो गया है और स्लाव छाया मौजूद है। लियो दीकन का 'इतिहास के दस अध्याय' 959 से 975 तक का इतिव त्त प्रस्तुत करते हैं और मौलिक सामग्री से परिपूर्ण हैं। इसमें मौलिक लेखों के पर्याप्त उद्धरण मिलते हैं।

9. **कोंस्तेताइन प्सेलोस**—वाइजेन्ताइन परम्परा का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार कोंस्तेन्ताइन प्सेलोस (1018-87) था। उन्होंने अपने काल का प्रामाणिक व त्तान्त प्रस्तुत किया। उनकी विद्वत्ता

फोतियस के समान थी। उनके कार्य को माइकेल अतालियातीस ने जारी रखा। इस लेखक के इतिहास में ग्यारहवीं शती की बहुमूल्य सांस्कृतिक सामग्री मिलती है। जोन सिलितजिस नामक राजकीय कर्मचारी ने थियोफेनिस की 'क्रोनिकिल' को 1081 तक बढ़ाया। सम्राट एलेक्सियस कोमनेनस के दामाद निकेफोरस ब्रिएन्नियस ने कोमनेनी वंश का इतिव त्त लिपिबद्ध किया। उस समय क्रूसेड आरम्भ हो गये थे और एक नवीन युग आ पहुँचा था।

10. **एना कोमनेना**—क्रूसेड युग की नूतन भावनाओं को सम्राट् एलेक्सियस कोमनेनस की पुत्री एना कोमनेना ने अपने प्रसिद्ध इतिहास 'एलक्सियाद' में मुखरित किया। यह लेखिका निकेफोरस की पत्नी थी और अपने पति से कही अधिक प्रतिभाशालिनी थी। इसने अपने पति की कृति को अपूर्व योग्यता के साथ पूरा किया। यह कृति अत्यन्त प्रामाणिक और मौलिक सामग्री का कोश है। उसने कुस्तुनतुनिया में प्रथम क्रूसेड के सैनिकों के अभियान का आँखों-देखा वर्णन किया। पश्चिमी ईसाइयों के प्रति इसे भी घ णा थी। इसने गोदफ्रे द् बुययों और बोहेमों का विरक्तिपूर्ण चित्र खींचा। यह लेखिका मध्यकाल की विलक्षण स्त्री थी। इसी युग में जार्ज केड्रेनस, माइकेल ग्लीकास और जान जोनारास ने भी कोमनेनी वंश के व त्तान्त लिखे।

11. **धर्मयुद्धों (क्रुसेडों) के इतिहासकार**—जान सियानस ने सलादीन (सलाहुद्दीन) के रोमांचकारी युद्धों और यिरोशिलाम की विजय का वर्णन किया। बारहवीं शती के अन्त में माइकेल और निकेतास एकोमिनातस ने इतिहास-लेखन में काफी प्रगति की। इनको एथीनियन परम्परा का अन्तिम प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

1204 में क्रूसेड के योद्धाओं द्वारा कुस्तुनतुनिया की विजय और आधिपत्य के पश्चात् वहाँ के इतिहास-लेखन की परम्परा निकाइया और त्रेवीजोन्द में संक्रांत हो गयी।

मध्यकालीन इतिहास-लेखन : अरबी और फारसी

1. **इस्लाम पर पूर्ववर्ती अरब जगत् का प्रभाव**—इस्लाम का अभ्युदय एक ऐतिहासिक घटना है। 15 जुलाई 622 खी० ब हस्पतिवार को इस धर्म का सूत्रपात हुआ। विश्व के जीवन का यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। अतः मुसलमान इतिहास के प्रति विशेषरूप से जागरूक रहे। अरबी के ग्रन्थ "मफातिह-उल-उलूम" में इतिहास की गणना उन विद्याओं में की गयी है जो मुस्लिम-प्रकृति और प्रतिभा में स्वभावतः बद्धमूल हैं।

इस्लाम पर उसके पूर्ववर्ती अरब जगत् और जीवन का गम्भीर प्रभाव पड़ा। हजरत मुहम्मद से पहले अरब लोगों के घुमन्तू कबीले परस्पर विरोधी थे। इनमें युद्ध, हिंसा और प्रतिकार का भाव व्याप्त था। साथ ही प्रत्येक कबीला अपनी एकता और अक्षुण्णता के प्रति बड़ा सतर्क था। अतः उसके सामूहिक जीवन में वंशावली का बहुत महत्व था। कवि और चारण इन्हें सुरक्षित रखने में दत्तचित्त थे। इन कवियों में इमरूलकैस, अम्र-बिन-कुलतूम, अल-हारित-बिन-हिल्लिजा जुहैर, आमिर-बिन-अत्तुफैल अन्नाबिगह, अल-अशा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उनकी कविताओं में घोर निराशा, अटल नियतिवाद (दहर) और अनियंत्रित दैवी प्रकोप (हवादिस) का वातावरण व्याप्त है। वे सामूहिक चेतना (असबिया) के भाव से ओत-प्रोत हैं। किन्तु हिंसा, संघर्ष और वैमनस्य के इस युग (अय्याम-अल-अरब) में अरब जगत् की भाषात्मक एकता स्थापित हो चुकी थी। मक्का के निकट उकाज् का मेला जो वार्षिक तीर्थयात्रा के अवसर पर आयोजित किया जाता था एक प्रकार का राष्ट्रीय सम्मेलन होता था। इस अवसर पर सब कबीले अपना बैर भूलकर शान्ति के सूत्र में बँध जाते थे। उस समय अरब जगत् के विभिन्न भागों के कवि सात मुअल्लकात सुनाते थे जिन्हें सब लोग समझते थे। उन्हें मिस्त्र के महार्घ क्षौभ पर अंकित करके मक्का में काबा पर लटकाया जाता था। इस प्रकार अरब जातीयता के भाव का श्रीगणेश हो रहा था। यह भाव इस्लाम

में अवतीर्ण होकर एक सार्वभौमिक आदर्श में परिणत हो गया।

2. **हज़रत मुहम्मद के चरित्र में यहूदी एकेश्वरवाद और अरब वंशपरक एकता**—हज़रत मुहम्मद के चरित्र में यहूदी-ईसाई एकेश्वरवाद और प्रचारवाद तथा अरबों की वंश-परक एकता और वैमनस्य का समन्वय हुआ। मदीना पहुँचकर उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि निर्णय-दिवस पर मनुष्य के पार्थिव सम्बन्धों और भौतिक परिस्थितियों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अतः उन्होंने मक्के से आये हुए कुरैश मुजाहिरा और मदीना के अपने अनुयायी अन्सारों को मिलाकर एक कर दिया। यहूदी पूजाग ह ओर इसाई गिरजा की तरह उन्होंने अपने मुहल्ले में मस्जिद बनायी। प्रातः और सन्ध्याकालीन प्रार्थना के बीच में एक मध्याह्नकालीन प्रार्थना का विधान किया। शुक्रवार को सार्वजनिक प्रार्थना की व्यवस्था की। प्रार्थना से पहले स्नान का नियम बनाया। प्रार्थना के समय येरोशिलम की ओर मुख करने का आदेश दिया। मुहर्रम मास की दशमी को उपवास करने की अनुमति दी। वह तिथि यहूदी संवत्सर के प्रथम मास तिशरी की दशमी के समकक्ष थी। किन्तु मदीना में मुहम्मद साहिब को बहुत-से युद्ध करने पड़े। उन्होंने अपने शिविर से 74 आक्रमण किये। इनमें प्राचीन अरबों की जातीय युद्ध-प्रियता प्रस्फुटित हो उठी। बद्र के युद्ध में कुरैश औस और खजराज अपनी-अपनी जातीय पताकाओं को साथ लेकर लड़े। अपनी म त्युशय्या पर मुहम्मद साहिब ने उसामाबिन-जैद को आदेश दिया कि वह मुता के अरबों की बस्ती पर आक्रमण करे और उन्हें पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर दे। वस्तुतः धीरे-धीरे उनके जीवन पर अरब प्रभाव इतनी गम्भीरता से पड़ा कि उन्होंने इसके अनुसार अपनी प्रारम्भिक मान्यताओं का भी परित्याग कर दिया। येरोशिलम की ओर मुख करके प्रार्थना करने के स्थान पर अब उन्होंने मक्का की ओर मुख करके प्रार्थना करने का आदेश दिया। मुहर्रम की दशमी को उपवास करने के बजाय रमजान में उपवास करने का नियम बनाया। मक्के के काबा नामक पूजा स्थान की पवित्रता को स्वीकार किया और उसी के समान मदीना के बाहर मुसल्ला नामक स्थान बनाया। इस प्रकार इस्लाम में अरबों की वंशपरक संकीर्णता और यहूदी-ईसाइयों की धार्मिक विस्तीर्णता का समावेश हो गया।

3. **द्वैत और द्वन्द्व**—इस्लाम में पश्चिमी एशिया की शामी धार्मिक भावनाओं की संगठित शक्ति प्रस्फुटित हो गयी। स्पेंगलर की सारगर्भित कल्पना के अनुसार इस भावना के अनुकूल देश और काल को एक गुफा के रूप में माना गया है, जिसके आदि और अन्त निश्चित हैं और जिसके नियमित विस्तार में प्रकाश की ज्योति अन्धकार की गहनता से निरन्तर संघर्ष करती रहती है। यह प्रकाश और अन्धकार का द्वन्द्व स्वर्ग और नरक, पुण्य ओर पाप तथा फरिश्ता और शैतान के द्वैत का प्रतीक है। ईश्वर अपनी इच्छा से मनुष्य की स ष्टि करता है और मनुष्य का कर्त्तव्य उसकी इच्छा के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण (इस्लाम) करना है। अतः अहंकार और व्यक्तित्व संभ्रान्त भावनाएँ है। समष्टि (इजमा) ही जीवन का केन्द्र है। "ला इस्लाम इल्ला-ब-जमइय्यत हू"-खलीफा उमर का यह वचन इस संस्कृति की अन्तरात्मा को मुखरित करता है। यह जमय्यत भौगोलिक सीमाओं में परिबद्ध नहीं हैं। यह समस्त विश्वासी मनुष्यों का समूह है। इसमें अतीत के म त मुसलमान भी सम्मिलित हैं और इस्लाम से पहले के पुण्यवान् पुरुष भी आ जाते हैं। फरिश्ते, परियाँ और रूह भी इसके सदस्य हैं। समस्त विश्व इसका क्षेत्र है। इसमें धर्म, राष्ट्र, जाति का भेद नहीं है। राज्य केवल इसका प्रत्यक्ष और गौण प्रतीक है। ईश्वर का शाश्वत शब्द अर्थात् शब्द-रूपी ब्रह्म मनुष्य में प्रविष्ट होकर उसकी वाणी द्वारा भाषा का रूप धारण करके जगत् का नियंत्रण करता है। यह "कलाम" शाश्वत्, अमर, अपरिवर्तनीय है।

4. **इस्लामी जमइय्यत की प्रसरण-शीलता**—इस्लामी जमइय्यत निरन्तर प्रगतिशील है। यह प्रगति शान्तिपूर्ण धर्मग्रहण और हिंसापूर्ण संघर्ष दोनों साधनों द्वारा होती है। अतः यहूदियों, ईसाइयों, मज्दाइयों और मानिवादियों की तरह इस्लाम भी धर्म के प्रसार और प्रचार का माध

यम है। जिहाद इसका प्रभावशाली शस्त्र है। तबलीग़ इसका प्रधान उपकरण है। अतः मुहम्मद साहिब के जीवन-काल में ही इस्लाम का अभूतपूर्व प्रसार प्रारम्भ हो गया। उनकी म त्यु से चार वर्ष पूर्व 628 में उनके एक सम्बन्धी ने चीनी सम्राट ताइ-त्सुङ् की सभा में उपहार प्रस्तुत करके अपना धर्मकेन्द्र स्थापित करने की अनुमति माँगी। इनकी म त्यु के 9 वर्ष बाद 651 में मोनाफिजाइट नेस्टोरी धर्मों का पूर्व क्षेत्र इस्लाम की परिधि में आ गया। 717 में इस्लाम कुस्तुनतुनिया के द्वारा पर पहुँच कर यूनानी चर्च को चुनौती दे रहा था। 720 में चीन के शानतुङ् प्रान्त में मस्जिदें बन गयी थीं और 720 में दक्षिणी फ्रान्स के अरबों को दमिश्क से फिरंगियों के देश को जीतने का आदेश मिल गया था। इस प्रकार पैगम्बर की म त्यु से एक शताब्दी बीतने तक ही इस्लाम प्रशान्त से एतलान्तिक तक फैल चुका था।

5. **इस्लामी इतिहास-चेतना**—उक्त स्थापनाओं से इस्लाम के इतिहास-दर्शन का विकास हुआ। मुहम्मद साहब को साक्षात्कार के क्षणों में जिस चिरन्तन सत्ता का आभास हुआ उससे पूरे इतिहास का क्रम चमक उठा। काल का प्रारम्भ स्वर्ग और प थ्वी का निर्माण, स्त्री-पुरूष की स ष्टि, भगवान की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने के कारण दैवी दण्ड और परिणामस्वरूप कष्ट-यातना, पतन के युग का आगमन, पैगम्बरों के रूप में भगवत्सन्देश का पुनः प्रतिपादन और फलस्वरूप सम द्धि, प्रसार, शक्ति और सुख का सम्पादन, ये सब घटनाएँ और प्रक्रियाएँ उन्हें हस्तामलकवत् हो गयीं। कुरान में इन प्राचीन घटनाओं के बारम्बार संकेत और उल्लेख मिलते हैं। प्रलय का व त्तान्त, सोदोम और गोमोरहिं के लोगों की कथाएँ, निष्कासन के समय मिस्रियों की भाग्यावस्था, आद और तमूद के विध्वंस के कथानक, नोह, मूसा हूद, सालिह आदि के अवतरण की चर्चा कुरान में विभिन्न स्थानों पर मिलती है। यही नहीं इसमें स ष्टि के अन्त (मशहर) और दैवी निर्णय (शुमार) के भी ज्वलन्त चित्र मिलते हैं। इस प्रकार इसमें स ष्टि का समूचा इतिहास सुरक्षित है। किन्तु इसमें इतिहास के इस एकेश्वरवादी सार्वभौम द ष्टिकोण के साथ-साथ अरब जातियों के असबियाह को सुरक्षित रखने वाली वंशावलियों की भावना भी सम्मिश्रित हो गयी है। दानकर (ज़कात) व्यक्तियों से नहीं, जातियों से वसूल किया जाता था। समर्पण और धर्म-परिवर्तन का वार्तालाप (वुफ़ूद) 'शिष्टमण्डल' करते थे। खलीफा उमर के समय जब मुहम्मद साहब के पारिवारिकों और सहचरों के वंशजों को व त्तियां देने के लिए और मुस्लिम वीरों में युद्ध और लूट में मिली सामग्री बाँटने के लिए तालिकाएँ (दवावीन) तैयार की गयीं तो उन्हें प्राचीन वंशावलियों के आधार पर बनाया गया। इससे प्राचीन वंशों के इतिहास के अध्ययन को बड़ी प्रेरणा मिली। उमर के वक्त दार-उल-इस्लाम (इस्लामी जगत्) दारउल-हर्ब (युद्ध-जगत्) बन गया और उम्मैया खलीफाओं के समय इसने एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण कर लिया। अतः अरब वंशावलियों की परम्परा सार्वभौम भावना की प ष्ठभूमि में इस्लामी जगत् के इतिहास में परिणत हो गयी।

6. **उमैय्या खलीफाओं के समय का इतिहास-लेखन**—कुरान शरीफ के अपरिवर्तनीय होने के कारण उसकी टीकाओं का प्रचलन बढ़ा। पुरातन परम्पराओं का संग्रह आवश्यक हो गया। प्रारम्भिक खलीफाओं को अपने से पहले के शासकों के कृत्यों और व त्तों में बड़ी रुचि थी। विश्वासी लोग पैग़म्बर और उनके साथियों के जीवन-चरित्र में अपार श्रद्धा रखते थे। दवावीन के तैयार करने के लिए अरबों का वंशगत इतिहास जानना आवश्यक था। दिग्विजय (मगाज़ी) की आश्चर्यजनक प्रगति ने मुस्लिम जगत् में इतिहास की चेतना फूँक दी थी। विजित देश अपनी सांस्कृतिक महानता से अरब जातीयता को नीचा दिखाने की फिक्र में थे। इससे इतिहास को बड़ी प्रेरणा मिली। दक्षिणी अरब लेखक आबिद-इब्न-शरयह ने मुवाविया के निमंत्रण पर दमिश्क जाकर अरब की जातियों और राजाओं का इतिहास लिखा। उनकी एक कृति "किताब-अल-मुलूक" व "अखबार-उल-माजीन" मसूदी के समय तक प्रचलित थी। इसी समय यमन-निवासी एक फारसी यहूदी वाहब-इब्न-मुनब्बिह ने जो इल्म-अल-अवायल

(उत्पत्ति-विज्ञान) का माहिर था। "अल-तीजान-फी-मूलूक-हिमयार" नामक ग्रन्थ लिखा। इस काल में कब-अल-अहबार नामक यमन के एक और यहूदी ने भी ग्रन्थ-रचना की।

7. **अब्बासी खलीफाओं के समय का इतिहास-लेखन**—धीरे-धीरे इस्लामी जगत् में खुरासानी मवालियों का जोर बढ़ गया। ये लोग अरबवाद के विरुद्ध थे। इनके आन्दोलन के फलस्वरूप उमैय्या वंश का अंत हो गया और अब्बासी खलीफाओं के युग का आरम्भ हुआ। दमिश्क के स्थान पर बगदाद राजधानी बन गया। यह एक सार्वजनिक नगर था जहाँ सब देशों के लोग मिलते थे। अतः सांस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत बढ़ा इससे इतिहास को एक नवीन प्रेरणा मिली। कूफा से हिशाम-अल-कल्बी ने इस्लाम से पहले के अरब जगत् का इतिहास लिखा। मदीने के इब्न-इशाक ने जिनके बाबा यसार को खालिद बिन वलीद ने इराक में पकड़ कर ईसाई से मुसलमान बनाया था, हजरत मुहम्मद का प्रसिद्ध जीवनचरित "सीरात रसूल-अल्लाह" लिखा। यह कृति इब्न-हिशाम के संस्करण में हमारे सामने उपलब्ध है। इसी समय मूसा-इब्न-उक़बाह (758) और अलवाक़िदी (822-23) ने इस्लामी दिग्विजय (मगाजी) और पैगम्बर व उनके साथियों के इतिहास लिखे। 870 में मिस्र के लेखक इब्न-अब्द-अल-हक़म ने "फुतूह-मिस्र व-अखबारूह" में मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन की विजय का इतिहास लिखा और 892 में फारस के लेखक अहमद-इब्न-यला-अल- बलाजुरी ने "फुतूह-अल-बुलदानु" और "अन्साब-उल-अशराफ" में विभिन्न नगरों और देशों की विजय के विकीर्ण व त्तान्तों को एकत्रित और समन्वित किया। धीरे-धीरे इतिहास-लेखन की शैली में विकास हुआ। क्रमबद्ध इतिहास का श्रेष्ठ निदर्शन मुहम्मद-इब्न-मुस्लिम-अल दिनावरी (889) की किताब-अल-मारिफ है, उनके समकालीन अबू हनीफा-अहमद-इब्न-दाऊद-अल-दिनावरी (895) का ग्रन्थ "अल-अखबार-अल-तिवाल" फारसी द ष्टिकोण से लिखा हुआ एक प्रकार का विश्व इतिहास है। 872 में प्रसिद्ध भौगोलिक और इतिहासकार इब्न-वाजीह-अल याकूबी ने शिया सम्प्रदाय के आकर-ग्रन्थ "तारीख" की रचना की। 691 के लगभग हमज़ाह-अल-इस्फाहानी ने "तारीख-सिनी-मुलूक-अल-अर्ज़-ब-अल-अनबिया" लिखा जो आलोचनात्मक द ष्टि से लिखा हुआ श्रेष्ठ इतिहास-ग्रन्थ है। 1030 में मिस्कक्याह ने 980 तक का सम्पूर्ण इतिहास अपने ग्रन्थ "तजारिब-अल-उमाम" में प्रस्तुत किया। इस युग का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार अबू-जाफर-मुहम्मद- इब्न-जरीर-अल-तबरी (839—923) है। इसका प्रसिद्ध इतिहास "तारीख-अल-रसूल-वल-मुलूक" एक उत्कृष्ट कृति है। इसमें काल-क्रमात्मक पद्धति से परम्पराओं की अक्षुण्णता (इसनाद) के आधार पर 915 तक का पूर्ण इतिहास लिपिबद्ध है। तबरी ने प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त शेखों की मौखिक परम्पराओं और अपनी यात्राओं द्वारा उपलब्ध किंवदन्तियों और सूचनाओं का भी प्रयोग किया। तबरी ने घटनाओं को तिथिक्रम से संग हीत किया। एक तिथि से सम्बन्धित समस्त घटनाओं को तिथिक्रम से संग हीत किया। एक तिथि से सम्बन्धित समस्त घटनाओं को एक ही जगह एकत्रित कर दिया। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन पद्धति के साथ-साथ फारसी के "खुदाये-नामे" की शैली का भी अनुसरण किया जिसका अरबी अनुवाद इब्न-अल-मुकफ्फा ने "सियार-मुलूक-अल-अजम" के नाम से प्रकाशित किया था। उनकी कृति में "सीराह" (जीवनी), "मगाजी" (विजय) "अन्साब" (वंशावली) और "तबकात" (वर्गीकृत-चरित्र चित्रण) की चारों शैलियों का समन्वय मिलता है। साक्ष्य के निर्धारण की पुरानी "इसनाद" की पद्धति भी है। इसी समय अबुलहसन-अली-अल-मसूदी (956 ई०) ने अपने ग्रन्थ "मुरूज-अल-जहाब-क-मादीन-अल-जौहार" में इतिहास-लेखन की एक नयी शैली का सूत्रपात किया। उन्होंने तिथियों के अनुसार घटनाओं का संकलन न करके वंशों, राजाओं और जातियों के द ष्टिकोण से उनका निबन्धन किया। यह शैली तबरी की शैली से भिन्न थी। यह लेखक मुतज़िला सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता था जिसमें "बद्र" के इस्लामी सिद्धान्त को चरम सीमा तक ले जाकर मनुष्य की

इच्छा शक्ति की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया था। इस लेखक ने प्रकृति, मनुष्य, वनस्पति, पशु, धातु आदि के विषय में अपने सिद्धान्त अपने ग्रन्थ "अल-तनबीह-वल-इशराफ" में संग हीत और लेखबद्ध किये। उनके अनुसार जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति और प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य और जाति के जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। उन्होंने धर्म (दीन) और राज्य (मुल्क) के पारस्परिक सम्बन्ध की भी गम्भीर गवेषणा की और इनके पतन की प्रक्रिया पर अपने विचार प्रकट किये। उनके मतानुसार किसी देश या जाति की शासन-व्यवस्था ध ार्मिक विश्वास, आर्थिक परिस्थिति, सहजात स्वभाव और पड़ोसियों के प्रभाव, इन चार तत्वों पर आधारित होती है। इस युग का एक और प्रसिद्ध इतिहासकार इज्ज़-अल-दीन इब्न-अल-असीर (1160-1234 ई०) है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "अल-कामिल-फि- अल-तारीख तबरी के ग्रन्थ का संक्षेपमात्र है। इसमें घटनाओं का क्रम 1231 तक आ गया है। ईसाई धर्म-युद्धों से सम्बन्ध रखने वाले भाग इब्न-अल-असीर की मौलिक रचना है। इब्न-अल-असीर मंगोल आक्रमणकारियों के आतंक से परिचित थे और उन्होंने इसका रोमांचकारी चित्रण किया है। वे घटनाओं के पारस्परिक कार्य-कारण-सम्बन्ध में विश्वास रखते थे। अतः उन्होंने मंगोल आक्रमण की सफलता को अलाउद्दीन ख्वारश्शाह की भूलों पर आरोपित किया। ब्राउन के शब्दों में वे एक शान्त और गम्भीर निरीक्षक थे।

8. **फारसी सांस्कृतिक उत्थान और इतिहास-लेखन**—अरबों की ईरान-विजय के पश्चात् ईरान में एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर दौड़ गयी। इसी समय फारसी भाषा साहित्य का माध्यम बनी। कहा जाता है कि अब्बास नामक एक कवि ने 808-9 में खलीफा अल-मामून के मर्व आने के अवसर पर फारसी में एक क़सीदा लिखा। 875-76 में एक कवि ने फारसी में एक पद्य लिखकर अहमद-अल-खुजिस्तानी को सफ्फारी वंश के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया। बुवई, सामानी जियारी वंश के ईरानी थे। उनके राज्यकाल में खुरासान, तबरिस्तान और दक्षिणी फारस संस्कृति के केन्द्र थे। सुल्तान महमूद ने फारसी को बड़ा प्रोत्साहन दिया। फिरदौसी का शाहनामा इस फारसी उत्थान का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। निज़ामुलमुल्क (1017-1092) का "सियासतनामा" फारसी-गद्य का उत्कृष्ट नमूना है। मंगोल आक्रमण के बाद फारसी का महत्व और भी बढ़ गया और यह इतिहास का माध्यम भी बन गयी। इन फारसी इतिहासकारों का द ष्टिकोण बड़ा विस्त त और गम्भीर था।

9. **मंगोल आक्रमण और साम्राज्य**—मंगोल आक्रमण से इतिहास के अध्ययन और लेखन की दिशा बदल गयी। 13 फरवरी, 1258 को हुलाकू ने बगदाद का घेरा डाल दिया जो एक सप्ताह तक रहा। 800,000 निवासी मौत के घाट उतारे गये और कला, साहित्य और संस्कृति के अगणित कोश नष्ट-भ्रष्ट किये गये। खलीफा अल मुसतसीम बिल्ला को एक दरी में लपेट कर दण्डों से पीट-पीट कर माल डाला गया। अतः इस्लाम की अजेयता का स्वप्न भंग हो गया और मुस्लिम जगत् में एक भयंकर आतंक छा गया। सब लोग आश्चर्य से भर गये कि अरबी घोड़ों पर चढ़े हुए कवचधारी प्रशिक्षित सैनिक गधों जैसे टट्टुओं पर चढ़े हुए और तकली-जैसे भाले घुमाते हुए वस्त्र-कवच-हीन मंगोलों के सामने परास्त होकर क्षण भर में कालकवलित हो गये। फलकुद्दीन मुहम्मद बिन एदीमिर ने जब यह व त्तान्त अपने मित्रों को सुनाया तो वे आश्चर्य से भर गये। इस व त्तान्त को जलालुद्दीन अबू जाफर मुहम्मद बिन ताजिद्दीन अबिलहसन अली इब्न-अल-तिक्तिक़ा ने अपनी किताबुल-फखरी में उध त किया है। इस लेखक के सामने और इसके समाज के सामने यह प्रश्न था कि इस्लामी खिलाफत जो सिर-दरया और काकेशस से एतलान्तिक और अरब और हिन्द सागर तक के विशाल प्रदेश पर आधिपत्य किये हुए थी, कैसे असभ्य, बर्बर मंगोलों के हाथों नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने 622 से 1258 तक इस्लाम का संपूर्ण इतिहास लिखा, जिसमें तात्कालिक समाज को यह दिखाया गया है कि इस्लाम के उषाकाल में कितना ओज, तेज और उत्थान था।

10. **अलाउद्दीन अता मलिक जुबैनी**—इस काल में समाज का ध्यान मंगोलों की ओर भी गया। उनका इतिहास सबके लिए एक पहेली थी। अतः अलाउद्दीन अता-मलिक जुबैनी (1226-83) और फज्लुल्लाह रशीदुद्दीन तबीब अबुलखेर हमदानी (1247-1318) ने मंगोलों का इतिहास लिखकर यह कमी पूरी की। जुबैनी के पितामह और पिता ख्वारज्मी राज्य के प्रधानमन्त्री (वजीर) और वित्तमन्त्री (मुस्तौफीलममालिक) थे। उनका भाई शमसुद्दीन हुलाकू और उसके दो परवर्ती खानों के समय साहिबे-दिवान था। उन्होंने 20 वर्ष की आयु में अरघून की ओर से खुरासान के शासन में भाग लिया था। फिर वे हुलाकू के साथ मध्य और पश्चिमी ईरान में इस्माइलियों के युद्धों में रहे और इराक में अरबों का विनाश भी उनके सामने हुआ। 1259 में हुलाकू ने उन्हें बगदाद का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। इस लेखक ने मंगोलों के प्रलंयकारी आक्रमणों का द श्य देखा था। बुखारा के विध्वंस का वर्णन करते समय वे केवल क्रियाओं की झड़ी लगा देते हैं। "वे आये, उन्होंने उखाड़ा, जलाया, कत्ल किया, वे चले गयें" (आमदन्द व कन्दन्द व सुख्तन्द व कुशतन्द व बुर्दन्द व रफ्तन्द) वह वाक्य उस गम्भीर प्रभाव का परिचायक है जो मंगोलों ने मुसलमानों के मनःपटल पर अंकित कर दिया। अतः जुबैनी ने अपनी तारीखे-जहांगुशा में मंगोल इतिहास को ईरान और ईराक की प ष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—पहले में चिंगिस् खाँ तक मंगोलों का इतिहास है, दूसरे में ख्वारज़्मशाही वंश का व त्तान्त हैं और तीसरे में अलामूत के इसमाइलियों की तथा उनके विनाश की कथा है।

11. **फजलुल्लाह रशीदुद्दीन तबीब अबुलख़ैर**—रशीदुद्दीन भी मंगोल राज्य के एक उच्चाधिकारी थे। अबाका खाँ (1265-82) के राज्यकाल में उन्होंने चिकित्सक का पद ग्रहण किया और गाज़ान खाँ (1295-1304) ने उन्हें महामन्त्री बना दिया। उलजैतु खुदाबन्दा (1305-16) के राज्यकाल में भी वे उस पद को सुशोभित करते रहे। किंतु अबू-सईद-खाँ के सिंहासन पर आते ही उन्हें तथा उनके पुत्र इब्राहिम को 18 जुलाई 1318 को प्राणदण्ड दे दिया गया। गाज़ान खाँ के संकेत पर उन्होंने तुर्कों और मंगोलों का इतिहास "तारीखे-गाज़ानी" लिखा और उलजैतु के आदेश पर विश्व का इतिहास "जामी-उत-तवारीख" लिखा। प्रथम ग्रन्थ उनकी रचना के पहले दो भागों तक है और दूसरा ग्रन्थ शेष दो भागों में है। इस दूसरे ग्रन्थ के दो भाग हैं-एक विश्व-इतिहास और दूसरा विश्व-भूगोल। यह दूसरा भाग विश्व-भूगोल प्राप्त नहीं है। विश्व-इतिहास के 4 भाग हैं—पहिले तीन में ईरानी और अरब जगत् का इतिहास है। चौथे में तुर्क, चीनी, यहूदी, फिरंगी और हिन्दू जगत् का इतिहास है। इतिहास का यह विश्व-व्यापी द ष्टिकोण सर्वप्रथम इस लेखक की कृति में द ष्टिगत होता है।

मंगोलकालीन ईरान एक प्रकार से संस्कृतियों का संगम बन गया था। वहाँ चीनी, कश्मीरी, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, फिरंगी, आदि बहुत-से देशों और धर्मों के लोग आ बसे थे। इन लोगों का सम्मिलन और सम्मिश्रण विश्वसंस्कृति को मंगोलों की विशेष देन है। 1272 में कुबिलाई खाँ ने चीन में फानचिङ् के घेरे में दो फारसी इंजीनियरों, अलाउद्दीन और इस्माइल, से काम लिया था। इसी प्रकार 1291 में हुलाकू ने फारस और बगदाद के युद्धों में एक हजार चीनी इंजीनियरों से तोपखाने और गुलेल चलाने का काम लिया था। यह लक्ष्य करने की बात है कि 1249 में चीनी ज्योतिषियों ने नसीरुद्दीन तूसी को ज़ीज तैयार करने में मदद दी थी। कश्मीर में मंगोलों ने एक आक्रमण तोउगुदाई खाँ के जमाने में उकुतू नोयोन के नेत त्व में किया और दूसरा मंगू खाँ के युग में सालीनोयोन और तकूदार के नेत त्व में किया। राजदेव, रामदेव, लक्ष्मदेव, सिंहदेव, सहदेव आदि के काल में कश्मीर पर मंगोलों का आधिपत्य था। अतः वहाँ के बौद्ध ईरान में जा बसे थे। यह बड़े महत्व की बात है। कि इन बौद्धों के प्रभाव के कारण हुलाकू ने स्वयं बौद्ध शासन में दीक्षा ली थी। इस वातावरण में यह स्वाभाविक था कि उस युग के इतिहासकार का द ष्टिकोण सार्वभौम हो। अतः हम देखते है कि रशीदुद्दीन ने सब से

पहला विश्व-इतिहास प्रकाशित किया। चीन का इतिहास लिखने में उन्हें दो चीनी विद्वान ली-ता-ची और मक-सुन से सहायता मिली। भारत का इतिहास लिखने में उन्हें कश्मीर के बौद्ध विद्वान कमलश्री से बहुमूल्य सूचनाएँ मिलीं। यूरोप का व त्तान्त लिखने में सम्भवतः पीसा का व्यापारी इओलुस उनका सहयोगी बना। मंगोलों के विषय में उन्हें गाज़ान खाँ के अतिरिक्त पूलाद चिङ्चाङ् से महत्वपूर्ण परामर्श मिला। इस प्रकार वे विश्व-इतिहास की कल्पना करने और उसे मूर्त रूप देने में सफल हो सके। उनकी द ष्टि में एशिया के रंगमंच पर मंगोलों का अवतरण ऐसी ही घटना थी जैसे सातवीं शताब्दी में इस्लाम का आगमन। उन्होंने लिखा है–

"प्रत्येक नये धर्म का राज्य का आविर्भाव एक विशिष्ट युग के आगमन का सूचक होता है। (इबतदा-ए-हर मिल्लते व हर दौलते तारीखे मोइय्यन बाशद) अतः चिंगिस् खाँ के वंश के अभ्युदय से अधिक महत्वपूर्ण और स्मरणीय और कौन-सा तथ्य या घटना हो सकती है जिसे नवीन युग का सूचक चिन्ह समझा जा सके। वस्तुतः इस सम्राट ने थोड़े-से वर्षों के भीतर संसार के बहुत से राज्यों को जीत लिया। दुर्दभ्य जातियों की एक बड़ी संख्या को परास्त और ध्वस्त कर दिया। जब चिंगिस खाँ, उनके अभिजात वंशजों और महान् संतान को चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त हुआ तो विश्व के सब देश चीन और माचीन (दक्षिणी चीन), खिताई (उत्तरी चीन), हिन्द और सिन्द, मुगलिस्तान, तुर्किस्तान, शाम, रूम, आस (अलैन), रूस, सिरकास, किपचक्, कलार, बशकीर, एक शब्द में चारों दिशाओं के सब देश उनकी आज्ञा के अधीन हो गये। चिंगिस खाँ ने संसार को एक समान रूप देकर सबके हृदय में समानता का भाव भर दिया।"

"अब चूंकि विश्व एक छोर से दूसरे छोर तक या तो हमारे या चिंगिस खाँ के अन्य वंशजों के अधीन है, अतः परिणामस्वरूप सब धर्मों और सम्प्रदायों (अदयान व मिलेल) के दार्शनिक, ज्योतिषी, विद्वान् और इतिहासज्ञ (हुकमा व मुनज्जिमान व अरबाबे-दानिश व असहाबे-तवारीख) जो खिताई, प्राचीन हिन्द, कश्मीर, तिब्बत, युगुर व अन्य जातियों, जैसे तुर्क, अरब, फिरंगी से सम्बन्धित हैं, बहुत बड़ी संख्या में हमारे नेत्रों के सामने हैं और हर एक के पास ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें देशों का इतिहास, कालक्रम और धार्मिक विचार लिपिबद्ध हैं और वे इन विषयों से परिचय भी रखते हैं।"

अतः इस इतिहासकार ने मुस्लिम तटस्थता और स्वाभिमान के भाव को दूर करके अन्य जातियों की प्रामाणिक परम्पराओं को स्वीकार करते हुए एक महान विश्व-इतिहास की रचना की। रशीदुद्दीन के बाद नसीरूद्दीन-अल-बैदावी अबू-सुलैमान-दाऊद-अल-बनाकती और मिनहाज-अल- सिराज ने इस परम्परा को आंशिक रूप में जीवित रखा।

ईसाई धर्म-युद्धों (क्रूसेडों) ने भी इस्लामी इतिहास-लेखन का क्षेत्र विस्त त किया। सिब्त-इब्न-अल-जौज़ी (1186–1257) अलेप्पो-निवासी बहाउद्दीन (1148–1234) जो सलादीन तुर्क के जीवनचरित्रकार थे, उसाम-इब्न-मुनकीज़ (1095–1188) और अबूशाम (1203–68) आदि इतिहासकारों ने फिरंगियों और मुसलमानों के सामरिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों पर यथेष्ट प्रकाश डाला।

12. **अन्दलूसी और मगरिबी इतिहास-लेखन**—इस्लाम के अन्दलूस (स्पेन) पहुँचने के बाद वहाँ भी इतिहास-लेखन का प्रचुर प्रचलन हुआ। अबू-वक्र-इब्न-उमर (977) ने, जो इब्न-अल-कूतिया के नाम से प्रसिद्ध हैं "तारीख इफ्तिताह-अल-अन्दलूस" में मुस्लिम विजय से अब्दुर्रहमान त तीय तक के राज्यकाल का इतिहास लिखा। कोरदोवा के अबू-मरवान-इब्न-खलफ (988–1076) ने जो इब्न हैय्यान के उपनाम से प्रख्यात हैं, "अल-मुक्तबिस-फी-तारीख-रिजाल-अल-अन्दलूस" लिखा। मुवह्हिद युग के सब से प्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुलवाहिद अल-मर्राकुशि

थे। जिन्होंने 1224 में "अल-मुजीब-फी-तलखीस-अखबार-अल मगरिब" की रचना की। इस प्रदेश के अन्य लेखकों में अबुल-वलीद अब्दुल्लाह-इब्न-मुहम्मद, अल-फरजी, अबुल-क़ासिम-ख़लफ-इब्न-अब्दुल- मालिक- इब्न-वशकुवाल, अबू-अबुदुल्लाह मुहम्मद इब्न-अल-अब्बार और अबू-जफर-अहमद- इब्न यहा-अल- जब्बी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने क्रमशः "तारीख उलमा-उल अन्दलूस" "अल-सिलह-फी-तारीख-एम्मत- अल-अन्दलूस" "अल-तकमिलाहली-किताब-अल-सिलाह" और बुग़यात-अल-मुलतामिस-फी तारीख-रिजाल-अल-अन्दलूस" की रचना की। ये सब ग्रन्थ जीवन-चरित्र-लेखन के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। ज्ञान-विज्ञान के इतिहास में अबुल-कासिम-सईद-इब्न-अहमद अल तुलैतुली (1029–70) का "तबकात-अल-उमाम" प्रसिद्ध है। स्थानीय इतिहासों मे लिसान-अल-दीन इब्न-अल-खतीब (1313–74) का "अल-इहातह-फी- अखबार-घरनातह" जिसमें ग्रानादा का क्रमबद्ध इतिव त्त मिलता है एक आदर्श कृति है। पश्चिमी इस्लाम का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार और दार्शनिक अबुज़ैद अब्द-अल-रहमान इब्नखल्दून अल हद्रामी (1332–1406) हैं जिन्होंने अपनी विख्यात रचना "किताब-अल-इबर व दीवान-अल-मुबतदा- वलखबर-फी-अय्याम-अल-अरब-वल-अजम-वल-बर्बर" में मुस्लिम जगत् विशेषतः मगरिब (अल्जीरिया, ट्यूनिस और मौरक्को) का प्रामाणिक इतिहास लेखबद्ध किया और इसकी प्रस्तावना (मुकद्दमात) में इतिहास-दर्शन का अभूतपूर्व प्रतिपादन किया।

13. **इब्दुर्रहमान इब्न खल्दून अल हद्रामी**—इब्न-खल्दून का जन्म ट्यूनिस में 1332 में हुआ। इनका परिवार दक्षिणी अरब से स्पेन में आकर बस गया था। इस परिवार के सदस्यों ने उमैय्या, अल-मुराबितून और अल-मुवा हिहदून वंशों के राज्यकाल में प्रशासन के कार्यकलाप में प्रमुख भाग लिया था। किन्तु तेरहवीं शताब्दी में स्पेन पर ईसाइयों के आक्रमण के फलस्वरूप इनको सेविल छोड़कर अफ्रीका आना पड़ा। वहाँ उनका बड़ा आदर-सम्मान हुआ। बीस वर्ष की आयु में ही इब्न-खल्दून मोराक्को में फेज सुल्तान के मंत्री बन गये। किन्तु सुल्तान की कृपा हट जाने से उन्हें दो वर्ष का कारावास भोगना पड़ा। 1368 में इब्न-खल्दून स्पेन चले गये और उन्होंने ग्रानादा-नरेश के यहाँ नौकरी कर ली। इस शासक ने उन्हें कास्तिल के राजा पेद्रो के यहाँ भेजा। इस ईसाई नरेश ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनको यहाँ नियुक्त कर लिया। किन्तु वहाँ उन्हें यह सन्देह हुआ कि प्रधानमन्त्री उनसे ईर्ष्या करने लगे हैं। अतः स्पेन छोड़कर पुनः अफ्रीका लौट आये और अल्जीरिया में बूगी के सुल्तान ने उन्हें प्रधानमन्त्री का पद सौंप दिया। इसके बाद इब्न खल्दून ने क्रमशः कई राजाओं के यहाँ कार्य किया, कई बार मोरक्को से स्पेन आये गये और अल्जीरिया की बद्दू जातियों के विरुद्ध आक्रमण किये। 1276 में इब्न-खल्दून कलात-इब्न सलमा के किले में चले गये और वहाँ उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। 4 वर्ष बाद वे ट्यूनिस चले आये और वहाँ उन्होंने अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ किया। किन्तु वहाँ उनके पाण्डित्य को देखकर सभासदों और मुल्लाओं की भ कुटी तन गयी। अतः उन्होंने मक्का हज के लिए जाने का निश्चय कर लिया और 1382 में सिकन्दरिया के लिए प्रस्थान किया। मिस्त्र में काहिरा का वैभव देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। वहाँ उन्हें मामलूक सुल्तान के अनुग्रह से पहले प्राध्यापक का और पीछे मुख्य न्यायाधीश का पद मिल गया। वहाँ उन्होंने भ्रष्टाचार दूर करने का प्रयत्न किया। फलतः उनके विरुद्ध राजकीय कर्मचारियों का एक भयंकर आन्दोलन खड़ा हो गया। इसी बीच में पोत-भंग के कारण उनका समस्त परिवार जो ट्यूनिस से मिस्त्र आ रहा था समुद्र के अर्पण हो गया। सुल्तान ने भी उन्हें उनके पद से हटा दिया। अतः वे 1387 में मक्का चले गये और फिर वापस मिस्त्र आ गये। 1400 में मामलूक सुल्तान उन्हें दमिश्क ले गया। वहाँ तैमूरलंग का आतंक छाया हुआ था। मामलूक सेनाएँ पीछे हट गयीं और सुल्तान ने इब्न-खल्दून को और लोगों के साथ रस्सी से बांधकर किले की दीवार पर से नीचे लटका

दिया जिससे वे तैमूर के साथ संधि की बात कर सकें। तातारी विजेता उनकी विद्वत्ता से बड़ा प्रभावित हुआ और जब उन्होंने अपने इतिहास से उसके वंश के विषय में व त्तान्त सुनाये तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। मिस्त्र लौटने पर इब्न-खल्दून फिर मुख्य न्यायाधीश बन गये और वहाँ 1406 में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके जीवन-चरित को श्मित महाशय ने अपनी उत्कृष्ट शैली में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है–

"उनका सक्रिय और उद्वेलित जीवन उन्हें पश्चिम में पेद्रो और पूर्व में तैमूर के सम्पर्क में लाया। यह उन्हें बर्बरों की कुटियों, राजाओं के प्रासादों, अपराधियों के कारागारों और न्याय के उच्चतम भवनों में ले गया। इसके कारण निरक्षर लोगों से उनकी मित्रता हुई और विद्वानों की परिषदों में उनका प्रवेश हुआ। इसके फलस्वरूप उन्होंने अतीत के कोणों में प्रवेश किया और तात्कालिक कार्यकलाप में भाग लिया। इससे उन्हें दुःख और दरिद्रता का साक्षात्कार करना पड़ा और सुख और सभ्यता का आनन्द लेने का अवसर मिला। यह उन्हें उन गम्भीर धरातलों पर ले गया जहाँ मनुष्य की आत्मा जीवन के अर्थ को खोजने लगती है।

14. **इब्न-खल्दून का युग**–इब्न-खल्दून का काल बड़ा अशान्त, अव्यवस्थित और अनियंत्रित था। गातीए ने उसे "इतिहास का सहारा" कहा है। इस पर विद्रोह, वैमनस्य तथा अविश्वास का साम्राज्य था। बून हिलाल और बनू सुलैम ने मग़रिब (पश्चिमी उत्तरी अफ्रीका) में विनाश और विध्वंश की ताण्डवलीला प्रारम्भ कर दी थी। इब्न-खल्दून ने लिखा है कि वह अधःपतन का युग था। मग़रिब की स्थिति में एक भयंकर परिवर्तन हो रहा था। इतिहास करवट ले रहा था और एक नवीन स ष्टि का श्रीगणेश होने के लिए पुरातन विधान का विघटन हो रहा था। स्पेन की मुस्लिम संस्कृति मरणासन्न थी। ईसाईयों की विजय बराबर बढ़ती जा रही थी। अल्जीरिया में बद्दू, अरबों ने जीनेत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। ऐसे वातावरण में इतिहास का क्रियात्मक रूप इब्न-खल्दून के मनःपटल पर अंकित हो गया। साम्राज्य और संस्कृति के उत्थान-पतन के यांत्रिक चक्र ने उनकी मनन-पद्धति पर अमिट छाप डाल दी। सूफी इब्न अबी वातिल ने सिद्ध कर दिया था कि इतिहास में तीन युगों का व त्त चलता है; 1—पैगम्बर का युग, 2—खिलाफत का युग, 3—जूठ (दजल) का युग। अतः खिलाफत की समापित पर जूठ का आधिपत्य छा गया था। इन परिस्थितियों में इब्न-खल्दून ने संसार को एक नवीन इतिहास-दर्शन और समाज विज्ञान प्रदान किया।

15. **इब्न-खल्दून का नवीन इतिहास-दर्शन और उसके मौलिक सिद्धांत**–इब्न-खल्दून की एक विस्त त और समाज-शास्त्रीय परिभाषा प्रस्तुत की। उनके मतानुसार "इतिहास मानव समाज का, विश्व-संस्कृति का, सामाजिक परिवर्तनों का, उदाहरणार्थ बर्बरता, सामाजिकता और सामूहिकता का, एक जाति का दूसरी के विरुद्ध क्रान्ति और विद्रोह का जिसके फलस्वरूप राज्यों और राष्ट्रों और उनके विभिन्न अंगों का प्रादुर्भाव होता है, मनुष्यों के विभिन्न कार्यों और व्यवसायियों का, चाहे वह जीविकापार्जन के निमित्त हो अथवा विभिन्न कलाओं और विज्ञानों के लिए और सामान्यतः उन सब परिवर्तनों का, जो स्वभावतः समाज के स्वरूप में प्रकट होते हैं, व त्तान्त हैं।"

इब्न-खल्दून ने इतिहास को भी वैसी ही वैज्ञानिकता प्रदान की जैसी अनय विद्याओं को प्राप्त हो चुकी थी। इस अध्ययन के लिए उन्होंने कुछ मौलिक सिद्धान्त निर्धारित किये 1—सामाजिक कार्यकलाप कुछ नियमों के अधीन हैं जो प्राकृतिक नियमों की तरह अटल न होते हुए भी इतने स्थायी है कि उनके फलस्वरूप सामाजिक घटनाओं में निश्चित क्रम, गति और स्वर रहते हैं। 2—इन नियमों की प्रक्रिया और प्रभाव जन-समूहों में व्यक्त होते हैं। प थक व्यक्तियों से उनका कोई लगाव नहीं होता। 3—ये नियम बहुत बड़ी संख्या में तथ्यों को एकत्रित करके उनके संबंधों और समानताओं की गवेषणा से निर्धारित किये जा सकते हैं।

प्राचीन धटनाओं के अध्ययन और वर्तमान तथ्यों के अन्वेषण द्वारा यह गवेषणा सम्भव होती है। 4—एक रूप और विधान के विभिन्न समाजों में एक ही श्रेणी के नियम कार्यशील रहते हैं चाहे वे देश और काल के अन्तराल में एक दूसरे से दूर भी हों। अरब, बद्दू, तुर्कमान और कुर्द घुमन्तू समाज के समान नियमों का अनुसरण करते हैं। 5—समाज स्थावर नहीं होते। उनके भीतर विकास, परिवर्तन और गति होती है। विभिन्न जनों और जातियों की पारस्परिक क्रिया से यह गति संचालित रहती है। 6—ये नियम प्राकृतिक तथ्यों और जीवन की प्रव त्तियों के प्रतिबिम्ब-मात्र न होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। यद्यपि जातियों के विकास पर भोजन, जलवायु, देश आदि वातावरण संबंधी तथ्यों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। तथापि कुछ विशुद्ध सामाजिक तत्वों का, उदाहरणार्थ असबिया (सामूहिकता), व्यवसाय, अर्ध आदि का उसपर विशिष्ट नियंत्रण रहता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न जातियों के विशेष गुण भी, उदाहरणार्थ बद्दू, अरब की स्वतंत्रता और यहूदी की चालाकी, अपना विशेष महत्व रखते हैं। सामाजिक प्रक्रिया में अनुकरण की प्रव त्ति का भी बड़ा स्थान है। विजित जातियाँ प्रायः विजेता लोगों की रीति-नीति का अनुकरण करती हैं। इस प्रकार हम देखते है कि इब्न-खल्दून ने समाज-शास्त्र के मौलिक सिद्धानतों का अन्वेषण और प्रतिपादन किया। उनकी उपर्युक्त स्थापनाएँ वर्तमानकालीन समाजविज्ञान के समुन्नत सिद्धान्तों से टक्कर लेती हैं। उनका वैज्ञानिक, आलोचनात्मक और परीक्षणपरक द ष्टिकोण आज की गवेषणा के उच्चतम आदर्शों से मेल खाता है।

16. **"असबिया" की भावना**—इब्न-खल्दून के मतानुसार समाज का स्वरूप और संस्थाएँ सामूहिकता (असबिया) से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य का जीवन सामाजिक कार्य-कलाप से निष्पन्न है। भयंकर जीवों और प्राकृतिक प्रकोपों से अपनी रक्षा करने के लिए और अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन अनिवार्य है। किन्तु उसकी वैयक्तिक जिघ क्षा और जिघांसा को रोकने के लिए सामाजिक बन्धनों और शक्तियों की आवश्यकता है। राज्य ऐसा ही एक बन्धन है। आरम्भ में समाज और राज्य में कोई भेद नहीं होता। समाज की मान्यताएँ स्वयमेव उसे संतुलित रखती हैं। किन्तु धीरे-धीरे व्यक्तियों की लिप्सा-लोलुपता बढ़ने पर राज्य का विधान दुर्दान्त शक्ति के द्वारा नियन्त्रण-कार्य करने के लिए आविर्भूत होता है। इस प्रकार इब्न-खल्दून राज्य को समाज का ही एक स्वरूप मानते हैं। इसका उद्‌गम असबिया है। असबिया रक्त-संबंध, सामूहिक भावना, पारस्परिक निकटता और आदान-प्रदान से उत्पन्न होता है। धर्म असबिया को द ढ़ करने का एक सफल साधन है। यह राज्य की द ढ़ता का एक शक्तिशाली माध्यम है। इब्न-खल्दून के उक्त विचार वर्तमान समाजशास्त्री दीरोबर्टी, इजूले, द्राधिस्को, कूल, दुरखाइम आदि के "सामाजिकतापरक सम्प्रदाय" (सोसियोलोजिस्टक स्कूल) के मतवाद से मेल खाते हैं। उनके अनुसार विचार, विज्ञान आदि मानसिक विकास के स्वरूप सामाजिक परिस्थितियों से निष्पन्न होते हैं। एसपीनास के शब्दों में व्यक्ति समाज का निर्माता नहीं है, वरन् इसकी उपज हैं।

17. **समाज की शारीरिक व्याख्या**—इब्न-खल्दून के मतानुसार समाज भी शरीरियों की तरह विकसित, प्रौढ़ और क्षीण होकर अपना निश्चित जीवनकाल व्यतीत करते हैं। साम्राज्यों का पतन उसी प्रकार होता है जैसे जीवित प्राणियों के शरीरों का क्षय होता है। यह एक सामयिक रोग है जिसका न कोई साधन है न उपाय, क्योंकि यह ऐसी प्राकृतिक प्रक्रिया है जो निश्चित और अटल है। धीरे-धीरे असबिया जो समाज रूपी शरीरी की जीवनशक्ति है दुर्बल होता जाता है और इसका अन्त हो जाता है। सुधारों से कोई भले ही कुछ समय के लिए इस नियति के निर्णय को टाल सके, किन्तु अन्त में इसी को कार्यान्वित होना है। इस द ष्टि से इतिहास समाजों का जीवन-विज्ञान है। इसका कार्य म त समाजों के शवों का वर्गीकरण, विश्लेषण और परीक्षण, उनके शारीरिक विधान के निर्माण और व द्धि की प्रक्रिया का अन्वेषण और

अनुसंधान और उनके विकास तथा विलय की प्रव त्तियों और नियमों का निर्धारण है। समाज का यह अवयवी द ष्टिकोण और इतिहास की जीववैज्ञानिक व्याख्या इब्न-खल्दून को आधुनिक बायोलाजिकल स्कूल के आचार्य स्पैंगलर-स्पेन्सर लिलीनफेल्द, शाफ्ले वोर्मस और नोवीकोफ की श्रेणी में ले आते हैं।

18. **घुमन्तू और स्थायी समाजों का जीवनक्रम**—इब्न-खल्दून समाजों को दो भागों में बाँटते हैं : घुमन्तू और स्थायी। उनके मतानुसार घुमन्तू जीवन के बाद स्थायी जीवन का जन्म होता हैं घुमन्तू समाज के जीवन की अवधि चार पीढ़ी है। प्रत्येक पीढ़ी में 40 वर्ष होते हैं। इस प्रकार यह समाज 160 वर्ष जीवित रहता है। इसमें असबिया चरम सीमा तक पहुँचा हुआ होता है। इससे समाज के नियम, चरित्र और संस्थाओं का रूप निर्धारित होता है। राज्य का नियंत्रण बलपूर्ण नहीं होता। समाज एकत्रित और सामूहिक रूप से अपना कार्य करता है। मंगोलों की कुटिलता इस प्रकार के सामूहिक नियंत्रण का एक सुन्दर निर्देशन है।

उक्त समय के समाप्त होने पर घुमन्तू समाज के जीवन का अन्त हो जाता है और एक स्थायी समाज का जन्म होता है। साम्राज्यों का प्रसार इसका प्रधान लक्षण है। संस्कृति और सम्पन्नता की अभिव द्धि इसकी निजी विशेषता है। असबिया की कमी होने के कारण राज्य की नीति बल के प्रयोग पर केन्द्रित हो जाती है। प्रभुत्व का जन्म हो जाता है। इस समाज के जीवन की अवधि चालीस-चालीस वर्ष की तीन पीढ़ियाँ हैं। इस प्रकार यह 120 वर्ष तक विद्यमान रह कर लुप्त हो जाता है। पहली पीढ़ी में घुमन्तू जीवन की बर्बरता और कर्कशता वर्तमान रहती है। युद्ध, हिंसा और लूटमार की भावना जाग्रत रहती है। प्रसार, विजय और उन्नति की दुन्दुभी बजती रहती है। राज्य-कार्यों में सब लोगों का हाथ रहता है। यह युद्ध, वीरता और शक्ति का युग होता है। दूसरी पीढ़ी में शासक-वर्ग विजित जातियों के आचार-विचार ग्रहण कर लेते हैं उनकी रीति-नीति में शिष्टता और सौजन्य आ जाते हैं। वह संस्कृत जीवन के उल्लास में निमग्न हो जाते हैं। शासन एक विशेष दल की बपौती बन जाता है। एकतंत्र की भावना का जन्म होता है। किन्तु पहली पीढ़ी की युद्धप्रियता ओर साहस का कुछ अंश बचा रहता है। यह नागरिकता, स्थायित्व और संस्करण का युग होता है। तीसरी पीढ़ी में घुमन्तू जीवन के सब तथ्य लुप्त हो जाते हैं। शासकवर्ग विलासिता में सराबोर हो जाता है। शासक की ऐच्छिक आज्ञाएँ राज्य की नियामक बन जाती हैं। लोग नागरिक जीवन के ऐश्वर्य और भव्यता में खो जाते हैं। भोग-विलास में डूबकर उनके मन और शरीर शिथिल हो जाते हैं वे रुग्ण आविग्न और शंकित बन जाते हैं। उनकी शक्ति, साहस और सक्रियता लुप्त हो जाती है। उनपर सुरा और सुन्दरी का उन्माद छा जाता है। यह पतन और विघटन का युग होता है। शासकवर्ग के द ष्टिकोण से राज्य का जीवन पाँच अवस्थाओं से गुजरता है। पहली अवस्था में समस्त जन शासन कार्य में सम्मिलित रहते हैं, दूसरी में शासकवर्ग समस्त सत्ता पर अधिकार कर लेता है और जो लोग उसके विरुद्ध आवाज उठाते हैं उन्हें दबा देता है, तीसरी में वह आनन्द और उन्माद में तल्लीन हो जाता है, चौथी में वह अपने पूर्ववर्तियों के कार्य से संतुष्ट होकर उनका गौरव-गान ही अपना कर्त्तव्य समझ बैठता है और स्वयं निष्क्रिय और उदासीन हो जाता है और पाँचवीं में वह अपने धन-धान्य के कोष को विलासिता तथा प्रदर्शन में नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

19. **इब्न-खल्दून के दर्शन का सत्रहवीं शती तक के इतिहास पर लागू होना**—इब्न-खल्दून द्वारा वर्णित इतिहास का यह क्रम कुछ हद तक ठीक जँचता है। घुमन्तुओं द्वारा स्थापित निम्नलिखित साम्राज्यों के जीवनकाल के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि इब्न-खल्दून का अनुमान सही है।

उपर्युक्त 31 साम्राज्यों के जीवनकाल का योग 3734 वर्ष आता है। अतः एक साम्राज्य का

जीवनकाल $\frac{3734}{31} = 120$ वर्ष हुआ। इस प्रकार हम देखते है कि इब्न-खल्दून का सिद्धांत घुमन्तू-साम्राज्यों पर बहुत हद तक लागू होता है। यही नहीं, उनकी 40 वर्ष की तीन पीढ़ियों की स्थापना भी घुमन्तू-साम्राज्यों के इतिहास से काफी मेल खाती है। 1252 में कुबिलाई खाँ ने चीन की ओर प्रयाण किया और वहाँ मंगोल वंश की स्थाना की जो युवान-वंश कहलाता है। 42 वर्ष तक अर्थात् 1294 तक जब कुबिलाई की म त्यु हुई चीन में मंगोलों का प्रसार अक्षुण्ण रहा। दूसरी पीढ़ी में 38 वर्ष तक अर्थात् 1332 तक विलासिता और ऐश्वर्य का युग रहा। तीसरी पीढ़ी में 38 वर्ष तक अर्थात् 1370 तक तोगान तैमूर के राज्यकाल में इस साम्राज्य का क्षय और विलय हुआ। इसी प्रकार हुलाकू वंशकालीन इरान के इतिहास के साथ उक्त स्थापना की पटरी बैठती है। 1256 में हुलाकू ने आमू दरिया को पार किया और ईरान में मंगोल साम्राज्य की आधारशिला रखी। तब से 1291 तक अर्थात् अरधून की म त्यु तक ईरानी साम्राज्य प्रगतिशील और प्रसरणशील रहा। इन 35 वर्षों में लगातार युद्ध चलते रहे, यद्यपि शाम और मिस्त्र में मंगोल सफल न हो सके। ईरान में उनकी सत्ता अनेक आक्रमणों के होते हुए भी सुद ढ़ रही। मंगोल ईरानियों से अलग बने रहे। 1291 से 1334 तक अर्थात् अबू सईद की म त्यु तक 43 वर्ष की दूसरी पीढ़ी रही। इसमें मंगोल शासक वर्ग ईरानी मुसलमान जनता में विलीन हो गया और फारसी संस्कृति में घुलमिल गया। ग़ैखातू के समय में सद्रेजहाँ अहमद-अल-खालीदी ने मंगोलों का दमन और निष्कासन प्रारम्भ किया। गाजान ने इस्लाम स्वीकार करके ईरानी संस्कृति को स्पष्ट रूप से ग्रहण कर लिया। 1334 से 1374 तक जब काराको यूनलू दल के नेता बैराम ख्वाजा ने मोसुल और सिजार पर अधिकार किया, घोर पतन, वैमनस्य, संघर्ष और पराजय का युग रहा जिसमें मंगोल साम्राज्य क्षीण और नष्ट हो गया। यही क्रम रूस के मंगोल साम्राज्य में प्रकट होता है। 1237 में मंगोलों ने **क़िपचक** पर आक्रमण करके उनके नेता बचमन को मार डाला। 1287 तक अर्थात् तुदा-मंगू की म त्यु तक बातू के वंश की प्रगति और उन्नति रही। 1256 तक तो वे डेरों-तम्बुओं में ही रहते रहे। इसी वर्ष उन्होंने सराय (त्सारेफ़) में अपनी राजधानी स्थापित की। अतः वास्तव में इस वर्ष से मंगोल साम्राज्य का प्रारम्भ समझना चाहिए। 1287 के बाद आन्तरिक युद्ध की ज्वाला भभक उठी। तब से 1340 तक अर्थात् उजबक के राज्यकाल तक दूसरी पीढ़ी रही जिसमें मंगोल धीरे-धीरे मिस्त्र के मामलूकों के प्रभाव में दबते गये। 1340 से 1380 तक की 40 वर्ष की तीसरी पीढ़ी आती हैं। इसमें मामलूकों का हस्तक्षेप बहुत बढ़ा और स्वतंत्र रूस का सूत्रपात हुआ। 1380 में श्वेत-दल के नेता **तोक़तामीश** ने स्वर्णदल के साम्राज्य पर पूर्णतः अधिकार कर लिया। यह युग समाप्त हुआ। 1380 से 1420 तक की प्रथम पीढ़ी में श्वेत-दल की शक्ति बनी रही और तैमूर लंग के भयंकर आक्रमणों के होते हुए भी वे अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रहे। 1420 से 1459 तक कुचुक मुहम्मद के राज्यकाल में शान्ति और संतुलन बना रहा, किन्तु दुर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे। 1459 से 1501 तक अहमद और इबक के राज्यकाल में पतन और क्षय का निरन्तर चक्र चलता रहा और 1509 में मंगली गिराई ने श्वेत-दल का अन्त कर दिया और सराय पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मंगोलों ने चीन, ईरान और रूस में जो साम्राज्य स्थापित किये उनका इतिहास इब्न-खल्दून की स्थापना से मेल खाता है। यद्यपि उन्होंने इनकी विस्त त चर्चा नहीं की। वर्तमान काल में आर्नेल्ड जे० ट्वायनबी ने सिद्ध किया है कि धर्म, वर्ग और जाति के इतिहास में तीन पीढ़ियों के चक्र चलते हैं। उनके मतानुसार सभ्यताओं के सम्मिलिन की प्रक्रिया में और बौद्धिक वर्ग की उत्पत्ति और शासक वर्ग के विरुद्ध उसके विद्रोह में 137 वर्ष की चार पीढ़ियों का समय लगता है। युद्ध और शान्ति के चक्र भी चार पीढ़ियों के अन्तराल में चलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इब्न-खल्दून की उक्त मान्यता को वर्तमान इतिहासज्ञों ने बहुत-से क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया

$\frac{14}{31}$

है।

वास्तव में इब्न-खल्दून का इतिहास-दर्शन सत्रहवीं शताब्दी तक के यूरेशिया के इतिहास की कुंजी है। मंचूरिया की सीमाओं से बूडापेस्ट तक जो स्तेपों के मैदान फैले हुए हैं इनमें सदा से घुमन्तू लोग विचरते रहे हैं। इसके विपरीत इस प्रदेश की परिधि पर चीन, भारत, बवत्र, ईरान, आरमिनिया, शाम, तुर्की, मिस्त्र, यूनान, रूस और पश्चिमी यूरोप कृषिप्रधान और उद्योगप्रिय देश हैं। इनका समाज स्थायी है। चाङ्गान, पेकिङ्, समरकन्दर, बुखारा, रेह, इस्पाहान, मर्व, काबुल, पेशावर, दिल्ली, कन्नौज, किएफ, वियेना, रोम आदि संस्कृति के केन्द्र अपनी सम द्धि ओर ऐश्वर्य के कारण सदा से घुमन्तू लोगों की लोलुप द ष्टि को आकर्षित करते रहे हैं। ईसा से करीब सात सौ वर्ष पहले किमेरियन और स्किथ लोगों ने एशिया माइनर, उरोर्तु और मीदिया पर हमले किये। इन्हीं के भाईबन्द शकों ने ईसा से पहले दूसरी शती में गोबी से निकल कर बवत्र पर अधिकार किया और पहली शती में भारत की शान्ति भंग की। ईसा के बाद चौथी शती में ह्यङ्-नू और स्यान-पी ने गोबी से चलकर उत्तरी चीन पर आक्रमण किये। पाँचवीं शती में इसी प्रदेश से तबघच लोगों ने चीन की ओर प्रयाण किया। इसी शती में श्वेत-हूणों (ये-ता) ने बल्ख और पंजाब को रौंद डाला और अतीला की सेनाओं ने बल्कान्, गाल् और इटली में आतंक फैला दिया। छठी शती में तऊ-किड (तुर्क) ने उस प्रदेश पर कब्जा किया जिसका नाम पश्चिमी तुर्किस्तान पड़ा और सातवीं शती में उनकी लगातार मार से चीन को काफी चोट पहुँची। दसवीं शती में पेकिङ् में मंगोल जाति के खिताई लोगों का राज्य स्थापित हुआ और इसी शती के अन्तिम भाग में गजुनवी तुर्कों ने पूर्वी ईरान को हड़प लिया। ग्यारहवीं शती के बीच में सलजकी तुर्कों ने अरब साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और बारहवीं शती में उत्तरी चीन को जुरचट या किन लोगों ने जीत लिया। तेरहवीं शती में चिंगिस खाँ के खान्दानी मंगोलों ने चीन, ईरान और रूस में अपनी रियासतें कायम कीं। चौदहवीं शती के अन्त में तैमूर ने ईरान को फतह किया और सोलहवीं शती में उसके वंशजों ने भारत में मुगल साम्राजय की नींव रखी। सत्रहवीं शती में मंचू जाति ने समस्त चीन पर अधिकार कर लिया। उपर्युक्त जातियों में से बहुत-सी जातियाँ वस्तुतः घुमन्तू नहीं थीं। उदाहरणार्थ मंचू पर्वत-प्रदेशों के शिकारी थे, जिन्होंने बाद में कुछ खेती भी शुरू कर दी थी। तैमूरी ट्रांसोक्सियाना की स्थायी जातियों के वंशज थे यद्यपि इन्होंने मुगल नाम को अपना लिया था। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये पिछड़े हुए लोग थे। माना कि ये पशुपालक नहीं थे, परन्तु इनका असबिया उनसे कुछ कम न था। वस्तुतः उन्ही की प्रेरणा से ये लोग आगे बढ़े थे। किन्तु चीन का ईजाद किया हुआ गोला-बारूद अरबों और मंगोलों के द्वारा यूरोप पहुँचा। वहाँ इसका युद्ध में प्रयोग किया जाने लगा। वहाँ से रूस और तुर्की में इसका प्रचलन हुआ। उसमानियाँ से बाबर ने यह विद्या सीखी। जेस्विट पादरियों ने चीन में इसका प्रचार किया। अतः गोला-बारूद से लैस स्थायी समाजों के सैनिक घुमन्तू लोगों की सेनाओं से अधिक शक्तिशाली बन गये। इवान चतुर्थन ने, जिसे भयंकर इवान भी कहते हैं। तोपों की गड़गड़ाहट से बातू खाँ के वंशजों को भगा दिया और चीन के सम्राट काङ्ही ने तोपों के शोर से कालमुको को अभिभूत कर दिया। 1960 में सर्वप्रथम तोपों के प्रयोग से इस सम्राट् ने पैकिंङ् के निकट उलानपुतीङ् नामक स्थान पर गाल्दान की सेना को घ्वस्त कर दिया। तब से स्थायी समाज धीरे-धीरे घुमन्तू समाज पर हावी हो गये और उनका शाश्वत द्वन्द्व सदा के लिए समाप्त हो गया और साथ ही इब्न-खल्दून का दर्शन भी प्राचीन सिद्धान्तों के संग्रहालय में पहुँच गया।

20. **घुमन्तू समाज और धर्म**—इब्न खल्दून का दर्शन यद्यपि घुमन्तू समाज की मुख्य प्रव त्तियों का द्योतक है तथापि इसमें उनके जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं मिलती। 1051 में मिस्त्र के फातिमी शासकों ने बनू-हिलाल और बनू-सुलैभ को मग़रिब की ओर छोड़कर वहाँ की संस्कृति के विध्वंस का सूत्रपात किया था। किन्तु ये जातियाँ उसी प्रकार अरब, बद्दू और

घुमन्तू थीं, जैसे उनसे लगभग 400 वर्ष पूर्व आने वाली अरब जातियाँ जो सभ्यता और संस्कृति की अग्रदूत बनीं। फिर क्या कारण था कि एक ही प्रकार के लोगों ने एक दूसरे के विपरीत कार्य किया। एक ने सभ्यता को बनाया और दूसरे ने बिगाड़ा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए इब्न-खल्दून इतिहास में एक ओर तत्व का समावेश कर देते हैं। उनका मत है कि अरब जातियाँ तभी साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो सकती है जब वे धार्मिक भावना से अनुप्राणित हों। जब तक कोई पैगम्बर उनके भीतर धार्मिक शक्ति का मंत्र नहीं फूँकता तब तक वे साम्राज्यों की स ष्टि नहीं कर सकतीं। चूँकि उम्मैय्या और अब्बासी काल के अरब इस्लाम की शक्ति से स्पन्दित थे, इसलिए वे विश्वव्यापी साम्राज्य की स ष्टि कर सके और चूँकि वनू हिलाल और बनू सुलेम इस शक्ति से वंचित थे इसलिए वे संहार और विध्वंस के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाये। इस्लाम के इतिहास को तो इब्न-खल्दून ने इस प्रकार समझा दिया, किन्तु मंगोलों के इतिहास के विषय में उन्हें क्या कहना है ? ये लोग तो किसी धार्मिक द ढ़ता के कारण आगे नहीं बढ़े, वरन् अपने संगठन और प्रसरणशीलता के फलस्वरूप स्थायी समाजों की दुर्बलता और क्षीणता से लाभ उठाकर साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। वास्तव में घुमन्तू साम्राज्यों का अभ्युदय उनके समाज की शक्ति और स्थायी समाज की निर्बलता के अनुपात पर निर्भर रहता है। इब्न-खल्दून का दर्शन केवल इस्लामी इतिहास पर लागू होता है।

21. **दारुलइस्लाम की द ष्टि**—दारुलइस्लाम की द ष्टि से मानव-इतिहास पर विचार करने के कारण इब्न-खल्दून यह समझ बैठे कि असबिया केवल घुमन्तू लोगों की ही बपौती है और चूँकि असबिया के फलस्वरूप ही साम्राज्य का निर्माण सम्भव है, इसलिए घुमन्तू लोग ही साम्राज्यों के निर्माता हो सकते हैं। इसके विपरीत स्थायी समाज के लोग निश्चित रूप से असबिया-रहित हैं। यह मत स्थायी समाजों के विषय में इब्न-खल्दून के अज्ञान का सूचक है। यह ठीक है कि उन्होंने प्रथम फारसियों (अखामनियों), असुरों, नबातियों (बाबुल के राजाओं), तुब्बा (दक्षिणी अरब के राज्य), यहूदियों, मिस्त्रियों, दूसरे फारसियों (सासानियों), रोमनों, अरबों (यहाँ घस्सान, हीरा ओर यमन के अरब राज्यों से तात्पर्य है) और फिरंगियों (यूरोप के लोगों) का उल्लेख किया है, किन्तु वे इनके इतिहास की प्रक्रिया से पूर्णतः अपरिचित रहें। उनके सामने स्थायी समाज के जो कुछ भी निदर्शन थे वे रोमन और सासानी साम्राज्यों की वह करदात्री जनता थी जिसे अरब आक्रमणकारियों ने लूट-खसोट कर कंगाल कर दिया था। उन्हें चिन् हान् थाङ् सुङ्, मिङ् आदि चीनी राजवंशों के इतिहास का पता नहीं था और मौर्य, गुप्त, मौखरी, पुष्पभूति प्रतिहार राष्ट्रकूट, पाल आदि भारतीय युगों का ज्ञान नहीं था। अखामनि और पार्थ और सासानी आदि ईरानी वंशों की उनकी जानकारी अपूर्ण थी। मिस्त्र, सुमेर, अक्कद, असुर का इतिहास और बाबुली, सेल्युकसी आदि मध्य-पूर्वीय युगों का पूर्ण व त्तान्त उनके सामने नहीं था। यूनानी और रोमन साम्राज्यों के उत्थान-पतन की प्रक्रिया उनके लिए पहेली थी। अतः वे इतिहास के एक बड़े महत्वपूर्ण भाग को समझने में असमर्थ रहे और एकदम यह मान बैठ कि ये असबिया से पूर्णतः विहीन रहे। उनका 'असबिया' और 'ला-असबिया' का विभाजन एकदम भ्रान्तिजनक है।

22. **इब्न-खल्दून के नागरिक, सामाजिक और आर्थिक विचार**—इस प्रकार हम देखते हैं कि इब्न-खल्दून का दर्शन एकपक्षीय है। यह केवल दार-उल-इस्लामी की कुछ प्रव त्तियों को सिद्धांतों का रूप देने का प्रयत्न है। तथापि कुछ विषयों का उन्होंने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। विशेष रूप से उन्होंने नागरिक जीवन की विलासिता का उत्कृष्ट वर्णन किया है। विलासिता के बढ़ने से व्यय बढ़ता है। करों ओर मूल्यों में व द्धि होती है। शोषण अधिक हो जाता है। पतन का श्रीगणेश होता है। ये विचार बहुत-से साम्राज्यों की पतनावस्था पर लागू हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके कुछ और विचार बड़े समुन्नत हैं। वे वस्तुवाद

(पोज़ीटीविज्म) और परीक्षणवाद (इम्पीरिसिज़्म) में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार प्रकृति विकासशील है। वनस्पति, जीवजन्तु, मनुष्य, फरिश्ते आदि इस विकास के सूचक हैं। एक वर्ग स्वभावतः दूसरे वर्ग में परिवर्तित हो गया है। जलवायु, भोजन, भौगोलिक परिस्थिति का इस विकास के क्रम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उनके आर्थिक सिद्धांत भी बड़े रोचक हैं। वे मानते है कि अर्थ या सम्पत्ति का उद्‌गम व्यापार नहीं बल्कि उत्पादन है। चाँदी और सोना अपने आप में सम्पत्ति नहीं है। ये लोहे, ताँबे आदि की तरह सामान्य धातुएँ हैं। किन्तु इनके मूलय निश्चित होने के कारण ये मूल्य की द्योतक समझी जाती हैं। मूल्य पर और वेतन पर माँग और पूर्ति की प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है। किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन या निर्माण में निहित श्रम पर निर्भर है। वस्तुओं के मूल्य परस्पराश्रित हैं। वे स्वतंत्र और स्पध र्ामूलक व्यापार के पक्षपाती हैं और ठेकों और बपौतियों की व्यवस्था को पसन्द नहीं करते। उनके मतानुसार श्रम-विभाजन से सामूहिकता को सहायता मिलती है मार्क्स की तरह वे मानते हैं कि आर्थिक तत्वों का राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यूरोप के अठारहवीं शती के अर्थशास्त्री इनके विचारों की समता नहीं कर सकते।

इब्न-खल्दून का मानवीय द ष्टिकोण भी बड़ा विशाल था। वे दासता की प्रथा के प्रबल विरोधी थे। परम्परागत प्रशासन-पद्धति उनकी रुचि के विपरीत थी। वे युद्ध की तड़क-भड़क को अच्छा नहीं समझते थे। व्यापारियों का शोषण उन्हें अखरता था। इस प्रकार के अपने युग से बहुत ऊपर उठ चुके थे। धर्म को सामाजिकता का उपकरण मानने के कारण उनका द ष्टिकोण तात्कालिक मुस्लिम विचारकों से ऊपर पहुँच गया था।

23. **इब्न-खल्दून की मौलिकता**—इब्न-खल्दून की मौलिकता आश्चर्यजनक है। वे इस्लामी जगत् के एक निराले विचारक थे। अस-सक्कीकी के विचार पर वातावरण के प्रभाव को स्वीकार किया था। अल-मसूदी ने मुल्क और दीन के संबंधों पर यथेष्ट प्रकाश डाला था। अब-तरतूशी, अल मावर्दी इब्न-अलमुकफ्फा ने सामाजिक विकास पर कुछ विचार किया था। किन्तु ये लेखक या तो शरियत के आदर्श को साथ लेकर चलते थे या एक काल्पनिक चित्र सामने रखकर राज्य की समस्या पर विचार करते थे। इब्न-खल्दून पहले विचारक थे जिन्होंने समाज की सामाजिकता को लेकर अपना विचार-सोपान तैयार किया। यह भी सारगर्भित तथ्य है कि उन्हें यूनानी कृतियों का ज्ञान नहीं था। अरस्तू की राजनीति का तो अरबी में अनुवाद हुआ मालूम ही नहीं होता। इब्न-खल्दून एक ऐसे ग्रन्थ से एक उद्धरण जरूर देते हैं, किन्तु वह अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। अफलातूं का "गणतंत्र" (रिपब्लिक) अरबी में अनूदित अवश्य हो गया था और उसके आधार पर अल-मादीनात-अल-फाजिला", नामक ग्रन्थ भी लिखा था किन्तु इब्न-खल्दून को उसका पता भी नहीं था। ऐसी परिस्थिति में उनके विचारों की मौलिकता नितांत प्रशंसनीय है।

24. **इब्न-खल्दून के बाद इतिहास-लेखन**—इब्न-खल्दून के बाद मुस्लिम जगत् में किसी और लेखक ने इतिहास-दर्शन या समाजशास्त्र पर इतनी गम्भीरता से विचार नहीं किया। उनका कुछ प्रभाव **अल-मक़रीजी** की कृतियों में मिलता है। अल-मक़रीजी ने काहिरा में इब्न-खल्दून के व्याख्यान सुने थे। इस लेखक (1364–1448) का प्रसिद्ध ग्रन्थ "अल-मवाइज-वल-इतिवार-फी-जिक्र अल-खितातवल-आसार" है। इसके अतिरिक्त इस युग में अबुलफिदा (1273–1332) ने "मुख्तसर तारीख-अल-बशर" में इब्न-अल-असीर की "तारीख-अल-कामिल" को संक्षिप्त करके अपने काल तक पूरा किया। अबु-अल-महासिन-इब्न-तग्री बिर्दी (1411–1469) ने "अल-नूजुम-अल- ज़ाहिरा-फी-मुलूक मिस्त्र-वल-क़ाहिरा" में अरब-विजय से 1453 तक का मिस्त्र का इतिहास प्रस्तुत किया। जलालुद्दीन-इब्न-सुयूती (1445–1505) ने भी "हुस्न-हल-मुहाजराह-फी-अखबार-

मिस्त्र-वल-काहिरा" में मिस्त्र का इतिहास लिखा। किन्तु इन ग्रन्थों में मौलिकता अधिक नहीं हैं। इस युग की प्रसिद्ध कृति शम्सुद्दीन-अहमद गब्न-मुहम्मद-इब्न-खल्लिकान की "वफाय़ात-अल-अयान व अन्बा ए-अब्मा-अल-जमान" है जिसमें 865 प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनचरित संग हीत हैं।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास-लेखन

(a) सल्तनतकालीन इतिहास-लेखन

सल्तनतकालीन इतिहास-लेखन का अध्ययन केवल अंतरिम अथवा अस्थायी ही हो सकता है क्योंकि इस काल में लिखे गये अनेक इतिहास-ग्रन्थ अब अप्राप्य हैं। लेकिन जितने भी ग्रन्थ हमें मिले हैं उनके अध्ययन से इतिहास-लेखन के रूप और तकनीक के सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की रचनाओं में विकास की एक जबरदस्त प्रक्रिया मौजूद थी। मिनहाज् के राज्याभिषेक व युद्धों के फीके वर्णन के बाद बरनी के व्याख्यात्मक विवरण और अफ़ीफ के एक शासक के शासनकाल को अनेक पहलुओं से अध्ययन करने की पद्धति ने इतिहास-लेखन में निश्चित ही योगदान दिया है। दुर्भाग्य से याहया ने पुनः मिनहाज़ की लेखन-शैली अपनाकर इस विकास की गति को अवश्य अवरुद्ध किया परन्तु यह अवरोध अल्पकालीन ही सिद्ध हुआ।

मूल स्वरूप

मिनहाज़ ने "तबकात-ए-नासिरी" की रचना वंशीय इतिहास के आधार पर की है। आदम से लेकर खलीफाओं के संक्षिप्त वर्णन के बाद वह प्रत्येक राज्यवंश का वर्णन एक-एक अध्याय (तबका) में करता है। प्रत्येक वंश के प्रत्येक शासक के वर्णन के लिये उसने मूल अध्याय को पुनः उप-अध्यायों में बांटा है। मूल अध्याय प्रत्येक वंश के पूर्व-इतिहास से शुरू होता है और उस वंश के पतन पर समाप्त हो जाता है। कभी-कभी उसने एक पूरे वंश का शासनकाल अथवा शासन-विशेष के काल का विवरण भी दिया है परन्तु वह इस नीति को प्रत्येक वंश अथवा शासन के लिये नहीं अपनाता है। उदाहरण के लिये वह गज़नवी वंश के प्रत्येक शासक के शासनकाल का विवरण प्रस्तुत करता है परन्तु ख्वारज़म शाह के वंश के शासकों के सम्बन्ध में वह केवल इतना ही लिखता है कि, "अमुक शासन ने अनेक वर्षों राज्य किया।" उप-अध्यायों के अन्त में वह सुल्तान की सन्तानों और कभी-कभी उसके काजियों अथवा मलिकों की सूची संलग्न कर देता है। इसके साथ ही उसने प्रत्येक शासक का अपना मूल्यांकन भी दिया है।

सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के काल तक पहुँचकर वह वंशीय इतिहास की अपेक्षा वार्षिक विवरण के रूप में इतिहास लिखना शुरू कर देता है। सुल्तान की सन्तानों तथा उसके मलिकों की सूची अन्त में संलग्न करने की अपेक्षा वह उसे शुरू में ही दे देता है।

वंशीय-इतिहास लिखने के फलस्वरूप घटनाओं की अनेक बार पुनराव त्ति हो गई है क्योंकि अनेक घटनायें एक से अधिक शासकों से सम्बन्धित थीं। इस प्रक्रिया में उसने कई बार एक ही घटना की दो अलग-अलग तिथियां भी दी हैं, जैसे खुसरो मलिक की म त्यु की तिथि उसने 598 तथा 587 हिज़री दी है।

बरनी की घटनाओं की एक समय में ही जुटाने की समस्या का सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि वह एक ही देश के राज्यवंशों का क्रमिक इतिहास लिख रहा था। इसलिये बरनी का इतिहास-लेखन का रूप मिनहाज के लेखन से भिन्न है। बरनी ने प्रत्येक शासक का विवरण अलग-अलग दिया है।

"तारीख-ए-फ़ीरोज़शाही" का प्रत्येक अध्याय शासक के अमीरों तथा मलिकों की सूची से शुरू होता है। अन्त में लेखक प्रत्येक शासक का मूल्यांकन देता है, तथा उसके समय की समस्त घटनायें भी

उसी अध्याय में ही लिखता है। जलालुद्दीन खलजी के काल से वह अध्यायों को उप भागों में बांटता है और उनके उप-शीर्षक भी देता है जैसे मुहम्मद तुगलक की विभिन्न प्रदेशों की विजय" आदि।

समकालीन शासक फ़ीरोज़तुगलक के समय तक आकर बरनी की "तारीख" के रूप में पुनः परिवर्तन दिखाई देता है। बरनी के फ़ीरोज़ के छः वर्ष के शासनकाल को 11 "मुकदमों" अर्थात् पहलुओं में बांटा है और प्रत्येक मुकद्दमें में वह केवल एक ही पहलू का अध्ययन करता है। इस प्रकार विवरण को विभिन्न मुकद्दमों में बाँटने की पद्धति, जो उसने अपनी इच्छानुसार, अपनाई है, वह न तो समयानुसार है और न ही सुल्तान की नीति में होने वाले परिवर्तनों को दर्शाती है।

बरनी ने तिथियों के उल्लेख में अनेक त्रुटियाँ की हैं। सम्भवतः इसका कारण उसकी कमजोर स्म ति हो। यह भी सम्भव है कि बरनी इतिहास को मात्र काल क्रमानुसार विवरण न मानकर प्रत्येक घटना के पीछे एक शिक्षा अथवा चेतावनी मानता है, इसलिये उसने सही तिथियाँ देने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया हो।

बरनी के इतिहास-लेखन की पद्धति को अफ़ीफ़ ने और अधिक विकसित किया। बरनी के मनमाने ढंग से "मुकद्दमों" को बांटने की अपेक्षा उसने 'किस्मस्' को व्यवस्थित ढंग से बांटा है। उसने अपनी रचना "तारीख-ए-फीरोजशाही" को पांच "किस्मस्" में बांटा है प्रत्येक "किस्मस्" में 18 "मुकद्दमें" दिये हैं। इस प्रकार उसने बरनी के 11 "मुकद्दमों" में 90 "किस्मस्" और मिलाकर अपने पूर्ववर्ती लेखक की 101 "मुकदद्मों" को लिखने की योजना को पूरा किया है।

पहली "किस्म" में फीरोजशाह के जन्म से लेकर उसके राज्यारोहण तक का वर्णन है। दूसरी "किस्म" में लखनौती व जाजनगर के अभियानों तथा तीसरी "किस्म" में थट्टा के अभियान का वर्णन "किस्म" है। चौथी "किस्म" में अफ़ीफ ने सुल्तान के प्रजा-हितैषी कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया किया है और पांचवी में उसने सुल्तान के मुण्डन तथा शाहजादा फतेह खां की म त्यु का वर्णन किया है।

अफ़ीफ द्वारा "तारीख" का "किस्मस्" में बांटना ही एक प्रकार की व्याख्या है। ऐसा लगता है अफीफ की "किस्मस्" ने पहलुओं का रूप ले लिया था जिसके अन्तर्गत लेखन ने फ़ीरोज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया है।

याहया की रचना "तारीख-ए-मुबारकशाही" में हमें मिनहाज की रचना के समान पुनः मुहम्मद गोरी से लेकर 1438 ई० तक की राजनीतिक घटनाओं का विवरण मात्र मिलता है उसने अपनी रचना को शासन के वर्ष (Regnal Year) के आधार पर बांटा है और उसमें प्रत्येक शासनकाल स्वयं में एक इकाई है। उसने मिनहाज़ और बरनी की तरह खान व मलिकों की सूची नत्थी नहीं की है।

इन चारों इतिहासकारों ने अपने विवरणों में छन्दों और पद्यों का लगातार समावेश किया है, किन्तु इनसे न तो विवरण की अधिक सार्थकता ही मिली है और न ही कोई अतिरिक्त जानकारी ही मिली है। अतएव इनसे उनकी रचनाओं के ऐतिहासिक महत्व में तनिक भी व द्धि नहीं हुई है।

इतिहास-लेखन के छन्दोबद्ध स्वरूप का विकास ऐसामी व अमीर खुसरो ने किया। अमीर खुसरों की रचनाओं का मुख्य विषय कोई विशेष घटना ही है। जेसे "किरानुस्सोदन" में वह केकूबाद और बुगरा के मिलाप का ही विवरण देता है अथवा "इश्किया" में देवल रानी और खिज्र खाँ की दुःखान्त प्रेम-गाथा का ही वर्णन करता है अथवा "नूर सिपहर" में वह सुल्तान मुबारक खल्जी की विजयों को ही देता है।

विषय के इर्द-गिर्द अमीर खुसरो एक ऐसा ताना-बाना बुनता है जिसमें विषय से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का विवरण आ जाता है। जैसे "किरानुस्सादेन" में जब वह केकूबाद की दिल्ली से अवध तक की यात्रा का विवरण देता है तो पाठक को अनजाने में ही दिल्ली की इमारतों की पूर्ण जानकारी मिल जाती है। इसी प्रकार "नूर सिपहर" में मुबारकशाह खलजी के दक्षिण अभियानों के वर्णन के अन्तर्गत ही वह भारत के निवासियों, यहाँ की भाषाओं आदि का भी अच्छा विवरण दे देता है।

एसामी ने अपनी रचना "फुतूहुस्सलातीन" में महमूद गज़नवी के समय से लेकर सुल्तान अलाउद्दीन बहमनशाह (1349 ई०) तक के काल का वर्णन दिया है। उसने अपनी समस्त रचना में एक ही प्रकार के छन्द को अपनाया है। उसकी सम्पूर्ण रचना शासकीय वर्ष के आधार पर बांटी गई है और उसमें महत्वपूर्ण घटनाओं के उप-शीर्षक दिये गये हैं। एसामी ने अपने ग्रन्थ में बहुत ही कम तिथियां दी हैं उसकी दी गई तिथियां अधिक विश्वसनीय नहीं हैं। अलाउद्दीन ख़लजी के सम्पूर्ण विवरण में वह केवल उसकी म त्यु की तिथि का उल्लेख करता है।

विषय-वस्तु

सल्तनतकालीन रचनाओं का मुख्य ध्येय राजनीतिक घटनाओं का वर्णन है। इनमें राज्याभिषेकों, सैनिक अभियानों, आन्तरिक व बाहरी विद्रोहों आदि का वर्णन ही मुख्य रूप से किया गया है।

मिनहाज की "तबकात-ए-नासिरी" ऐसे ही विवरणों से भरी पड़ी है। प्रत्येक तबके (अध्याय) के आरम्भ में वह वंश-व क्ष को ढूंढ निकालने की कोशिश करता है और कभी-कभी इसके लिये उससे सम्बन्धित किसी किस्से को भी जिक्र कर देता है।

बरनी भी मोटे रूप से राजनीतिक घटनाओं पर भी प्रकाश डालता है परन्तु फिर भी उसके लिये इतिहास का महत्व, मात्र घटनाओं के विवरण से अधिक है। इसलिये वह घटनाओं के घटने के कारणों का विश्लेषण करता है और उनमें कुछ साधारण सीख अथवा शिक्षायें ढूंढने की कोशिश करता है। वह घटनाओं तथा नीतियों के लिये सुल्तान की प्रकृति को भी एक मुख्य तत्व मानता है। क्योंकि उसके द ष्टिकोण से प्रशासनिक कार्यवाहियां व संस्थाऐं इतिहास का अंग हैं इसलिये वह उनका भी वर्णन करता है। बरनी की रचना में अनेकानेक प्रशासनिक कार्यवाहियों जैसे अलाउद्दीन ख़लजी के बाजार नियन्त्रण अथवा मुहम्मद तुगलक के विभिन्न प्रयोगों का विवरण विस्तार से मिलता है। इसी प्रकार वह "तारीख" में फ़ीरोज़ तुगलक के सुधारों का भी वर्णन देता है।

अपनी दूसरी प्रसिद्ध रचना "फतवा-ए-जहानदारी" में बरनी तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा के विकास पर भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है। बदायूनी के समान, वह सुल्तानों के इस्लामी-विरोधी कार्यों की भर्त्सना अवश्य करता है परन्तु इसके विपरीत वह सुल्तानों के लिये एक विकल्प भी प्रस्तुत करता है। वस्तुतः उसकी रचना राज्य के लिये अनेक विषयों पर दी गई मन्त्रणा के रूप में है।

अफ़ीफ अपनी रचना में तीमूर के आक्रमण (1398 ई०) में सल्तनत के पतन के कारणों का अध्ययन करने की कोशिश करता है। उसके अनुसार राज्य का विस्तार व फ़ीरोज की नीति इसके लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी तत्व थे। अफ़ीफ ने इसके अतिरिक्त फीरोज की शासन-व्यवस्था, उसके समय में वस्तुओं की कम कीमत होना, राज्य का सम्पूर्ण राजस्व, सुल्तान द्वारा बनवाई गई नहरों, नव-स्थापित नगरों आदि का विस्तार से विवरण दिया है। यह फ़ीरोज के परोपकारी कार्यों के सम्बन्ध में भी अत्यन्त रोचक जानकारी देता है।

यहया-बिन-अहमद अपनी रचना "तारीख-ए-मुबारकशाही" में केवल राजनीतिक घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है अतएव राज्याभिषेक, युद्ध व विद्रोह ही उसकी रचना की विषय-वस्तु है।

अमीर खुसरो की रचनाओं से विधि विषयों की जानकारियां मिलती हैं। वह न केवल यहां के निवासियों के जन-जीवन पर प्रकाश डालता है अपितु यहां के रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, सती प्रथा, मोसम, देहली की दशा, सुल्तानों द्वारा बनवाये गये भवन, खेल-तमाशों और यहां के ज्ञान-विज्ञान व भाषाओं के बारे में भी समुचित जानकारी देता है। "नूर सिपेहर" में उसने तीर और कमान के बीच बातचीत को पथ में लिखकर विभिन्न जानकारियां दी है।

एसामी की रचना "फुतुहुस्सलातीन" में मोटे रूप से केवल राजनीतिक घटनाओं का ही विवरण मिलता है।

स्त्रोतों के प्रति द ष्टिकोण के आधार पर हम इस काल की रचनाओं को दो भागों में बांट सकते हैं– (1) वे रचनायें जो केवल राजनीतिक घटनाओं का विवरण देती हैं जैसे "तबकात-ए-नासिरी" तथा "तारीख-ए-मुबारकशाही" व (2) वे रचनायें जो विवरणात्मक होने के साथ ही व्याख्यात्मक भी हैं। जैसे बरनी द्वारा रचित "तारीख-ए-फ़ीरोजशाही" व "फतया-ए-जहानदारी" अथवा अफ़ीफ की "तारीख-ए-फ़ीरोजशाही"। पहली श्रेणी की रचनाओं में लेखक तुलनात्मक आधार पर तथ्यों की खोज करने में अधिक प्रयत्नशील रहे जब कि दूसरी श्रेणी के लेखकों ने समकालीन होने के नाते स्वयं द्वारा देखी हुई घटनाओं तथा कहीं पर सुनी-सुनाई बातों के आधार पर विवरण दिया है। इस श्रेणी के लेखकों ने न केवल अपने विचारों और मान्यताओं को स्थापित करने की कोशिश की है अपितु इतिहास की घटनाओं से शिक्षायें अथवा चेतावनियों को खोजने का प्रयास भी किया है। उदाहरण के लिये बरनी यह मानता है कि उच्च-कुलीय जन्म ही इतिहास की एक अकाट्य चेतावनी है। इसी प्रकार अफ़ीफ यह मानता है कि केवल शक्तिशाली शासक ही महान् शासक थे और फीरोज तुगलक इस श्रेणी में नहीं था। एसामी ने अपनी इस मान्यता को स्थापित करने के लिये कि मुहम्मद तुगलक एक अत्याचारी सुल्तान था, "फुतूहुस्सलातीन" की रचना की। अमीर खुसरो ने अपने ऐतिहासिक उपाख्यानों में इतिहास की अपेक्षा गद्य और पद्य की रचना ही अधिक की है इन इतिहासकारों के लिये तथ्यों की खोज अथवा उन्हें कालानुक्रम में बांधना ही इतिहास नहीं अपितु इतिहास में लिप्त उन चेतावनियों की खोजना है जो उनकी मान्यताओं पर आधारित थी। इसलिये इन्होंने केवल देखी-सुनी घटनाओं पर अपनी रचनाओं को आधारित किया। ऐसे रचनाकारों में बरनी प्रमुख है। जब वह लिखता है कि, इतिहास एक विज्ञान है जिसको कोई प्रमाण की आवश्यकता नहीं, जब तक कि इतिहासकार एक विश्वसनीय व्यक्ति है। बरनी के लिये ऐसा विश्वसनीय व्यक्ति केवल कुलीन ही हो सकता है।

इन इतिहासकारों के विपरीत मिनहाज तथा यहया ने अपनी जानकारी के स्त्रोतों की पूर्ण जानकारी नहीं दी हैं। मिनहाज़ ने लिखा है कि उसने अपनी जानकारी '"विश्वसनीय इतिहासकारों" सुनी-सुनाई बातों व आँखों देखी घटनाओं पर आधारित की है। यहया भी इसी प्रकार लिखता है कि उसने विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों से पुराने शासकों के बारे में जानकारी प्राप्त की है और समकालीन घटनायें अपनी स्म ति व विश्वसनीय जानकारी के आधार पर लिखी हैं।

कारण-कार्य सम्बन्ध

सल्तनतकालीन इतिहासकारों ने कारण-कार्य सम्बन्धों की विवेचना अलग-अलग ढंग से की है। मिनहाज की रचना "तबकात-ए-नारिसी" से ऐसा आभास होता है कि उसके लिये प्रत्येक घटना को घटित होना पूर्व नियति अथवा प्रारब्ध के अनुसार ही था, ईवश्वरीय इच्छा ही घटनाओं का कारण व पणारिम थी और दूसरे तत्वों की उसमें कोई गुंजाइश ही नहीं थी। तराइन के दूसरे युद्ध में मुहम्मद गौरी की विजय को वह ईश्वर-प्रदत्त मानता है, परन्तु तराइन के पहले युद्ध की पराजय में वह पूर्वनियति अथवा भाग्य के तत्व के सम्बन्ध में पूरी तरह चुप है। इसी प्रकार सुल्तान इल्तुतमिश द्वारा हिन्दुस्तान की गद्दी प्राप्त करने को भी वह पूर्वनियति ही मानता है।

बरनी के लिये इतिहास केवल घटनाओं का विवरण मात्र ही नहीं है। वह लिखता है कि "इतिहास में पिछले लोगों की अच्छाई-बुराई, न्याय-अन्याय, अधिकार-अनाधिकार, भलाई-बुराई, आज्ञाकारिता-अवहेलना, सदाचार तथा दुराचार का वर्णन होता है। इससे भविष्य के पाठकों को शिक्षा मिलती है। इतिहास के अध्ययन से एक पाठक के राज्य व्यवस्था से लाभ-हानि, शासन-प्रबन्ध की भलाई-बुराई ज्ञात होती है। लोग हृदय से सदाचारी बनने का प्रयत्न करते हैं और दुराचार से बचते हैं।" उसके अनुसार एक इतिहासकार का उद्देश्य इन शिक्षाओं को दिखाना है और इस कार्य में उसे घटना की सत्यता के लिये किसी प्रकार के प्रमाण बताने की आवश्यकता नहीं यदि वह "अपनी सत्यता तथा न्याय के लिए प्रसिद्ध हो, जिससे जो कुछ उसने लिखा है, उस पर प्रमाण के न होते

हुये भी लोग विश्वास करें और गणमान्य व्यक्तियों का भी उस पर विश्वास हो, क्योंकि वे लोग ऐसे लोगों के अतिरिक्त जिनका सब लोग विश्वास करते हैं और जिनकी सत्यता तथा ईमानदारी पर सन्देह नहीं किया जा सकता, किसी अन्य की बात पर ध्यान नहीं देते।"

इसी आधार पर बरनी अपने ग्रन्थ "तारीख-ए-फीरोजशाही" की रचना करता है। यद्यपि इस रचना में उसने अनेक शासनकालों का क्रम से विवरण दिया हैं, परन्तु वह तिथि क्रम को कोई महत्व नहीं देता है। उसके लिये तिथि क्रम इतिहास-लेखन के उद्देश्य के लिये आवश्यक नहीं था।

यह मानकार कि मिनहाज़ द्वारा वर्णित घटनाओं को पुनः दोहराना उचित न होगा बरनी ने अपनी रचना उस समय से शुरू की जहां मिनहाज़ ने अपनी रचना समाप्त की थी अर्थात् बलबन के राज्यकाल से। परन्तु बलबन के काल का विवरण देने के पहले वह दिल्ली सल्तनत की कमजोरियों के उन कारणों पर प्रकाश डालता है जो बलबन के राज्यारोहण के पहले मौजूद थी। इस प ष्ठभूमि में वह बलबन के निरंकुश राज्य का अध्ययन करता है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में वह सुल्तान का मूल्यांकन करता है परन्तु यह मूल्यांकन मिनहाज़ के समान व्यक्तिगत गुणों पर आधारित न होकर उसकी नीतियों पर ही आधारित होता है। प्रायः वह सुल्तानों की किसी विशेष नीति अथवा उनके किसी कार्य का भी मूल्यांकन करता है। जैसे उसने बलबन के "कुलीन जन्म" की नीति की प्रशंसा की है, परन्तु "चहलगानी" को पूर्ण रूप से कुचलने की भर्त्सना की है। इसी प्रकार वह अलाउद्दीन की बाजार-नियन्त्रण की नीति को एक आश्चर्य मानता है। परन्तु "शरा" की अवहेलना की भर्त्सना करता है।

इतिहासकार के रूप में शासन के क्रियात्मक ढांचे का विवरण बरनी की विशेषता है। इसमें उसने कारण-कार्य के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से दर्शाया है। अलाउद्दीन खलजी के आर्थिक व प्रशासनिक सुधारों का विश्लेषण करते हुये वह इनको कुलीनों के विद्रोहों को दबाने के लिये अत्यन्त आवश्यक मानता है। इसी प्रकार उसने बाजार नियन्त्रण की नीति का मूल कारण कम व्यय पर एक विशाल शक्तिशाली सेना रखना बताया है। उसके मत में एक विशाल सेना मंगोलों के आतंक व हिन्दू तथा तुर्की अमीरों के विद्रोहों को सरलता से दबाने के लिये आवश्यक थी। तुर्की अमीरों द्वारा किये गये विद्रोहों के वह चार कारण बताता है—(अ) सुल्तान का अपनी प्रजा और राज्याधिकारियों के अच्छे तथा बुरे कार्यों से अनभिज्ञ रहना, (ब) अमीरों का शराब पीना और शराब की दावतें करना जिसके कारण विभिन्न व्यक्ति एक दूसरे के निकट आते हैं तथा उन्हें षड्यन्त्र और विद्रोह के लिये प्रेरणा मिलती है, (स) सरदारों के पारस्परिक सामाजिक व विवाह-सम्बन्ध जिनके कारण वे एक दूसरे के निकट आ जाते हैं और उन्हें संगठित होने का अवसर मिलता है तथा (द) व्यक्तियों के पास धन की अधिकता जिसके कारण उन्हें विद्रोह और षडयन्त्र करने के लिए शक्ति व समय मिल जाता है।

इस प्रकार कारण-कार्य सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से बताने के कारण बरनी इतिहास-लेखन में मिनहाज से कहीं आगे है। वह घटनाओं का अध्ययन उनके परस्पर-सम्बन्ध व प्रशासकीय पद्धति के अन्तर्गत करता है और उनके कारणों को खोजने की कोशिश भी करता है।

बरनी ने अपनी दूसरी रचना "फतवा-ए-जहाँदारी" में अपने सिद्धान्तों को ओर अधिक स्पष्टता से बताया है। जिन सिद्धान्तों की पुष्टि उसने "तारीख-ए-फ़ीरोजशाही" में ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा की है उन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि वह इस रचना में अन्य मुसलमान शासकों तथा खलीफाओं के समय की ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा करता है। वह राजपद तथा इस्लाम के सिद्धान्तों में अन्तर्विरोध बताता है, परन्तु मनुष्य क्योंकि अपनी पुरानी दुष्टता पर उतर आया है इसलिये इस्लाम विरोधी होने पर भी वह राजपद को आवश्यक मानता है। इसी प्रकार वह शासक को परिस्थितियों के अनुसार नये नियमों को बनाने का भी अधिकार देता है निम्न वर्ग के लोगों को भी शासकीय वर्ग में सम्मिलित होने की घटनाओं को उसने घ णास्पद ही माना है क्योंकि उसके विचारों का केन्द्र-बिन्दु केवल कुलीनता ही है। वह लिखता है कि, "जिन्हें ईश्वर ने तुच्छ तथा कमीना बनाया हो। (यदि शासक) उन्हें सम्मान

प्रदान करता है तो वह खलीफा तथा ईश्वर का उत्तराधिकारी बनने के योग्य नहीं होता।" बरनी के लिये योग्यता केवल कुलीनता में निहित है। वह इस बात को सहन करने के लिए तैयार है कि उच्च कुल के लिये यदि क्षमता या कार्य कुशलता का भी बलिदान करना पड़े तब भी किसी निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्ति को उच्च पद नहीं देना चाहिये। निम्न कुल के प्रति बरनी की ये घ णा उसकी धार्मिक कट्टरता को भी लांघ गई है।

परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि बरनी ने एक सैद्धान्तिक प ष्ठभूमि के सन्दर्भ में इतिहास का अध्ययन किया है और ऐसे सुल्तान को जो उसके विचारों के प्रतिकूल नीति अपनाना चाहते थे वह एक विकल्प भी प्रस्तुत करता है। इस क्षेत्र में बदायूनी को हम बरनी से पिछड़ा हुआ मान सकते हैं क्योंकि उसने अकबर की नीति की भर्त्सना करते समय कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया है। इसके विपरीत बरनी अपने इन विचारों अथवा सिद्धान्तों को ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से गढ़ देता है जो वास्तविक रूप में उसके अपने विचार थे। काजी मुगिसुद्दीन और अलाउद्दीन के बीच हिन्दुओं के प्रति नीति अपनाने का वार्तालाप मात्र बरनी के विचार हैं जो उसने उनके माध्यम से कहलवाये हैं। "फतवा-ए-जहाँदारी" इसको प्रमाणित करती है जब बरनी स्पष्ट रूप से उसमें अपने विचारों अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार बलबन के निम्न कुल में जन्में लोगों के विचार हैं जो उसने बलबन के माध्यम से कहे हैं।

एक शासनकाल को विभिन्न पहलुओं में अध्ययन करने की नीति अफ़ीफ की मुख्य देन है। यह एक ही शासनकाल में विरोधी तत्वों के अस्तित्व का अनुभव करता है तथा उनमें समाधान ढूँढने की कोशिश करता है जैसे फ़ीरोज तुगलक में वह एक ओर तो सह-धर्मियों के साथ युद्ध की नीति तथा दूसरी ओर पूर्णतया युद्ध को त्यागने की नीति देखता है। वह ऐसे ही विरोधाभासों में सामन्जस्य ढूँढने की कोशिश करता है।

अफ़ीफ ने अपने ग्रन्थ 'तारीख-ए-फीरोजशाही' की रचना के उद्देश्यों के बारे में कहीं भी कोई संकेत नहीं दिया है। क्योंकि उसने अपने ग्रन्थ की रचना तीमूर के आक्रमण के बाद की थी और तीमूर द्वारा की गई खून-खराबी को उसने स्वयं देखा था। इसलिये उसने इसको एक अनुकूल बिन्दु (Vantage Point) मानकर निकट भूत की इससे तुलना करना अधिक अच्छा समझा होगा। इसी आधार पर उसने फीरोज को एक आदर्श शासक दर्शाने का प्रयत्न किया। सुल्तान के प्रत्येक कार्य को औचित्य का जामा पहनाकर उसने जो उसकी प्रशंसा की है उसे उसके अंकित मूल्य (Face Value) पर मानना उचित न होगा।

अफ़ीफ ने फ़ीरोज को सिकन्दर का दूसरा रूप माना है परन्तु साथ वह उसकी युद्ध से दूर रहने की प्रव त्ति का भी उल्लेख करता है। जो कि स्वयं में एक विरोधाभास है। उसके अनुसार फ़िरोज जामनगर, नगरकोट व थट्टा के आक्रमणों के बाद दक्षिण के प्रदेशों पर अधिकार करने की व्यर्थता को समझ गया था। इसलिये वह यह मानकर ही संतुष्ट हो गया था कि युद्ध से लाभ की अपेक्षा दस गुनी हानि होती है।

इसी प्रकार अफ़ीफ फ़ीरोज तुगलक की संतों में श्रद्धा की प्रशंसा करता है, परन्तु साथ ही यह भी बताया है कि किस प्रकार फ़ीरोज एक बार शराब पीते हुये पकड़ा गया था, यद्यपि उसने शेख-उल-इस्लाम के सामने इससे परहेज करने की कसम खाई थी।

अफीफ ने फ़ीरोज की सेना की दुर्बलताओं का भी विवरण दिया है। सेना के पथ-प्रदर्शकों की अयोग्यता के कारण फ़िरोज दो बार अपने अभियानों से लौटते समय रास्ता भटक गया। केवल यही नहीं अपितु थट्टा के दूसरे अभियान के समय अनेक सैनिक सामग्री सहित घर लौट गये। यद्यपि उन्हें पकड़ लिया गया किन्तु फ़ीरोज ने उन्हें कोई दण्ड नहीं दिया। यदि किसी दूसरे सुल्तान के समय सैनिक इस प्रकार का व्यवहार करते तो सम्भवतः वह उन्हें दण्ड देता।

अफीफ ने फ़ीरोज की शासन व्यवस्था की दुर्बलताओं तथा अधिकारियों में अनुशासनहीनता का भी

वर्णन किया है। सैनिक सेवा को योग्यता की अपेक्षा सुल्तान वंशानुगत परम्परा को महत्व देता था। एक व्यक्ति के पश्चात् उसका पुत्र, दामाद अथवा गुलाम सेना में स्थान पाने का अधिकारी था। फ़िरोज किसी भी अपराध को क्षमा करने के लिए तैयार था। चाहे वह गबन का हो अथवा विद्रोह का। उसके द्वारा सैनिक को अपना घोड़ा पास करवाने के लिये दिये गये टंका की घटना सर्वविदित ही है। अफ़ीफ ने लिखा है कि सेनायें अत्यधिक सम्पन्नता, सुख, आनन्द, निश्चिन्तता के कारण बहुत से मुसलमान सुल्तान के साथ ही घूमा करते थे और वहां की सुख-सम्पन्नता के कारण उन्हें लौटना अच्छा न लगता था।" ऐसी स्थिति में उसकी सैनिक शक्ति का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

अफ़ीफ ने फ़ीरोज के समय की सम्पन्नता की प्रशंसा की है। फ़ीरोज ने बाँध बनवाकर, नये कस्बों को स्थापित कर तथा बागों, अस्पतालों और दान-विभाग खोलकर लोगों की सम द्धि और सम्पन्नता को बढ़ाया था। अफीफ ने लिखा है कि "सभी वस्तुएँ सस्ती थीं और प्रत्येक सामग्री का बाहुल्य था। देहली में गेहूँ आठ जीतल प्रति मन मिलता था। इसका कारण सुल्तान का सदाचार था। लोग इतने सुख में थे कि निर्धन लोग भी अपनी पुत्रियों का विवाह अल्पावस्था में कर देते थे।"

अफीफ के इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने इतिहास में अपने समकालीन राज्य के पतन के कारणों को ढूंढ निकालने का प्रयास किया है। वह इन कारणों को इतिहास के बाहर से न निकाल कर उसकी परिधि में से ही ढूंढ निकालता है। इसके लिये न तो वह ईश्वरीय इच्छा की ही दुहाई देता है और न ही कुछ घटनाओं को इसका उत्तरदायी मानता है। उसके अनुसार फ़ीरोज के राज्यकाल में राजकीय नीतियों में किये गये आमूल-चूल परिवर्तन ही इस पतन के लिये उत्तरदायी तत्व थे।

यहया-बिन-अहमद ने अपनी रचना "तारीख-ए-मुबारकशाही" में आम तौर पर छुट-फुट घटनाओं के कारणों का विश्लेषण किया है। उसने केवल एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना के कारणों का परीक्षण किया है यह घटना मुहम्मद तुगलक के राज्य के पतन से सम्बन्धित थी। इन कारणों में कहीं पर भी उसने ईश्वरीय इच्छा को पतन का कारण नहीं माना।

अमीर खुसरो के इतिहास-लेखन का अध्ययन हमें एक अलग ही ढंग से करना पड़ेगा क्योंकि उसने घटनाओं को अथवा उनके किसी पहलू का वर्णन व्यवस्थित रूप से नहीं किया है, उसे अपने संरक्षक सुल्तान से किसी घटना-विशेष को लिखने के आदेश मिले थे और इसलिये उसे अपने विचारों को स्वतन्त्र रूप से लिखने की सुविधा नहीं थी। उसे तो अपने संरक्षक की प्रशंसा ही करनी थी। और इस कार्य को उसने बखूबी निभाया है, यद्यपि उसने लगातार यह विश्वास दिलाने की कोशिश की है कि कवि के एक पद्य को भी खरीदना नितान्त मुश्किल है।

अमीर खुसरो ने अपने संरक्षकों का आंख मीच कर गुणगान किया तथा उनकी असफलताओं का जिक्र बहुत कम स्थानों पर किया है सम्भवतः वह उसको लिख भी नही सकता था। मंगोलों के नेता कुतलुग ख्वाजा व तार्गी के आक्रमणों का वर्णन उसने नहीं किया सुल्तान के प्रतिकूल होने के कारण नहीं किया। इसी तरह कैकुबाद के सम्बन्ध में वह लिखता है कि, उसने संसार को इस प्रकार व्यवस्थित किया कि लोग जमशेद को भूल गये।" इस प्रकार की अप्रसांगिक प्रशंसाओं से यह मान लेना कि उसने इतिहास के निहित सिद्धान्तों की अवहेलना की है उचित नहीं होगा क्योंकि उसने कैकुबाद के खेमे में रंगरलियों की भर्त्सना भी की है। इसी प्रकार वह अलाउद्दीन को जुल्म व अन्याय के शासन के प्रति आगाह करता है तथा यह सलाह देता है कि विजयों की तुलना में सुशासन ही अधिक अच्छा होता है। अमीर खुसरो की ये सब मंत्रणायें मात्र औपचारिक ही हैं। इतिहास उसके लिये एक जांच-पड़ताल का क्षेत्र नहीं था। इतिहास समकालीन साधनों को वह समयानुसार अपने ढांचे में ढालने की ही कोशिश करता रहा।

इतिहासकारों का द ष्टिकोण

सल्तनतकालीन इतिहासकार या तो दरबारी थे अथवा दरबारी बनने के लिये प्रयत्नशील थे, इसलिये उनकी रचनाओं में या तो शासक जाति या किसी वर्ग-विशेष की विचारधारा को दर्शाने का सतत् प्रयास दीखता है। इस आधार पर समस्त इतिहासकारों ने सुल्तान तथा अमीरों के सम्बन्ध के बारे में अधिक जानकारी दी है। वे जानते थे कि शक्तिशाली राजतन्त्र तथा उतना ही शक्तिशाली अमीर-वर्ग एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी हैं। सम्भवतः उन्होंने ये कल्पना की थी कि एक कमजोर शासक व एक शक्तिशाली अमीर वर्ग की जोड़ी ठीक रहेगी लेकिन उन्हें यह समझते अधिक देर नहीं लगी कि अन्ततोगत्वा इस प्रकार की व्यवस्था सल्तनत तथा अमीर वर्ग के विकास के लिये घातक सिद्ध होगी, क्योंकि अमीर-वर्ग में ही अनेकानेक दल खड़े हो गये थे। इसीलिये बरनी सुल्तान के शक्तिशाली होने पर बल देता है। उसके अनुसार ऐसे सुल्तान को सलाहकार समिति अपनी मंत्रणा अवश्य देती रहे। ऐसी समिति की सदस्यता के लिये वह उच्च-कुलीन जन्म को एक आवश्यक शर्त बताता है। अमीर-वर्ग में नये तत्वों के समावेश का विरोध करता है।

उसका इस नये तत्व से अर्थ हिन्दुओं तथा अकुलीन व्यक्तियों से था जो अमीर-वर्ग में प्रविष्ट होने को तत्पर थे तथा सुल्तानों को इनके साथ किसी प्रकार का समझौता करना पड़ रहा था। इसलिये बरनी ने हिन्दुओं के प्रति अत्यन्त अशोभनीय भाषा का प्रयोग किया है। इससे भी सन्तुष्ट न होकर उसने धर्म की आड़ में इन वर्ग के लोगों को अमीर-वर्ग से प थक रखने की जी तोड़ कोशिश की है। बरनी धर्म परिवर्तन करने पर भी इन निम्न-वर्ग के लोगों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन देने का विरोध ा करता है उसके इस मत की पुष्टि इमादुद्दीन रायहान अथवा खुसरो खाँ के उदाहरणों से होती है। अमीर खुसरो ने सामाजिक आधार पर हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति को आवश्यक माना है परन्तु राजनीतिक आधार पर वह इस नीति का विरोध करता है। एसामी ने मुहम्मद तुगलुक पर शरा का विरोध करने का आरोप लगाया है। क्योंकि यह अमीर वर्ग में हिन्दुओं और अकुलनीय मुसलमानों को उचित स्थान देने का समर्थक था। उसका मूल प्रश्न तो यथास्थिति को बनाये रखना था।

इसके अतिरिक्त ये इतिहासकार भली-भांति जानते थे कि इस्लाम तथा राजस्व सिद्धान्त परस्पर विरोधी तत्व हैं, परन्तु फिर भी इन्होंने राजस्व का समर्थन केवल इसलिये किया कि समकालीन सामाजिक पर्यावरण में ऐसी संस्था की अत्यन्त आवश्यकता थी। इस सीमित दायरे में भी उनके विचार समकालीन मापदंडों के आधार पर रूढ़िवादी ही थे। इन इतिहासकारों में से किसी ने भी मुहम्मद तुगलक की अमीर-वर्ग की सर्वसाधारण के लिये खोल देने की नीति का समर्थन नहीं किया। सदैव इसकी भर्त्सना ही करते रहे, लेकिन इनके इस द ष्टिकोण के होते हुए भी "सल्तनत" लगातार आगे बढ़ती ही रही।

मुगलकालीन भारतीय इतिहास-लेखन

मुगल काल में काफी ज्यादा इतिहास लेखन हुआ था और सम्पूर्ण इतिहास-लेखन का वर्णन कर पाना यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ हम केवल कुछ गिने-चुने मध्यकालीन इतिहास लेखन के नमूने, उनका स्वरूप और कमियों का ही वर्णन करेंगें। सबसे प्रमुख नाम बाबर के भारत के वर्णन, जिसे बाबरनामा के नाम से जाना गया का है। बाबर ने समकालीन भारत के लोगों, संस्थाओं और जलवायु आदि के बारे में जानकारी दीं। बाबर इतिहासकार नहीं था लेकिन फिर भी बाबरनामा में काफी दिलचस्प जानकारी हिन्दुस्तान के बारे में मिलती है। उसने लिखा है कि "हिन्दुस्तान काफी लम्बा-चौड़ा देश है। यह मनुष्यों और उपज से परिपूर्ण है..... हम अपने देशों से इसकी तुलना करे तो यह एक अन्य ही दुनिया मालूम होगी। यहां के पर्वत, नदियाँ, जंगल, नगर, खेत, पशु, वर्षा और वायु सभी भिन्न हैं।" बाबर ने हिन्दुस्तान की आकर्षण-शून्यता का जिक्र करते हुये कहा कि "हिन्दुस्तान की विलायतें (प्रदेश) और नगरों में कोई आकर्षण नहीं है। इसके समस्त नगर और भूमि एक प्रकार की है। यहाँ

के उद्यानों में चार दीवारी नहीं होती। इसके अधिकांश स्थानों पर समतल मैदान स्थित हैं। वर्षा के समय कुछ नदियों और नालों में बाढ़ आ जाती है और उनको पार करना मुश्किल हो जाता है। .....हिन्दुस्तान में पुखे, गाँव तथा शहर क्षणभर में बस जाते है और उसी प्रकार नष्ट भी हो जाते हैं। .....यदि उन्हें किसी स्थान को आबाद करना होता है तो उन्हें न नहर खोदने की जरूरत पड़ती है और न बांध बंधवाने की क्योंकि यहां वर्षा के सहारे ही कृषि होती है और लोगों की तादाद की तो कोई सीमा ही नहीं है।" बाबर ने हिन्दुस्तान के सामाजिक जीवन और व्यवहार के पहलुओं पर भी अपने वर्णन में रोशनी डाली। उन्होंने बताया कि "यहाँ के लोग बस्तियों और गाँवों में रहते हैं उनके भी नाम कबीलों (सम्भवतयाः जाति के नाम) के नाम पर होते हैं। यहाँ जितने भी शिल्पकार हैं उनके बाप-दादा भी पीढ़ियों से वहीं काम करते चले आ रहे हैं।"

हिन्दुस्तान के दोषों को बताते हुये उसने लिखा है कि, "हिन्दुस्तान में बहुत कम आकर्षण है। यहाँ के निवासी न तो रूपवान होते हैं और न सामाजिक व्यवहार में कुशल होते हैं। ये न तो किसी से मिलने जाते है ओर न कोई इनसे मिलने आता है। न इनमें प्रतिभा होती है और न इनमें कार्यदक्षता। न इनमें शिष्टाचार होता है और न उदारता। न तो यहाँ अच्छे घोड़े होते हैं और न अच्छे कुत्ते, न अंगूर होता है, न खरबूजा, और न उत्तम मेवे। यहां न तो बर्फ मिलती है और न ठंडा जल। यहां के बाजारों में न तो अच्छी रोटी मिलती है और न अच्छा भोजन ही प्राप्त होता हैं। यहाँ न हम्माम (गरम स्नानागार) है, न मदरसे, न शमा, न मशाल और न शमा-दान।

शमा और मशाल के स्थान पर यहा बहुत से मैले-कुचले लोगों का एक समूह होता है जो डीबटी कहलाते हैं। वे अपने बायें हाथ में एक छोटी सी तीन पांव की लकड़ी लिये रहते हैं उसके एक किनारे पर मोमबत्ती की नोक के समान एक वस्तु लगी रहती है। इनमें अंगूठे के बराबर एक मोटी बत्ती लगी रहती है।

कृषक तथा निम्न वर्ग के लोग अधिकांश नंगे ही रहते हैं। वे लोग एक लत्ते का टुकड़ा बांधते है जो लंगोटा कहलाता है। नाभि के नीचे एक लत्ते के टुकड़े को दोनों जांघों के बीच से लेते हुए पीछे ले जाकर बांध देते हैं। स्त्रियां भी लुंगी बांधती हैं। इसका आधा भाग कमर से नीचे होता है। और दूसरा सिर पर डाल दिया जाता है।"

बाबर का ये विवरण उचित नहीं मालूम पड़ता। बाबर ये समझने में असमर्थ रहा कि एक और तो वह विजित और विजेता के सामाजिक व्यवहार का वर्णन कर रहा है जिनमें अलगाव होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही वह यहां के निवासियों की व्यक्तिवादी प्रव त्तियों का उचित रूप से मूल्यांकन नहीं कर पाया। इसीलिये उसे यहाँ के सामाजिक व्यवहार में बड़ा ही अटपटापन लगता है। इसके अतिरिक्त बाबर जो कि स्वयं शराब की दावतों और खान तथा मलिकों द्वारा मित्रता प्रदर्शित करते हुए देखने का आदी था। वह यहां की स्थिति को समझ न सका। शराब पीना-पिलाना साधारण वर्ग के लिये नियम न होकर अपवाद था और इसीलिये सामाजिक व्यवहार की कमी थी। स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति में सामाजिक व्यवहार के बारे में गलत धारणायें बना लेना ही सम्भव था।

अबुलफ़ज़ल का अकबरनामा यद्यपि राजकीय इतिहास के अन्तर्गत आता है, परन्तु इसको लिखते समय उसने परिश्रम से स्त्रोतों का अध्ययन किया है और इस प्रकार से उसने इतिहास-लेखन के क्षेत्र को अधिक उन्नत किया है।

अबुलफ़ज़ल ने 'आईने-ए-अकबरी' में लिखा है कि इतिहास विश्व की घटनाओं का एक कालानुक्रम लेखा-जोखा है परन्तु न तो वो विश्व की घटनाओं का विवरण देता है और न ही अकबर के पूर्व के कालानुक्रम को पूर्णतया स्वीकार करता है। आदम से आरम्भ करने के कारण भी इसे विश्व-इतिहास कहना अनुचित होगा। अकबर के संरक्षण में अपने ग्रन्थ की रचना करने के कारण तथा उसके दरबार की चमक-दमक से वह इतना चौंधिया गया था कि वह उसे (दरबारी) ही मनुष्य की उत्पत्ति से अकबर तक समुज्जवल मानने लगा और इसीलिये उसने आदम के समय से इतिहास लिखना आरम्भ किया।

अकबर के काल को सुविधा–बिन्दु बनाकर उसने पूर्व के इतिहास को देखा और इसलिये अकबरनामा का प्रत्येक शब्द प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। दूसरे देशों से सम्बन्धित घटनाओं का विवरण भी इसी संदर्भ में कहीं-कहीं लिखा गया है। इस प्रकार अकबरनामा मोटे रूप से अकबरकालीन इतिहास है या अधिक से अधिक हम यह कह सकते है। कि यह मुगल शासक बाबर से लेकर अकबर के समय (रचना काल तक) का इतिहास है।

उसके इतिहास की परिभाषा से विचलित होने की महत्ता इसमें है कि वह कारण-कार्य-सम्बन्ध के लिये कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करता है परन्तु वह इन्हें सामान्य नियम का रूप ही देता है। ये सामान्य नियम क्योंकि अलग-अलग घटनाओं पर आधारित हैं इसलिये ये इतने व्यापक नहीं हो पाये हैं जिनके आधार पर समस्त घटनाओं के कारण-कार्य-सम्बन्ध को निश्चित किया जा सके। उसकी इस प्रव त्ति के पीछे यह भावना काम करती रही कि इतिहास विविध घटनाओं का एक संग्रह मात्र है और प्रत्येक घटना में कोई न कोई नैतिक सीख अथवा नैतिक शिक्षा अवश्य ही है इस आधार पर जब वह किसी घटना का वर्णन करता है तो उसके पहले ऐसी भूमिका बना देता है जिससे कि वह उससे कुछ शिक्षा निकाल सके। उदाहरण के लिये अकबर द्वारा दीन-ए-इलाही की स्थापना के पहले वो शासक को आध्यात्मिक नेता स्वीकार करता है तथा फिर ही दीन-ए-इलाही (तोहिद-ए-इलाही) की स्थापना की बात करता है। क्योंकि वह अलग-अलग स्थितियों की विवेचना करता है इसलिये सामान्य नियम (Generalizations) भी अलग-अलग होते हैं।

कभी-कभी अबुलफ़ज़ल किसी अप्रिय घटना का कारण-कार्य-सम्बन्ध ढूँढने के लिये रहस्यवादी (Mystical) विवरण का सहारा लेता है। इस प्रकार बैराम खाँ के वध के कारण को बताते हुये वह केवल यही लिखता है कि सम्भवतः उसके पूर्व कुकर्मों का ही ये फल था अथवा ईश्वर ने उसे और अधिक अपमान से बचाने के लिये ही ऐसा किया अथवा ईश्वर द्वारा उसकी प्रार्थना (म त्यु के लिये) को स्वीकार कर लिया गया। अबुलफ़ज़ल ने किसी व्यक्ति से द्वेष मोल न लेने के लिये ही इस प्रकार के कारणों पर घटनाओं को लिखने का प्रयास किया है।

अबुलफ़ज़ल ने इस कारण-कार्य-सम्बन्ध के सम्बन्ध में अपनी दो धारणायें बना रखी थीं। प्रथमतः अकबर में देवत्व का पुट है तथा कि प्रत्येक के लिये अकबर के प्रति स्वामिभक्ति एक आवश्यक गुण है। उसकी ये मान्यता रही कि कोई भी कार्य जो इसके विरुद्ध किया जायेगा कर्ता को उसका प्रतिफल या दण्ड अवश्य ही मिलेगा। इसलिये अकबर के विरुद्ध किया गया प्रत्येक विद्रोह विफल होगा।

अबुलफ़ज़ल ने अकबरनामा के दूसरे भाग में इतिहास के प्रति अपने विचार व्यक्त किये हैं। इससे ऐसा अनुभव होता है कि एक लम्बे समय तक उसकी तन्मयता धर्म तथा दर्शन तक ही सीमित थी। इतिहास के प्रति उसका कोई स्थान न था और वह उसे उपेक्षा की द ष्टि से देखता था। उसके लिये इतिहास का अध्ययन पौराणिक गाथाओं के अध्ययन से अधिक न था और इसलिये समय की बर्बादी के अतिरिक्त और कुछ न था। इसके अतिरिक्त क्योंकि इतिहास-लेखन स्वार्थ- परायण लेखकों के हाथ में था इसलिये उन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु सत्य को असत्य से मिलाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। वे लेखक जो सच्चे व ईमानदार थे, वे अल्प-ज्ञानी थे और इसलिये उनका विवरण नितान्त बेतुका अथवा हास्यास्पद था। समय के साथ-साथ क्योंकि ऐतिहासिक स्त्रोत विलुप्त होते जा रहे थे इसलिये इतिहास-लेखन और भी अधिक कठिन होता जा रहा था। आलोचनात्मक अन्वेषण की कमी ने रही-सही कसर पूरी कर दी थी। इसके साथ ही कुछ इतिहासकारों ने अपनी ओर से ही कुछ विवरण जोड़ दिया था जिसका परिणाम हुआ कि असत्य और अप्रमाणिक बातों ने इतिहास का रूप ले लिया जिससे लाभ की अपेक्षा हानि भी अधिक हुई।

अबुलफ़ज़ल द्वारा ये आलोचना साधारणतया इस्लाम के इतिहास और भारत के मुस्लिम शासकों पर लागू होती है। इसका अर्थ था कि अबुलफ़ज़ल का उन सब इतिहासकारों से मतभेद था जिन्होंने

भारत के मुस्लिम विजेताओं अथवा यहां के शासकों की गतिविधियों के सम्बन्ध में लिखा है। इन लेखकों के लिये भारतीय इतिहास हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के समर्थकों के बीच एक संघर्ष था, जो कि निर्मूल था। उनकी इसी व्याख्या ने लोगों को पथ-भ्रष्ट किया तथा भारतीय समाज को हानि पहुँचाई। अबुलफ़ज़ल ने इन विवेकहीन इतिहासकारों के मत को अस्वीकारा है।

ऐसा अनुभव होता है कि अबुलफ़ज़ल ने इतिहास के अपने इन विचारों पर पुनः मनन किया। धीरे-धीरे उसकी यह धारणा बन गई कि इतिहास के अनुभव और प्राप्तियाँ जानकारी व बुद्धिमानी के लिये एक सशक्त स्त्रोत हैं वह यह मानने लगा कि इतिहास संतों और दार्शनिकों की बुद्धिमानी के तथा भावी पीढ़ियों को संचालित करने का अच्छा साधन है। इसलिये इतिहास अपनी सीमाओं के बाद भी अध्ययन का एक अच्छा विषय है। वह यह मानने लगा कि इतिहास तर्क को शक्तिशाली बनाने के लिये एक अच्छा साधन है। सत्य की अनूभूति मनुष्य का अन्तिम ध्येय है क्योंकि वह विवेक-बुद्धि से प्राप्य है इसलिये इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। अबुलफ़ज़ल यह भी मानता है कि इतिहास का अध्ययन मनुष्य को अपने दुखों तथा तकलीफों पर काबू पाने में सहायक है। वह इतिहास की तुलना एक औषधालय से करता है जहाँ मनुष्य को अपने उदास व दुःखी जीवन से उभरने के लिए औषधि मिलती है।

अबुलफ़ज़ल के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि इतिहास के प्रति द ष्टिकोण पूर्णतया विवेक पर आधारित है। यदि इतिहासकार का द ष्टिकोण बुद्धि-संगत नहीं है जिससे कि वह गेहूँ को भूसे से अलग कर ले तो उसकी रचना नितान्त निकम्मी होगी जिसमें केवल गल्प या काल्पनिक बातें ही होंगी। वह इस बात पर भी जोर देता है कि इतिहासकार को अपना समस्त विवरण मूलतः आधारभूत साधनों के गहन अध्ययन पर ही आधारित करना चाहियें

इसके अतिरिक्त वह इतिहास की कहीं पर भी तफ़सीर अथवा फ़िक का सम्बन्धित भाग नहीं मानता है। इसके विपरीत वह इतिहास तथा दर्शन में एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। उसके अनुसार इतिहास तथा दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं। अबुलफ़ज़ल के इसी द ष्टिकोण ने उसे बरनी तथा बदायूनी से अलग ही एक श्रेष्ठतम श्रेणी में ला खड़ा किया है। साधारण शब्दों में उसका द ष्टिकोण धार्मिक न होकर धर्म-निरपेक्ष है।

अबुलफ़ज़ल के अनुसार इतिहास युद्ध व अभियानों, आमोद-प्रमोद व उत्सव सम्बन्धी पार्टियों का लेखा-जोखा ही नहीं है। इतिहास पराक्रम व कायरता, उदारता व नीचता, दयालुता व कठोरता के विवरण के साथ ही साधारण-वर्ग की स्थिति व सरकार की नीतियों पर प्रकाश डालता है। तथा आये हुये परिवर्तनों को प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त यह सन्तों की वाणी व विद्वानों की विद्वता को भी संजोता है।

इन मान्यताओं के आधार पर उसने अपने ग्रन्थ की रचना की। यह पहला मध्यकालीन इतिहाकार था जिसने मूल स्त्रोतों के महत्व को स्वीकारा तथा एक ही घटना को जानने के लिए विभिन्न और विरोधी स्त्रोतों का अध्ययन कर उनको तर्क की कसौटी पर कसा व सत्य की ढूँढ निकालने का प्रयास किया।

इतिहासकार के रूप में अबुलफ़ज़ल के स्थान को निश्चित करना इस बात पर निर्भर होगा कि उसने किन परिस्थितियों में कार्य किया। उसकी प्राप्तियों तथा परिसीमाओं को हम उसकी समाज में स्थिति, उसके शैक्षिक-प्रशिक्षण तथा धार्मिक व राजनीतिक विचारों के अन्तर्गत ही जान सकते हैं। वह राजनीतिक व धार्मिक विषयों में अधिक सक्रिय था और इन विषयों से सम्बन्धित द ष्टिकोण ने ही उसकी रचना को अधिक प्रभावित किया है।

प्रथमतः व अकबर का विशेष कृपापात्र, विश्वसनीय दरबारी था और मुगल साम्राज्य के नये उभरते हुए स्वरूप के विरोधियों का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। इसके साथ ही अकबर के प्रति उसका द ष्टिकोण अत्यन्त श्रद्धामय भी था। यह सम्भव है कि अकबर के प्रति यह भाव उसने अपने स्वार्थ हेतु अपनाया

हो, परन्तु यह अधिक महत्वपूर्ण है कि राजनीतिक तथा धार्मिक मामलों में उसकी मान्यतायें पूरी तरह से अकबर के विचारों से मेल खाती थीं। धार्मिक सहिष्णुता में अटल विश्वास सम्भवतः उन यातनाओं की उपज थी जिनको उसने तथा उसके परिवार ने कट्टरपन्थी उलेमाओं के हाथों भुगता था। सहिष्णुता में उसका विश्वास ही अकबर के साथ उसकी मित्रता का मूलाधार था। उसने अकबर में एक ऐसी प्रतिभा पाई जिसकी उसने एक शासन व दार्शनिक के रूप में कल्पना की थी। इसी कारण अकबर उसका आदर्श बन गया। कारण कुछ भी रहा हो परन्तु यह निश्चित है कि उसने अकबर की रीति नीति के साथ अपना तादात्मय स्थापित कर लिया। अकबर के धार्मिक विचारों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि यद्यपि वह अकबर की सहिष्णुता की नीति के विकास में अधिक सक्रिय नहीं रहा हो, परन्तु उसने अकबर को सदैव ही कट्टरपंथियों के विरुद्ध खड़ा रहने का नैतिक साहस अवश्य प्रदान किया था। उसकी राजकीय स्थिति तथा उसके धार्मिक व राजनीतिक मान्यताओं ने उसे सदैव ही इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह अकबर के कार्यों और नीतियों का अनुमोदन करें। इसीलिये उसने अकबर को अपना आदर्श मान लिया। स्वाभाविक था कि इस आधार पर वह केवल पक्षपातपूर्ण विवरण ही दे सकता था जिसमें आदर्श की अच्छाइयों को अधिक उभारने के साथ ही उसकी कमियों को छिपाना निहित था। (हमें यहां यह जान लेना अधिक ठीक होगा कि उसने विवरण अधिकतर सत्य ही दिया है।) अकबर के विशाल व्यक्तित्व, समकालीन समस्यायें तथा विषय-वस्तु की विपुलता ने उसे एक ऐसा प्रकरण प्रस्तुत किया जिस पर वो एक महाकाव्य की रचना कर सकता था। भाषा पर अपने एकाधिकार ने उसे इतिहास तथा महाकाव्य को एक साहित्यिक रूप देने के लिये प्रेरित किया, परन्तु वह इसमें सफल न हो पाया।

इस साहित्यिक प्रयास का परिणाम निकला कि वह अकबर कालीन शासन का व हत वर्णन देने में ही समर्थ हो पाया है। इतिहासकार के रूप में अबुलफ़ज़ल की असाधारण प्राप्ति रही कि वह एक ऐसी रचना कर पाया जो महाकाव्य के समान है। 'अकबरनामा' व आईने-ए-अकबरी' में उसने अकबर की महानता को एक मूर्तरूप दिया है। पाठक एक और यदि अकबर की शारीरिक शक्ति से अभिभूत हो जाता है तो दूसरी ओर वह उसके न्यायोचित द ष्टिकोण से आवाक रह जाता है।

अकबर की सहिष्णुता की नीति तथा व्यवहार, उसकी लाकोपयोगी प्रशासनिक व्यवस्था (जिससे कि साधारण-वर्ग की स्थिति में बहुमुखी सुधार हो) अबुलफ़ज़ल ने इस प्रकार से लिखी है जिसने अकबर को अमर बना दिया है। वह भारतीयों के लिये एक अनुश्रति बन गया जो पूर्णतया उनके कल्याण के लिये कटिबद्ध था। यह अपने आप में कोई छोटी उपलब्धि नहीं है। अबुलफ़ज़ल इस आधार पर बड़ा ही भाग्यशाली इतिहासकार था।

इसके अतिरिक्त अबुलफ़ज़ल के समकालीन इतिहास की विवेचना भी महत्वपूर्ण है। वह इस क्षेत्र में मान्य ऐतिहासिक परिपाटियों को तोड़ने में समर्थ हुआ। उसका इसमें तनिक भी विश्वास न था कि भारतीय इतिहास मात्र मुस्लिम शासकों की उपलब्धियों का लेखा-जोखा हो। वह अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों के इस विचार से भी सहमत नहीं था कि भारतीय इतिहास इस्लाम तथा हिन्दू शक्तियों के बीच एक संघर्ष था। अबुलफ़ज़ल के लिये यह स्थिरता, द ढ़िकरण व आदर्श शासक के अन्तर्गत कुशल सरकार (जो सांसारिक व आध्यात्मिक बातों में अपनी प्रजा का नेत त्व कर सकती थी।) व जमींदारों के नेत त्व में विघटित शक्तियों के बीच संघर्ष था। अबुलफ़ज़ल के लिये मुगल- राज्य एक भारतीय राज्य था क्योंकि हिन्दू तथा राजपूत अभिजात वर्ग के धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मांगों को पूर्णतया मान्यता मिल चुकी थी इसीलिये इन परिस्थितियों में उनके पास साम्राज्यिक (Imperial) शक्ति में मिलने के अतिरिक्त कोई दूसरा औचित्य नहीं था। अबुलफ़ज़ल में जिस प्रकार से राजपूतों के विरुद्ध किये गये अभियानों का विवरण दिया है उससे उसका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। अबुलफ़ज़ल की इतिहास की इस व्याख्या ने बाद के इतिहासकारों को प्रभावित किया जिन्होंने कि राजनीतिक गतिविधियों को उसी के द ष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। यद्यपि ऐसे इतिहासकारों की संख्या अत्यधिक न्यून है, परन्तु उनका होना ही अबुलफ़ज़ल के प्रभाव को प्रमाणित करता है।

इसके साथ ही अबुलफ़ज़ल की हिन्दू-दर्शन तथा धर्म में रूचि किसी प्रकार से कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसने उन पहलुओं का बड़ी ही सावधानी और सहानुभूतिपूर्ण द ष्टिकोण से अध्ययन किया। उसका ये अध्ययन उसकी विषयनिष्ठता का प्रमाण है। सम्भवतः अलबरुनी के बाद वह पहला इतिहासकार था जिसने उचित ऐतिहासिक संदर्भ में हिन्दू धर्म व समाज का अध्ययन किया। समकालीन हिन्दू समाज को उनके पूर्व के इतिहास के संदर्भ में समझने का प्रयास न केवल एक मौलिक प्रयोग था अपितु एक आदर्श द ष्टिकोण भी था।

अबुलफ़ज़ल की इन उपलब्धियों ने उसके लिये मध्यकालीन इतिहासकारों में एक सम्मानित स्थान सुरक्षित कर दिया है। परन्तु इसके साथ ही उसमें अनेक कमियां भी थीं।

उसने इतिहासकार के लिये विवेकी द ष्टिकोण पर अधिक बल दिया है परन्तु जब वह अकबर के असाधारण आध्यात्मिक गुणों का अथवा उसकी प्राप्तियों का विवरण देता है तो स्वयं द्वारा निश्चित कसौटी पर अकबर के कार्यों को कसना भूल जाता है। उसका विवेक ऐसे समय में भोलेपन और अन्धविश्वास के सामने घुटने टेक देता है जो उस जैसे इतिहासकार के लिए शोभनीय नहीं है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी वह ऐसी घटनाओं को पूरी तरह छोड़ जाता है जिनसे अकबर की बुद्धिमानी पर किसी प्रकार की आंच आये। उदाहरण के लिये अकबर ने जागीरों को खालसा भूमि में परिवर्तित कर उसकी व्यवस्था "करोड़ियों" को सौंपी तो उसकी यह व्यवस्था नितान्त असफल रही परन्तु अबुलफ़ज़ल ने अकबरनामा में कहीं पर भी इस विफलता का विवरण नहीं दिया है। उसकी चुप्पी ही इस संदर्भ में अनिष्ट-सूचक है।

अब्दुल कादिर बदायूनी ने अपने ग्रन्थ भुन्तखबुतवारिल की रचना मोटे रूप से राजनीतिक इतिहास के रूप में ही की है और इसलिये उसमें युद्धों, विद्रोहों आदि का वर्णन खासा मिलता है बदायूनी के लिये इतिहास मात्र राजनीतिक घटनाओं का लेखा-जोखा ही नहीं है इसलिए उसने अन्य प्रकार की जानकारी भी दी है। प्रशासनिक संस्थाओं में उसने करोड़ी पद्धति की असफलता अथवा "घोड़ा-दाग" की पद्धति का विस्तार से वर्णन किया है। उसके विवरण से ही स्पष्ट हो पाता है कि बंगाल और बिहार के विद्रोहों के कारण "घोड़ा-दाग" की पद्धति अपनाई गई थी। इसी प्रकार वह चित्तौड़ की विजय के समय राजपूत स्त्रियों द्वारा किये गये जौहर का वर्णन करता है अथवा अकबर के समय के अकालों की जानकारी भी विस्तार से देता है। इसी प्रकार वह धर्म के अनेक पहलुओं पर उलेमाओं के विचार भी लिखता है। वह राज्य के हकीमों के जीवन के बारे में भी चर्चा करता है परन्तु आर्युविज्ञान की स्थिति के बारे में मौन है। बदायूनी के सम्बन्ध में मुश्किल ये थी कि वह प्रत्येक व्यक्ति को केवल इस कसौटी पर कसता है कि वह शरा का कितना पालन करता है और उसी अनुपात में वह उसका मूल्यांकन कर देता है इसलिये ही उसने जीवन-सम्बन्धी जानकारी देने के बाद भी हकीमों की प्राप्तियों का वर्णन नहीं किया है।

बदायूनी ही एकमात्र हमारे पास ऐसा समकालीन इतिहासकार है जो इबादतखाने में हुए वाद-विवादों की जानकारी देता है। अबुलफ़ज़ल महज़र से सम्बन्धित पूर्व की घटनाओं की बड़ी ही सरसरी जानकारी देता है और निज़ामुद्दीन अहमद का विवरण अप्रयाप्त है। बदायूनी ने क्योंकि इन वाद-विवादों में स्वयं भाग लिया था इसलिये वह हमारे लिये चश्मदीद गवाह (जिसने स्वयं आंखों से देखा हो) है। उसकी रचना के इर्ग इबादतखाने में हुये वाद-विवादों के अनेक तथ्य भूत के गर्भ में ही रह गये होते। परन्तु इसी आधार पर उस द्वारा दिये गये तथ्यों को प्रमाणित मान लेना उचित न होगा क्योंकि उसने इबादतखाने की कार्यवाहियों को अपने ही ढंग से देखा है और अपनी ही कसौटी पर कसा है।

बदायूनी को शोध अथवा अनुसन्धान में कोई रुचि नहीं थी और न ही इतिहास के ज्ञान को बढ़ाने की ही उसका इच्छा थी। वह बड़े ही सरल स्वभाव से लिखता है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना से उसके समय तक का विवरण "तीरख-ए-मुबारकशाही" व "तबकात-ए-अकबरी" पर आधारित है।

स्वयं के लिये बदायूनी का यह मूल्यांकन अत्यधिक विनम्र है। "मुन्तखब" पर एक सरसरी निगाह डालने से ही यह साफ हो जाता है कि उसकी जानकारी के साधन उसके द्वारा बताये गये साधनों से अधिक थे। उदाहरण के लिये इल्तुतमिश का बाल्यकाल उसने मिनहाज की रचना "तबकात-ए-नासिरी" से लिया था अथवा अलाउद्दीन खलजी के सुधार व गियासुद्दीन तुगलक के विवरण के लिये उसने बरनी की "तारीख-ए-फीरोजशाही" की सहायता ली थी। इसी प्रकार शेरशाह के समय में मार्गों की सुरक्षा का विवरण उसने अब्बास खाँ शेरवानी की रचना "तोहफ़ा-ए-अकबरशाही" से लिया है। इस प्रकार हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उसके साधन उस द्वारा गिनाये गये साधनों से कहीं अधिक थे।

यद्यपि बदायूनी ने अपने काल के पूर्व के विवरण के लिए अनेक स्त्रोतों का उपयोग किया था परन्तु अपने समय की घटनाओं के विवरण के लिये उसने न तो सरकारी दस्तावेजों का ही उपयोग किया है और न ही किन्हीं दूसरे स्त्रोतों का। उसने यह विवरण घटनाओं को स्वयं के देखने अथवा सुनने अथवा वार्तालाप के आधार पर ही लिखा है। केवल यही नहीं अपितु वह कभी-कभी दूसरे व्यक्तियों के विचारों अथवा उनके नाम पर थोपे गये विचारों के आधार पर भी लिख देता है, इसीलिये बदायूनी की रचना इतिहास न लगकर केवल संस्मरण लगती है।

इसके अतिरिक्त उसके द्वारा कुछ और जोड़ देने की बात भी है। बदायूनी ने अकबर के समय की घटताओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया बढ़ाने के लिये ही "मुन्तखब" की रचना की थी इसलिये स्वाभाविक था कि वह राजनैतिक घटनाओं को लिखने के बाद भी वह उनके प्रति उदासीन था। राजनैतिक घटनाओं की अपेक्षा वह काव्य-रचना को अधिक नहीं तो कम से कम बराबरी की महता देता है, और इसीलिये उसकी रचना में अनेक पद, "कसीदे" आदि मिलते हैं। सुल्तान रजिया के राज्याभिषेक व उसके शासन के विवरण के बीच ही वह कविता के पद लिख देता है। उसी प्रकार नासिरुद्दीन के राज्यकाल का विवरण वह केवल चार प ष्ठों में करता है जबकि 31 प ष्ठ उसके समय में रचित कसीदों से भरे हैं। इसी प्रकार शहज़ादा मुहम्मद की म त्यु पर वह अनेक शोकगीत उद्यत कर देता है। बदायूनी की ये प्रव त्ति उसके अपने समय के दिये गये विवरण के लिये भी पूरी तरह से यही रही है। उसने न तो अकबर की मनसबदारी प्रथा का ही वर्णन किया है और नही उस समय की राजस्व व्यवस्था का।

बदायूनी ने इस "कुछ ओर" के अन्तर्गत सूफियों आदि का भी वर्णन दिया है। वह कभी-कभी अपने विवरण के बीच में ही किस्से अथवा कहानी भी लिखने लगता है और ये उसके विवरण को रूचिकर बना देते हैं। पाठक यहीं यह अनुभव करने लगता है कि उसने इस विवरण को शरा के चश्मे से नहीं देखा है अन्यथा शरा कसौटी उसकी पहली और अन्तिम कसौटी थी।

बदायूनी इतिहास के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखता है कि इतिहास ज्ञान की एक उच्च शाखा है जो बुद्धिमानों के लिये अनुभव का कोष है तथा सतर्क व्यक्तियों के लिये यह चेतावनी का एक माध्यम है। निष्ठा अथवा ईमान को शक्तिपूर्ण बनाने के लिये यह नींव है। इसलिये "मुन्तखब" की रचना वह उन लोगों के लिये मानता है जो ठोस चरित्र तथा उत्तम बुद्धि के धनी हों और जिनका न्याय के प्रति स्वाभाविक रुझान हो। वह अपनी कृति उन लोगों के लिये नहीं मानता जो शरा का उल्लंघन करते हों। उसकी रचना पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है कि वह इसको इस्लाम के सच्चे समर्थकों के लिये ही मानता है। बदायूनी ने इसकी रचना अत्यन्त तनावपूर्ण वातावरण में की थी। जब कि वह देख रहा था कि अकबर किस व्यवस्थित रूप से इस्लाम की जड़ें खोद रहा है। वह इससे अत्यधि ाक क्षुब्ध था। इसी द ष्टिकोण से उसने इसे लिखा है।

बदायूनी की इस्लाम की मान्यता बड़ी ही सहज थी। वह 7 वीं से 16 वीं शताब्दी तक इस्लाम के ऐतिहासिक विकास को समझ नहीं पाया। बदायूनी यह भूल गया कि इस्लाम ने अरब की पुरातन सीमाओं से निकल कर एक व्यवस्थित राज्य का रूप धारण कर लिया है। वह अब भी इस्लाम का

अरबी रूप ही देखता था इसलिये वह कोई ऐसा रास्ता नहीं निकाल सका जिससे इतिहास के अंतरिक्षी (Cosmtc) क्रम को समझा जा सके। वह यह अनुभव नहीं कर सका कि इस्लाम को बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार ढालने की आवश्यकता है।

अपनी मूल मान्यता को मानते हुये कि राज्य द्वारा इस्लाम को क्षति पहुँचाई जा रही है, वह केवल अपने अनुभव के आधार पर ही घटनाओं का विवरण देता है। वह इतिहास के साथ एक सम्पूर्ण जैव (Organic) के व्यवहार की अपेक्षा उसे कहानियों और जीवनियों के बराबर मान लेता है।

इस सम्बन्ध में बदायूनी की यह कमजोरी रही कि उसने व्यक्तियों की परख मानवीय इच्छा-शक्ति के आधार पर की है उसके अनुसार जिन-जिन व्यक्तियों ने अकबर के मानस को दूषित किया वह केवल उन्होंने अपनी इच्छा-शक्ति से किया जिसके आधार पर आत्मीय सुखों की अपेक्षा उन्होंने स्वयं को सांसारिक सुखों का दास बनाया था। यदि ऐसा न होता तो वे भी उसी प्रकार का व्यवहार करते जैसा कि वह स्वयं कर रहा था। इसीलिये वह अकबर की नीति का विरोधी रहा। इसके साथ ही वह जान लेना भी अधिक उचित होगा कि बदायूनी ने अपने विरोधियों पर जो आक्षेप लगाये हैं वे व्यक्तिगत आधार पर ही हैं क्योंकि उसने कहीं भी सैद्धान्तिक आधार पर उनकी आलोचना नहीं की है।

इसके साथ ही बदायूनी कारण-कार्य-सम्बन्ध को पूरी तरह नहीं दर्शा पाया है। उसने घटनाओं का प थक-प थक वर्णन किया है। वह न तो इतिहास के सन्दर्भ में उनका तर्काधार ही ढूँढ पाया है और न ही उनके परस्पर सम्बन्ध को निश्चित करने में सफल हुआ है। जैसे वह की अकबर धार्मिक नीति के विकास से सम्बन्धित प्रत्येक घटना का विवरण देता है परन्तु न तो वह यह बताता है कि अमुक घटना किन-किन पूर्व की घटनाओं का परिणाम थी ओर न ही वह यह बता पाया है कि नई धार्मिक नीति अकबर-कालीन नीतियों तथा संस्थाओं में परिवर्तन आने के फलस्वरूप थी।

अकबर के प्रति उसका द्वेष भावात्मक व व्यक्तिगत है और वह उसको तर्कसंगत बनाने की कोई कोशिश नहीं करता है। उसकी धार्मिक कटट्रता मध्यकाल के लिये कोई नई चीज नहीं थी क्योंकि इस क्षेत्र में बरनी उसका पूर्वज था। परन्तु जहां बरनी राज्य-नीति के लिये एक विकल्प बताता है वहाँ बदायूनी उसे पूरी तरह ढाकर (विध्वंस कर) कोई नये विकल्प के प्रति मौन रहता है। इसका कारण है कि बरनी ने इतिहास एक जीवित प्रक्रिया के रूप में देखा जिससे कुछ शिक्षायें प्राप्त की जा सकती हैं और उनके सन्दर्भ में वह इस्लाम को बुद्धिसंगत बनाने के लिये भी तत्पर था परन्तु बदायूनी के लिये इतिहास का तर्कसंगत अध्ययन शरा के प्रति अटूट विश्वास को झकझोर देगा, इसलिये इतिहास को वह केवल गल्पों व जीवनियों के समय मानता है जिसमें अधिक सदाचारी व्यक्तियों के लिये कुछ उदाहरण ही ढूँढ निकालना सम्भव है।

अबुलफ़ज़ल तथा अन्य मुगलकालीन इतिहाकारों की तरह अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा लिखा गया शाहजहाँ के काल का पादशाहनामा भी काफी महत्वपूर्ण कार्य था। अन्य दरबारी इतिहासकारों के समान लाहौरी को मुगल प्रशासन के अधिकृत अभिलेखों के अध्ययन करने की सुविधा प्राप्त थी। इसके अलावा उसने अन्य फारसी ग्रन्थों का अध्ययन भी किया था। पादशाहनामा में अब्दुल हमीद लाहौरी ने मुख्यतया शाहजहाँ कालीन राजनीतिक हलचलों और अभियानों का विस्तार से वर्णन किया है। अबुलफ़ज़ल के समान लाहौरी ने भी अपने संरक्षक के शासन-काल की छोटी से छोटी घटना का वर्णन किया है। उसका वर्णन काफी विश्वसनीय प्रतीत होता है हालाँकि शाहजहाँ की अत्यधि ाक प्रशंसा कई जगहों पर की गई है लेकिन यह दोष लगभग इस काल के सभी इतिहासकारों में पाया जाता है। राजनैतिक वर्णन के साथ-साथ, हमें लाहौरी से उस काल की सामाजिक ओर सांस्कृतिक जीवन की भी गहरी जानकारी हासिल होती है। लेकिन आर्थिक दशा और उसके बारे में जानकारी लगभग शून्य है। अब्दुल हमीद लाहौरी अधिकांश घटनाओं के कारण और परिणामों का विश्लेषण भी ठीक से प्रस्तुत नहीं करते। यह कमी भी इस समय के लगभग सभी इतिहासकारों में पाई जाती है। मध्यकालीन इतिहासकार में हम वैज्ञानिकता नहीं ढूँढ सकते। अपने संरक्षक का

ही गुणगान वह ज्यादातर समय करते नजर आयेंगे और इस वजह से वे घटनाओं के वर्णन में पूरी तरह वस्तुनिष्ठ नहीं हो पाते हैं। लाहौरी ने अबुलफ़ज़ल को आदर्श मानकर उन्हीं की शैली का अनुसरण करने की कोशिश की।

खाफी खाँ द्वारा फारसी में लिखी मुन्तखब-उल-लुबाव तैमूर वंश का इतिहास है जो सन् 1519 से सन् 1733 तक की घटनाओं का वर्णन करने वाली ऐतिहासिक रचना है। खाफी खाँ के अनुसार एक इतिहासकार को उच्च आदर्श का पालन करना चाहिये—उसे सत्यभाषी होना चाहिये और बिना किसी लाभ की आशा के, पक्षपातरहित इतिहास लिखना चाहिये। उसने कहा कि किसी वजीर या अमीर को खुश करने के लिये उसने किसी खास पक्ष को ज्यादा प्राथमिकता नहीं दी है। प्रत्यक्ष तौर पर खाफी खाँ ने औरंगजेब के काल की घटनाओं को तो लिपिबद्ध किया ही और साथ ही साथ उपलब्ध जानकारी के आधार पर मुगलों का सम्पूर्ण इतिहास लिखने की कोशिश की थी। हाँलाकि खाफी खाँ ने शिवाजी को विद्रोही ही माना था और उसे अफजल खाँ का हत्यारा बताया लेकिन उसने शिवाजी की वीरता की भी तारीफ़ की है और लिखा है कि इस मराठा नेता ने अपने अनुयायियों को मस्जिदों, खुदा के पवित्र ग्रंथ (कुरान) और स्त्रियों को हानि न पहुँचाने के आदेश दिये थे। यद्यपि खाफी खां ने मुन्तखब-उल-लुबाब में काफी हद तक वस्तुनिष्ठ होने की कोशिश की थी लेकिन निजाम-उल-मुल्क की सेवा में होने के कारण उसकी सहानुभूति अपने स्वामी के प्रति साफ झलकती है। वह अपने संरक्षक की भूलों का जिक्र नहीं करता और उसके विरोधी सैय्यद बंधुओं की निंदा करता है। उसने निजाम-उल-मुल्क के वजीर पद को छोड़कर हैदराबाद जाने के निर्णय को औचित्यपूर्ण बताया। यद्यपि सैयद बन्धुओं के मुकाबले में खाफी खां अपने संरक्षक के प्रति अधिक सहानुभूति रखता था किन्तु शिया मुसलमान होने के कारण उसने कहीं कहीं पर सैय्यद बंधुओं के कार्यों के लिये तुर्रानी दल के अमीरों को दोषी ठहराया है। राजस्व वसूली में कार्यरत होने के कारण खाफी खाँ को राजस्व-प्रशासन का विशेषकर स्थानीय स्तर के प्रबंध के सम्बन्ध में अच्छा अनुभव था। हाँलाकि खाफी खाँ स्वयं राजस्व-प्रशासन में अमील था लेकिन उसने अमीलों को निर्दयी और भ्रष्ट बताया है। खाफी खाँ के अनुसार, राजस्व अधिकारी गरीब किसानों को लूटते थे ओर सरदार का धन भी हड़प रहे थे। उसने स्वीकार किया कि उसने भी किसानों पर अत्याचार किये थे। उसके अनुसार सुअरों को चरागाह तक ले जाने और कुत्तों को पालने का कार्य राजस्व-वसूली के कार्य से कहीं ज्यादा अच्छा था। इसी प्रकार खाफी खां ने समकालीन इजारेदारी प्रथा को किसानों के लिये नुकसानदायक बताया। बहादुरशाह के समय से मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया पर भी उसने अपने विचार व्यक्त किये—मनसबदारी की कमियों, अमीरों की दलबंदी और सैय्यद बंधुओं की प्रशासनिक अयोग्यता सब पर उसने अपने विचार दिये। प्रशासनिक व्यवस्था में आ रहे दोषों को खाफी खाँ ने प्रकट किया था और अन्य फारसी भाषा के इतिहासकारों के समान उसमें औरंगजेब के काल के युद्धों और सैन्य अभियानों का वर्णन भी किया। इन सैन्य अभियानों में यद्यपि, खाफी खां ने उनके कारण और परिणामों की विस्तार से चर्चा नहीं की। अपनी इन खामियों के बावजूद खाफी खां की मुन्तखब-उल-लुबाब एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक रचना का नमूना मानी जा सकती है।

अध्याय - 6

इतिहास के द ष्टिकोण

(Approaches to History)

धार्मिक द ष्टिकोण (Theological Approach)

इतिहास को समझने का धार्मिक द ष्टिकोण हर देश और काल में पाया जा सकता है लेकिन इसके विशिष्ट लक्षणों और स्वरूप को समझने के लिये हम ईसाईयत के इतिहास के बारे में द ष्टिकोण पर ही ज्यादा ध्यान केन्द्रित करेंगें। ईसाई विचारक, अन्य धर्मों की तरह ही, संसार को भगवान की लीला ही मानते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि मानवीय क्रिया-कलाप अपने आप में उतने महत्वपूर्ण नहीं है। धार्मिक नजरिये से इतिहास को देखने का मतलब यह होगा कि दुनिया और उसका इतिहास-विविध इन्सान के क्रिया-कलाप जो इतिहासकार के लिये अध्ययन का विषय होते है; वह सब भगवान की इच्छा को ही दर्शाते हैं और इस तरह का इतिहास-लेखन भी स ष्टि तथा प्रलय के शाश्वत नाटक की कथा वस्तु की तरफ ही इशारा किया करता है। इस धार्मिक नजरिये से देखने वाले इतिहास लिखेगें तो वह इतिहास विशिष्ट व्यक्तियों के विचारों या गतिविधियां का वर्णन नहीं हो सकता, ना ही सामाजिक संस्थाओं के विकास या प्रसार की कहानी होगा बल्कि दैवी इच्छा-शक्ति (God's will) का ही खेल नजर आयेगा। इसका अर्थ यह भी है कि ये इतिहासकार मानते हैं कि इतिहास की प्रक्रिया पहले से ही पूर्व-निर्धारित है जिसकी रुपरेखा भगवान गढ़कर भेजता है। (History is God's design on earth) और यह इतिहासकार इसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों की इच्छाओं, आकांशाओं से स्वतंत्र है। इस तरह के इतिहास में विभिन्न देशों तथा 'नस्लों' का इतिहास एक सार्वभौमिक संदर्भ में एकत्र हो जाता है और इसका प्रतीक, ईसाई धर्म के इतिहास, में, ईसू मसीह की जन्मतिथि पर आधारित एक निश्चित काल-क्रम है। इस इतिहास में, ऐतिहासिक घटनायें एक आंतरिक प्रयोजन से चलती दिखाई पड़ती हैं। जिन्हें धार्मिक परिभाषा में भगवान की इच्छा की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। भगवान की इच्छा और कृपा से पैदा हुयी शक्ति को हेलिनिक युग से ही कई नामों से जाना जाता था। इसे शब्द, रक्षक, परमात्मा, स्वामी, देवी-विधान, प्राकृतिक कानून, प्रज्ञा, मेघा आदि नामों से जाना जाता था। संत पॉल ने इतिहास को तीन भागों में बाँटा था जिसके प्रतिनिधि क्रमशः आदम, मूसा और ईसा हैं। पतन से पहले का काल ऐतिहासिक नहीं बल्कि आदर्श काल था। आदम के पतन के साथ पहला ऐतिहासिक युग अज्ञान और बर्बरता का युग शुरू होता है। दूसरा युग मूसा के कानूनों से शुरू होता है। तीसरे युग में ईसू ने सत्य को प्रकट किया और इसका प्रसार किया। संत पॉल ने भगवान की उस योजना की चर्चा भी की जो संसार की स्थापना में निहित थी। रोमन साम्राज्य को भी उन्होंने भगवान की योजना का उपकरण माना। रोम की विजय इसलिये हुई कि भगवान मानव-जाति की एकता स्थापित करना चाहता था जो चरम सत्य (या Gospel) की एकता का आधार बन सके। लेकिन ईसाईयत के आने के बाद रोमन-साम्राज्य का प्रयोजन खत्म हो गया और इसलिये यह पतन की ओर बढ़ गया। यह विचार आधुनिक इतिहासकार आरनोल्ड टायनबी से मेल खाता है। जहाँ वह कहते हैं कि रोमन साम्राज्य का पतन इस उद्देश्य से हुआ कि ईसाई धर्म की उन्नति हो सके।

दूसरी सदी में तेतियन ने इतिहास के धार्मिक नजरिये से अध्ययन को एक नयी दिशा दी। "यूनानियों

के नाम संदेश" में उन्होंने प्राचीन हिब्रू इतिहास को यूनानी रोमन इतिहास के साथ जोड़कर 'विश्व-इतिहास' की परम्परा की शुरूआत की। इस समय के ईसाई इतिहासकारों में सेक्सटस जुलियस अफ्रीकानस का प्रमुख स्थान है। इनका "क्रोनोग्राफिया" सम्राट इलागाबालुस (211 A.D.) के राज्यकाल का सम्पूर्ण इतिव त्त (chronicle) है। दायोक्लीशियन के समय की ईसाई-विरोधी नीति के कारण ईसाईयों की ऐतिहासिक चेतना बढ़ी। लेक्तेन्तियस ने ईसाई तथा गैर-ईसाई धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करके ईसाई धर्म की महत्ता सिद्ध की। यूसेवियस ने (260—340 A.D.) फिलिस्तीन के काइजारिया नामक स्थान में इतिहास का गंभीर अध्ययन किया। उनके 'क्रानिकिल', 'इक्लीजियास्टीकल हिस्ट्री', 'लाईव्ज ऑफ कास्तेन्ताइन' कई महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। उनकी 'क्रानिकिल' सेक्सटस अफ्रीकानस के इतिहास पर आधारित है और यह विश्व की समस्त 'ज्ञात जातियों' की तुलनात्मक क्रमावली हैं। यह काल तालिका इब्राहिम से शुरू होती है और ईसाईयत का प्रादुभाव इसका केन्द्र-बिन्दु है। रोमन सम्राटों की परम्परा की काल-गणना भी ईसाई संवत्सर के अनुसार की गई है। यूसेबियस को पश्चिमी देशों की अपेक्षा पूर्वी जगत का अधिक ज्ञान था। बाद में अन्य धार्मिक इतिहासकारों ने उनकी काल-तालिका (chronology) को और भी आगे बढ़ाया और इसकी परिणति आठवीं सदी के केरोलिजियन पुनरुत्थान के महान धार्मिक इतिव त्तों में हो गयी, इसी प्रकार उनका ईसाई-सम्प्रदाय का इतिहास भी फला-फूला।

ईसाईयत के प्रचार और प्रसार के काल में रोमन साम्राज्य जर्मन कबीलों के आक्रमणों और हमलों से जर्जर होने लगा था। सब जगह लूट-मार और विध्वंश का बोलबाल था। एक आम धारणा इस समय यह विकसित हो रही थी कि चूँकि रोमन लोगों ने अपने प्राचीन आचार-विचार छोड़कर एक विदेशी धर्म अपना लिया है इसलिये उन पर यह दैवी प्रकोप हुआ है। इस आरोप का जवाब देने के लिये इस समय संत ऑगस्तीन (354–430 सन्) तथा उनके शिष्य ओरोसियस ने अपनी लेखनी संभाली। संत ऑग्स्तीन ईसाई-जगत के एक महान विचारक, दार्शनिक और साहित्यकार थे। इनका जन्म उत्तरी अफ्रीका के एक रोमन परिवार में हुआ था, और उन्होंने रोमन शिक्षा प्राप्त की। 410 (सन्) में एलेटिक ने रोम का विध्वंस कया। लोगों में यह मान्यता बढ़ रही थी कि ग्रातियन ओर थियोदोसियस I के राज्यकाल में ईसाई धर्म को राजधर्म बनाने से प्राचीन रोमन देवता क्रुध हो गये हैं ओर इसी से रोम का विनाश हो रहा है। इस विचार का खण्डन करते हुये ऑगस्तीन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दि सिविातास दीई" ('देवनगर') लिखी। उन्होंने सिद्ध किया कि अगर यह आरोप सच होता तो जर्मन बर्बर जातियों के आक्रमणों के समय ईसाई गिरजाघरों और धर्मस्थलों को सुरक्षित घोषित करके उनमें शरण लेने वाले रोमन लोगों को क्यों अभयदान दिया जाता। यही नहीं, आक्रमणकारियों ने स्वयं बहुत से लोगों को इन स्थानों में धकेल कर अपने शिकार स्वयं अपने आप छोड़ दिये। उन्होंने कहा कि यह ईसाईयत का ही प्रभाव था कि इसका अनुयायी गॉथ योद्धा ऐलेरिक रोम पर अधिकार करने में समर्थ हुआ जबकि यूनानी-रोमन धर्म का कटट्र समर्थक रेदेगायरस और उसकी सेना रास्ते में ही नष्ट हो गयी। यदि इन यूनानी रोमन देवताओं में सच्चाई होती तो वे त्राय को क्यों नष्ट होने देते ओर यदि वे इस महान नगर को नहीं बचा सके तो रोम की रक्षा कैसे कर सकते थे। इस तरह की युक्तियों से ऑगस्तीन ने प्रचलित आरोपों का खण्डन किया और धार्मिक (इसाई) इतिहास-दर्शन की मूल भावनाओं को भी उजागर किया। ऑगस्तीन ने देव-नगर और पाप-नगर के विरोधाभास का प्रतिपादन करते हुये इतिहास की व्याख्या की।

समय की उत्पत्ति से पहले ईश्वर का अमर-अजर अस्तित्व था। उसने देवताओं और मनुष्यों की स ष्टि की। ये देवता (फरिश्ते) स्वतंत्र थे और ईश्वर के आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं थे। अतः कुछ ने अपने-आप से प्रेम करना आरम्भ कर दिया। इनको पापों की श ंखलाओं में जकड़कर अन्धकार में फेंक दिया गया। सर्प के प्रलोभन द्वारा मनुष्य पाप के अधीन हो गया और ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करके वर्जित फल खा बैठा और फलतः जन्म, जरा तथा म त्यु के कष्टकारी क्रम का बन्दी बन गया। किन्तु ईश्वर ने फिर भी दया करके उसे अपनी पुष्टि से अभिसिंचित किया। ईश्वर के

आज्ञाकारी देव और मनुष्य दिव्य नगर के निवासी हो गये और उसके विरोधी अपने-आप को सब कुछ समझने वाले लोग पाप के नगर में बस गये। इन दोनों नगरों की प्रगति समान रूप से चली। पाँच युग बीत चुके हैं और छठा समाप्ति पर है पहले युग में आदम और उसके वंशज की अभिव द्धि हुई है। केन ने अपने भाई आबल को मारकर प्रथम पार्थिव नगर की स्थापना की। मनुष्य की स्त्रीपरायणता के दण्डस्वरूप ईश्वर ने महाप्रलय के अभिशाप द्वारा उनका अन्त किया। नोह और उसके पुत्र ही संकट से बच पाये। उसकी नौका चर्च की प्रतीक थी, जिसके द्वारा ईश्वर मनुष्य को मुक्ति का वरदान देता है। दूसरे युग में नोह के पुत्रों से जातियों की उत्पत्ति हुई। इनमें यहूदी देवनगर के निवासी थे। दूसरे लोगों ने गर्व से सिर उठाया और बाबुल की ऊंची मीनार द्वारा ईश्वर को चुनौती दी। ईश्वर ने इनका दर्प ढीला करने के लिए उनकी भाषाओं को अस्पष्ट कर दिया। तीसरे युग में भगवद्भक्ति इब्राहिम की संतति में ही बची रही। ईश्वर ने उन्हें कनान का देश दिया। सालके साम्राज्य में धर्म राज्य का पूर्वानुभास मिला, तीसरे, चौथे और पांचवें युग दाऊउसे ईसू के जन्म तक चले। सुलेमान के राज्य का विभाजन आध्यात्मिक और भौतिक तत्वों के प थक्करण का प्रतीक था। पैगम्बरों के युग के बाद यहूदियों में पाप बढ़ गया। ईसू का आगमन हुआ। शब्द ने शरीर ग्रहण किया। देव-नगर चर्च के रूप में प्रकट हो गया।

उपर्युक्त युगों में जब देव-नगर में परिवर्तन हो रहे थे तो पापनगर में भी साम्राज्यों का उत्थान-पतन हुआ। ये साम्राज्य दर्प और दम्भ के प्रतीक थे। बाबुल के बाद असुरिया ने उन्नति की और उसके पतन पर रोम उठा। रोम की सफलता भगवान् की कृपा की प्रतीक थी। किन्तु, पाप, अत्याचार, अन्याय, अनैतिकता, अनौचित्य ने इसे दबोच लिया। कष्ट, यातना और पराभव से भी उन्होंने शिक्षा नहीं ली। फलतः उनका ह्रास हो गया। किन्तु ईसाइयों के लिए रोम का यह पतन निरर्थक और नगण्य है क्योंकि उनका वास्तविक जगत् तो इससे बहुत दूर है।

सातवें युग में ईसू मसीह म त और जीवित का न्याय करने के लिए अवतीर्ण होगें। पाप बन्द हो जायेगा। ईसू और उनके प्रिय सन्त हजार वर्ष तक प थ्वी पर निवास करेगें। फिर पाप मुक्त होकर देव-नगर से जूझेगा। इस युद्ध के अन्त में म त फिर से शरीर ग्रहण करेंगे, पापी अग्नि में सुलगेंगें और सन्त अनन्त साम्राज्य का आनन्द लेंगे। इसके बाद आठवें युग का आविर्भाव होगा, तब 'शाश्वत सब्बात' शुरू होगा। लोग पाप से मुक्त होकर भगवद्भक्ति में लीन हो जायेंगे।

उक्त शब्दों में हमने ऑगस्तीन द्वारा अंकित इतिहास-क्रम की रूपरेखा-प्रस्तुत की है। इससे यह स्पष्ट है कि वे भगवान् को ही इतिहास का मुख्य अभिनेता मानते थे। स ष्टि में जो कुछ हो रहा है सब उसकी कृपा का फल है। न्याय, सौंदर्य, सत्य सब उसकी लीला है। सत्य और पाप के द्वन्द्व के कारण ही इतिहास में परिवर्तन होते हैं, साम्राज्यों का उत्थान-पतन होता है और संस्कृतियों का आगमन और विनाश होता है। स ष्टि से पतन, प्रलय और ईसू के आगमन तक जो घटनाक्रम चला इसका उपादान कारण भगवान की लीला है। इसका अन्त चर्च का अभ्युदय और विकास, और सन्तों द्वारा अमरत्व की प्राप्ति है। इस प्रकार ऑगस्तीन ने इतिहास की प्रव त्ति, दिशा और लक्ष्य निश्चित करके इसे एक दार्शनिक द ष्टिकोण प्रदान किया।

4. ओरोसियस—ऑगस्तीन के शिष्य पाउलस ओरोसियस (415 ख्री०) स्पेन के एक ईसाई थे। उन्होंने भी इस आरोप का खंडन किया कि वेन्दलों द्वारा रोम की विजय और विध्वंस ईसाइयत के प्रसार का परिणाम है। उन्होंने पेगेन-विरोधी सात अध्यायों में, इस उद्देश्य को स्पष्ट किया। इस ग्रन्थ का वर्ण्यविषय रोमन युग की आपत्तियों, क्रूरताओं और अत्याचारों का वर्णन और विश्लेषण है। लेखक के मतानुसार भगवान् ने बाबुल, मकदूनिया, कार्थेज और रोम के साम्राज्यों द्वारा ईसाइयत के आगमन का मार्ग बनाया। इस धर्म की स्थापना के पश्चात् मानव कार्यकलाप में अभूतपूर्व मधुरता आ गयी। एतना का ज्वालामुखी पहले से कम फटने लगा और टिड्डियों के दल भी कम नुकसान करने लगे। ट्यूटन जातियों के आक्रमण इस बात की चेतावनी है कि यदि मनुष्य ईसाइयत को स्वीकार नहीं करेगा

तो उसके ऊपर और भी ऐसी ही कठोर आपत्तियाँ आयेंगी। ओरोसियस की कृति 417 पर समाप्त हो जाती है। इसमें रोम के पतन और ह्रास की ईसाई व्याख्या की गयी है।

5. सेलवियन—पाँचवीं शताब्दी में रोम की अवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। प्रशासन में अक्षमता और भ्रष्टाचार का साम्राज्य था। सामाजिक अशांति और आर्थिक अव्यवस्था चरम सीमा पर थी। करों का भार, अधिकारियों का शोषण और बर्बर जातियों की न शंसता जीवन को दूभर बना रही थी। इस घोर त्रास और आतंक को मोसिला के सेलवियन नाम पादरी ने भावपूर्ण ढंग से अपनी पुस्तक, 'दि गूबरन सियोने देई' (भगवान् का राज्य) में व्यक्त किया। उनके सामने यह मुख्य प्रश्न था कि रोम का पतन क्यों हो रहा है ऑगस्तीन ने इस प्रश्न का केवल इतना उत्तर दिया था कि इस पतन का दायित्व ईसाइयत पर नहीं हैं, ओरोसियस ने इस पतन को वरदान समझ लिया था, किन्तु सेलवियन ने रोमन चरित्र और ट्यूटन गुणों की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला कि रोम का अधःपतन उसके निवासियों के अवगुणों का परिणाम है। रोमन समाज का ह्रास उसके आन्तरिक दोषों के कारण हुआ। जर्मन जातियाँ रोमन लोगों से कहीं अधिक श्रेष्ठ थीं। रोमन समाज के दोषों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"निर्धन को दबाया और खसोटा जाता है, विधवाएँ चीत्कार करती हैं, अनाथों पर अत्याचार किये जाते हैं। फलतः उनमें से बहुत से लोग जो अच्छे कुलों से सम्बन्धित हैं, जर्मन लोगों की शरण ढूँढते हैं जिससे वे भ्रष्ट प्रशासन और क्रूर स्वामित्व की यातना से बच सकें। वे बर्बरों में रोमन मानवता खोजते हैं क्योंकि रोमनों की बर्बर अमानुषिकता नहीं सह सकते।"..... इस प्रकार वे गॉथ और अन्य जर्मन जातियों की शरण में जाते हैं, क्योंकि वे बन्धन के वातावरण में मुक्त रहना स्वतंत्रता के आवरण में बन्दी रहने से ज्यादा अच्छा समझते हैं।

इस प्रकार की चित्रमयी शैली में इस लेखक ने रोमन समाज के पतन का ज्वलन्त चित्र खींचा। उनकी यह धारणा बड़ी सारगर्भित थी कि किसी समाज के पतन का दायित्व उसके अपने दोषों पर होता है। बाहर के आक्रमण तो इस आंतरिक ह्रास के प्रतिबिम्बमात्र होते हैं इन लेखकों ने रोमन पतन की भयंकर प्रक्रिया को ईसाई दर्शन की तूलिका से अंकित किया। इनकी कृतियाँ तात्कालिक परिस्थितियों के सुन्दर दर्पण हैं।

6. बीदी—इंगलैंड में रोमन साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् जूट, आंग्ल ओर सेक्सन जातियों के आक्रमण हुए। एंग्लो सेक्सन इतिहास लेखन बीदी के ग्रन्थों में पल्लवित हुआ। बीदी (673–739) को अंग्रेजी इतिहास का जन्मदाता कहा जा सकता है। उनका सारा जीवन नोर्थम्ब्रया के जैरो नामक स्थान पर व्यतीत हुआ। बीदी अपने युग के प्रखर विद्वान् थे। उनकी, 'एक्लीजियास्तिकल हिस्ट्री' एक युगान्तकारी रचना है। 597 से 738 तक के युग के लिय यही हमारी सूचनाओं का एकमात्र प्रामाणिक भण्डार है। उन्होंने इंगलैंड, गॉल, रोम, जर्मनी आदि की ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण उपयोग किया। बीदी का द ष्टिकोण विस्तीर्ण और वैज्ञानिक था। उनके बाद चर्च के इतिहास और इतिव त्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उनमें से कोई भी बीदी की रचना की टक्कर का नहीं है। एल्फ्रैड आदि के इतिहास भी देशी भाषाओं में लिखे जाने लगे; किन्तु उनकी चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

7. बोसुए—ईसाई इतिहास-दर्शन का उत्कर्ष और अन्त फ्रैंच लेखक बोसुवे की कृतियों में मिलता है। यद्यपि यह लेखक बहुत बाद का है, किन्तु इतिहास-परम्परा के प्रसंग में उनके विचारों का अध्ययन युक्तिसंगत है। ज़ाक बेबिन बोसुए (1627-1704) मियों के पादरी थे। उन्होंने, 'दिस्कोर्स स्यूर लू इत्स्वार यूनिवर्सल', (विश्व-इतिहास का निबन्ध) शीर्षक अपने ग्रन्थ में ईसाई इतिहास-दर्शन की अंतिम आव त्ति की। उनके मतानुसार विश्व का सकल कार्यकलाप और इतिहास की सम्पूर्ण गतिविधि ईश्वर की इच्छा और लीला पर निर्भर है। कार्य-कारण की परम्परा जो साम्राज्यों के निर्माण और विघटन में प्रकट होती है। ईश्वर की इच्छा को प्रतिबिम्बत करती है। ईश्वर ऊपर से सब की बागडोर घुमाता है। कभी वह मानव भावनाओं को उत्तेजित करता है तो कभी नियंत्रित। उसके अमोघ न्याय की प्रक्रिया सर्वत्र द ष्टिगोचर है। ईसू (क्राईस्ट) का आगमन ईश्वर की महान् और

विशाल योजना का परिचायक है। यह योजना मनुष्य को पाप से हटाकर सत्य और अमरत्व तक ले जा रही है। बोसुए ने ईसाई इतिहास को अपने युग के एकतंत्रात्मक राज्यों की प ष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। उनकी शैली बड़ी आकर्षक और साहित्यिक थी। इसलिए वे अपने ग्रन्थ को बुद्धिवाद और वस्तुवाद के उषाकाल में भी रोचक बना सके; किन्तु उनके युग के अन्य लेखक, उदाहरणार्थ आर्कबिशप ऊशर और डा० हार्तमान श्लेदर, तो इस दर्शन को लेकर दुरूहता के पंक में फँस गये। ऊशर की यह स्थापना कि 4004 पूव ख्री० में संध्या के 6 बजे स ष्टि का निर्माण हुआ, एकदम उपाहासास्पद प्रतीत होती है।

ईसाई इतिहास-दर्शन की विशेषताएँ

1. विश्वव्यापी, देवप्रधान, चमत्कारपूर्ण और युगपरक द ष्टिकोण—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईसाई द ष्टिकोण के अनुसार इतिहास विश्व-व्यापी, देवप्रधान, चमत्कारपूर्ण और युगपरक है। इतिहास में ईश्वर की एक योजना कार्यशील है जिसका संदेश ईसा के आगमन द्वारा प्राप्त हुआ। इतिहास का अतीत ही आलोकित नहीं हुआ, इसका भविष्य भी उद्‌भासित हो उठा। इस प्रकार इतिहास की समूची प्रक्रिया हस्तामलकवत् हो गयी। इस प्रक्रिया में ईश्वर की योजना प्रमुख है और मनुष्य की इच्छा-शक्ति गौण। अतः व्यक्तियों की प्रतिभा इसकी गति और दिशा में कोई विशेष अन्तर उत्पन्न नहीं कर सकती इस द ष्टिकोण से ऐतिहासिक घटनाएँ प्रव त्तिमूलक सिद्ध होती हैं, व्यक्ति-प्रधान नहीं दिखाई देतीं। दिव्य प्रेरणा और योजना से नियन्त्रित इतिहास की प्रक्रिया मनुष्य को अपने में लपेटे हुए अनन्त सुख और प्रसाद की ओर जे जा रही है। इस द ष्टिकोण से लिखे गये इतिहास में यद्यपि गम्भीर दार्शनिकता थी, किन्तु प्रचार और पक्षपात का भाव भी बहुत गहरा था। अतः तथ्य-निरूपण की द ष्टि से यह इतिहास पर्याप्त महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। इसकी आलोचना-पद्धति भी बहुत विकसित नहीं हो पायी। आजकल के वैज्ञानिक आलोचकों की द ष्टि में इसकी बहुत-सी स्थापनाएँ उपहासात्मक हैं। किन्तु इसकी मान्यताओं में यह गम्भीर रहस्य प्रच्छन्न है कि जातियों और संस्कृतियों का पतन नियमानुसार होता है और यह नियम व्यक्तियों की इच्छाओं से परे समष्टि की गति का परिचायक होता है। आजकल, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इस नियम को अनेक प्राकृतिक, वैज्ञानिक तथा मानसिक नाम दिये जाने लगे हैं और इसे देवतत्व से प थक् किया जा रहा है, किन्तु इसका मौलिक स्वरूप और कार्य ठीक वैसा ही है जैसा ईसाई विचारकों ने निर्धारित किया था।

महाविपत्ति के युग में इतिहास में द ष्टिकोण का पुर्नजन्म

जब 1939 में हिटलर ने चेकोस्लावाकिया पर हमला बोला और बाद में पौलेण्ड पर आक्रमण किया उस समय राइनहोल्ड नेबूर मानवीय प्रकृति और भविष्य पर काफी कुछ कह रहे थे वे एक तरह से इतिहास को समझने के ऑगस्तीन के नजरिये की ही पुर्नव्याख्या कर रहे थे। नेबूर ने समकालीन इतिहास के अनुभव को देखते हुए अपने समय के व्यक्तिवादी तथा 'वैज्ञानिक' वस्तुनिष्ठ इतिहास की आलोचना की और कहा कि इस तरह के नजरिये से मानवीय प्रकृति और इतिहास को नहीं समझा जा सकता। उन्होंने 1943 में, **दि नेचर एंड डेस्टिनी ऑफ मैन** के नाम से पुस्तक में इतिहास के धार्मिक द ष्टिकोण का पुर्नजन्म करने में मदद की। आधुनिक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं की आलोचना करते हुये उन्होंने ईसाई धर्म में गहरी आस्था जताई। नेबूर के कारण ही इतिहास में धार्मिक द ष्टिकोण को काफी बल मिला। कई महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों जैसे बटरफील्ड, डॉसन, टॉयनबी, हर्बीसन आदि ने नेवूर के ही द ष्टिकोण को अपनाया। इनके द्वारा इतिहास का अर्थ, इतिहास-लेखन, इतिहास की प्रकृति, समय की धारणा, इतिहास में नियम, भगवान की इतिहास में भूमिका और धर्म एवं संस्कृति जैसे अनेक पक्षों पर विचार रखे। एक प्रकार से इतिहास-लेखन का यह रुझान अपने आप में नया नहीं था लेकिन महा विपत्ति के काल में इस तरह के इतिहास-लेखन के धार्मिक

द ष्टिकोण ने मानवीय प्रकृति और इतिहास को समझने का एक वैकल्पिक उपकरण दिया। बाईबल सम्बन्धी अध्ययनों में 'इतिहास' एक समस्या के रूप में सदा रहा है। कई ईसाई विचारकों ने ऐतिहासिक ईसू तथा विश्वास के ईशू के बीच भेद किया था। बोल्फहार्ट पानेनवर्ग तथा उनके अनुनाइयों ने इतिहास और धार्मिक विश्वास को दुबारा जोड़ने की कोशिश की। उनके अनुसार इतिहास धार्मिक विश्वास के लिये महत्वपूर्ण नहीं था बल्कि इतिहास ही ईश्वर के द्वारा किया गया रहस्योदघाटन था (history is itself God's revelation)। लेकिन सामन्यतया अन्य धार्मिक रूझान वाले विद्वान इतिहास की जानकारी को सापेक्ष मानते हैं और ईश्वर के बाईबल के माध्यम से प्रकट किये गये ज्ञान को सार्वभौमिक सत्य के करीब मानते हैं। ईशू के जीवन, ईश्वरीय रहस्योद्घाटन तथा अन्य धार्मिक विषय पहले भी चर्चा का विषय रहे थे। लेकिन आधुनिक काल में यह धर्मनिरपेक्ष ढाँचों में संकट के कारण प्रतिक्रिया के रूप में उभरकर सामने आया था।

बीसवीं सदी का पूर्वार्ध दो महायुद्धों, उसकी विनाश-लीला के साथ-साथ अनेक क्षेत्रों में वैचारिक-बौद्धिक संकट का काल भी था जिसमें आधुनिकता और इसकी संस्कृति पर कई सवाल उठ खड़े हुये थे। समाज का नेत त्व करने वाले, आधुनिकता को मानवीय प्रगति की मिशाल साबित करने वाले बौद्धिक वर्ग को यह समझ में आ रहा था—जो समाज से बहिस्कृत और गरीब—पहले से ही अपने जीवन के अनुभव से जानते थे कि—जीवन विपत्तिजनक भी हो सकता है और हमारे मूल्यवान धरोहरों को संकट का एक झोंका एक झटके में खत्म भी कर सकता है। सम्पूर्ण युद्ध के इस काल ने आधुनिक तकनीकी तथा राज्य व्यवस्थाओं द्वारा इसके उपयोग के बर्बर और विनाशकारी पहलुओं को बहुत स्पष्ट रूप से उजागर कर दिया था। औद्योगिक तकनीकी और पूँजीवाद ने अमानवीयकरण करते हुए मनुष्यों को विशाल उत्पादक शक्तियों का पुर्जा-मात्र बना दिया था और 1929 की महान आर्थिक मंदी ने स्थिरता, स्थायित्व के सारे मंसूबे असफल कर दिये थे। यह एक विकराल समय था जब प्रगति, विकास और इतिहास एक दूसरे के पर्याय नहीं रहे थे। 1918 में ओसवाल्ड स्पैंगलर द्वारा लिखी पुस्तक **दि डिकलाइन ऑफ द वैस्ट** में आशावादी ऐतिहासिक द ष्टिकोण पर हमला किया गया था। 1930 के दशक में कई इतिहासकारों ने धार्मिक द ष्टिकोण से इतिहास को समझने की कोशिश शुरू की दी थी लेकिन नेबूर निसंदेह सबसे प्रभावशाली आवाज के रूप में उभरे थे। 1949 में उनकी रचना **फेद एंड हिस्ट्री** (Faith and History) तथा हर्बट बटरफील्ड की रचना Christianity and Hisory (1949) इस द ष्टिकोण को दर्शाने वाली मुख्य कृतियाँ थीं। दो अन्य महत्वपूर्ण इतिहासकार डासन तथा टायनवी भी इनके नजरिये से सहमत थे। नेबूर और बटरफील्ड दोनों का विश्वास था कि 20 वीं सदी के पूर्वार्ध को संकट मुख्यतया उदारवादी और मार्क्सवादी आशावादी द ष्टिाकोण का ही परिणाम था। मार्क्सवाद और उदारवाद दोनों मानते थे कि मानव की पूर्ण मुक्ति इतिहास में ही ढूँढ रहे थे और उनकी यह भी मान्यता भी कि इतिहास को इतिहास के अंदर रहकर ही समझा जा सकता है। इसके विपरीत नेबूर और उनके अनुयायियों का मानना था कि **इतिहास स्वयं ईसू है** (history is itself Christ)। उदारवाद और मार्क्सवाद दोनों मानवीय मुक्ति मानवीय तर्क-शक्ति में ढूँढ रहे थे इसलिये इन धारणाओं में मानवीय बुराई को देख पाने की क्षमता नहीं थी बशर्ते यह बुराई उनके शत्रु-पक्ष में मौजूद न हो। नेबूर और बटरफील्ड दोनों ने इस बात को स्वीकार किया कि मानवी प्रकृति में बुराई का अंश भी है इसमें बटरफील्ड ने जिसको "मानवीय अर्थलिप्सा या लोभ का सार्वभौम तत्व" ("the universal element of human cupidity") की संज्ञा दी, वह प्रव ति भी शामिल थी और मानवीय प्रकृति के बारे में दूसरा रूझान जिसे इन विचारकों ने माना वह था मानवीय प्रकृति में ईश्वर की तस्वीर जो इतिहास में मानवीय व्यक्तित्व का प्राथमिक रूप था। दोनों ही विद्वानों के विचार में इतिहास का ईसाई द ष्टिकोण विपत्ति कारक तथा दुखदायी पक्ष को महता देता था लेकिन अंतिम रूप में इतिहास दुखदायी अंत वाला नहीं था। मानवीय बुराई के कारण, इतिहास संघर्ष ओर टकराव का नाटक था, ना कि धीरे-धीरे सुधार का। नेबूर के विचार में, ईसू का सलीब इतिहास की कहानी का रहस्य था तथा इतिहास को समझने का नमूना भी। जैसे ईसू की म त्यु में बुराई की जीत होती

नजर आती है लेकिन ईसू के पुर्नजीवित होने से यह साबित भी होता है कि अंत में ईश्वर, ना कि बुराई की विजय होती है। इतिहास अब और युगान्त में दुखदायी अंत से आगे चलता है। इसी तरह बटरफील्ड ने इतिहास के संघर्ष और टकरावों में विधाता की इच्छा (Providence) की स्पष्ट अभिव्यक्ति को पाया। किसी ऐतिहासिक टकराव में, जहाँ अनेकों मानवीय इच्छायें काम कर ही होती हैं; वहाँ विधाता की इच्छा ही अच्छाई की बुराई पर विजय का कारण बनती है। नेबूर और बटरफील्ड दोनों इतिहास को ईसाई धर्म के अंत के परिपेक्ष्य से देखना चाहते थे ओर ईश्वर ने ईसू के माध्यम से, इतिहास के बीच में ही, इस विधाता द्वारा पूर्व-निर्धारित अंत की तरफ इशारा कर दिया था और इतिहास के बाहर से इतिहास को समझने की शर्तें दिखा दी थीं। इतिहास इस धार्मिक द ष्टिकोण में पूर्ण विध्वंस नहीं बल्कि सम्पूर्णता हासिल करने का माध्यम था। इससे एक बात साफ है कि बीसवीं सदी का धार्मिक द ष्टिकोण पाँचवीं सदी के ऐतिहासिक-धार्मिक नजरिये से मिलता-जुलता भी था लेकिन कुछ मामलों में उससे अलग भी। इन विचारकों ने मार्क्सवादी चिंतन से कई पहलुओं को अपने विश्लेषण का हिस्सा बनाया थाः जैसे इतिहास को संघर्ष या टकराव के रूप में देखना, इतिहास में आर्थिक और सामाजिक कारणों की चर्चा तथा इतिहास को प्रक्रिया या नियम के अनुसार देखने का रवैया। इन धार्मिक विचारों से प्रभावित इतिहासकारों ने आधुनिक विचारधाओं से ही ग्रहण किये थे।

इतिहास का प्राच्यवादी द ष्टिकोण

(Orientalist Approach to History)

मध्यकालीन ईसाई चित्रकला में 'पूर्व' या 'प्राच्य' देशों को दैव्य और चमत्कारों के देशों के रूप में प्रदर्शित किया गया था। हाँलाकि प्रबोधन काल में तर्कवाद और धर्मनिरपेक्ष धारणाओं के विकास के साथ 'पूर्वी' देशों के इस तरह चित्रण करने में बदलाव आता है लेकिन इन क्षेत्रों को अब भी यूरोप और इसके लोगों से भिन्न देखने का रवैया बना रहा। अब 'दैव्य' और 'चमत्कार' से भरे देखने के बजाय, पूर्व के देशों को विकास और सभ्यता के धर्मनिरपेक्ष पैमाने के आधार पर आँकने की कोशिश की गई और यह महसूस किया गया कि ये देश और लोग 'निम्न स्तर के' तथा सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए थे। यूरोप का समाज और संस्कृति तमाम अन्य संस्कृतियों को परखने का मापदंड बना ली गईं। इसके आधार पर यूरोप के लोगों ने स्वयं की आत्म-परिभाषा भी की और अपनी औपनिवेशिक प्रजाओं को भी समझने का प्रयास भी किया। विद्वानों ने इस तरह के रैवये को ही 'प्राच्यवाद या Orientatism की संज्ञा दी है। टी॰ आर॰ मेटकाफ के शब्दों में-''जैसे ब्रिटिश शासकों ने स्वयं को 'भारतीय' नहीं बल्कि 'ब्रिटिश' के रूप में परिभाषित करने की कोशिश की, उन्होंने भारतीयों को वह सब बना दिया जिस रूप में वे स्वयं को नहीं देखना चाहते थे।'' जैसे, ब्रिटिश ने स्वयं को ईमानदार, मेहनती, पौरूष प्रधान, तर्कशील और प्रबुद्ध लोगों के रूप में परिभाषित किया था। इसलिये कुदरती तौर पर उन्होंने भारतीयों को धोखेबाज, आलसी, स्त्री-गुणों से भरे, तर्कहीन और अंधविश्वासी घोषित कर दिया। कुल मिलाकर औपनिवेशिक काल में भारतीयों की ये तस्वीर बरकरार रहती है।

एक भिन्न देश और उसके लोगों पर शासन करने के लिये अंग्रेज प्रशासकों को औपनिवेशिक समाज के ज्ञान की आवश्यकता पड़ी। वारेन हेस्टिंग्स ने भारत का ज्ञान हासिल करने के लिये शिक्षा की संस्थायें स्थापित करने में काफी साधन और ऊर्जा लगाई। खासकर भारत के अतीत और इतिहास का ज्ञान हासिल करने की कोशिश उनके काल में होती है। इसके पीछे उनका उद्देश्य एक प्रशासनिक सेवा तैयार करना था जो भारतीय भाषाओं का ज्ञान रखती हो तथा भारतीय ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं से अवगत हो। वारेन हेस्टिंग्स का मानना था कि इस तरह की 'प्राच्यवादी' जानकारी भारत में औपनिवेशियक राज्य के लिये काफी उपयोगी सिद्ध होगी। इस नजरिये और

लक्ष्य से प्रेरित होकर ही प्राच्यवादी विद्वान जो स्वयं ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासक भी थे, जैसे विलियन जोन्स, एच॰ टी॰ कोलब्रुक, वेलियम कैरी, एच॰ एच॰ विल्सन और जेम्स प्रिन्सेप आदि ने भाषा-विज्ञान, पुरातत्व-ज्ञान तथा इतिहास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिये। उन्होनें एक स्वर्ण-युगीन हिन्दु या वैदिक काल की 'खोज' की और इसकी तुलना नाटकीय और उपमा के तौर पर वर्तमान (समकालीन) भारतीय समाज की जड़ता और विघटन से की जिसमें सती प्रथा, बालिका-वध, जाति-उत्पीड़न, मूर्ति-पूजा तथा अन्य अंधविश्वासों का बोलबाला था। विलियम जोन्स ने इस स्वर्ण-युग की कल्पना करते हुए कहा, ''...हिन्दु आज जितने भी पतित और विकृति के शिकार दिखाई दें, एक पुराने समय में वे कला और हथियारों में उत्कृष्ट थे प्रशासन में कुशल, कानून-निर्माण में बुद्धिमान तथा विभिन्न ज्ञान की धाराओं में प्रमुख थे।'' इस नयी औपनिवेशिक योजना में देशी भाषाओं का ज्ञान-पुरानी भाषायें जैसे संस्कृत, अरबी और फारसी तथा समकालीन लोकप्रिय बोलियों और भाषाओं दोनों तरह का ज्ञान अन्य क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जरूरी था। यह भाषा की क्षमता ब्रिटिश प्रशासकों के लिये जरूरी थी क्योंकि ''आज्ञा और निर्देश देने, राजस्व एकत्र करने, कानून और व्यवस्था को बनाये रखने तथा अन्य तरह का ज्ञान उन लोगों के बारे में प्राप्त करने जिनके उपर वे शासन करने लगे थे, इसके लिये उन लोगों की भाषा और बोली का ज्ञान भी जरूरी था। इसी ज्ञान से ब्रिटिश प्रशासकों में यह क्षमता आ सकती थी कि वे विस्त त सामाजिक विश्व या भारत को वर्गीकृत करके, श्रेणियों में बाँटकर इसे नियंत्रित भी कर सकते थे।'' बर्नाड एस॰ कोहन ने इन शब्दों में भारत के प्राच्यवादी ब्रिटिश प्रयोजन की व्याख्या प्रस्तुत की है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कुशलता पूर्वक भारत में प्रशासनिक गतिविधियाँ चलाने के लिये अंग्रेजों को भारतीय भाषाओं के ज्ञान के साथ यहाँ के इतिहास और संस्कृति के बारे में भी जानकारी जरूरी थी।

वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल के दौरान बंगाल में एशियाटिक सोसायटी का (1784) गठन इस दिशा में एक बहुत ही महत्वपूर्ण कदम था। एशियाटिक सोसायटी ने भारतीय ग्रंथों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद भी शुरू किया और भारतीय समाज और धर्म पर अनुसंधान करना भी शुरू किया।

भारतीय भाषाओं की प्रारम्भिक व्याकरण, शब्द-कोष तथा पठन-सामग्री जैसे विलियम जोन्स की फारसी भाषा की व्याकरण या विलियम कैरी की देशी बोलियों के व्याकरण या नैथेनियल हालहेड द्वारा रचित बंगाली भाषा का व्याकरण (1788) यह सब प्रयास भारतीय भाषाओं के प्रति उनके प्रेम और लगाव को प्रदर्शित नहीं करते बल्कि औपनिवेशिक शासन की विवशतायें ज्यादा थीं। जॉन बी॰ गिलक्रिस्ट ने अपना चिकित्सा का व्यवसाय छोड़कर फोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य के प्रोफेसर का पद सँभाला। वारेन हेस्टिंग्स का विश्वास था कि भारत में प्रशासन की पद्धति भारतीय सिद्धान्तों या नियमों के अनुरूप ही होनी चाहिये, विशेषकर कानून के सम्बन्ध में तो भारतीय पद्धति के वे हिमायती थे। लेकिन विलियम जोन्स, एच॰ टी कोलब्रुक, हालहेड तथा अन्य अंग्रेज कानूनी विशेषज्ञों को भारतीय ब्राह्मण या पंडितों की नियत पर शक था कि वे सही जानकारी देंगे या नहीं इसलिये उन्होंने भारतीय कानून के ग्रंथों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की ताकि इनकी मदद से वे भारतीय कानूनों का संहिताकरण (codification) कर सकें। ब्रिटिश प्रशासकों का मानना था कि कानूनी संहिताकरण से, जिसका पहला प्रयास विलियम जोन्स ने 1798 में एक लॉ डाइजेस्ट की रचना करके किया था, भारतीय अधीनस्थ कर्मचारियों को नियंत्रित करने में मदद मिलेगी। हाँलाकि हिन्दू तथा मुसलमान कानूनी सलाहकार ब्रिटिश कानूनी अदालतों से 1860 के दशक तक जुड़े रहे।

कैसे भारतीय भाषाओं का ज्ञान व्यवहारिक उद्देश्यों की पूर्ति में मददगार था यह जानथन डन्कन के कैरियर से साफ तौर से देखा जा सकता है। डन्कन ने 1789 में बनारस में रैजीडैन्ट के रूप में काम करते हुये वहाँ के राजकुमार समुदाय में बालिका-वध को समाप्त करवाने में अहम भूमिका अदा की थी। बाद में भारतीय भाषाओं के ज्ञान की बदौलत ही वे बम्बई में गवर्नर (1795-1811) पद तक

पहुँचने में कामयाब हुये थे। कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना (1800) लार्ड वैलिजली के कार्यकाल में हुई जिसका उद्देश्य भारत में आने वाले सिविल सरवेन्टस को भारतीय भाषाओं के ज्ञान से लैस करना तथा उन्हें भारतीय संस्कृति और इतिहास से परिचित कराना था। बाद में यह काम इग्लैण्ड में ही हेलीबरी कॉलेज में किया गया। प्राच्यवादियों ने भारत के प्राचीन इतिहास को समझने के लिए एक और धारणा 'प्राच्यवादी निरकुंशता' (Oriental despotism) का सहारा लिया। इस धारणा के अनुसार, भारतीय के अतीत के राज्य एक अनियंत्रित शासक की निरंकुश सत्ता पर आधारित रहे थे जिनमें कृषि आधारित साम्राज्य को सम्राट प्रशासनिक कुलीन तंत्र के माध्यम से चलाता था और दासों का श्रम इन राज्यों का आधार था। अलेक्जैन्डर डॉ ने हिस्ट्री ऑफ हिन्दुस्तान (1770) तथा राबर्ट ओर्म ने **Government and People of Indostan (1753)** में औपनिवेशिक काल से पहले की राज्य-व्यवस्थाओं को समझने में इस तरह की धारणा का सहारा लिया था। इस तरह की विश्लेषण की धारणाओं के उपयोग से ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को भारतीय उपमहाद्वीप में अपने शासन को उचित तथा तर्कसंगत ठहराने का बहाना भी मिल गया क्योंकि उनका स्वयं का शासन भी निरंकुश और तानाशाही प्रव तियों से भरा पड़ा था। प्राच्यवादियों की द ष्टि में भारत की उष्ण जलवायु तथा यहाँ के मत-सम्प्रदाय खासकर इस्लाम ने भारत में इस तरह के निरंकुश शासन-तंत्र को मजबूत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। उनका यह भी मानना था कि मुसलमानों की परिवार की संरचना ''निजी जीवन में निरंकुशता की ही एक प्रजाति थी।'' ब्रिटिश प्राच्यवादियों ने भारत में साम्प्रदायिकता की विचारधार के लिये मशाला तैयार किया क्योंकि उनके विचार में मुसलमान का शासन तलवार की ताकत पर ही आधरित था और उन्होंने हिन्दुओं को प्रभावहीन, दब्बू तथा स्त्री-गुणों से भरपूर घोषित किया। यहाँ तक कि ''हिन्दूवाद'' को एक सुव्यवस्थित धर्म के रूप में स्थापित करने, जिसके अपने कुछ पवित्र ग्रंथ थे तथा कुछ निश्चित पुजारी-इस रूप में स्थापित करने में भी प्राच्यवादियों की ही भूमिका अहम थी। हिन्दू 'धर्म' को एक मिली-जुली परम्पराओं और व्यवहार के स्थान पर एक सुव्यवस्थित धर्म के रूप में प्रतिस्थापित करने की प्रक्रिया हम जे॰ जेड॰ हॉलवैल की रचना टैनेटस् ऑफ जेन्टूस (**Tenets of Gentoos**) जो 1767 मे लिखी गई थी, उसमें देख सकते हैं या बाद में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिका **एशियाटिक रिसर्चेज** में छपे विलियम जोन्स और कोलब्रुक के लेखों में 'हिन्दु धर्म' को एक सूत्र में पिरोने का काम किया गया। प्राच्यवादियों के मत में भारत यूरोप के देशों से इस मायने में भिन्न था कि इस देश के निवासियों के पहचान का मुख्य केन्द्रीय बिन्दु धर्म ही था और इस अर्थ में यूरोप के धर्मनिरपेक्ष पहचान के मापदंड़ों तथा प्राच्य देशों में धर्म पर आधारित पहचान में मौलिक भेद ढूँढा गया। इसी तरह कला तथा भवन निर्माण जैसे क्षेत्र को भी प्राच्य देश में धार्मिक मूल्यों से पहचानने की कोशिश की गयी थी जैसे प्राचीन भारतीय कला को हिन्दू या बौद्ध तथा तमाम मध्यकालीन कला को मुस्लिम कला के रूप में प्राच्यवादियों ने दर्शाने की कोशिश की।

औपनिवेशिकरण की प्रक्रिया में इतिहास की भूमिका की आलोचना का अर्थ यह नहीं है कि संस्कृतियों के टकराव में, हम देशी संस्कृति के बदलाव की प्रक्रिया को, उसके लचीले स्वरूप को भूल जायें। औपनिवेशिक काल में, संस्कृतियों का विकास गहरे रूप में दूसरे या भिन्न संस्कृति के अनुभव से जुड़ा हुआ है। औपनिवेशिक निर्भरता की स्थिति में, दूसरेपन का अहसास (experience of otherness) का उपनिवेशिकों तथा जिनका उपनिवेशीकरण हुआ उन दोनों पर ही काफी गहरा प्रभाव पड़ता है। पश्चिम के प्राच्यवादी विद्वानों में, एक भिन्न संस्कृति से टकराव और उनके बारे में ऐतिहासिक विचार दोनों का काफी गहरा रिश्ता था। यूरोपीय खोज के अभियान तथा विजय के कारण यूरोपीय चेतना में उनके स्वयं तथा दूसरें लोगों के बारे में धारणायें, समय और स्थान की धारणायें सभी बदल गयीं। काफी लम्बें समय तक पूर्वी देशों की सम द्धि तथा दौलत के किस्सों ने यूरोपीय लोगों के आत्म-विश्वास को अनिश्चित रखा। यूरोपीय विस्तार और औपनिवेशिकरण के साथ-साथ प्राच्य देशों में सत्ता और साम्राज्यों के पतन के साथ प्राच्य संस्कृति के भिन्न स्वरूप से यूरोपीयन ने खतरा

महसूस करना बंद कर दिया था। अपने राजनैतिक प्रभुत्व के कारण यूरोपीय लोगों में अपनी बौद्धिक क्षमता में विश्वास भी बढ़ गया। यदि पश्चिम के विज्ञान को किसी अज्ञात समस्या का सामना पड़ता था तो इसके हल पाने का मतलब यह माना गया कि यह विज्ञान सार्वभौमिक रूप से सत्य है। भूगोल के नये क्षेत्रों में यूरोपीय बस्तियों के फैलाव से ही यूरोप में सोच का ऐतिहासिकरण भी हुआ। पहले काल्पनिक अपेक्षायें सम द्ध तथा धनी प्राच्य देशों से की जा रही थीं लेकिन अब यूरोपीय लोगों की अपेक्षायें स्वयं अपने भविष्य से हो गयी क्योंकि यूरोपीय भौगालिक विस्तार अब एक वास्तविकता बन चुका था। यूरोप के दिमाग में अब एक रैखिक न पलटने वाले विकास की धारणा मुख्य प्रभावशाली विचार बनता जा रहा था। यूरोप में समय की इस नयी धारणा ने दूसरी संस्कृतियों को समझने की धारणा भी बदल दी। अब दूसरे देशों की संस्कृति और विकास को अपने स्वयं के अतीत का चरण और पहले का विकास मानकर उन्हें 'सार्वभौमिक' विकास की पिछली सीढ़ी पर रखा जा सकता था। जबकि यूरोप के समाज को विकास की सबसे आगे की सीढ़ी पर रखा गया था। इस प्राच्यवादी द ष्टिकोण से उपनिवेशों की यात्रा उनके अपने स्वयं के अतीत में यात्रा के समान थी। लेकिन जहाँ पहले इस अतीत में वे स्थायीत्व और निरन्तरता के तत्व देखते थे अब उन्हें जड़ता तथा अंधविश्वास के पहलू नजर आ रहे थे। भारत के प्रारंभिक प्राच्यवादी प्रशासक विद्वानों में यह यूरोपीय विचार देखे जा सकते हैं।

विलियम जोन्स की पूर्वधारणा यह थी कि भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं में तथा पौराणिक कथाओं में काफी समानता देखने को मिलती है। उन्होंने भारतीय इतिहास को उसी निगाह से देखने की बात कही जिससे ग्रीक के प्राचीन इतिहास को यूरोप में देखा जाता था। जोन्स ने उन यूरोपीय लोगों की तुलना, जो केवल पश्चिम के सांस्कृतिक धरोहर को ही महान मानते थे, ऐसे असभ्य लोगों से की जो यह मानते थे कि सूरज केवल उन्हीं के लिये उदय और अस्त होता है। अगर जोन्स ने प्राच्य साहित्य और अतीत की प्रंशसा की तो इसका मतलब यही नहीं था कि प्रबोधन काल की विचारधारा का उन पर कोई असर न हो-उन्होंने भी यूरोपीय राष्ट्र और लोगों की तुलना में एशिया के राष्ट्र और लोगों के-प्राचीन तथा आधुनिक दोनों रूपों में-पिछड़ेपन की बात दुहराई और इसके लिए ''राजनैतिक स्वतंत्रता के विचार'' का अभाव उनकी नजर में जिम्मेदार था। इसलिये, उनके नजरिये में भारत एक ऐसा क्षेत्र था जिसे ''विधाता की इच्छा ने इसकी सुरक्षा तथा कल्याण के लिये'' अंग्रेज लोगों के अधिकार में दे दिया था। लेकिन विलियम जोन्स अन्य प्राच्यवादी विद्वानों के मुकाबले भारत की अनजान संस्कृति की महता पर अधिक जोर देते थे। एशिया, उनके अनुसार, कई तरह की सुन्दरताओं तथा कई लाभदायक परम्पराओं का स्थान था। और एशिया के दर्शन का ज्ञान सार्वजनिक दर्शन के इतिहास को पूरा करने के लिए जरूरी था। फिर भी अपने समकालीन यूरोप की तुलना में, जोन्स ने भारतीय सभ्यता को पिछड़ा हुआ ही माना। जोन्स यूरोप के तर्कवाद को संदेह की नजर से ही देखते थे इसलिये यह मानकर भी कि यूरोप के लोग तार्किक ज्ञान में हिन्दुस्तान से कहीं ज्यादा आगे थे, जोन्स के कल्पनाशीलता को काफी मूल्य दिया और कहा कि कल्पनाशील कविताई चेतना में भारतीय दिमाग काफी स जनशील है। जोन्स ने कोशिश की कि यूरोपियन नजरिये और भारतीय संस्कृति की अद्वितियता को पहचानने के बीच एक मध्य रास्ता ढूँढ ले। उसका मानना था कि हर संस्कृति को उसी के मापदंडों के आधार पर नापने की कोशिश की जानी चाहिये या फिर उन्हें एक सांस्कृतिक रूप से मूल्यरहित मापदंड के आधार पर परखना चाहिये।

जेम्स मिल (1773-1836) ने जोन्स के नजरिये की, जिसमें सभ्यता की प्रक्रियाओं को समझने में तथा उनमें विविधता पर बल देने की बात कही गई थी, काफी तीखी आलोचना पेश की थी। उन्होंने कहा कि जोन्स के विचार अस्पष्ट, भौंदे तथा अनिश्चितता का शिकार थे। हाँलाकि विद्वान एडवर्ड सैइद ने प्राच्यवाद में पूर्वी देशों को पश्चिमी सभ्यता से भिन्न मानने वाले सभी विचारकों को एक ही श्रेणी में रख दिया है और यह दिखाने की कोशिक की है कि वैचारिक भिन्नता की बजाये सभी यूरोपीय विद्वान प्राच्य को एक अलग, अनूठा और पिछड़ी सभ्यता के रूप में स्थापित करने की कोशिश कर

रहे थे। लेकिन विभिन्न ब्रिटिश प्रशासकों और विद्वानों के रवैये में हम वैचारिक विभेदों को पूरी तरह नजर अन्दाज नहीं कर सकते हैं। जैसे जोन्स के विपरीत मिल का सभ्यताओं को परखने का तरीका उपयोगितावादी सिद्धान्त था जिसमें व्यवहारिक लक्ष्य को-अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक प्रसन्नता (happiness of the greatest numbers of people) को माना गया था। इस मापदंड के आधार पर ही मिल ने भारतीय सभ्यता या संस्कृति को पिछड़ा, बर्बर और बेहद कमजोर घोषित किया था। मिल के लिये, एशिया वह भू-भाग था जहाँ अज्ञान और अंधविश्वासों के अंधकार का हमेशा से बोलबाला रहा था। मिल के द ष्टिकोण में यह जरूरी नहीं था कि विकसित यूरोप और बर्बर प्राच्य देशों के बीच के अंतर चिर स्थायी थे। उनका मानना था कि सभ्यता शिक्षा की प्रक्रिया है और यूरोप 'शिक्षा' के माध्यम से प्राच्य देशों के निवासियों को सभ्य बना सकता था। मिल की नजरों में भारतीय की सांस्कृतिक धरोहर का कोई मूल्य नहीं था बल्कि उनकी योजना भारत को इसकी ही संस्कृति से मुक्त करने की थी और शिक्षा इसका एक महत्वपूर्ण साधन थी शिक्षा ही वह माध्यम था जिसके माध्यम से हिन्दुस्तान में तर्क अज्ञानता और रूढ़िवादी परम्पराओं का स्थान ले सकता था और इसी से भारत में विकास का प्राकृतिक रूझान पैदा हो सकता था। हिन्दुस्तान में विकास और प्रगति का बाधक यहाँ के धर्म और संस्कृति को ही मिल ने माना और कहा कि प्राच्यवाद विद्वान इसके प्राचीन साहित्य और संस्कृति की महानता का बखान करके भविष्य में भारत के तार्किक आधार पर पुर्नगठन के रास्ते में भी रूकावट पैदा कर रहे थे। इसके विपरीत मिल ने माना कि प्राचीन भारत के अतीत को स्वर्ण-युग घोषित करके प्राच्यवाद इसके निरकुंश प्रशासन तथा बर्बर परम्पराओं को बचाये रखने में मदद कर रहे थे।

मिल का भारत की प्राचीन सभ्यता के बारे में यह विवाद तथा यहाँ के समाज के रूपान्तरण की योजना इग्लैण्ड के अंदर राजनैतिक विवादों से भी जुड़ा हुआ था। मौलिक विवाद यह था कि कानून सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित हो या संचित अनुभव पर आधारित हो। मिल का विचार यह था कि भारत में अंग्रेज-सत्ता ऐसे कानून बनाये जो भारत की 'प्रगति' में सहायक हों न कि इग्लैण्ड के सामान्य कानून को ही भारत पर लाद दें। इसी के आधार पर भारत की भिन्नता या (Otherness) को वे जाने-पहचाने स्वरूप में जोड़कर देख सकते थे। दूसरी तरफ भारत को समय की द ष्टि से अपने से दूर-विकास के निम्न स्तर पर दर्शाया गया। अगर भारत सभ्यता से दूर रह गया था तो यह पश्चिम यूरोप (इंग्लैण्ड) के निर्देशन में दुबारा सभ्य बनने की तरफ बढ़ सकता था। जोन्स ने भारतीयों को, मौजूदा सांस्कृतिक पतन के बावजूद, ऐतिहासिक माना था लेकिन मिल के विचार में उन्हें अभी भी ऐतिहासिक (सभ्य) बनाना बाकी था।

जोन्स, मिल, कोलब्रुक जैसे ब्रिटिश विशेषज्ञों के वर्णन के आधार पर जर्मन दार्शनिक हेगेल (1770–1831) ने भारत की ऐतिहासिकता की धारणा को दार्शनिक परिभाषा दी और इसे अऐतिहासिक (ahistorical) घोषित किया। हेगेल के ऐतिहासिक द ष्टिकोण में विश्व इतिहास अपूर्णता से आदर्श निरपेक्ष (absolute/perfect) की प्राप्ति की दिशा में बढ़ रहा था। इस विचार का पश्चिम की ऐतिहासिक धारा पर गहरा असर पड़ा था। हेगेल ने भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों को पूरी तरह नहीं नकारा लेकिन इसके कल्पनावादी तरीके से बढ़ा-चढ़ा कर दर्शाने की आलोचना की। भारत के अतीत में परिवर्तन का रूझान न होने के बारे में हेगेल ने कहा ''भारत वर्तमान रूप में काफी पुराना है, यह जड़ तथा बदलाव रहित रहा है, यहाँ वास्तविक इतिहास चीन से भी कम रहा है'' या ''स्वपनिल भारत की आत्मा ने इतिहास का गद्य नहीं रचा और इसका कभी निश्चित राजनैतिक रूप नहीं रहा।'' इसलिए प्राच्यवादी नजरिये में भारत में इतिहास-लेखन का अभाव बहुत ही महत्वपूर्ण था क्योंकि हेगेल के विचार में भी ऐतिहासिक चेतना की अभिव्यक्ति इतिहास-लेखन के माध्यम से ही होती है अगर भारत में इतिहास-लेखन की कोई परम्परा नहीं थी तो यहाँ इतिहास क्रियाओं या राजनैतिक सत्ता के विकास की तरफ नहीं बढ़ता नजर आता है। इससे भारत का ऐतिहासिक महत्व यूरोपीय नजरों में यही था कि यह उनके विजय की इच्छा की पूर्ति करें। यह एशिया के साम्राज्यों की किस्मत

थी कि वे यूरोपीय अधिपत्य के शिकार हों। सार्वभौमिक विकास और प्रगति के वायदे और औपनिवेशिकरण के व्यवहार के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध आधुनिक यूरोप का दूसरे बाहर की सभ्यताओं को समझने के लिए आवश्यक लक्षण था। यहाँ तक कि कार्ल मार्क्स (1818–83) जैसे उग्र विचारक ने भी ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आलोचना करने के बावजूद, इसके विध्वंशात्मक पहलुओं को पहचानने के बावजूद इसे ''इतिहास का अचेतन उपकरण'' (unconscious tool of history) कहा और इसके कुछ सर्जनात्मक पहलुओं पर बल दिया। मार्क्स ने कहा कि, '' वह देश जो ज्यादा विकसित होता है वह कम विकसित देश को उसका भविष्य दिखाता है।'' मार्क्स का मानना था कि भारत का विकास भी पश्चिमी विकास के मार्ग से ही आवश्यक रूप से होगा और अन्य यूरोपीयन विद्वानों की तरह मार्क्स ने भी प्रगतिशील पश्चिम की तुलना पूर्व के जड़ राष्ट्रों से की और यह विचार ही यूरोपीय लोगों के गैर-यूरोपीय समाजों के मूल्यांकन का लम्बे समय तक आधार बना रहा था। ब्रिटिश प्रशासन ने भारत में अपनी कार्य-पद्धति जो प्रारंभ में स्थानीय वास्तविकताओं को ध्यान में रखकर भारतीय संस्थाओं के माध्यम से आधुनिकीकरण करने की थी, उसमें परिवर्तन किया और ज्यादातर प्रशासक इस नतीजे पर पहुँचे कि यहाँ ब्रिटिश तरीके का ही विकास करना है। टी॰ बी॰ मैकाले ने अपनी शिक्षा नीति में भारतीय परम्परा के सभ्यतामूलक मूल्य को पूरी तरह नजर अन्दाज करके भारतीय भाषा, संस्कृति तथा परम्पराओं पर करारी चोट की। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि तमाम संस्कृत के ग्रंथों से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री इंग्लैण्ड के प्राथमिक स्कूलों के बच्चों के ज्ञान से भी कम मूल्यवान थी।

इस तरह की राजनैतिक शिक्षा-शास्त्र का अर्थ था कि इससे पश्चिमी तथा प्राच्य धाराओं के बीच ध्रुवीकरण हुआ तथा इतिहास को भी प्राच्य सभ्यता तथा संस्कृति को आवश्यक रूप से हीन देखने के लिए निर्मित किया गया। भारतीय संस्कृति को एक जड़ रूप में देखने का नतीजा था कि इससे इस धारणा को भी बल मिला कि यहाँ पश्चिम का मौजूद रहना स्थायी रूप से, सदा के लिये आवश्यक है। धीरे-धीरे विकसित हुई इस स्थायीत्व के भ्रम (illusion of permanence) ने भारतीयों को इस तरह पेश किया कि मानों वे पूरी तरह "स्वायतताहीन, निष्क्रिय, ऐतिहासिक रूप से निष्कृष्ट या इस कारण से अऐतिहासिक लोग थे जिनको बाहरी (ब्रिटिश) लोगों ने धक्के से क्रियाशील बनाया था। इसलिये लार्ड कर्जन के लिये प्राच्य अध्ययन का मतलब था कि यह साम्राज्य के लिये आवश्यक फर्नीचर का काम करेगा। भारत में उपनिवेशवाद के उज्जवल दिनों में पश्चिमी इतिहास तथा विकास की धारणा का उपयोग भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा इतिहास को हीन साबित करने के लिये किया गया। ब्रिटिश मानवीय-शास्त्रियों द्वारा नस्लों का अध्ययन भी अपने को देशी नस्लों से अलग साबित करने के लिये किया गया। उनकी नजर में कम विकसित तथा भिन्नता का एक ही अर्थ था यानि जो यूरोप से भिन्न थे-वे ही कम विकसित थे दूसरे शब्दों में, विभिन्न सभ्यताओं के बीच समय की दूरी ने ही, यूरोपीय विद्वानों की नजर में, भूगोल के आधार पर मानवता के वितरण को अर्थ दिया। विकासवादी मानव-शास्त्र में विभिन्नता (सांस्कृतिक) बिल्कुल प्राकृतिक बताई गयी और इसे प्राकृतिक नियमों का आवश्यक नतीजा समझा गया और अंत में विकास के क्रम में पाई गई विभिन्नतायें कहा गया कि वास्तव में नस्लों की विभिन्नतायें थीं इसलिये ऐतिहासिक बदलाव से भी पूर्व और पश्चिम के बीच की दूरी को खत्म नहीं किया जा सकता था। इसका मतलब था कि प्राच्य संस्कृति और सभ्यता पश्चिमी सभ्यता स्थायी रूप से निम्न स्तर की मानी गयी और उसके अधीनस्थ सम्बन्ध में मानी गयी।

नस्लों के वर्गीकरण में, कई बार यह माना गया कि पश्चिम की विकास की प्रव ति मुख्यता आर्य नस्ल की विशेषता थी। लेकिन इस धारणा और इस तरह के सम्बन्ध स्थापित करने में दक्षिण एशिया में कठिनाई पैदा करती थी क्योंकि यह माना गया था कि भारतीय तथा यूरोपीय लोगों की मूल एक ही नस्ल, भाषा में निहित थी। विलियम जोन्स ने यह स्थापित करने की कोशिश की थी कि ये 'अन्य विदेशी और विजातीय लोग' यूरोपीय लोगों के बहुत पुराने सम्बन्धी थे। इसका अर्थ था कि भारत के पिछड़ेपन की कोई अन्य व्याख्या की जाये। मैक्स मूलर (1823-1900) के अनुसार उनके लिये

संस्कृत का अध्ययन यूरोप की सामूहिक याददास्त का विस्तार के समान था। उन्होंने कहा कि ''इसमें हमारी ऐतिहासिक चेतना का एक नया अध्याय खोल दिया है, और हमारे (यूरोपीय समाज) के बचपन की यादें ताजा करने में मदद की है, जो सदा के लिये हमने खो दी थीं। जैसे बाद में कल्पनावादियों ने भारत को एक स्थायी बचपन की याद के रूप में प्रस्तुत किया था, एक अतीत की कल्पना जो खोई क्षमता को ढूँढने में मदद कर सकती थी। वैसे ही मैक्समूलर को पश्चिम के विकास में, बढ़ते जा रहे औद्योगिकरण और भौतिकवादी संस्कृति के विपरीत एक ध्रुव की तलाश थी क्योंकि उन्हें उस विकास में संशय और संदेह था, इसलिए भारत को एक आदर्शवादी कल्पना, बचपन का सुनहरा सपना इस रूप में दर्शाने की कोशिश मैक्स मूलर जैसे लोगों ने की। हाँलाकि सभी जानते थे कि इस तरह की इच्छित जमीन उनकी कल्पना में ही निहित थी क्योंकि बाहरी दुनिया तेजी से भौतिकवादी विकास के रास्ते पर चल रही थी और अंततः भारत को भी उसी रास्ते पर जाना था। कैसे प्राच्यवादी भारतीय इतिहास और अतीत की तुलना यूरोप से करते हुए इसे पश्चिमी विकास से पिछड़ा हुआ मानते थे यह मैक्समूलर की भावना में भी स्पष्ट ही था। उन्होंने कहा ''वेदों में हम बचपन का अध्ययन कर सकते हैं लेकिन आर्य मस्तिष्क का परिपक्व और सम्पूर्ण वयस्क रूप में अध्ययन कांत (Kant) की आलोचना में ही कर सकते हैं।'' मिल और हेगेल के विचार में भारत में ऐतिहासिक चेतना का अभाव था, मैक्समूलर ने भारतीयों को यह ऐतिहासिक चेतना दी, लेकिन इसे खो देने के लिये क्योंकि चिर स्थायी बच्चे को, औपनिवेशिक शिक्षा और पित ात्मक बाहरी (यूरोपीय) हस्तक्षेप ही 'परिपक्व' और सुसंस्कृत बना सकता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्राच्यवाद इतिहास का नजरिया भारत के उपनिवेशवाद द्वारा सांस्कृतिक प्रभुत्व तथा नियतंत्र का साधन ही था।

प्राच्यवाद 18 वीं सदी के अंत से विभिन्न विद्वान तथा विषयों द्वारा एशिया के लोगों और संस्कृति का अध्ययन माना जाता रहा था। विलियम जोन्स तथा मैक्समूलर जैसे विद्वानों ने एशिया के साहित्य, धर्म, संस्कृति और दर्शन की सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन करने की नींव तैयार की थी और इसके लिये स्थानीय भाषा का अध्ययन करके देशी स्त्रोतों का इस्तेमाल किया था। प्रबोधन काल के दूसरी दुनियाओं के लिये एक आकर्षण था और सहानुभूति ढंग से कई विद्वान नवीन संस्कृतियों का, जो पश्चिम की सभ्यता से भिन्न थी, उनका अध्ययन करना चाहते थे। उनकी पद्धतियों ने, नजरियें ने बाद में कई विषयों के अध्ययन को प्रभावित किया था विशेषकर, इतिहास, मानव-विज्ञान, साहित्य तथा समाज शास्त्र। इनकी परिणिति लंदन, ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, पेरिस, ब्रूसेल, हाइडेल बर्ग तथा अनेक अन्य विश्वविद्यालयों में प्राच्य अध्ययन के केन्द्र स्थापित करके हुई थी। इस अध्ययन में विविधता आने के बावजूद यह भाषा-विज्ञान तथा भाष्य-शास्त्र (hermeneutics) से प्रभावित रहा था। सन् 1978 में एडवर्ड सैइद ने **ओरिएन्टलीज्म** के नाम से अध्ययन प्रस्तुत किया और इन प्राच्य-विद्वानों के लक्ष्य तथा उनके काम के नतीजों पर बहस शुरू की। इससे प्राच्यवाद काफी विवाद का विषय बन चुका है। सैइद ने कहा कि विद्वानों और इतिहासकारों को यह जानने की जरूरत है और इन बातों की दुबारा जाँच करनी चाहिये कि वे 'प्राच्य' के बारे में क्या जानते हैं, कैसे जानते है और क्यों जानते हैं ? अपने विश्लेषण में सईद ने फ्रेन्तज् फेनन के साम्राज्यवाद विरोधी रूख के साथ-साथ उनका औपनिवेशिक शासन का उपनिवेश के लोगों पर मनोवैज्ञानिक आघात की धारणा का उपयोग अपनी व्याख्या में किया और साथ-साथ फ्रांसीसी विचारक मिचेल फूको की इस धारणा का भी सहारा लिया कि कैसे ''प्रवचन'' (discourse) ज्ञान-अर्जन का एक साधन है तथा कैसे ज्ञान का शक्ति में रूपान्तरण होता है ? सैईद ने प्राच्यवाद को पूर्वी देशों के बारे में जिस तरह की प्रक्रियाओं और लक्ष्यों से ज्ञान हासिल किया गया-उसे मुख्यतया पश्चिमी प्रभुत्व से जोड़कर देखा है। उनके द्वारा यह दिखाने की कोशिश भी की गई है कि यह केवल इन विद्वानों के पक्षपात, तरफदारी और रूढिवद्ध धारणा का मसला नहीं है जिसको सुधारा जा सके बल्कि सैइद ने कहा कि प्राच्यवाद के द्वारा किया गया चित्रण (representation) ही यूरोप के बढ़ते राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व के साथ बहुत घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। 'प्राच्य' देशों का ज्ञान ही उनके ऊपर लादी गई 'शक्ति' बन गया।

सैइद के विचार में प्राच्यवादी प्रवचन ने न केवल गैर-यूरोपीय लोगों की तस्वीर खींची बल्कि इस तरह के साधन भी तैयार किये जिनसे उनको यूरोप के अधीन लाया गया। इस विचार में यूरोपीय प्रभुत्व में भाप से चलने वाले समुद्री बेड़ों तथा आधुनिक बंदूकों का ही हाथ नहीं था बल्कि प्राच्यवादियों के उपन्यास, वर्तांत, इतिहास-लेखन, बाद में जनगणना, जिलों के रिपोर्ट और अन्य तथ्यात्मक सामग्री का भी उतना ही योगदान था। पश्चिम का सूचनाओं पर यह नियन्त्रण औपचारिक रूप से साम्राज्य के खत्म होने के बाद भी बना रहता है और यह नव-उपनिवेशवाद की परिस्थितियों को जन्म देता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि इस तरह के अधिकारपूर्ण 'प्रवचन' का उत्पादन यूरोपीय नमूने, शब्दावली और सिद्धान्तों के अनुसार किया गया। इससे स्वयं यूरोप की 'आत्मा' तथा उनके द्वारा जीते गये लोगों को दो परस्पर विरोधी पहलुओं में विभाजित कर दिया गया-यूरोपीय पौरूष तथा पूर्वी देश के लोगों के स्त्री-गुण, यूरोप में प्रगति तथा पूर्व में जड़ता, यूरोपीय तर्क और पूर्व का अंधविश्वास यूरोप की परिपक्वता तथा पूर्व का बचपना आदि। इस तरह की दोहरी विभिन्नताओं और विरोधी तत्वों के रूप में व्याख्या ने औपनिवेशिक पदानुक्रम (colonial hierarchy) को बढ़ावा दिया तथा औपनिवेशिक शासन को तर्कसंगत ठहराने में मदद की। बहुत से विद्वान ज्ञान के उत्पादन में इस तरह का कठोर विभाजन जो सैइद ने औपनिवेशिक तथा सम्राज्यवादी खेमें में किया है, पूरी तरह सही नहीं मानते। यह भी सच है कि प्राच्यवादी प्रवचन का उत्पादन बहुदा देशी बिचौलिये और अनुवादकों के माध्यम से ही हुआ और इन्होंने अपनी व्याख्या से इस ज्ञान के उत्पादन को प्रभावित किया। रोजालिंड ओ-हानलोन और डेविड वाशब्रुक जैसे विद्वानों का मानना है इस तरह की व्याख्या में चित्रण को राजनैतिक सत्ता का आधार मान लिया गया है और स्पष्ट रूप से यह उपनिवेशवाद की भौतिक वास्तविकता को कम करके आँकने की कोशिश है। इसमें एक समस्या यह भी है कि स्वयं यूरोपीय तथा भिन्न पूर्वी देशों को अंतर जिसके आधार पर तुलना करके यूरोपीय प्राच्यवादियों ने अपनी आत्म-परिभाषा की, वह अंतर हमेशा गैर-यूरोपीय समाजों के साथ नहीं है बल्कि कई बार यह तुलना यूरोपीय शक्तियों के आंतरिक उपनिवेशिकरण के कारण यूरोप के विभिन्न समुदायों के बीच भी की गई जैसे इग्लैण्ड और आयरलैंड का सम्बन्ध। फिर भी सैइद के प्रभाव ने रोनाल्ड इन्डेन, सारा सुलेरी, गौरी विश्वनाथन, जावेद मजीद और ज्ञान प्रकाश जैसे विद्वानों ने और सबआल्टर्न (Subaltern) अध्ययन के अंतिम चरण में इसका विश्लेषण करने की कोशिश की गई है कि ब्रिटिश भारत को कैसे जानते हैं और इस तरह के प्राच्यवादी चित्रण ने कैसे ब्रिटिश राज के उदभव में मदद की। इस प्रकार सैइद द्वारा दी गई 'प्राच्यवाद' को समझने की व्याख्या को सभी विद्वान हाँलाकि पूरी तरह सही नहीं मानते हैं लेकिन इसके द्वारा खड़े किये गये विवाद ने ऐतिहासिक विद्वता की पुर्नव्याख्या करने में इन सवालों की कि हम किसी दुनिया के बारे में क्या जानते हैं और कैसे जानते हैं-अहम भूमिका हो सकती है।

इतिहास का साम्राज्यवादी द ष्टिकोण

साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की शुरूआत 1880 के दशक में जे॰ आर॰ सीले की पुस्तक The expansion of Europe (1883) से कुछ लोग मानते हैं। साम्राज्यवादी लेखन वास्तव में उपनिवेश स्थापित करने के साथ ही शुरू हो चुका था। सीले नामक रेजियस प्रोफेसर ऑफ हिस्ट्री (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय) ने इस नजरिये को एक सुव्यवस्थित रूप देकर एक 'ब्रिटिश विश्व राज्य' के गठन को जिस तरह दर्शाया वह पूरी तरह यूरोप केन्द्रित वर्णन था। साम्राज्य का इस तरह का चित्र बाद में 1929-1959 के बीच छपे बहुखंडीय *''कैम्ब्रीज हिस्ट्री ऑफ द ब्रिटिश इम्पायर''* में काफी प्रभावशाली रहा। ए॰ पी॰ थ्रोनटन की रचना **''दि इम्पीरियल आइडिया एंड इट्स इमिमिज''** (1959) तथा निकोलस मैनसर्ग की **द कॉमनवेल्थ इक्सपिरियन्स** (1969) जैसी रचनाओं का मुख्य वैचारिक आधार भी यही साम्राज्यवादी नजरिया था। आजकल के यूरोपीय इतिहासकार इस तरह के यूरोप या

साम्राज्य केन्द्रित इतिहास को चुनौती दे रहे हैं। पुराने साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की परम्परा में साम्राज्य को एक खास लक्ष्य की प्राप्ति के लिये-बर्बर और असभ्य एशियाई अफ्रीकी या लातिन अमेरिका के लोगों को सभ्य बनाने के लिये एक आवश्यक साधन माना गया था।

फ्राँसीसी साम्राज्य के अलजीर्यस, टुनिसिया और मौरक्कों आदि में स्थापित होने के साथ-साथ ही साम्राज्यवादी इतिहास लेखन का नजरिया भी उभर कर सामने आता है। इस परम्परा में फ्राँस को ''तुर्कों की दासता'' से मुक्ति दिलाने वाली शक्ति के रूप में दर्शाया गया। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने फ्राँसीसी साम्राज्य के विस्तार को न्यायसंगत ठहराया और देशी बर्बर लोगों को सभ्य बनने वाली प्रेरक शक्ति के रूप में चित्रित किया। इस लेखन में फ्राँस के द्वारा इन क्षेत्रों के उपनिवेशिकरण को रोमन साम्राज्य की विरासत को आगे बढ़ाने वाली शक्ति के रूप में भी दर्शाने की कोशिश की। 1920 के दशकों में विश्लेषण में जटिलताओं को शामिल किया गया था लेकिन यूरोपीय साम्राज्यों को बर्बरता पर विजय के प्रतीकों के रूप में फिर भी दर्शाया जाता रहा। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने यूरोपीय राज्य व्यवस्थाओं की तुलना में अफ्रीकी देशों को राजनैतिक रूप से पिछड़ा हुआ, यहाँ के भूगोल को इन लोगों की आर्थिक, समाजिक और तकनीकी अवनति के लिये जिम्मेदार, घूंमतू समाज के अफ्रीकी कबीलों को राज्य-निर्माण के अयोग्य घोषित करने जैसी महत्त्वपूर्ण बातें शामिल थीं। यूरोप के साम्राज्य के विस्तार को एक प्रगतिशील कदम के रूप में दिखाना साम्राज्यवादी इतिहासकारों का मुख्य लक्ष्य था। इस इतिहास लेखन में देशी अफ्रीकी निवासियों को सभ्यता के विकास में बहुत नकारात्मक भूमिका में ही अक्सर दिखाया गया था और उनकी गिनती इतिहास विहीन लोगों में करने की कोशिश की गई थी। अफ्रीकी ऐतिहासिक अनुभव को हिंसा और अप्रवासन की घटनाओं के रूप में ही देखने की कोशिश रही। स्थानीय निवासियों को पिछड़ा हुआ और असभ्य घोषित करके उच्च संस्कृति वाले यूरोपियन निवासियों को ही इन क्षेत्रों के विकास में अहम स्थान दिया गया।

इसी प्रकार स्पेन और पुर्तगाल के दक्षिण अमेरिका में विस्तार के साथ-साथ इतिहास लेखन का रूप भी बदलना शुरू होता है। इसमें मुख्य सवाल यही था कि इतिहास-लेखन में स्पेन के साम्राज्य के विस्तार को कैसे प्रस्तुत किया जाये। हाँलाकि कुछ यूरोपीय विद्वानों ने सहानुभूति और मानवतावादी नजरिये से यूरोप के लातिन अमेरिका में विस्तार की तथा उनके व्यवहार की निंदा भी की लेकिन अक्सर उन्होंने स्थानीय निवासियों को असभ्य और बर्बर की श्रेणी में ही रखा। जैसे 1590 में जाज द अकोस्टा ने *Natural and Moral History of the Indies* में असभ्य और बर्बर लोगों में सबसे निचले स्तर पर अमेजन नदी की घाटी के लोगों को ही रखा था, उसके बाद इनका तथा अजतेक सभ्यताओं के निवासियों को और उसके ऊपर चीनी, जापानी और ईस्ट इंडियन लोगों को। उनके अनुसार लिपि का होना न होना, लिखित दस्तावेजों का होना या न होना सभ्यता के मुख्य मापदंड थे। उन्होंने कहा कि दक्षिण अमेरिका इतिहास में 'शैतान' का ही शासन है जो इन लोगों की नैतिकता और धर्म को भ्रष्ट कर रहा था। स्पेन का साम्राज्यवादी इतिहास लेखन जिसे पेरू में टोलेदान स्कूल के नाम से भी जाना जाता था (पेरू में 16 वीं सदी में वायसराय फ्रान्सिस्को द टोलेदो के स्पेन के वंशवादी निरूकुंश शासन के हिमायती होने के कारण ही टोलेदो के नाम पर)-उसने (गाम्बोआ, फ्रनाडिज आदि इतिहासकारों) इंका साम्राज्य के जुल्मों की आलोचना की तथा उन्हें हिंसा, युद्ध ओर अंशांति के लिये जिम्मेदार माना। इसके विपरीत उन्होंने स्पेन की विजय को सभ्यता और व्यवस्था की जीत बताया। अलक्जैण्डर फॉन हम्बोल्ट ने 1814-1819 के बीच अपनी यात्राओं के दौरान जो वर्णन लिखे (Personal Narrative of Travels) ने जलवायु निर्धारण के सिद्धान्त के साथ-साथ नस्लवादी व्याख्या करते हुये उष्ण जलवायु के लोगों की बर्बरता और पठारीय सभ्यता की खामियों के लिये वातावरण को जिम्मेदार ठहराया था।

भारत के संदर्भ में भी साम्राज्यवादी नजरिये से काफी इतिहास लेखन हुआ और हम इसी पर यहाँ ध्यान केन्द्रित करेंगे। रॉबर्ट ओर्म ने 1763 में ''ए हिस्ट्री ऑफ द मिलिट्री ट्रान्जेक्सनस ऑफ द ब्रिटिश नेशन इन इंदोस्तान'' और बाद में एक और ऐतिहासिक किताब लिखी। इन अध्ययनों में उन्होंने ईस्ट

इंडिया कम्पनी के अभिलेखाकारों के निजी पत्राचार का स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया तथा ब्रिटिश अधिकारियों के विवरण का सहारा भी लिया लेकिन स्पष्ट रूप से साम्राज्यवादी नजरिये से स्थानीय निवासियों और राज्य व्यवस्थाओं को उन्होंने चित्रित किया। उन्हें भारतीयों की सांस्कृतिक और राजनैतिक सर्जनशीलता और योग्यता पर संदेह था और भारतीय लोगों तथा संस्कृति को यूरोप की तुलना में निम्न स्तर का घोषित किया। लेकिन साम्राज्यवादी इतिहास लेखन में जेम्स मिल की छह खण्डों में प्रकाशित (1806-1818) **हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया** सबसे प्रमुख रचना कही जा सकती है। इस पुस्तक के माध्यम से मिल भारत में औपनिवेशिक साम्राज्य द्वारा लाये गये सामाजिक-प्रशासनिक सुधारों की नींव रखना चाहते थे। इसमें वे उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ के देशी संस्थाओं में परिवर्तन चाहते थे। भारत के अतीत का हवाला देते हुये मिल ने प्रशासनिक सुधार की जरूरत पर बल दिया। अन्य प्राच्यवदियों की तरह मिल उनकी एक बात से सहमत थे कि भारत में साम्राज्य की स्थापना और कुशल तरीके से शासन चलाने के लिये भारत के इतिहास और संस्कृति की जानकारी जरूरी है। लेकिन मिल ने स्पष्ट रूप से भारतीय संस्कृति को यूरोप की संस्कृति से हीन घोषित किया। यूरोप-केन्द्रित धारणा के तहत इतिहास लिखते हुये उन्होंने समकालीन औद्योगिक और तकनीकी रूप से अग्रणी यूरोपीय समाजों की तुलना भारतीय समाज से की और उसकी तीखी आलोचना की। भारतीय समाज की 'आदिम बर्बरता', निरकुंशता और राजनैतिक एवं धार्मिक अन्याय जैसी प्रव त्तियों को उन्होंने खोजा और कहा कि भारतीयों के हित में यह है कि वे ब्रिटेन के द्वारा लाये गये कानूनी सुधार, सरकार की न्याय संगत प्रशासनिक व्यवस्था और नयी ब्रिटिश कर प्रणाली को सहर्ष स्वीकार करें। मिल की यह धारणा कि ब्रिटिश शासन पद्धति भारत में विधाता की इच्छा थी और इसने भारतीयों को अराजकता तथा प्राच्य निरकुंश तंत्र से मुक्ति दिलवाई थी-साम्राज्यवादी विचारधारा के ही अनुरूप थी। उनका यह भी मानना था कि भारतीयों को स्वतंत्रता की बजाय एक कुशल प्रशासन और 'सुख' (happiness) की ज्यादा जरूरत थी जो उन्हें ब्रिटिश राज ही दे सकता था। इसलिये उनके इतिहास में, भारतीय अतीत की, उसके समाज, संस्कृति तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं की निंदा साम्राज्य को न्यायोचित्त दर्शाने की कोशिश का ही हिस्सा हम मान सकते हैं।

जेम्स मिल की विचारधारा और इतिहास लेखन ने भारतीय इतिहास को साम्प्रदायिक रंग देने की कोशिश भी की। भारतीय इतिहास का काल-विभाजन उन्होंने धर्म के आधार पर करना शुरू किया और प्राचीन भारत को हिन्दू-शासन, मध्यकालीन इतिहास को मुस्लिम शासन घोषित किया जबकि अंग्रेजी उपनिवेशवाद को 'आधुनिक भारत' ('ईसाई भारत' नहीं) की संज्ञा दी। मिल के इतिहास-लेखन से अन्य साम्राज्यवादी इतिहासकार भी काफी प्रभावित रहे तथा इसने ब्रिटिश प्रशासकों को भी प्रभावित किया। मैकाले के विचार में मिल का भारत का इतिहास गिब्बन के इतिहास-लेखन के बाद उच्चतम स्तर का था। मिल के इतिहास-लेखन के बाद कई ब्रिटिश प्रशासकों ने यह महसूस किया कि सम्पूर्ण भारत के इतिहास के साथ-साथ ही इस देश के ब्रिटिश प्रांतों को इतिहास लिखने की भी जरूरत है। इस क्षेत्र में ग्रांट डफ, मालकम, जेम्स टोड तथा कनिंगधम जैसे लोगों ने काम किया। ग्रांट डफ ने एलाफिन्स्टन से प्रभावित होकर मराठों का इतिहास लिखा। इसके लिये उन्होंने मराठी, फारसी तथा अन्य भाषायें सीखकर स्रोतों का अध्ययन करके मराठों के उत्थान और पतन की कहानी लिखी क्योंकि उनका मानना था कि भारत में मराठा साम्राज्य के इतिहास को समझे बिना ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना और ब्रिटिश राज की सफलता की नहीं समझा जा सकता। उनका विशेष योगदान यह था कि उन्होंने मराठा प्रशासन, कर-व्यवस्था, युद्ध-प्रणाली तथा सामाजिक-धार्मिक गतिविधियों पर भी ध्यान केन्द्रित किया। मार्क विल्कस् ने 1810-1817 के बीच तीन खण्डों में मैसूर का इतिहास लिखा जिसमें उन्होंने मैसूर के प्रशासनिक ढाँचे, आर्थिक परिस्थितियों तथा धार्मिक विश्वासों का वर्णन किया। प्रशासनिक इतिहासकारों में माल्कम का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। 1826 में उन्होंने 1764 और 1823 के बीच भारत के राजनैतिक इतिहास का विश्लेषण किया मूलतः माल्कम का इतिहास-लेखन मिल से प्रेरित था। माल्कम ने मध्य भारत और मालवा क्षेत्र का समकालीन और

ऐतिहासिक वर्णन भी लिखा जिसमें इस क्षेत्र के निवासियों की विशेषताओं को भी उन्होंने वर्णित किया। इसके अतिरिक्त माल्कम की अन्य रचनाओं में ''हिस्ट्री ऑफ प्रशिया'' और ''दि लाइफ ऑफ लॉर्ड क्लाईव'' भी महत्वपूर्ण थी। माल्कन तथा अन्य ब्रिटिश-प्रशासनिक इतिहासकारों में साम्राज्यवादी गर्व की भावना हम साफ झलकती देख सकते हैं और इसीलिये इनका स्थानीय देशी निवासियों का इतिहास भी 'यूरोप' और 'साम्राज्य' को केन्द्र बनाकर ही रचा गया था। इनका लक्ष्य समकालीन ब्रिटिश प्रशासन को न्यायोचित ठहराना था। ये ब्रिटिश प्रशासन के भारत में उपलब्धियों का ही गुणगान करते हैं। इनमें साम्राज्यवादी नस्लवादी द ष्टिकोण भी साफ-साफ नजर आता है।

जेम्स टोड की चर्चित रचना ''अनालस एंड एंटीक्यूटीज ऑफ राजपूताना'' राजपूतों की बहादुरी की प्रंशसा करती है। टोड ने शिलालेख, सिक्कों तथा हस्तलिखित दस्तावेजों का उपयोग राजपूतों का इतिहास लिखने में किया। उन्होंने इस क्षेत्र की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला और राजपूतों की उत्पत्ति पर भी विचार व्यक्त किये। कुल मिलाकर जेम्स टोड का अध्ययन भी साम्राज्यवादी नीतियों के प्रभाव से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। ब्रिटिश प्रशासन का रवैया भारत के शक्तिशाली राज्यों को पराजित करके, उनका निरशस्त्रीकरण (demilitarization) करके, सांमती अवशेषों और दरबारी संस्कृति के औपचारिक अनुष्ठानों को बनाये रखने का रहा ताकि इनमें माध्यम से वे एक परतंत्र देश में वैधता हासिल कर सकें और साथ ही साथ इन ''प्राच्यवादी निरकुंश सांमती तंत्रों'' को भारतीय समाज के पिछड़ेपन के रूप में, नमूने के तौर पर पेश करके यूरोपीय-संस्कृति को, ब्रिटिश प्रशासन को उच्च-स्तर का दर्शा सकें। जेम्स टोड की राजपूतों की प्रंशसा भी इसी साम्राज्यवादी रवैये से प्रभावित थी और उसे वस्तुनिष्ठ नहीं माना जा सकता है। इसी तरह के लेखन में कनिंगधम द्वारा लिख सिखों का इतिहास (1849) भी आता है। मूल स्त्रोतों का प्रयोग करके उन्होंने पंजाब की विभिन्न नस्लों का वर्णन किया और सिख शक्ति के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डाला। कनिंघम का नजरिया भी साम्राज्यवादी विचारधारा से ओत-प्रोत है उन्होंने भारत में ब्रिटिश नीतियों को न्यायसंगत ठहराने की कोशिश की और यह दर्शाने की कोशिश की कि कैसे ब्रिटिश और भारत के बीच के सम्बन्ध का लाभकारी प्रभाव भारतीय समाज के लिये रहा। इस प्रकार के साम्राज्यवादी द ष्टिकोण से रचित प्रांतीय इतिहासों में 1807 में हैमिलटन का असम का इतिहास, मार्शमैन का बंगाल का इतिहास (1836) तथा र्स्टलिंग का उड़ीसा का इतिहास (1846) भी शामिल किये जा सकते हैं।

टी० बी० मैकाले ने भी क्वाईव और वारेन हैस्टिंग्स के काल पर कुछ ऐतिहासिक निबन्ध लिखे थे। उदारवादी 'विग' धारणा (Wig conception) से प्रेरित इस लेखन में उन्होंने वारेन हेस्टिंग्स के भ्रष्ट व्यवहार की भी चर्चा तो की थी लेकिन ब्रिटिश प्रशासन को न्यायसंगत ही ठहराया। जॉन विलियम काये ने भी भारतीय इतिहास पर कई पुस्तकें लिखी। 1853 में लिखी अपनी पुस्तक भारत का प्रशासन में विलियम काये ने एक विशिष्ट योजना के तहत भारत में ब्रिटिश प्रशासन की मशीन के विकास का वर्णन किया। उन्होंने तथ्यों का सहारा लेकर अपने निष्कर्षों को सही साबित करने की कोशिश भी की। उन्होंने ब्रिटिश शासन के साम्राज्यवादी उद्‌देश्यों के प्रति भी संकेत किया तथा ब्रिटिश प्रशासन द्वारा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने की बात कही। काये ने **Christianity in India** के नाम से भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी लेकिन उनकी 1857 के विद्रोह पर लिखी तीन खण्डों में रचना भी काफी चर्चित रहीं। काये ने भी कई जगह ब्रिटिश प्रशासकों के क्रूरतापूर्ण व्यवहार का समर्थन किया। ज्यादातर ब्रिटिश-प्रशासनिक इतिहासकारों ने भारतीय संस्कृति को हीन द ष्टि से ही देखा और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के लिये ब्रिटिश प्रशासकों के गुणों और उच्च चरित्र को ही उत्तरदायी माना तथा भारतीयों के पिछड़ेपन और सामाजिक विकृतियों को ही इसके लिये जिम्मेदार घोषित किया। हेनरी बैवरीज ने भारत के इतिहास के बारे में लिखते हुये यह भी माना था कि ब्रिटिश पूँजी और दयालुता से ही भारत का विकास हो सकता है। साम्राज्यवादी इतिहासकारों के दूसरे विद्वानों की भाँति ही उन्होंने भारतीयों को ईसाई धर्म अपनानें की सलाह भी दी। विलियम

विल्सन हन्टर ने उन्नीसवीं सदी के अंत में **Annals of Rural Bengal** के नाम से एक महत्वपूर्ण रचना की जिसका लक्ष्य बंगाल के लोगों पर ब्रिटिश शासन के सामाजिक प्रभाव को आंकना था। हन्टर बाद में साम्राज्य के गेजेटियरों के सम्पादक भी रहे। उन्होंने Rulers of India के नाम से एक श्रंखला का भी सम्पादन किया जिसमें ब्रिटिश प्रशासकों की उपलब्धियों पर काफी रोशनी डाली गई थी और ब्रिटिश प्रशासकों के चरित्र और कार्यों की अत्यधिक सराहना इनमें की गई थी। यही बात अल्फ्रेड लायल के इतिहास लेखन के बारे में भी कही जा सकती है। लायल की रचनाओं में द राइज, ऑफ दि ब्रिटिश डोमिनियम इन इंडिया तथा वारेन हेस्टिंग्स और डफारिन के जीवन चरित्र प्रमुख थे। उनके विचार में भारत में ब्रिटिश सम्राज्य का उद्भव न केवल ब्रिटिश लोगों के उच्च चरित्र और गुणों का नतीजा था बल्कि यह भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना के अभाव का तथा उचित सामाजिक संगठन का भी परिणाम था। साम्राज्यवादी और नस्लवादी भावना से प्रेरित होकर जिस यूरोप-केन्द्रित नजरिये से ये ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकार इतिहास लिख रहे थे उसमें निस्संदेह भारत में राष्ट्रवादी भावना का अभाव बताना और जाति, धर्म और भाषा या क्षेत्र के आधार पर भारतीयों में सामाजिक विभेदों पर जोर देना स्वाभाविक ही था।

सम्राज्यवादी इतिहास-लेखन में भारत के ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों, प्रशासकों या उनकी नीतियों, संस्थानों और यूरोपीय संस्कृति की महत्ता पर ही जोर दिया गया था। इसमें भारतीय राष्ट्रवाद को भी यूरोपीय विचारों की प्रेरणा और भारतीय लोगों की प्रतिक्रिया के रूप में ही परिभाषित किया गया था। एक नव-साम्राज्यवादी धारणा में, राष्ट्रीय नेताओं को राष्ट्रहित और आदर्श से प्रेरित होने की बजाये, दौलत, शक्ति या प्रतिष्ठा के रूप में पारितोषिक पाने की दौड़ में शामिल करने की कोशिश की है। वे नव-साम्राज्यवादी इतिहासकार किसी भी तरह यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारत में राष्ट्रवाद का विकास ब्रिटिश उपनिवेशवाद और भारतीय लोगों के बीच के अंर्तविरोध के और उपनिवेशवाद द्वारा भारतीय लोगों के शोषण-उत्पीड़न के कारण पनप रहा था। अनिल सील और जे॰ ए॰ गैलाधर के क्रैम्ब्रीज मत में यह धारणा है कि भारत न राष्ट्र था और न हो सकता था। उनके अनुसार राष्ट्रवादी नेता स्थानीय स्तर पर लोगों को उनकी सामाजिक पहचान के पुराने रूपों जैसे जाति, धर्म, समुदाय आदि के आधार पर लामबंद्ध करके उनका उपयोग अपने लिये संवैधानिक ढाँचे में ओहदा या प्रतिष्ठा पाने के लिये ही कर रहे थे। इनका मानना था कि स्थानीय स्तर पर और प्रांतीय स्तर पर सत्ता के विकेन्द्रीयकरण से स्थानीय नेताओं ने अपने अनुयायी-गण या ग्राहक (client) ढूँढने शुरू किये और उनके लिये संरक्षक की भूमिका निभाई। लेकिन सम्राज्यवादी नजरिये में यह राष्ट्रहित के लिये न होकर स्वयं के लिये सत्ता और ओहदे प्राप्त करने के लिये ही किया जा रहा था।

इतिहास लेखन का प्रत्यक्षवादी (Positivist) नजरिया

प्रत्यक्षवाद (Positivism) शब्द का प्रयोग सबसे पहले सेन्ट साइमन द्वारा वैज्ञानिक पद्धति के लिये और दर्शन के क्षेत्र में इसके उपयोग के लिये किया गया था। दूसरे महत्वपूर्ण विचारक ऑगस्त कॉम्ते ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस शब्द और विधि को ज्यादा लोकप्रिय बना दिया और यह दर्शन में एक महान अभियान के रूप में उभर कर आता है। प्रत्यक्षवाद की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें विज्ञान की पद्धति से प्राप्त ज्ञान को ही उचित माना गया तथा तथ्य ही इस ज्ञान हासिल करने के मुख्य साधन माने गये। प्रत्यक्षवाद ने यह भी माना कि दर्शन में विज्ञान से भिन्न कोई पद्धति नहीं हो सकती जिसके आधार पर मनुष्य ज्ञान-अर्जन कर सके। इसलिये दर्शन-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य सब विज्ञानों के सामान्य नियमों को ढूँढ़ने का होना चाहिये और इन्हीं नियमों को मानवीय-व्यवहार तथा सामाजिक संगठन को समझने के लिये इस्तेमाल किया जाना चाहिये। प्रत्यक्षवाद तथ्यों से परे तथा वैज्ञानिक नियमों द्वारा इकट्ठे किये गये तथ्यों के बिना किसी प्रकार के ज्ञान को स्वीकार नहीं करता। यह अलौकिक ज्ञान में विश्वास नहीं करता क्योंकि वह वैज्ञानिक विधि से हासिल नहीं किया

जाता है। प्रत्यक्षवाद ने मानवीय समाज के अध्ययन और इतिहास के अध्ययन के लिये भी ठोस तथ्यों और वैज्ञानिक पद्धति के इस्तेमाल करने की जोरदार ढंग से हिमायत की। प्रत्यक्षवाद का दार्शनिक आधार अंग्रेज दार्शनिक फ्रांसिस बेकन तथा दूसरे अनुभववादी (empiricist) दार्शनिकों तथा प्रबोधन काल के दार्शनिकों के द्वारा ही तैयार किया जा चुका था। यूरोप में औद्योगिक तकनीकी की सफलता ने इस विचार के प्रसार के लिए बौद्धिक वातावरण तैयार किया और प्रत्यक्षवाद ने पूरे मानव जीवन के लिये एक सार्वभौमिक रूपरेखा तैयार की। इस रूपरेखा में विज्ञान के नियमों के अनुरूप ही मानव-समाज को भी समझने की कोशिश की गई। विज्ञान के विकास की परिस्थितियों और उसकी सीमाओं पर ध्यान दिये बगैर ही प्रत्यक्षवादियों ने विज्ञान और उसकी पद्धति को वैध और तर्कसंगत मान लिया। अलौकिक ज्ञान के स्थान पर व्यवहारिक ज्ञान पर बल देने से प्रत्यक्षवाद की महत्ता सामाजिक ज्ञान के लिये काफी बढ़ जाती है, लेकिन वैज्ञानिक संरचना और कार्य पद्धति में भी कुछ दोष पाये जाते हैं। विज्ञान के रुझान और प्रत्यक्षवाद के रुझान में समान रूप से वस्तुनिष्ठता को भौत्तिकता के आधार पर आंका जाता है। इसके अलावा वैज्ञानिक पद्धति जो भौतिक विश्व और निष्प्राण जगत के लिये प्रामाणिक और मान्य हो सकती है, उसको सीधे-सीधे मानवीय चेतना और क्रियाकलापों को अध्ययन करने के लिये इस्तेमाल करना कठिन है।

सत्तरहवीं और अठाहरवीं सदी से ही विश्व को वैज्ञानिक और यांत्रिकीय आधार पर समझने की धारणा धीरे-धीरे करके यूरोप के समाज में पनप रही थी और उन्नीसवीं सदी में प्रत्यक्षवाद के रूप में कॉम्ते की एक विशिष्ट व्यवस्था के रूप में यह स्थापित हुई। फ्रांसिस बेकन ने प्राकृतिक विज्ञानों के लिये एक उज्जवल भविष्य की अपेक्षा की थी और मानवता को उसके निर्देशन में लाने की बात कही थी। **न्यू अटलांटिस** में उन्होंने इस वैज्ञानिक कार्य-पद्धति को स्वीकार किया। बाद में अनुभववाद में, लॉक से ह्यूम तक, मानवीय चेतना को अनुभव के संवेदन के रूप में ही देखने की कोशिश की थी। लॉक ने न केवल भौतिक विश्व की घटनाओं को आँकड़ों के रूप में देखने की सिफारिश की बल्कि चेतना को भी विभिन्न संवेदनाओं के रूप में ही देखने की कोशिश की जिनको अनुभववादी सम्बंधों के आधार पर प्रकृति की घटनाओं की तरह ही समझा जा सकता था। इन वैचारिक धाराओं ने परम्परागत अलौकिक ज्ञान की धारणा को कड़ी चुनौती दी। प्रबोधन काल के कई दार्शनिकों ने विज्ञान की कार्य पद्धति के अनुभववादी पहलू को ठीक से न समझकर एक आदर्श और तर्क संगत मानवीय प्रकृति (human nature) को समाज के अध्ययन में महता दी अर्थात् अलौकिक विधाता की जगह अब एक आदर्श मानवीय प्रकृति ने ले ली थी। ऑगस्त कॉम्ते (1798–1857) ने प्रत्यक्षवादी दर्शन की नींव रखी। कॉम्ते ने दार्शनिक विचार के तीन चरणों में विकसित होने का नियम सुझाया। पहले चरण में मानवीय चेतना अलौकिक दिव्य शक्तियों के हस्तक्षेप का सहारा लेकर हर घटना की व्याख्या करती है। इसे धार्मिकता का चरण कहा गया। दूसरा दार्शनिक चरण आधिभौत्तिक (metaphysical) था। जिसमें घटनाओं को अमूर्त तार्किक तत्वों जैसे सार (substance), रूप और कारण (form and cause) या सत्व (essence) के जरिये समझने की कोशिश दार्शनिकों द्वारा होती है और तीसरा चरण स्वयं कॉम्ते द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवादी पद्धति (Positivist method) था। जिसमें तथ्यों को अनुभववादी निश्चितता से और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर समझा जाता है। विज्ञान विषय जिस तत्परता से प्रत्यक्षवादी पद्धति का अनुसरण करते हैं उसी के अनुसार कॉम्ते ने विषयों को एक पदानुक्रम में रखा। जिन विषयों में सामान्य नियमों का स्तर ऊँचा था वे विषय पहले और घटते सामान्य नियमों का प्रयोग करने वाले विषय बाद में। इसलिये कॉम्ते ने गणित, भौतिक विज्ञान आदि को उच्चकोटि में और समाज-विज्ञान को बाद में रखा। समान-विज्ञानों में भी कॉम्ते ने समाजशास्त्र को ही ज्यादा महत्व दिया। अपने विश्लेषण में कॉम्ते ने सैंट साइमन के अनुभवों का भी काफी प्रयोग किया। कॉम्ते समाज को एक सम्पूर्ण जैविक इकाई के रूप में देखते थे, जिसका संगठन इसका निर्माण करने वाली शारीरिक और मनोवैज्ञानिक इकाईयों से उच्च स्तर का था। समाज को कॉम्ते ने एक स्वायत्त जीवन से भरपूर

इकाई माना जो अपने नियमों के अनुसार चलती थी। समाज को जैविक सम्पूर्ण इकाई की तरह देखने की कोशिश में कॉम्ते ने व्यक्तियों की स्वतंत्र इच्छाओं के महत्व को भी बहुत ही कम महत्त्व दिया। कॉम्ते से शुरू होकर 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में बहुत से विद्वानों ने समाज के अध्ययन में प्रत्यक्षवादी पद्धति के महत्व को स्वीकार किया और अपनी रुचियों के अनुसार इस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने की कोशिश की। जैसे जे०एस० मिल ने ह्यूम और बैन्थम की परम्पराओं को आगे बढ़ाते हुए अनुभववादी ज्ञान-अर्जन की विधियों पर बल दिया जबकि स्पैन्सर और हक्सले ने प्रत्यक्षवाद के साथ समकालीन विकासवाद की धारणा को जोड़ने की कोशिश की। इसी प्रकार नव-कांतवादी (Neo-Kantian) दर्शन की धारा ने कांत के दर्शन के आधिभौतिक पहलुओं को छोड़कर उसे प्रत्यक्षवादी दर्शन और पद्धति के नजदीक लाने की कोशिश की। कांत एक ऐसे दार्शनिक थे जो आधिभौतिक (metaphysical) द ष्टिकोण के होते हुये भी प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक पद्धति के ज्यादा नजदीक थे। कांत ने अपनी चर्चित रचना *Critique of Pure Reason* में वैध चेतना के कार्य-क्षेत्र को घटनाओं के प्रयोगात्मक क्षेत्र तक ही सीमित किया था। और इस बात को चुनौती दी थी कि मानवीय तर्क वस्तुओं के आंतरिक सार (*noumena*) को समझ सकता है।

सामाजिक अध्ययन के क्षेत्रों में कॉम्ते ने प्रत्यक्षवादी नजरिये का मेल-जोल डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से काफी लाभदायक साबित हुआ। भाषा विज्ञान में विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन बढ़ना इसी मेल-जोल का परिणाम था। साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रकृतिवादी (naturialistic) रुझान या यथार्थवाद (realism) का बोलबाला भी इसी का नतीजा था। इन रुझानों में जीवन को आदर्श रूप में, सजाकर दिखाने की बजाय वास्तविक आधार पर, यथार्थ में जैसा था वैसा ही चित्रित करने की कोशिश की जाती है। साहित्यिक और राजनैतिक इतिहास में दर्शन के आधार पर बड़ी-बड़ी बातें करने की बजाय तथ्यों को गंभीरता से ढूँढने और उसके आधार पर कुछ निष्कर्ष पर पहुंचने की प्रव त्ति बढ़ी। इसी तरह धार्मिक अध्ययनों के क्षेत्र में धार्मिक अनुभवों में मानवीय कारणों पर बल दिया जाने लगा। समाज-विज्ञान में शोधकर्त्ताओं की रुचि मानव-जाति वर्णन (ethnography) तथा सभ्यता और संस्कृतियों के विकास के चरणों या रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने में बढ़ती है। कॉम्ते के समाजशास्त्र के सबसे सुव्यवस्थित अनुयायी एमिल दुर्खाइम थे जिन्होंने प्रत्यक्षवाद पर बचे-खुचे धार्मिकता के और प्रतिक्रियावादी राजनैतिक प्रभाव को समाप्त करने की कोशिश की। दुर्खाइम ने स्पष्ट रूप से "सामाजिक जीव (social-organism) की स्वायतता" पर बल दिया और कहा कि समाज केवल इसमें जुड़े व्यक्तियों की भीड़ ही नहीं है। व्यक्तियों के आपस में मिलने से, समाज में रहने से एक नये स्तर के सम्बन्ध कायम होते हैं और यही सामाजिक घटनाओं के विशिष्ट चरित्र का निर्माण करते हैं। कॉम्ते के विपरीत दुर्खाइम ने यह भी दिखाने की कोशिश की कि सामाजिक विशिष्टीकरण या सामाजिक श्रम का विभाजन जो व्यक्तियों की निजी स्वतंत्रता और स्वायतता को प्रभावित करता नजर आता है, वास्तव में व्यक्ति की समाज से अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता और स्वायतता को भी बढ़ावा देता है। क्योंकि विशिष्ट श्रम विभाजन के कारण ही व्यक्तिगत मानवीय प्रकृति ज्यादा जटिल और आनुवांशिक प्रभावों से स्वतंत्र होती जाती है और उस पर सामूहिक दबाव भी कम हो जाता है। इसलिये समाज व्यक्तिगत स्वतंत्रता के दायरे को बढ़ाता है और समाज और व्यक्ति के बीच सहयोग का रिश्ता है, टकराव का नहीं। इसी तरह के विश्लेषण के आधार पर दुर्खाइम और उसके मत के लोगों ने मानवीय समाज के व्यापक वैज्ञानिक अनुसंधान करने और इसे चलाने वाले नियमों को तलाशने की कोशिश की। वे सामाजिक नियम जो विभिन्न मानवीय सम्बन्धों को संचालित करते हैं या वे सामाजिक संस्थायें जिनमें मानवता को संगठित करने की भावना विद्यमान है।

कुछ विद्वान प्रत्यक्षवाद को दो धाराओं—सामाजिक प्रत्यक्षवाद और विकासवादी प्रत्यक्षवाद में विभाजित करके देखते हैं। सामाजिक प्रत्यक्षवाद के विकास में सेंट साइमन और कॉमते के साथ-साथ इंग्लैंड के उपयोगितावादी सिद्धांतकार जेरमी बेन्थम और जेम्स मिल ने भी अहम भूमिका

निभाई। सामाजिक प्रत्यक्षवाद का उद्देश्य, वैज्ञानिक पद्धति और तौर तरीकों से समाज और उसकी संस्थाओं का अध्ययन करना था। सेंट साइमन के अनुसार इसके लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ वैज्ञानिक प्रगति ने यूरोप में तैयार कर रखी थी क्योंकि इसने मध्यकालीन धार्मिक और अलौकिक और आधिभौतिक विचारों को नष्ट करके मध्यकालीन सामाजिक संगठन की नींव भी हिला दी थी। इस नये सामाजिक प्रत्यक्षवादी दार्शनिक नजरिये ने वैज्ञानिक पद्धति को स्थापित किया और उस पर टिकी औद्योगिक तकनीकी और संगठन को ही सांसारिक सत्ता का आधार माना। कॉम्ते ने कहा कि "विज्ञान के साथ भविष्यवाणी जुड़ी है और भविष्यवाणी ही क्रिया (action) का आधार है।" प्रगति का विचार भी प्रत्यक्षवादी दर्शन और पद्धति का अभिन्न अंग था। मानवीय इतिहास में एक रेखीय प्रगति को नियम के रूप में मान लिया गया। इस प्रगति का आधार व्यक्ति न होकर सामूहिक रूप से मानवता ही थी। व्यक्ति केवल इस प्रगति के जिसका आधार वैज्ञानिक तकनीकी था—साधन मात्र थे। यहाँ यह भी अहम सवाल है कि प्रगति की प्रेरक-शक्ति इस समय यूरोप-केन्द्रित भी थी क्योंकि गोरे यूरोप के पुरूष ही वैज्ञानिक प्रगति के आधार-स्तम्भ थे। इसलिये प्रत्यक्षवाद ने अप्रत्यक्ष रूप से चिंतन के स्तर पर यूरोप-केन्द्रित, पुरूष-प्रधान सामाजिक व्याख्याओं को ही बढ़ावा दिया। कॉम्ते ने प्रगति के विचार से अभिभूत होकर एक ऐसे समाज-तंत्र (sociocracy) की कल्पना भी की जिसमें प्रत्यक्षवादी विचारक एक वैज्ञानिक समझ और नजरिये पर आधारित नये मानव समाज का निर्माण करेगें जिसमें वैज्ञानिकता धर्म का स्थान ले लेगी।

जेरमी बैन्थम ने मस्तिष्क (mind) का भी एक विज्ञान स्थापित करने की कोशिश की और नैतिकता को भी एक वैज्ञानिक आधार पर रखने की कोशिश की। उनके अनुसार मस्तिष्क भी एक ऐसी वैज्ञानिक नियमों के अनुसार चलने वाली प्रक्रिया है जिसका निर्माण करने वाले तत्व संवेदनाएं ही हैं। ये संवेदनायें मानव-मस्तिष्क के अंतिम तथ्य है। जेम्स मिल की रचना **सिस्टम ऑफ लॉजिक** (1843) सम्भवतया उन्नीसवीं सदी में प्रत्यक्षवादी विचार की सबसे महत्वपूर्ण कृति थी। इसमें मिल ने कॉम्ते के विज्ञान के बारे में विचारों का भी संशोधन किया। कॉम्ते ने विज्ञान के तार्किक पहलुओं पर ही जोर दिया था और इसके प्रयोगात्मक आधार को, तथ्यों के सत्यापन या जाँच को वैज्ञानिक नियमों के निर्माण का प्रारंभिक कदम स्वीकार किया था। उसने यह बात छोड़ दी थी कि नियमों के स्थापित होने के बाद भी उनकी तथ्यों के द्वारा दुबारा जाँच भी की जा सकती है और अगर विस्त त जाँच पड़ताल से नये तथ्यों का पता चले तो उन नियमों के उपर प्रश्नचिन्ह भी लगाया जा सकता था। मिल ने विज्ञान को उग्र अनुभववाद पर आधारित करने की कोशिश करते हुए वैज्ञानिक नतीजों को हठध र्मी तरीके से अपनाने का विरोध किया। मिल ने विज्ञान के लिये आगमनात्मक पद्धति (inductive logic or method) को ही मान्य ठहराया। यानि कि विज्ञान में हम अलग-अलग अनेक बार एक तथ्य को एक जैसा पाकर उसके बारे में एक सामान्य नियम बना लेते हैं। इतिहास और अनुभव से जैसे हम जब जान जाते हैं कि हर व्यक्ति मरणशील है या नश्वर है तभी हम इसके आधार पर यह सामान्य नियम बनाते है कि "सब मनुष्य मरणशील या नश्वर हैं।" इसके विपरीत पद्धति तर्क की निगमनात्मक पद्धति (deductive method) कहलाती हैं। जिसको मिल ने वैज्ञानिक प्रत्यक्षवादी पद्धति के रूप में स्वीकार नहीं किया। इस निगमनात्मक पद्धति में तर्क इस तरह से चलता है कि हम एक सामान्य कथन या नियम को हर स्थिति में सत्य मान लेते हैं। अर्थात् इस सामान्य कथन कि "सब मनुष्य मरणशील हैं।" के आधार पर अगर हम कहें कि सब मनुष्य मरणशील हैं इसलिए 'क' व्यक्ति मर गया तो यह सही वैज्ञानिक पद्धति का आधार नहीं बन सकता।

विकासवादी प्रत्यक्षवाद का भी सामाजिक प्रत्यक्षवाद के समान प्रगति में विश्वास था लेकिन इसमें अलग तरीके से तर्कसंगत दर्शाने की कोशिश होती है। प्रत्यक्षवाद की विकासवादी धारणा ने स्वयं को समाज और इतिहास की बजाय भूगोल और जीव-विज्ञान के नियमों पर आधारित किया। 1859 में चार्ल्स डार्विन की पुस्तक **ऑरिजिन ऑफ स्पीसिज** ने विकासवाद को स्थापित किया। इसके आधार पूरी प्रकृति और समाज को विकास के नियमों के अनुसार देखा जाने लगा। हर्बट स्पेंनसर

से सतत और एक रैखीय विकास की धारणा को सार्वभौमिक माना। उनके अनुसार खगोलीय पिण्डों से लेकर परिष्कृत सभ्यतायें सभी अपने-अपने तरीके से विकासशील हैं। स्पैन्सर ने प्रगति (Progress) के स्थान पर विकास (evolution) की धारणा पर ज्यादा जोर दिया। उनके अनुसार सार्वभौमिक प्रगति को जैविक विकास के नमूने पर ही समझा जा सकता था। उनके विकासवाद की धारणा में जीवों का विकास और सभ्यताओं का विकास भी एकरूपता से विविधीकरण या बहुरूपता और सरलता से जटिलता की दिशा में चलता है। हाँलाकि स्पैन्सर ने धर्म की महत्ता को स्वीकार किया लेकिन उनका मानना था कि मौजूदा मत धर्म के मुख्य लक्ष्य-अंतिम कारण की खोज की सही व्याख्या करने में नाकामयाब रहे हैं। स्पैन्सर का मानना था कि मानवीय ज्ञान सापेक्ष है और जिन घटनाओं का वह अध्ययन करता है—वह स्वयं उसके लिए सीमायें निर्धारित कर देती है। इन सीमाओं के बाहर, स्पैन्सर के अनुसार, एक अज्ञात और असीमित शक्ति है जिस पर सब घटनायें निर्भर करती हैं। स्पैन्सर का यह भी मानना था कि विकास की व्याख्या भौतिक पदार्थ और उसकी गति के रूप में भी की जा सकती थी और अध्यात्म और चेतना के रूप में भी।

उन्नींसवीं सदी के अंत में अर्नेस्ट माख और रिचर्ड ऐक्नेरियस ने प्रत्यक्षवाद को एक नया रूप दिया जिसे empirio-criticism के नाम से जाना गया। इन विद्वानों का मानना था कि तथ्य ही एकमात्र वास्तविकता है और तथ्य और कुछ नहीं बल्कि एक दूसरे से जुड़े और एक दूसरे पर निर्भर संवेदनाओं का अपेक्षाकृत स्थायी समूह ही हैं। इन संवेदनाओं के समूह से ना केवल भौतिक पदार्थ ही बना है बल्कि चेतना और अनुभूतियाँ (Perception) भी इनके द्वारा ही निर्मित हैं।

प्रत्यक्षवाद एक प्रकार से अनुभववाद का विस्तार ही था। इसमें प्राकृतिक घटनाओं को समझने में अटकल बाजी पर विश्वास नहीं किया गया। चूंकि प्रत्यक्षवाद की यह मान्यता थी कि वैज्ञानिक पद्धति—प्रकृति और समाज के अध्ययन के लिए एक जैसी ही है-यह अलग-अलग नहीं हो सकती इसलिये मानवीय व्यवहार का विश्लेषण भी वैज्ञानिक नियमों के अनुसार किया जा सकता है। इसी तरह अतीत के अध्ययन करने में भी प्रत्यक्षवाद ने यह माना कि मानवीय अनुभव को भी खोजे जा सकने वाले तथा पुनराव त्ति कर रहे नियमों के रूप में समझा जा सकता है। (उदाहरण के लिए लिंग, वर्ग या नस्ल से निर्धारित होने वाले मानवीय व्यवहार)। प्रत्यक्षवाद का सार यही था कि अनुभववादी पद्धति से मानवीय व्यवहार में हम एक नमूना (pattern) ढूँढ सकते हैं बशर्ते इस तरह का व्यवहार बार-बार दुहराया जा रहा हो। हाँलाकि इतिहास में शायद ही इस तरह की पुर्नाव त्ति देखने को मिले क्योंकि असंख्य मानवीय अपेक्षाओं और क्रियाकलापों से निर्मित ऐतिहासिक घटनायें अक्सर अद्वितीय ही होती हैं। व्यवहारिक स्तर पर प्रत्यक्षवाद ने अतीत (या इतिहास) को भी जानने योग्य तथ्यों के रूप में प्रस्तुत किया। अर्थात् ऐतिहासिक सबूतों को भी ढूँढा जा सकता था, उनका मूल्यांकन किया जा सकता था और वस्तुनिष्ठ तरीके से उन्हें तथ्यों के रूप में दर्शाया जा सकता था। कुछ हद तक घटनाओं से आगे, प्रत्यक्षवाद ने कुछ इतिहासकारों को मानवीय समाज और इसकी प्रगति के नियमों को तलाशने और स्थापित करने के लिये भी प्रेरित किया।

इतिहास को प्राकृतिक विज्ञान जैसा मानकर नियम ढूँढने की इच्छा के कई कारण थे। इतिहास भी अतीत के तथ्यों और सबूतों के आधार पर वर्तांत लिखता है। हांलाकि इतिहासकार के तथ्य प्रत्यक्ष अतीत की घटनायें, न होकर उनका विवरण हैं या इसे अवशेष या निशान जिनके आधार पर घटित घटनाओं की कल्पना की जा सके। तथ्यों की जाँच में वैज्ञानिक विधि ही ज्यादा कारगर साबित हुई थी और इसीलिये प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने माना कि चूँकि मानवीय व्यवहार भी प्राकृतिक जगत का ही हिस्सा है और चूँकि मनुष्य की मौलिक शारीरिक और भौतिक जरूरतों में आदिकाल से कोई विशेष बदलाव नहीं आया है इसलिये क्या मानवीय क्रिया-कलापों को नियमों के अनुसार या यांत्रिकीय व्याख्या से नहीं समझा जा सकता ? लेकिन हम जानते है कि इतिहास में विज्ञान के समरूप नियम नहीं बनाये जा सकते ना ही ऐसे सूत्र निर्देश जिनके आधार पर यह जाना जा सके कि भविष्य में क्या होगा या अतीत में क्या हुआ? प्राकृतिक विज्ञानों विशेषकर भौतिक विज्ञान में कुछ परिस्थितियों

के आधार पर भविष्यवाणी (prediction) करने की क्षमता होती है। इतिहासकार भी कुछ हद तक सामान्यीकरण करने की और व्याख्या करने की कोशिश जरूर करते हैं लेकिन इनके सामान्यीकरण (generalisation) का स्तर वैज्ञानिक नियमों जैसा नहीं होता है। इतिहासकार विशिष्टताओं पर बल देता है। और इन विशिष्टताओं के लिये साक्ष्य और प्रमाण जुटाता है। विज्ञान में द ष्टा बाहर रहकर ही अनुभववादी तरीके से घटनाओं का अध्ययन करता है, जबकि मानवीय इतिहास में द ष्टा (observor) तथा अतीत के मानवीय क्रिया कलाप समान मानवीय अनुभूतियों, इच्छाओं और प्रयोजनों से संचालित होती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व में बहुविध आयाम हैं और इतिहासकार इन्हें एक कड़ी में पिरोने का काम करता है। विविधता लिये ये पहलू मिलकर ही किसी घटनाक्रम को जन्म देते हैं। विज्ञान की प्रयोगात्मक विधि मनुष्य इतिहास पर लागू नहीं की जा सकती। इन सब समस्याओं के बावजूद, इतिहास-लेखन ने अनुभववादी प्रत्यक्षवाद की पद्धति से तथ्यों और सबूतों को इकट्ठा करने तथा उनकी जाँच और प्रामाणिकता के बारे में काफी कुछ सीखा है।

इतिहास लेखन का राष्ट्रीयवादी द ष्टिकोण

उन्नीसवी सदी में यूरोप के राष्ट्रीयता का विकास काफी तेजी से हो रहा था हाँलाकि यह राष्ट्रीय राज्यों का गठन कई राज्यों के संदर्भ में इससे भी पुरानी प्रक्रिया थी। विशेषकर इटली और जर्मनी के राष्ट्रीय-राज्यों के रूप में विकास ने इतिहास-लेखन की परम्परा को भी काफी हद तक प्रभावित किया था। यूरोपीय राज्यों के लिए इतिहास ने अब राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का, नागरिकता की शिक्षा प्रदान करने का और प्रचार का एक साधन बनाने की कोशिश की। इस नयी तरह के राष्ट्रीय इतिहास में, जो स्कूल और विश्वविद्यालयों में पढ़ाया गया, आंतरिक विभेदों और क्षेत्रीय असमानताओं को नजर अंदाज किया गया और इतिहास राष्ट्रीय पहचान और अस्मिता स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन गया। राष्ट्रीय राज्य का निर्माण कोई सहज और टकराव रहित प्रक्रिया नहीं थीं राष्ट्रीय राज्य के निर्माण का अर्थ था कि एक विशेष भौगोलिक भू-भाग और राजनीति की सामूहिकता (collectivity) से लोगों की पहचान एक जैसी बनाये जाये। यह केवल भौगोलिक एकता स्थापित कर देने से नहीं हो जाता था। राष्ट्र, जैसा कि बैनेडिक्ट एंडरसन ने अपनी प्रभावशाली कृति **Imagined Nation** में दर्शाया है, कोई प्राकृतिक या विधाता द्वारा बनाकर भेजी कल्पना नहीं है बल्कि मानवीय चित्रण, कल्पना और राजनैतिक साधनों से एक सतत रूप से तैयार किया गया रूप और कल्पना है जिसका निर्माण-अनेक प्रतीकों-झण्डें, राष्ट्रीय चिह्न, मानचित्र, कथाओं, पुराण की कल्पनाओं, शत्रु-देश की कल्पना, संविधान आदि के माध्यम से किया जाता है। इस तरह की सामूहिकता की पहचान आंतरिक अंर्तविरोधों और क्षेत्रीय असमानताओं के द्वारा प्रभावित होती है। जैसा कि 19 वीं सदी के एक इटली के विचारक ने कहा था कि हमने ''इटली का निर्माण कर दिया लेकिन अभी इतालवी लोगों का निर्माण करना है।'' वास्तव में एक मनुष्य की पहचान के अनेक आयाम होते हैं-भाषा, व्यवसाय, उसका वर्ग, क्षेत्र, लिंग, आयु आदि के आधार पर भी उसकी सामूहिक पहचान बनती है। इस सामूहिक पहचान के विभिन्न आयामों में बहुदा अंर्तद्वन्द भी चलता रहता है। इन अंर्तद्वन्दों और टकरावों के बावजूद राष्ट्रीय पहचान को प्रमुख पहचान बनाने में इतिहास और शिक्षा का बड़ा अहम हाथ रहता है और इसीलिये राष्ट्रीयवादी इतिहास-लेखन को सरकारों का सहयोग और समर्थन भी मिलता है।

आधुनिक राष्ट्रीयवादी इतिहास-लेखन की जड़ें हम जर्मनी की आदर्शवादी इतिहास लेखन की परम्परा में ढूँढ सकते हैं। रांके को बहुदा दस्तावेजों को आलोचनात्मक द ष्टि से परखने की ऐतिहासिक विधि का जनक माना जाता है। लेकिन यह आलोचनात्मक पद्धति या तथ्यों की सच्चाई परखने की विधि रांके या अन्य 19 वीं सदी के इतिहासकारों तक ही सीमित नहीं थी। इससे पहले भी इतिहासकार, भाषा-शास्त्री तथा अन्य विद्वान इस पद्धति का इस्तेमाल करते आ रहे थे। जर्मन आदर्शवादी इतिहास-लेखन की मुख्य विशेषता, जिसके रांके और हम्बोल्ट प्रतिनिधि थे, यह थी कि

इसने इतिहास के स्वरूप की अलग तरह से व्याख्या की और राजनैतिक सत्ता से इसका सम्बन्ध दर्शाया। यह काल चूँकि यूरोप की शक्तियों के बीच टकराव का समय था इसलिये इस टकराव ने ही उन पद्धतियों को बढ़ावा दिया जिनकों ये इतिहासकार अपना रहे थे-अर्थात् इन इतिहास और समाज-शास्त्रीय पद्धतियों या संख्यात्मक पद्धतियों के स्थान पर-राजनीति और राज्य की गतिविधियों पर ही जोर दिया। अर्थात् इतिहास-लेखन में राज्य की केन्द्रीय भूमिका तथा राज्य के लाभकारी प्रभावों की चर्चा ही प्रमुखता ग्रहण करती है। रांके के इतिहासवाद (historicism) में इतिहास की घटनाओं को प्राकृतिक घटनाओं से अलग समझा गया था। मानवीय प्रयोजन और क्रिया-कलापों की महत्ता को इसमें स्वीकार किया गया था और मानवीय जीवन में अबाध रूप से उथल-पुथल थी लेकिन जर्मनी के इस आदर्शवादी इतिहासवाद में स्थायित्व के केन्द्र (महत्वूपर्ण व्यक्तित्व, समाज संस्थायें, राष्ट्र और युग आदि) पर भी बहुत ज्यादा बल दिया गया था। यह जर्मन के इस आदर्शवादी इतिहास-लेखन का ही प्रभाव था कि बर्क, कालीइल, थियरे, मैकाले और एक्टन जैसे लोगों ने फ्राँसीसी या ब्रिटिश स्वतंत्रता को मानव के प्राकृतिक अधिकारों की जगह इन राष्ट्रों के पुराने अतीत में तलाशने की कोशिश की। अठारहवीं सदी के अंत में जर्मनी में साहित्यक पुर्नउत्थान भी शुरू हुआ था जिसमें फ्राँसीसी साहित्य-लेखन के प्रभावों को हटाकर एक स्वतंत्र राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की कोशिश जर्मनी में हुई थी। जर्मनी के राजनैतिक विचारों में भी फ्राँसीसी प्रबोधन के विरूद्ध एक भावना देखी जा सकती है। इस समय जर्मन इतिहास लेखन भी मुख्यता राष्ट्रीय पुर्नउत्थान तथा मुक्ति-संग्राम से प्रभावित हुआ।

जर्मनी में इतिहास-लेखन की राष्ट्रीय परम्परा में तीन तरह के विचार एक केन्द्रीय भूमिका निभाते हैं-एक राज्य की धारणा, मूल्य का दर्शन और ज्ञान का सिद्धान्त।

(क) **राज्य को एक अंतिम ध्येय या लक्ष्य मानना :** जर्मनी के इतिहासवाद ने राज्य को एक प्रकार से ऐतिहासिक शक्तियों की उपज मान लिया था। जर्मनी, फ्राँस और ब्रिटेन में भी वालटायर और गिब्बन की संस्कृति-परक इतिहास-लेखन ने अब अतीत की राष्ट्रीय-केन्द्रित राजनैतिक रूझान वालें इतिहास के लिये जगह बनाई। 19 वीं सदी के राष्ट्र-केन्द्रित इतिहास लेखन की धारा में पवित्र रोमन साम्राज्य को आदर्श के रूप में चित्रित नहीं किया और न ही मध्यकाल के सांमती समाज के अवशेषों को ही महिमामंडित किया। बल्कि उनका आदर्श नमूना सुधार काल का प्रशा का होहेनजोर्लेन राजतंत्र था। उनके राज्य की अवधारणा में एक कुलीन तंत्र और अफसरशाही के तरफ झुकाव और पक्षपात का रवैया साफ झलकता है और साथ ही साथ उसमें सुसंस्कृत, सम्पतिवान मध्यम वर्ग को समाज के मुख्य स्तम्भ के रूप में दर्शाया गया है। यहाँ राज्य को न तो मिशले की तरह राष्ट्र के रूप में न ब्रिटिश संसदीय संस्थाओं के इतिहास के रूप में दिखाया गया है, जर्मन इतिहासकारों की धारणा में शासक और शासित का गहरा भेद साफ तौर से द ष्टिगोचर होता हैं। राज्य की एक ऐसी उपयोगितावादी अवधारणा जिसमें इसे जनता के हितों का साधन या कल्याणकारी संस्था के रूप में दर्शाया जाता है, ठीक उसके विपरित, जर्मन इतिहासकारों की राज्य की आदर्शवादी परिकल्पना राज्य को 'व्यक्ति' के रूप में, स्वयं एक लक्ष्य और प्रयोजन के रूप में चित्रित करती है जो स्वयं के जीवन के नियमों के अनुसार चलता है। रांके ने कहा था कि, ''राज्यों का केवल अनुभववादी अस्तित्त्व नहीं होता है, वे एक उच्च आध्यात्मिक नियम का प्रतिनिधित्व करते हैं, या हम कह सकते हैं कि यह एक ईश्वर का विचार है ..... उन्हें व्यक्तियों की या उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा करने वाली संस्थाओं के रूप में मानना मूर्खता होगी।''

(ख) **मूल्य का दर्शन और सोच-विचार को मूल्यों की द ष्टि से देखने का विरोध :** जर्मन इतिहासकारों की राज्य की धारणा से जुड़ा हुआ उनकी मूल्य के बारे में दार्शनिक समझ है। इतिहासवाद की यह धारणा थी कि सब सामाजिक मूल्य एक खास ऐतिहासिक परिस्थिति में ही जन्म लेते हैं। जर्मन इतिहासवाद ने इससे एक कदम आगे बढ़कर यह घोषणा की कि

जो भी जन्म लेता है वह ऐतिहासिक तौर पर मूल्यवान है। किसी भी व्यक्ति, संस्था या कार्य का मूल्यांकन उन परिस्थितियों से बाहर नहीं होना चाहिये जिसमें वे जन्म लेती है बल्कि उन्हें उनके अन्दर निहित मूल्यों से ही परखना चाहिये। उनके विचार में मानवीय संस्थाओं की विविधता को बाहरी तर्क-आश्रित मापदंडों के आधार पर नहीं आँकना चाहिये। बल्कि सभी सामाजिक मूल्य संस्कृति से जुड़े हुए होते हैं लेकिन सभी सांस्कृतिक घटनाक्रम विधाता की इच्छा से जन्म लेते है और सत्य मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि हर राष्ट्र की अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता होती है, हर राष्ट्र अद्वितीय सांस्कृतिक धरोहर का स्वामी होता है। मैकेवली की अनैतिकधारणा के विपरित जर्मन इतिहासकारों ने राज्य को नैतिक मूल्यों पर आधारित बताया। रांके के शब्दों में, ''राज्य का मुख्य कार्य राष्ट्र के लिये प्रतियोगी शक्तियों के बीच अधिक से अधिक स्वतंत्रता और शक्ति प्राप्त करना होना चाहिये ताकि यह अपने अंर्तनिहित प्रव तियों का पूरा विकास कर सके। इस लक्ष्य से सभी घरेलू मामले इसके अधीन होने चाहिये।'' माइन्के, हमबोल्ट आदि ने भी राज्य को नैतिकता की संस्थामूलक अभिव्यक्ति माना और यह भी माना कि एक शक्तिशाली राज्य ही स्वतंत्रता, कानून और सांस्कृतिक सर्जन की रक्षा कर सकता है। राष्ट्रीय शक्ति के प्रतीक के रूप में राज्य को स्वतंत्रता तथा संस्कृति का पर्याय मानना केवल जर्मन इतिहासवाद की विशेषता नहीं थी। अमेरिका, फ्राँस, इटली और ब्रिटेन में भी इस तरह के प्रयास चल रहे थे जिनमें राष्ट्रीय अपेक्षाओं को सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों के रूप में स्थापित करने की कोशिश की जा रही थी। जर्मन राष्ट्रवाद ज्यादा ऐतिहासिक रूझान वाला, ज्यादा विशिष्टता पर बल देने वाला था।

(ग) **अवधारणामूलक विचार या सोच का नकारना :** ज्ञान के सिद्धान्त में भी मनुष्य के अस्तित्व की तार्किक उपसंरचना में विश्वास या प्राकृतिक नियमों में विश्वास को छोड़कर इस समय के जर्मन इतिहासकार जीवन के स्वतःस्फूर्ति और गतिशील पक्षों पर ज्यादा जोर दे रहे थे। उनका मानना था कि मानवीय व्यवहार को अवधारणाओं और सामान्यीकृत कथनों में बाँधकर नहीं देखा जा सकता है राष्ट्रीय एकीकरण के प्रयास, राज्य को सत्ता को नैतिक मानने या राज्य के क्रियाकलापों को प्राथमिक मानना यह सब भी इसी ऐतिहासिक दर्शन की द ष्टि से देखे गये थे। जर्मन राष्ट्रवाद इतिहास के 'जर्मन' विचार से काफी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था जो अब जर्मन समस्या के बिस्मार्कवादी हल से जुड़ चुका था। रूढ़िवादी, उदारवादी और डैमोक्रेट सभी इस नये इतिहास के धर्म-जर्मन राष्ट्रवाद के समर्थक बन चुके थे। मिनेके का राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन कुलीनवादी प्रव त्तियों का शिकार भी था और इसमें संकीर्ण राजनेताओं, राजनायिकों और सेनापतियों के क्रियाकलापों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया था-इसमें संस्थागत तथा उस भौतिक परिस्थितियों को पूरी तरह नजर अन्दाज किया गया था जिनमें इन राज्य के प्रमुख अधिकारियों ने निर्णय लिये थे। इस राष्ट्रीयवादी इतिहास-लेखन में राजनैतिक सत्ता और स्वतंत्रता का सम्मिश्रण करने की कोशिश की गई थी। इतिहासलेखन मुख्यतया महान राष्ट्रीय व्यक्तित्वों की बौद्धिक जीवन-गाथा के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित रहता है और इसमें जान-बूझकर उस सामाजिक परिवेश को नजर अन्दाज किया जाता है जिसमें इनके राजनैतिक विचारों का जन्म होता है। इस राष्ट्रीयवादी इतिहासवादी जर्मन इतिहास ने प्राकृतिक नियम की अवधारणा को नकार दिया था। उनके विचार में राज्य को बाहरी नैतिक मापदंडों के अनुसार या उपयोगितावादी मूल्य-नागरिकों की स्वतंत्रता तथा कल्याण के साधन के रूप में आँकने की जगह शक्ति और राजनैतिक हितों के रूप में इसका आंकलन करने पर बल दिया था। उनका यह भी विश्वास था कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कानून द्वारा शासन तथा लोकप्रिय भावनाओं को दर्शाने वाले प्रतिनिधित्व की संस्थायें आदि राज्य के परम्परागत ढाँचें के तहत ही, राज्य के द्वारा ही वे हासिल कर सकते थे। इसलिये उनका विश्वास था कि होहेनजॉलेर्न राजतंत्र, अपनी कुलीनतंत्रीय संरचना, तानाशाही प्रव त्ति और विशिष्ट

अफसरशाही के गुणों के कारण व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा न्यायिक सुरक्षा का ज्यादा उत्तम साधन हो सकता था। वे एक संवैधानिक राजतंत्र पर आधारित ऐसा जर्मन-राज्य स्थापित करना चाहते थे जिसमें प्रतिनिधित्व की संस्थायें तो हो, लेकिन कार्यकारी राज्य के अंग को, विदेशी मामलों में तथा संसद के नियंत्रण के बिना सैन्य-शक्ति के प्रयोग का अधिकार भी दिया गया हो। वे इस राष्ट्रीय राज्य में चुनाव के विस्तार और राजनैतिक अधिकारों के आधार पर वे जनता को जर्मन राजतंत्र के साथ भावनात्मक रूप से जोड़ना भी चाहते थे। उनके अनुसार राजनैतिक स्वतंत्रता का विचार एक राष्ट्र की आध्यात्मिक और राजनैतिक जीवन-धारा से ही जुड़ा हुआ था।

राष्ट्रीयवादी इतिहास लेखन में, जिस तरह से जर्मन आदर्शवादी इतिहासकारों हमबोल्ट से लेकर मिनके तक, राज्य की संस्था और इसके नैतिक आधार पर ही ज्यादा जोर दिया गया था और राज्य की संस्थाओं को स्वतंत्रता तथा नैतिकता और सामाजिक सामंजस्यता का आधार माना था। हाँलाकि इतिहासवादी जर्मन इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं को वैचारिक मूल्य और अवधारणाओं से मुक्त होकर अध्ययन करने के हिमायती थे लेकिन यहाँ हम स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि यह राष्ट्रीय इतिहास लेखन राज्य और उसकी विचारधारा से ही प्रभावित था। यह राष्ट्रीय इतिहास लेखन, अन्य देशों के बाद के राष्ट्रीय इतिहास लेखन की तरह ही, एक वर्ग विशेष की राजनैतिक तथा सामाजिक समझ से, एक खास विश्व-द ष्टिकोण से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। हाँलाकि रांके और उसके अनुयायियों ने निष्पक्ष ऐसा इतिहास लिखने की बात कही थी जो वैज्ञानिक इतिहास लेखन का आदर्श बने और जो राजनैतिक दलों से अलग खड़ा हो, लेकिन चेतन और अचेतन रूप में, जर्मनी के राष्ट्रवादी इतिहासकार अपने समकालीन राजनैतिक और सामाजिक सत्ता के लिए सैद्धान्तिक आधार ही तैयार कर रहे थे और रांके, हमबोल्ट और रिट्टर सभी गंभीर रूप से राजनीति के प्रति प्रतिबद्ध थे। इनकी धारणा के अंर्तविरोध, नैतिकता और स्वतंत्रता के विचार में अंर्तविरोध, वास्तव में राष्ट्र की धारा के, सामाजिक जीवन के अन्दरूनी अंर्तविरोधों को ही झलकाते हैं जिनको राष्ट्रीय इतिहास लेखन में नजर अन्दाज करने की अक्सर कोशिश की जाती है।

अठारहवीं सदी में हेरदर ने जिस जर्मन राष्ट्रवाद की परिकल्पना की थी वह सार्वभौमिकता के गुणों से प्रभावित था। लेकिन 19 वीं सदी में यह राष्ट्रवाद राज्य केन्द्रित प थकतावादी राष्ट्रवाद के रूप में विकसित हुआ। हेरदर ने कहा था कि हर राष्ट्र का मानवीय जीवन और संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। हेरदर का राष्ट्रवादी चिंतन दो भिन्न राष्ट्रों के इतिहास को विभाजित नहीं करता बल्कि उन्हें आपस में जोड़ता है। उनका मानना था कि राष्ट्रवाद अंर्तराष्ट्रीय शांति का माध्यम बनेगा-उन्होंने कहा कि, ''मंत्रिमंडल एक दूसरे को धोखा दे सकते हैं लेकिन पित भूमियाँ एक दूसरे के विरूद्ध नहीं काम करेगीं। वे एक दूसरे की मदद ही करेगीं और परिवार के सदस्यों की तरह रहेगीं। पित भूमियाँ अगर एक-दूसरे से युद्ध करती हैं तो यह मानव-भाषा की सबसे भंयकर बर्बरता होगी।'' लेकिन 19 वीं सदी में राष्ट्रीय मुक्ति की परिस्थितियों में राष्ट्र की सार्वभौमिक धारणा बदल जाती है। फित्शे ने 1806 में जर्मन राष्ट्र को दिये अपने संदेश में जर्मन राष्ट्र को मौलिक राष्ट्र का दर्जा दिया और यह दूसरी भाषा में निहित था और उन्होंने इसकी तुलना शत्रु राष्ट्र फ्राँस से की जो केवल एक सतही और दिखावे भर के लिये राष्ट्र था। 1814 में हम्बोल्ट ने भी घोषणा की थी कि फ्राँस का राष्ट्र दिव्य शक्तियों से प्रेरित नहीं था जैसा कि जर्मन राष्ट्र था। अर्थात अब राष्ट्रवाद राष्ट्रों को जोड़ने की बजाये उन्हें विभाजित करने का काम कर रहा था। इसी तरह राज्य की धारणा भी बदलती है। हेरदर ने 1784 में राज्य को एक अप्राकृतिक संस्था बताया था और यह माना था कि व्यक्ति राज्य के लिये नहीं बना है। उन्होंने राज्य को मानवीय सुख का बाधक ही माना था। यह एक यांत्रिकीय उपकरण था जिसका समाज से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं था। जहाँ कहीं भी यह व्यवस्था बनाये रखने के अपने न्यूनतम कर्त्तव्य से आगे बढ़ा, वहीं इसने व्यक्ति के स्वतंत्र विकास को प्रतिबन्धित किया। लेकिन

1813 में हम्बोल्ट ने 'राष्ट्र, जनता और राज्य' (Nation, people and state) तीनों को एक दूसरे का पर्याय ही मान लिया था। इसी तरह फित्शें के 1806 के जर्मन राष्ट्र को संदेश में राज्य को जर्मन राष्ट्र के नैतिक और धार्मिक शिक्षक के रूप में माना था। राज्य को अब शक्ति और राजनीति के रूप में ज्यादा दर्शाया जाने लगा था। इसके साथ-साथ राष्ट्रीय इतिहास लेखन में व्यक्तित्व (individuality) की अवधारणा जो पहले व्यक्तियों की खासियत दिखाने के लिये इस्तेमाल की जाती थी, अब सामूहिक पहचान के लिये, राज्य के उच्च नैतिकता पर आधारित राजनैतिक संरचना के लिये, इस्तेमाल की जाने लगी। 19 वीं सदी के इतिहासवादी जर्मन इतिहास लेखन में समाज में और राष्ट्र में राज्य को ही प्राथमिकता प्रदान की गयी थी।

जर्मन इतिहासवादी राष्ट्रीय रवैये को विभिन्न रूपों में राष्ट्रीयवादी इतिहास लेखन में अपनाया गया हैं। राष्ट्रीयवादी इतिहासकारों ने, उन देशों में भी जहाँ पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रव त्तियों के विरूद्ध संघर्ष की एक लम्बी दास्तान है, उनके द्वारा राष्ट्रवाद को एक अमूर्त विचार के रूप में, पश्चिमी प्रबोधन काल की स्वतंत्रतता की भावना के रूप में, पश्चिमी ज्ञान की प्रेरक शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। उपनिवेशवाद के शोषण के स्वरूप को प्रमुखता देते हुये, राष्ट्रीय इतिहास लेखन में समाज के आंतरिक अंर्तविरोधों को-विशेषकर वर्ग, जाति और लिंग-भेद के आधार पर समाज के अंर्तद्वन्द को कम महत्व देने की अक्सर भूल की है। निम्न वर्ग, जातियों के संघर्षों को इनमें या तो पूरी तरह नजर अन्दाज कर दिया गया या उन्हें गौण-राष्ट्रीय आंदोलन के अपवाद के रूप में या राष्ट्रीयता की भावना को कमजोर करने वाली शक्ति के रूप में देखा गया। राष्ट्रीयवाद को सम्पूर्ण भारत की आवाज दिखाने की कोशिश में इसके वैचारिक रूझानों तथा वर्ग-विश्लेषण से किनारा कर लिया गया। भारत के राष्ट्रीय इतिहास लेखन के प्रमुख लेखक ए॰ सी॰ मजूमदार, बी॰ आर॰ नन्दा, बिश्वेश्वर प्रसाद और अमलेश त्रिपाठी आदि हैं। राष्ट्रीयवादी इतिहास लेखन में राष्ट्रवाद को देशी सम्पत्तिवान वर्गों के प्रतिनिधियों के एक ऐसी आदर्शवादी कार्य के रूप में चित्रित किया जाता है जिसने राष्ट्र को विदेशी हूकूमत और औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलायी। इस इतिहास-लेखन के कई रूप हो सकते हैं-जिसमें अलग-अलग व्यक्तियों की भूमिका या राष्ट्रीयवादी संगठनों को राष्ट्रीयवादी अभियान की मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में माना जाता है। 19 वीं सदी में पश्चिमी यूरोप के देशों में राष्ट्रीय पहचान या अस्मिता का निर्माण करने के लिये राष्ट्रीय-राज्य को इतिहास का केन्द्र-बिन्दु मानकर अन्य सामाजिक, आर्थिक, क्षेत्रीय या बोलियों के विभेदों को नकार कर इतिहास-लेखन किया गया था। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति पाने के लिये लड़े गये राष्ट्रीय संघर्ष को भी इन देशों के राष्ट्रीयवादी इतिहासकारों ने सिर्फ देशी आभिजात्य वर्ग का साम्रज्यवादी संस्थाओं से मौलिक अंर्तविरोध का नतीजा ही माना। सामन्यतया महान राष्ट्रीय विभूतियों के व्यक्तित्व और क्रिया-कलापों पर इस तरह के इतिहास लेखन में ज्यादा अहमियत दी जाती है और इसलिये इसका स्वरूप एक तरह से ''अभिजात्य समूह की आध्यात्मिक जीवन-गाथा-कथा'' जैसा ही होता है।

इतिहास में मार्क्सवादी द ष्टिकोण

कार्ल मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिख एंजेल्स ने सबसे पहले मार्क्स को इतिहास का नया नजरिया और सिद्धान्त खोजने का श्रेय दिया। यह सिद्धान्त जो उन्होंने एंजेल्स के साथ मिलकर स्थापित किया-ऐतिहासिक भौतिकवादी या इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के नाम से अक्सर जाना जाता है। अगर सरल भाषा में कहें तो मार्क्स का विश्वास था कि इतिहास को सही तरीके से समझने के लिये उस समाज के विचार या विचारधाराओं के स्थान पर उस समाज और काल की भौतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करना चाहिये। मार्क्स के अनुसार किसी समाज को समझने के लिये जिन प्रमुख कारकों पर ध्यान देना जरूरी है-वे इस प्रकार है :

1. किसी समाज के आर्थिक विकास का स्तर,

2. उत्पादन और विनिमय की पद्धति में परिवर्तन,
3. समाज का श्रेणी-विभाजन या वर्ग-विभाजन, तथा
4. वर्ग-संघर्ष की प्रकृति और परिणाम।

मार्क्स का ऐतिहासिक सिद्धान्त इतिहास में विचारों की प्राथमिकता को नकारता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह इतिहास में विचारों की शक्ति को नहीं मानता लेकिन उसका कहना था कि इतिहास में अमूर्त दार्शनिक विचारों से ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका भौतिक परिस्थितियाँ अदा करती हैं और उनकी भूमिका कहीं ज्यादा मूल्यवान और चिरस्थायी होती है। इसलिये मार्क्सवादी इतिहास की अवधारणा में इतिहास का शोध और अनुसंधान सैद्धान्तिक अटकलबाजी के बजाय ठोस तथ्यात्मक आधार पर होना चाहिये। यह बात आज के संदर्भ में हमें आम समझ की तरह लग सकती है लेकिन उस समय जब मार्क्स अपना योगदान दे रहे थे और जब इतिहास विषय दर्शन-शास्त्र की एक उपशाखा के रूप में ही पढ़ाया जाता था, काफी उग्र और क्रांतिकारी समझी गयी थी। हाँलाकि कई बार कार्ल मार्क्स की ऐतिहासिक अवधारणा पर इसके विरोधी आर्थिक निर्धारणवाद (economic determinism) का आरोप लगाते हैं लेकिन मार्क्स की ऐतिहासिक अवधारणा में मानवीय क्रिया-कलापों को केन्द्रीय बिन्दु की तरह माना जाता रहा है। मार्क्स ने इतिहास के विकास में मानवीय क्रियाओं को अहम स्थान दिया था-विशेषकर अगर हम उनकी आम धारणा को ही लें जिसमें उन्होंने मानवीय श्रम को इतिहास मे सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तन का आधार माना था तो यह बात साफ हो जाती है कि मार्क्स की नजर में ''वास्तविक मानवीय कर्म'' (real human activity) को इतिहास की मुख्य प्रेरक-शक्ति स्वीकार किया गया था। लेकिन इसमें भी उन्होंने इस बात पर ज्यादा बल दिया कि मनुष्य श्रम कैसे करते हैं, किन परिस्थितियों में श्रम के द्वारा उत्पादन करते हैं और ये बातें किस तरह समाज के ढाँचें को प्रभावित करती हैं। इसके साथ-साथ मार्क्स ने मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों पर भी काफी बल दिया था। उन्होंने कहा था कि हम मनुष्य प्रकृति पर निर्भर करते हैं लेकिन प्रकृति मानवता से स्वतंत्र है। बहुदा इन मार्क्सवादी चिंतन के पहलुओं पर लोग चर्चा नहीं करते और मार्क्स द्वारा सुझाये गये वर्ग-संघर्ष (class-struggle) को ही समाज को समझने का मुख्य उपकरण मानते हैं।

मार्क्स और उनके सहयोगी एंजेल्स ने इस ऐतिहासिक अवधारणाा को 1845 में **द जर्मन आइडियॉलौजी** नामक पुस्तक से शुरू किया था। दार्शनिक पूर्व-धारणाओं पर निर्भर न रहकर मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को अनुभववादी पर्यवेक्षन तथा तथ्यों पर आधारित करने की पुरजोर कोशिश की थी। उन्होंने तर्क दिया कि किसी समाज और काल का इतिहास तभी अच्छी तरह समझ में आयेगा जब हम समाज की आर्थिक संरचना की तह तक जायें लेकिन साथ में यह भी चेतावनी दी यह किसी मानवीय इतिहास का एकमात्र आधार नहीं हो सकता है। इस आर्थिक आधार से बहुत कुछ उभरकर आता है-कानून, धर्म, राजनीति, संस्कृति और विशिष्ट किस्म की सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप सब आर्थिक आधार से पनपते हैं। जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियों का विस्तार होता है या उनमें बदलाव आता जाता है वैसे-वैसे समाज का ढाँचा और उसके साथ-साथ इतिहास भी बदलता जाता है। इसी धारणा को मार्क्स ने अपनी पुस्तक *(The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte)* में फ्राँस के समकालीन इतिहास की व्याख्या करते हुए अपनाया। मार्क्स ने इस बात पर बल दिया कि इतिहास में विभिन्न कर्त्ताओं की वर्ग-स्थिति ही उनके जीवन के प्रति विचार और उनके विश्व-दर्शन को निर्धारित करती है। इसका प्रत्यक्ष मतलब यह निकला कि जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था बदलती है, वैसे-वैसे समाज की वर्ग-संरचना भी बदल जायेगी और इससे आवश्यक रूप से चेतना के रूप में भी परिवर्तन होगा। जैसा कि कार्ल मार्क्स ने अपनी 1859 में लिखी पुस्तक *ए कन्ट्रीब्यूसन टु दि क्रिटिक ऑफ पालिटिकल एकॉनमी* में साफ तौर पर ऐलान किया है कि, ''मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्त्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतता का निर्धारण करता है।'' इस

तरह के नजरियों से यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि इतिहास की मार्क्सवादी या भौतिकवादी व्याख्या मानवीय क्रियाओं की एक गैर-लचीली या भाग्यवादी सी व्याख्या करती है। सोवियत संघ में तथा मार्क्स के अंधें अनुयायिओं में कई बार इस तरह की भाग्यवादी व्याख्या को प्रोत्साहन दिया गया और इतिहास को त्रुटिरहित और आसानी से समझ में आ जाने वाले क्रमबद्ध नियमों के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह विचार या कुछ लोग इसे विकृति का नाम भी देते हैं-मार्क्स के मूल विचार या ऐतिहासिक अवधारणा से एकदम अलग था क्योंकि इसमें मानवीय क्रियाओं या पहल को कोई जगह नहीं दी गई थी। कार्ल मार्क्स ने 1845 **दि होली फैमिली** में घोषणा की थी कि, ''इतिहास कुछ नहीं करता ..... यह मनुष्य ही है, वास्तविक जीवित मनुष्य जो सब कुछ करता है . .... इतिहास और कुछ नहीं है बल्कि अपने-अपने लक्ष्यों से प्रेरित मानव की क्रियायें ही इतिहास हैं।'' इसी तरह अपने एक पत्र में कार्ल मार्क्स ने 1871 में लिखा था कि इतिहास बहुत सरल हो जायेगा अगर उसे हमेशा त्रुटिरहित उचित परिस्थितियाँ मिलती रहे और इतिहास में कोई आकस्मिक घटनायें न हों। उन्होंने यहाँ तक भी कहा कि अगर आकस्मिक घटनायें न हो तो इतिहास का स्वरूप रहस्यमयी और मायावी हो जायेगा।

विश्व इतिहास की रहस्यवादी धारणा के स्थान पर मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का नाम इतिहास की द्वन्दात्मक प्रणाली (Dialectical method) रखा था। इस अवधारणा में उन्होंने अवैज्ञानिक आदर्शवादी धारणा जिसमें 'महान विभूतियों' के कारनामों की गाथा कही जाती थी, उसे भी चुनौती दी और यांत्रिकीय भौतिकवाद को भी जिसमें मानव को इतिहास में कोई जगह नहीं दी गई थी। उनके इस द्वन्दात्मक विचार में, मानवता इतिहास में कर्त्ता और विषय-वस्तु दोनों (Both Subject and Object of history) की भूमिका में देखी जानी चाहिये। मानव इतिहास की गति को चलाता है और स्वयं इतिहास की गति से प्रभावित भी होता है। मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं लेकिन इस इतिहास का निर्माण करने वाली परिस्थितयों का चयन स्वयं उनके द्वारा नहीं होता बल्कि विरासत में मिली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उसके क्रिया-कलापों को प्रभावित करती रहती हैं। मार्क्स की ऐतिहासिक अवधारणा का 19 वीं सदी के उत्तरार्ध और 20 वीं सदी में इतिहासकारों पर गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इनमें कई विद्वान तो समाजवादी आंदोलन से जुड़े हुए राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही थे जिनमें कार्ल काउत्सकी नाम प्रमुख है। जिन्होनें कई ऐतिहासिक कृतियाँ लिखी जैसे **मध्य यूरोप में क्मयुनिज्म** (1897) तथा **थोमस मूर और उनकी कल्पना** (1927)। लेकिन ज्यादातर विद्वान एकेडमिक क्षेत्र के हुये। विशेषकर ब्रिटिश मार्क्सवादी इतिहासकार क्रिस्टोफर हिल, जॉर्ज रूडे, रॉडनी हिल्टन, एरिक हाब्सवाम तथा ई॰ पी॰ थॉमसन ने पश्चिमी जगत के इतिहास-लेखन को काफी अधिक प्रभावित किया है। इन इतिहासकारों ने इतिहास लेखन की परम्परागत आदतों को बदला और अपने अध्ययन में भौतिकवादी विश्लेषण, वर्ग-विश्लेषण और मानवीय कर्त्ता का विचार अपनाया। जैसे जॉर्ज रूडे ने अपनी चर्चित पुस्तक The Crowd in the French Revolution (1959) में इस प्रचलित विचार का पुर्नअध्ययन किया कि कैसे क्रांति के दौरान ''विवेकहीन भीड़'' पेरिस की गलियों में सक्रिय थी। कई तरह के नये प्राथमिक स्त्रोतों का उपयोग करके रूडे ने यह साबित करने की कोशिश की कि पेरिस की भीड़ विवेकशील थी और इस तरह उन्होंने 'भीड़' की पुरानी ऐतिहासिक धारणा को नकार दिया। पश्चिमी यूरोप में हाँलाकि मार्क्सवादी इतिहास-लेखन मुख्य धारा तो नहीं बन पाया लेकिन जिस तरह के गंभीर शोध और अध्ययन इन विद्वानों ने किये-उससे इन्हें काफी गंभीरता से लिया जाने लगा। मार्क्स का प्रभाव इतिहास-लेखन में अमेरिका में भी पड़ा जहाँ राजनैतिक रूप से इस तरह के विचारों के लिए अनुकूल जलवायु नहीं थी। फिलिप एस॰ फोनर ने अमेरिका के श्रमिक वर्ग का नया इतिहास लिखा जो सामंजस्य के बजाय वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से प्रेरित था। इसी तरह मार्क्सवादी इतिहास-लेखन से प्रेरणा लेकर हर्बट आप्तेकरे ने दास-प्रतिरोध और संघर्ष का इतिहास लिखा। बाद में यूजेन जेनोवेज ने मार्क्सवादी उपकरणों का सहारा लेकर अमरीकी दास-इतिहास की पुर्नव्याख्या की।

जो भी हो कार्ल मार्क्स के लिए मानवीय इतिहास में भौतिक उत्पादन का मुख्य स्थान था। मनुष्यों को जिंदा रहने के लिए खाना और बचाव के लिये जगह की हमेशा से जरूरत रही है और रहेगी। जिन तरीकों और उपकरणों से जीवन-निर्वाह के साधन व्यक्ति और मानव-समूह जुटाते हैं और साथ-साथ काम करते हैं-उसी से उनके सामाजिक अस्तित्व को आधार मिलता है। इस तरह के सामाजिक उत्पादन में कुछ श्रम का विभाजन भी जरूरी हो जाता है और उसी श्रम के विभाजन के अनुरूप वर्ग-संरचना की नींव भी खड़ी होती है। चूँकि उत्पादन और कार्य दैनिक जीवन के केन्द्रीय बिन्दु की तरह हैं इसलिये सामाजिक सम्बंधों में एक भौतिक तत्त्व मौजूद रहता है। यह बात मार्क्स और एंजेल्स ने ''जर्मन विचारधारा'' नामक अपनी रचना में स्पष्ट कर दी थी। बाद में 1859 में मार्क्स ने अपने इस भौतिकवादी ऐतिहासिक द ष्टिकोण को या **ऐतिहासिक भौतिकवाद** को अपनी महत्वपूर्ण रचना *A contribution to the critique of Political Economy* की प्रस्तावना में ज्यादा सुस्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। उन्होंने लिखा-

''अपने अस्तित्व के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य आवश्यक रूप से कुछ विशिष्ट सम्बन्ध बनाते हैं जो उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं इनको मौजूदा उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की अवस्था के अनुरूप हम उत्पादन के सम्बन्धों का नाम दे सकते हैं। इन उत्पादन के सम्बन्धों की सम्पूर्णता ही समाज का आर्थिक आधार तय करती है जो वह वास्तविक आधार है जिस पर पूरा कानूनी और राजनैतिक ऊपरी ढाँचा (Superstructure) उभरता है और जिसके अनुरूप ही चेतना के विशिष्ट रूप दिखाई पड़ते हैं। भौतिक जीवन के उत्पादन की पद्धति ही सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की सामान्य प्रक्रियाओं का निर्धारण करती है। मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती अपितु उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करता है।''

इसके आगे मार्क्स ने स्पष्ट किया कि अपने विकास की एक अवस्था में कैसे समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियाँ मौजूदा उत्पादन के सम्बन्धों से टकराव की स्थिति में पहुँच जाती हैं। उत्पादक शक्ति का विकास करने की बजाय इस हालत में उत्पादन के सम्बन्ध उनके विकास में एक रोड़े या अवरोध की तरह खड़े हो जाते हैं। फिर कैसे एक सामाजिक क्रांति का युग शुरू होता है। समाज का आर्थिक ढाँचा या आधार बदल जाने से उस पर खड़ा ऊपरी ढाँचा भी तेजी से रूपान्तिरित हो जाता है। इससे यह साफ है कि मार्क्स के विचार में भौतिक उत्पादन ही समाज का आधार है और उसमें आने वाले बदलाव से ही उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध तथा उनसे जुड़ी हुए वर्ग-संरचना के स्वरूप भी बदल जाते हैं। मार्क्स ने भौतिक उत्पादन से जन्म ले रहे सामाजिक सम्बन्धों, श्रम के विभाजन के रूप तथा समाज की वर्ग-संरचना इन सब को सामूहिक रूप से उत्पादन की पद्धति (Mode of Production) का नाम दिया। उत्पादन की पद्धति के आधार पर ही मार्क्स ने इतिहास के काल-चक्र को विभाजित किया। मार्क्स ने अपने विश्लेषण में उत्पादक शक्तियों के प्रभाव पर भी बल दिया था। उत्पादक शक्तियों (Productive forces) में उत्पादन की प्रक्रिया में इस्तेमाल होने वाले सभी अवयव जैसे कच्चा माल, तकनीकी, ऊर्जा के स्रोत, वैज्ञानिक ज्ञान का स्तर तथा श्रम-शक्ति की कुशलता आदि शामिल होते हैं। इन उत्पादक तत्वों का उत्पादन की विशिष्ट प्रक्रिया में संयुक्त रूप से मिलान (या जिसे हम उत्पादन का तकनीकी संगठन कह सकते हैं) भी उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों से जुड़ा रहता है। उत्पादन के सम्बन्ध समाज में सम्पत्ति के सम्बन्धों के रूप में या वास्तविक उत्पादकों तथा उत्पादन के साधनों के मालिकों के बीच के सम्बन्धों के रूप में नजर आते हैं। मार्क्स का यह भी मानना था कि समाज में उत्पादन की शक्तियों की अपनी शक्ति तथा गति भी होती है जिसे समझना भी जरूरी है।

मार्क्सवादी ऐतिहासिक धारणा में समाज के क्रमिक विकास के बीच में ही संकट के काल, क्रांति और तेज संक्रमण के काल भी आते रहते हैं। यह उस समय होता है जब उत्पादन के सम्बन्ध बदलती हुई उत्पादन की शक्तियों से मेल नहीं खाते। वे उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक बन जाते हैं और उन उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों का टूटना जरूरी हो जाता है ताकि उनके स्थान पर नये उत्पादन

के सम्बन्ध ले सके जो आगे समाज के विकास को बढ़ा सकें। इसी से समय-समय मानव समाज में भिन्न-भिन्न समाज-व्यवस्थायें, दास-व्यवस्था, सांमतवाद या पूँजीवाद आदि समय-समय पर क्रम से उभरती हैं। मार्क्स द्वारा लिखे कम्युनिस्ट मेनिफैस्टो में प्राचीन काल से औद्योगिक पूँजीवाद तक के ऐतिहासिक विकास को एक रूपरेखा के रूप में दर्शाया गया है। अगर मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद में, उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध गतिशील आर्थिक संरचना की नींव पर खड़े हैं तो ये स्वयं भी एक तरह के संस्थागत सम्बन्धों को (कानूनी तथा राजनैतिक ऊपरी ढाँचें को) नींव प्रदान करते हैं। यही वह क्षेत्र है जहाँ के चेतना के विशिष्ट रूप बनते-बिगड़ते दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार उत्पादक शक्तियों के दबाव में उत्पादन के सम्बन्ध बदल जाते हैं उसी प्रकार उत्पादन के सम्बन्ध बदल जाने से कानूनी, राजनैतिक ढाँचें तथा चेतना के रूपों को बदलना और नयी परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालना पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संकट के समय में, जब उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के बीच संघर्ष और टकराव चल रहा हो, उस समय उससे कानूनी-राजनैतिक उपरी ढाँचा और चेतना के अन्दर भी यह द्वन्द दिखाई पड़ेगा। ऊपर उद्घ त किया गया मार्क्स की प्रस्तावना का कथन उनके इतिहास के प्रति नजरिये का सुस्पष्ट कथन था और उनके निर्णायक सिद्धातों को प्रस्तुत करता है। यहाँ मार्क्स ने सार रूप में अपने पहले के तर्कों को विकसित करके तथा ज्यादा स्पष्ट करके रख दिया था। इसी धारणा के आधार पर दीर्घकालीन ऐतिहासिक परिवर्तन को दिखाने वाली योजना मार्क्स ने उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों की गतिमान धुरी के रूप में प्रस्तुत की और उन्होंने इस नमूने को-आर्थिक आधार, कानूनी तथा राजनैतिक ऊपरी ढाँचा-तथा इनके बीच के सम्पूर्ण अंर्तसम्बन्ध- को विशिष्ट ऐतिहासिक क्षणों को समझने के लिये भी इस्तेमाल किया। लेकिन मार्क्स द्वारा सुझाये इन सिद्वान्तों या नमूनों को अंतिम सत्य मानने की भूल नहीं की जानी चाहिये। मार्क्स ने सामाजिक जटिलताओं को सरल रूप में-नींव और ऊपरी ढाँचें की उपमा के रूप में समझाने की कोशिश की थी लेकिन उनके स्वयं के शब्दों में यह एक प्रारम्भिक चित्रण ही था। हाँलाकि यह प्रांरम्भिक चित्रण यह दिशा-निर्देश देने वाला समाज का नमूना भी उनके वर्षों के अनुभव और मेहनत का नतीजा था फिर भी मार्क्स की रचनाओं को आलोचनात्मक द ष्टिकोण से तथा अन्य रचनाओं के संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिये-विशेषकर उनकी समकालीन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन और अनुभववादी विश्लेषण करने वाली रचनाओं के साथ मिलाकर ही हम मार्क्स की मौलिकता को समझ सकते हैं। कार्ल मार्क्स ने एक अमरीकी अखबार-न्यूयोर्क डेली ट्रिब्यून में 300 से अधिक लेख लिखे और 1852-1862 के बीच कई जर्मन अखबारों में भी सैंकड़ों लेख लिखे जो उनकी ऐतिहासिक जाँच तथा सामग्री से भरपूर हैं। 1858 में मार्क्स ने कई हस्तलिखित नोटबुक तैयार की जिनसे ऐसा लगता है कि उनके दिमाग में विभिन्न उत्पादन की पद्धतियों का विकास ऐतिहासिक द ष्टिकोण से परखने की योजना थी। इन्हें 1973 में अंग्रेजी में Grundrisse के नाम से प्रकाशित किया गया। इन नोटबुकों का ऐतिहासिक भाग 1964 में **Precapitalist Economic Formation** के नाम से छापा गया था। इसके अलावा के मुख्य ग्रंथ, **दास कैपिटल** में काफी ऐतिहासिक तथ्यात्मक सामग्री मिलती है। हाँलाकि **दास कैपिटल** को लिखने का मूल उद्देश्य मार्क्स के शब्दों में, राजनैतिक अर्थव्यवस्था (Political economy) की आलोचना करना ही था लेकिन इतिहास की रचना न होते हुये भी मार्क्स ने समकालीन इतिहास के कई महत्वपूर्ण पहलुओं पर गहरा अनुभववादी अनुसंधान किया था। उदाहरण के लिये **कैपिटल** के अध्याय 10 में उन्होंने मिल-मालिक और मजदूरों के बीच काम के घंटों को लेकर चल रहे टकराव का विस्त त ऐतिहासिक वर्णन दिया है। अध्याय 14 और 15 में इसी प्रकार कारीगरी स्तर के हस्त-शिल्प उत्पादन से औद्योगिक फैक्टरी उत्पादन में संक्रमण पर विस्तार से चर्चा की गई है। या इसी तरह अध्याय 26-33 तक ऐतिहासिक सामग्री का इस्तेमाल करके इग्लैण्ड में पूँजी के प्राथमिक संचय (primary accumulation of capital) के तौर तरीकों पर विस्तार से चर्चा की गई है। कहने का मतलब यह है कि मार्क्स के एक प्रस्तावना में दिये गये कथन से ही हम मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को नहीं समझ सकते। इसके लिये जरूरी है कि

हम मार्क्स के अनुभववादी तथ्यों पर आधारित ऐतिहासिक सामग्री का भी अध्ययन करें।

अक्सर मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की आलोचना इस बात के लिये की जाती है कि उन्होंने समाज और इतिहास के विकास को एक सरल रैखिक दिशा में चलने वाले सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं या चरणों के रूप में देखा और इसमें ऐतिहासिक विशिष्टता या आकस्मिक होने वाले परिवर्तनों को कोई जगह नहीं दी गई थी। मार्क्स ने **दास कैपिटल** के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना में कहा था कि पूँजीवादी उत्पादन के नियम लौह-रूपी आवश्यकता के साथ सब देशों में काम करेगें तथा अधिक औद्योगिक विकसित देश कम विकसित देश को अपने भविष्य की तस्वीर दिखाता है। इसी प्रकार बाड़बंदी के द्वारा अंग्रेज किसानों को भूमिविहीन करके उन्हें भूमिहीन मजदूर में बदलने की प्रक्रिया मार्क्स ने कहा था कि पश्चिम यूरोप के सभी देशों में आवश्यक रूप से दोहरायी जायेगी। लेकिन मार्क्स ने अपने कथन को संशोधित करते हुये यह भी कहा था कि पूँजीवाद के द्वारा किसानों को सम्पत्ति विहीन बनाने की प्रक्रिया अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूपों में विकसित होगी, यह प्रक्रिया अलग-अलग समय पर होगी और अलग-अलग चरणों में चलेगी। मार्क्स निसंदेह इस बात की भविष्यवाणी नहीं कर सकता था कि अलग-अलग देशों में इस प्रक्रिया के चरणों में क्या फर्क होगें ? क्या इससे यह सिद्ध होता है कि मार्क्स सब राष्ट्रों के लिये इतिहास की प्रक्रिया को एक जैसा चित्रित कर रहा था या अलग-अलग देशों में इतिहास का रूप अलग-अलग होना था। रूस में पूँजीवादी के विकास की संभावनाओं की चर्चा करते हुये मार्क्स ने एक पत्र में स्पष्ट किया था कि पश्चिमी यूरोप के पूँजीवादी नियम वहाँ काम करेंगे कि नहीं यह वहाँ के ऐतिहासिक विकास की प्रव त्तियों पर निभर्र करेगा। ऐतिहासिक विशिष्टता से किस तरह विकास का रूप भिन्न हो जाता है इसका उल्लेख करते हुय मार्क्स ने रोमन साम्राज्य में किसानों को सम्पत्ति विहीन बनाने के प्रक्रिया की तुलना इग्लैण्ड के समकालीन सामाजिक परिवर्तन से की। रोम में इसी प्रक्रिया ने ऐतिहासिक परिस्थितियाँ अलग होने से दासता को जन्म दिया था जबकि यह इग्लैण्ड में पूँजीवादी विकास में सहायक हुई क्योंकि इस समय ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बिल्कुल अलग थीं। यहाँ मार्क्स स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक दर्शन की विकास की एकमात्र सब तालों की कुंजी से इतिहास को समझने के बजाय ऐतिहासिक विशिष्टता पर बल दे रहे थे।

एक और गलतफहमी तथा कथित आधार पर उपरी ढाँचा के नमूने को अऐतिहासिक तरीके से इस्तेमाल करने से उभरती है। मार्क्स के लिए केवल 'आर्थिक पहलू' ही निर्धारक पहलू नहीं था बल्कि इतिहास की द ष्टि से विशिष्ट उत्पादक क्रियाओं का आधार-पत्थर (matrix) तथा सामाजिक सम्बन्ध ा ही निर्णायक थे। मार्क्स ने **कैपिटल** के तीसरे खण्ड में स्पष्ट किया था कि उत्पादन के साधनों के मालिक तथा तत्कालिक उत्पादकों के बीच के सम्बन्ध में ही सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचें का छिपा हुआ आधार था। इसका अर्थ यह नहीं था कि उसी सामाजिक आर्थिक आधार के विभिन्न रूप और स्वरूप नहीं हो सकते थे। अनुभववादी परिस्थितियों के कारण, प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण, नस्लों के सम्बन्ध की वजह से या बाहर से काम कर रही ऐतिहासिक ताकतों की वजह से-एक ही आर्थिक ढाँचें के विभिन्न रूप हो सकते थे। अर्थात् मार्क्स ने इस बात पर बल दिया कि भौतिक उत्पादन को उसके विशिष्ट ऐतिहासिक रूप के अनुसार ही समझना चाहिये, एक आम श्रेणी के रूप में नहीं। मार्क्स ने बार-बार इस बात को दोहराया कि खाना, कपड़ा तथा बचाव की जगह जैसी बुनियादी चीजों का भौतिक उत्पादन सभी कालों में मानवीय अस्तित्त्व की पूर्व-शर्त थी जैसा मार्क्स ने कहा कि आर्थिक पक्ष की प्राथमिकता केवल उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद समाज की ही विशेषता नहीं थी। उन्होंने कहा कि ''मध्य युग में इंसान कैथोलिक विश्वास पर ही जिन्दा नहीं था ना ही प्राचीन विश्व में राजनीति पर''। मार्क्स ने धर्म या राजनीति की प्रमुखता को 'आर्थिक पहलू'' की निर्धारण करने वाली शक्ति से अलग करके देखने की कोशिश की। किसी ऐतिहासिक काल में धर्म या राजनीति के प्रमुख होने को भी मार्क्स ने उस समय के उत्पादन की पद्धति से जोड़कर देखने की कोशिश की। मार्क्स ने **कैपिटल** तथा अन्य पुस्तकों में भी इस बात पर जोर दिया था कि पूर्व-पूँजीवादी उत्पादन पद्धतियों

में गैर-आर्थिक दबाव और बल उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण में अहम भूमिका निभाते थे। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो राजनैतिक संरचनायें ही आर्थिक क्षेत्र के निर्मित करने में महत्वपूर्ण होती थी।

कम्युनिस्ट मैनिफैस्टों में मार्क्स ने यह भी घोषणा की थी कि अब तक की मौजूद सभी समाज व्यवस्थाओं में इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास रहा था। लेकिन पॉलिटिकल इकानामी की आलोचना में मार्क्स ने इसका उल्लेख ही नहीं किया था। यह भी हो सकता है कि प्रशा के सेंसर से बचने के लिये मार्क्स ने उसमें वर्ग-संघर्ष का उल्लेख न किया हो। जो भी कारण रहा हो-इससे कई सवाल पैदा होते हैं। यदि उत्पादक शक्तियों और सामाजिक सम्बन्धों का आधार-पत्थर ऐतिहासिक परिवर्तन की मुख्य प्रेरक शक्ति है तो फिर इसमें वर्ग-संघर्ष की भूमिका क्या है ? चेतन सामाजिककर्ताओं और आर्थिक संरचनाओं का तुलनात्मक प्रभाव इतिहास में क्या रहता है ? और इसी से जुड़े कुछ सवाल सामाजिक वर्ग की परिभाषा तथा इतिहास में वर्ग-स्थान, वर्ग-चेतना और राजनैतिक गतिविधि के बीच किस तरह का सम्बन्ध रहता है। मार्क्स ने अपनी दो कृतियों **दि क्लास-स्ट्रगल इन फ्राँस** तथा The Eighteen Brumaire of Louis Bonaparte में इन सवालों का जवाब देने की कोशिश की थी। इनमें से पहली पुस्तक समकालीन फ्राँस की कुछ घटनाओं का ऐतिहासिक भौतिकवादी नजरिये से विश्लेषण था। सरल व्याख्या तथा बड़े-बड़े समान्यीकृत (generalised) व्याख्या छोड़कर मार्क्स ने 1830 और 1840 के दशकों में फ्राँसीसी समाज की जटिलताओं को समझने की कोशिश की और The Eighteen Brumaire में मार्क्स ने एक सोची समझी सावधानी पूर्ण विधि से फ्राँस के राजनैतिक इतिहास का काल-विभाजन करने की कोशिश की। उन्होंने इस बात को सहजता से स्वीकार किया कि फ्राँस के राजनैतिक इतिहास में, उसके कथानक में अभी पूँजी और श्रम कर्त्ताओं के रूप में नहीं उभरकर आये थे। परस्पर विरोधी राजनैतिक शक्तियाँ अलग-अलग तरीके से विस्त त सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रही थीं और ये शक्तियाँ पूँजीपति और श्रमिकों तक सीमित नहीं थीं। विभिन्न संविधान, राजनैतिक मोर्चे, निर्वाचन की विधियाँ, परम्परायें और विचारधारायें-या दूसरे शब्दों में राजनैतिक जीवन का समस्त भू-भाग अपने भौतिक प्रभाव छोड़ रहा था और यह केवल मौजूदा आर्थिक वास्तविकता की छाया-मात्र नहीं था। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से यह भी बताया कि कैसे अतीत से प्राप्त विरासत वर्तमान को प्रभावित करती है। मार्क्स के शब्दों में ''म त पीढ़ियों की परम्परायें जीवित के दिमागों पर बुरे सपने की तरह ही रहती हैं।'' ("The traditions of dead generation weigh like a nightnare on the minds of the living") इसलिये मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद में सुझाया गया ''आधार-ऊपरी ढाँचा'' नाम का नमूना सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों को तथा एक अवस्था में विभिन्न सामाजिक पक्षों के प्रभाव को समझने का उपयोगी और लचीला साधन मात्र है। मार्क्स ने इनकों मील के पत्थर की तरह दिशा-निर्देश के लिये इस्तेमाल किया, ये कोई अनुभववादी तथात्मक घटनाओं के वर्णन नहीं हैं। ये अस्थायी व्याख्याये हैं जिनसे हम समाज को समझने की कोशिश कर सकते हैं। **दि जर्मन आइडियोलॉजी** में मार्क्स ने साफ कहा था कि अनुभववादी पर्यवेक्षण से हमें अलग-अलग परिस्थितियों में, बिना रहस्यवाद का, अटकलबाजी का सहारा लिये सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक पक्षों का सम्बन्ध ढूँढना चाहिये।

जिसे भौतिकवादी ऐतिहासिक द ष्टिकोण के नाम से हम जानते हैं-उस द ष्टिकोण का मार्क्स ने 1883 में अपनी म त्यु तक भी कोई विस्त त सैद्धान्तिक वर्णन नहीं तैयार किया था। राजनैतिक गतिविधियों विशेषकर इन्टरनेशनल बर्किंग मेनस एसोसिएशन में उनकी भागीदारी तथा खराब सेहत के कारण इस तरह के प्रयास के लिए उनके पास समय नहीं था। मार्क्स के लिखित पत्र, लेख, कापियाँ काम चलाऊ लिखित दस्तावेज आदि ही उनके द्वारा तैयार किये गये-इनमें से बहुत से छपने के लिये अंतिम रूप में वे स्वयं तैयार नहीं कर पाये थे। **कैपिटल** का प्रथम खंड उन्होंने तैयारकर दिया था। लेकिन यह भी उनकी म त्यु के बाद ही छपा था। मार्क्स की म त्यु के बाद उनके सहयोगी एंजेल्स ने उनकी हस्तलिखित सामग्री का सम्पादन करके, कई बार दुबारा लिखकर छपवाया था जैसे कैपिटल के खंड

2 और 3 का प्रकाशन इसी तरह एंजेल्स के द्वारा किया गया था। कहने का अर्थ यह है कि मार्क्स द्वारा लिखित संग्रह बहुत ही बिखराव वाला तथा कमियों वाला है। इसके अलावा मार्क्स के अध्ययन की मुख्य विषय-वस्तुयें-जैसे दीर्घकालीन इतिहास के परिवर्तन में उत्पादक-शक्तियों की निर्धारक शक्ति, इतिहास में वर्ग-संघर्ष की मुख्य भूमिका, आर्थिक उत्पादन और राजनैतिक संरचनाओं के बीच अंर्तसम्बन्ध आदि इस तरह की हैं कि इनमें अधिकांशत सार रूप में और कहीं-कहीं विस्त त विश्लेषण मिलता है। इनमें आपस में कई बार सुसंगति या तारतम्यता नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि उल्टा कई बार ये विरोधी दिशाओं में संकेत करती दिखाई देती हैं। जैसे मार्क्स में हमें एक तनाव यह दिखाई पड़ता है कि कई बार वे सामाजिक कर्त्ताओं (social agency) पर बल देते हैं कि कैसे चेतन मानव स्वयं सामूहिक क्रिया-कलापों से इतिहास का निर्माण करते हैं तथा कई बार संरचनात्मक तत्वों के (विशेषकर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों का) मानवीय व्यवहार पर और उसके निध ार्रण पर बल देते हैं। यही विरोधाभास हमें इस रूप में भी दिखाई पड़ता है कि कई बार वे समाज को समझाने के लिये एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त और नमूने के निर्माण की बात करते हैं तो कई बार विशिष्ट समय में अनुभववादी विश्लेषण पर अधिक बल देते हैं। मार्क्स एक नये सिद्धान्त की नींव रख रहे थे और उसमें व्याप्त अस्थायी भाव तथा अनिश्चितता ही उसके विकास का सबसे महत्वपूर्ण कारण बनता है।

1880 के दशक मं जब यूरोप में मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर कई समाजवादी दलों का विकास शुरू हुआ तब ये सैद्धान्तिक कमियाँ महसूस की गई। एंजेल्स ने मार्क्स की कई रचनायें उपलब्ध करायी और स्वयं एंजेल्स ऐतिहासिक भौतिकवादी की सरलीकृत व्याख्या के खासकर सब मानवीय क्रिया-कलापों को आर्थिक संरचनाओं का परिणाम के रूप में देखने के विरोधी थे हाँलाकि एंजेल्स की कई रचनाओं ने स्वयं यह अहसास दिया कि ऐतिहासिक, भौतिकवाद एक सुव्यवस्थित तथा सम्पूर्ण सिद्धान्त है जिसके आधार पर किसी भी अनुभववादी सामाजिक-वास्तविकता का विश्लेषण किया जा सकता है। इन रचनाओं में प्रमुख थी-एंटी डयूहरिंग (1878) तथा Ludwig Feurbach and the outcome of classical German Philosophy (1888)। जर्मनी में और कई अन्य जगहों में भी प्राकृतिक विज्ञान के नजदीक साबित करने की ललक ने तथा मार्क्स और डार्विन की विकासवादी धारणा में समानता दिखाने के उद्देश्य से एंजेल्स ने (कई बार स्वयं मार्क्स ने) ऐतिहासिक भौतिकवाद को एक प्रत्यक्षवादी (postivist) पद्धति के रूप में स्थापित करने की कोशिश की जो प्राकृतिक विज्ञान के नमूनों पर आधारित थी। कार्ल काउत्सकी तथा जार्जी प्लेखानोव दूसरी पीढ़ी के मार्क्सवादी थे जिन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों की अधिकारपूर्ण व्याख्या करने की कोशिश की। काउत्सकी द्वारा 1927 में जर्मन भाषा में लिखी, ''इतिहास की भौतिकवादी धारणा'' तथा प्लेखानोव द्वारा लिखी 1919 में ''भौतिकवाद के बचाव में'' (In Defence of Materialism) ऐसी रचनायें थीं जिनमें मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति को जोरदार तरीके से वैज्ञानिक पद्धति के नजदीक होने की बात दुहराई गयी थी। दोनों ही विद्वानों ने अपनी व्याख्या में 1859 में मार्क्स द्वारा रचित A contribution to the critique of Political Economy की प्रस्तावना का सहारा लिया था और सार्वभौमिक इतिहास के निर्माण में संकीर्ण तरीके से उत्पादक शक्तियों के विकास पर बल दिया था। यही नहीं उत्पादक शक्तियों की व्याख्या भी संकीर्ण तरीके से ही की गई थी और तकनीकी द्वारा इनके निर्धारण को ही मुख्य माना गया था। इन मार्क्सवादी विद्वानों ने इतिहास को मानव द्वारा तकनीकी के माध्यम से विजित करने और नियंत्रित करने वाली द ढ़ और अटल तथा लगातार जारी प्रक्रिया के रूप में देखा। इन विद्वानों से राजनैतिक मतभेद के बावजूद रूसी मार्क्सवादी विचारक बुखारिन ने अपनी 1925 रचित पुस्तक ''ऐतिहासिक भौतिकवाद'' या स्टालिन ने 1938 में लिखी ''द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद'' में उनके द्वारा ''उत्पादक शक्तियों द्वारा इतिहास की गति को निर्धारण'' करने की धारणा को ही प्रतिस्थापित किया।

इसका यह अर्थ भी नहीं है कि दूसरी पीढ़ी के मार्क्सवादी विचारकों की मार्क्सवादी इतिहास लेखन

में कोई भूमिका नहीं रही। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले, ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार कई अध्ययन मार्क्सवादी विद्वानों ने किये। जैसे काउत्सकी ने ईसाई धर्म के उद्‌भव और थॉमस मूर पर ऐतिहासिक अध्ययन किये और एडुआर्ड बर्नस्टीन ने 1640 और 1650 के दशकों में ''इंगलिस क्रांति'' पर अध्ययन किया। उनके द्वारा लिखी गई ''क्रोमवेल तथा कम्युनिज्म'' कृति थी जिसमें अंग्रेजी राजनैतिक सुधार की माँग करने वाले लेवलर्स (Levellers) की भूमिका पर नयी सामग्री उन्होंने जुटाई। इसके अलावा राजनैतिक कार्यकत्ताओं के लिए मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल इतिहास को समझने का तरीका ही नहीं था बल्कि उनके वर्तमान के राजनैतिक व्यवहार के लिए ज्ञान हासिल करने का एक साधन भी था। कई सारे समकालीन इतिहास और परिस्थितियों को समझने के लिये लिखे गये अध्ययन ऐतिहासिक ज्ञान के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इनमें प्रमुख-प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. काउत्सकी, दि अंग्रेजेरियन क्यूसचन (1898)
2. लेनिन, रूस में पूँजीवाद का विकास (1899)
3. हिल्फरडिंग, वित्तिय पूँजी (1923)
4. बुखारिन, इम्पीरियलीजम एडं वर्ल्ड एकानामी (1929)
5. लेनिन, सम्राज्यवाद-पूँजीवाद की चरमसीमा (1919)

ये सारी की सारी रचनायें समकालीन समस्याओं के संदर्भ में की गई थीं लेकिन इनमें इतिहास को समझने के लिये आवश्यक ऐतिहासिक उपकरणों और धारणाओं का उपयोग किया गया था।

जहाँ रूसी बोल्सेविक पार्टी ने 1920 के दशक के बाद इतिहास की व्याख्या संकीर्ण तरीके से करके एक निर्धारणवादी रवैया अपनाया, उसी जगह 1920 के दशक से ही पश्चिमी यूरोप में मार्क्सवादी सिद्धान्त की कई विद्वानों ने अलग तरीके से व्याख्या भी की। इनमें इटली के कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक तथा नेता, अन्टोनियो ग्राम्शी प्रमुख थे जो 1926 के बाद से फासिस्ट जेलों में रहे जहाँ उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण **Prison Notebooks** लिखी। ग्राम्शी ने इतिहास को एक यांत्रिकीय फार्मूले की तरह इस्तेमाल न करें, चेतना, संस्कृति, मानवीय कर्त्ता जैसे महत्त्वपूर्ण पक्षों पर बल दिया। इसी प्रकार जार्ज लुकास ने **'इतिहास और वर्ग चेतना'** (1923) में वस्तु-पूजा (commodity festishism) की मार्क्सवादी धारणा की नये तरीके से व्याख्या की। जार्ज लुँकास का प्रभाव 1930 के दशक में उभरे फ्रैंकफर्ट मत पर साफ झलकता था जिसमें वाल्टर बैनजामिन, होर्कहाइमर, हर्बर्ट मारक्यूज तथा थियोडोर अर्डोनों जैसे जाने माने विद्वान थे-जिन्होंने मार्क्स की हेगेल से समानताओं को इस्तेमाल करके तथा नई वैचारिक धाराओं का प्रयोग करके, दर्शन तथा संस्कृति की आलोचना के नये आयाम खड़े किये। लेकिन व्यवहारिक इतिहास-लेखन में कार्ल मार्क्स के व्यापक प्रभाव की शुरूआत मॉरिस डॉब की *Studies in the Development of Capitalism* (1946) से मानी जा सकती है। इसके बाद से मार्क्सवादी ऐतिहासिक अध्ययनों की बाढ़ सी आ गई। आजकल सभी देशों और क्षेत्रों में, लचीलेपन के साथ मार्क्सवादी इतिहासकार अहम भूमिका निभा रहे हैं।

इतिहास लेखन में अनाल मत

इतिहास लेखन के अनालस् मत का नाम इतिहास की फ्रांसीसी पत्रिका अनालस दि हिस्तुआर एकोनोमिक ए सोसिआल (Annales de Historire et economique a sociale) के नाम पर पड़ा था जो 1929 में मार्क ब्लाख तथा ल्यूसियाँ फेवब्र ने शुरू की थी। बाद में समय-समय पर इसके नाम में थोड़ा बहुत बदलाव किया गया लेकिन अनाल नाम बना रहा और वांछित व्यापक इतिहास के लेखन का पर्याय बन कर उभरा। इसकी पहली सम्पादन समिति में सौरबान्न में मानवी भूगोल के प्रोफेसर अलबेयर दमांजो, स्त्रासबुर्ग में रोमन इतिहास के प्रोफेसर ए० पियानोल, सारबान्न के आर्थिक इतिहास के प्रोफेसर आंरी ओसे आदि प्रमुख थे। पत्रिका की पहली प्रस्तावना में ब्लाख और फेबब्र ने ऐतिहासिक तथा अन्य सामाजिक अध्ययनों के बीच की खाई की बात की:

"जबकि इतिहासकार पहले की पवित्र माने जाने वाली पद्धतियों को अतीत के दस्तावेजों के अध्ययन में लगाता है, अधिक से अधिक लोग समकालीन समाजों और अर्थव्यवस्थाओं के अध्ययन में लग रहे हैं ..... हम सहमत है कि इससे बेहतर कुछ नहीं होगा कि अपने विशेष अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करते हुये यानि मेहनत से अपने ही किचन गार्डन में खेती करते हुए भी पड़ोसी के कार्य को देखना समझना चाहिये। लेकिन दीवारें (विषयों के बीच की) इतनी ऊँची हैं कि उधर का अक्सर कुछ दिखाई ही नहीं देता। इन्हीं बँटवारों के विरूद्ध हम झंडा बुलंद करना चाहते हैं—पद्धतियों और विवेचनों पर लेख के माध्यम से ही नहीं बल्कि उदाहरण और उपलब्धि के द्वारा भी।"

अनाल मत के इतिहासकारों ने शुरू से ही इतिहास का कोई महत्वपूर्ण जड़ केन्द्रबिन्दु या आधार नहीं बनाया था और न ही किसी स्पष्ट इतिहास के दर्शन की ही नींव डालने की बात कही थी। वास्तव में शोध उनकी मुख्य विशेषता था जिस पर नये तरीके से उन्होंने सैद्धांतिक धारणाओं की बजाय ज्यादा बल दिया था। हाँलाकि यह मत नये सैद्धान्तिक आधारों पर ही टिका हुआ था जिनकी व्याख्या हम आगे चलकर करेंगें। 1946 में अनालस् मत को इकोल प्रातीक देस हॉत इतुड में संस्थामूलक आधार प्राप्त हुआ। ईकोल की स्थापना 1868 में हुयी थी और इसे जर्मन नमूने के एक शोध केन्द्र के रूप में स्थापित किया गया था। इसका चौथा विभाग ऐतिहासिक विषय के अध्ययन करता था और रांके के पैटर्न पर इसमें सेमिनार आदि होते थे। इसके छठे विभाग को 1972 में पुर्नगठित किया गया और यह इतिहास को अन्य सामाजिक विज्ञानों से जोड़ने का केन्द्र बना जिसका लक्ष्य "मानव के विज्ञान" का समुचित अध्ययन करना था। इसमें अध्ययन के परम्परागत सामाजिक एवं मानवीय विज्ञान जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानव विज्ञान, भूगोल, मनोविज्ञान आदि ही शामिल नहीं थे, जिन विषयों ने अनालस् मत के इतिहासकारों पर काफी प्रभाव छोड़ा था बल्कि भाषा विज्ञान, साहित्य, कला जैसे विषय भी शामिल थे। ईकोल को फ्रांसीसी सरकार की वैज्ञानिक शोध के लिए बनी राष्ट्रीय काउन्सिल से ही नहीं बल्कि अमरीकी शोध प्रोत्साहन देने वाले संस्थानों से भी काफी वित्तीय सहायता मिली और तभी अनालस् मत का प्रभाव शोध पर फ्रांस के बाहर भी फैलना शुरू होता है।

अमरीका में बहुत कुछ लिखा गया और बहुत अंतर्मंथन हुआ। लेकिन वास्तव में इतिहास के प्रति नए और व्यापक द ष्टिकोण की दिशा में ठोस प्रगति फ्रांस में हुई। इस क्षेत्र में निर्देशक प्रभाव आंरी बेर्र (1863–1954) का था। वह 1900 में स्थापित अपनी पत्रिका *रिव्यू दि सिंथैस इस्तोरिक* और सौ भागों में नियोजित पुस्तक *लेवोल्यूसिओं दि ल्यूमानिते* (मानवता का विकास) के माध्यम से समाजशास्त्र और अन्य समाजविज्ञानों की पद्धति और अंतद ष्टि की मदद से समाज में मनुष्य के सभी कार्यों को एक महान संश्लेषण के अंतर्गत लाना चाहता था। लुसिआं फेबव्र (1878–1956) और मार्क ब्लाख (1886–1944) ने औरों की अपेक्षा बेहतर ढंग से दिखाया कि समाज में मनुष्य के सम द्ध जीवन का सही प्रतिनिधित्व करने वाले इतिहास की अस्पष्ट किंतु सतत इच्छा को कैसे वास्तविक बनाया जा सकता है।

एक सुसंस्कृत मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे लुसिआं फेबव्र को उन्नीसवीं सदी के अंतिम दिनों की सर्वोत्तम परंपरा को पूरी ऐतिहासिक ट्रेनिंग उपलब्ध थी। साथ ही वह आंरी बेर्र के विचारों और लक्ष्यों के प्रति अत्यंत आकर्षित था। बेर्र को वह प्यार से 'पारंपरिक विद्वत्ता के क्षेत्र में ट्रोजन घोड़ा' कहता था। फ्रांस में इतिहास के क्षेत्र में विद्वता का मिशले के जमाने से ही भूगोल एक महत्वपूर्ण अंग था। और फेबव्र की पहली पुस्तक *दि रीजंस ऑफ फ्रांस : फ्रांस कोते* (पेरिस 1905) मुख्य रूप से भूगोल प्रधान थी। उसका लंबा प्रशिक्षण 1911 में उसके शोध प्रबंध *फिलिप द्वितीय एंड दि फ्रांस कोंते* के प्रकाशन के साथ समाप्त हुआ। अभिलेखागारों में उपलब्ध स्त्रोतों के गंभीर शोध पर आधारित यह पुस्तक भूगोल और अर्थशास्त्र दोनों के ज्ञान से भरपूर थी। पहले के राजनीतिक इतिहासकारों के एक कारण बताने वाली व्याख्याओं से पहले ही असंतुष्ट फेबव्र 'गहरे कारणों की बहुमुखी क्रियाओं' को प्रदर्शित करना चाहता था। उसके बाद *हिस्ट्री ऑफ फ्रांस कोंते* प्रकाशित हुआ। फिर प्रथम

विश्वयुद्ध के दौरान सेना में कार्यरत रहने के बाद फेवब्र एक सामान्य से विषय की ओर मुड़ गया और आंरी बेर्र के कई भाग वाले सीरीज के लिए *दि अर्थ एंड ह्यूमन इवोल्यूशन* लिखा। उन बहुत सी बातों में, जो अब सामान्योक्तियां बन गई हैं, यह भी बात थी कि नदियां प्राकृतिक सीमांत बनाती हैं। वास्तव में वे मानव समूहों की मिली-जुली कार्रवाइयों के लिए कड़ी का काम करती हैं। भूगोल में विशेष रुचि से बीसवीं सदी के बहुत से बुद्धिजीवियों की तरह वह समूह-मनोविज्ञान में रुचि लेने लगा। यह नई रुचि 1928 में प्रकाशित 'मार्टिन लूथर' में स्पष्ट हुई, जिसे वह स्वयं 'ऐतिहासिक मनोविज्ञान' में सबसे साहसिक उद्यम कहता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 1947 में प्रकाशित *हु आल प्रोबलैम दि लैंक्रोयांस ओ सीजियम सिऐक्ल*। यह सोलहवीं सदी में धार्मिक अविश्वास के अध्ययन का उसका सबसे प्रभावी प्रयास था।

मार्क ब्लाख का भी जन्म खाते-पीते परिवार में हुआ था। चूंकि उसका पिता सॉरबान्न में प्राचीन इतिहास का प्रोफेसर था, उसके बारे में कहा जाता है कि वह 'तीसरे गणतंत्र के बौद्धिक विशिष्ट वर्ग का जन्मसिद्ध अधिकार से सदस्य' था। यह महत्वपूर्ण है कि वह भूगोल और इतिहास दोनों का स्नातक था और फेबव्र की तरह उसका प्रकाशन *लील्ल दि फ्रांस* एक भौगोलिक अध्ययन था। 'ईल दि फ्रांस' (पेरिस के आसपास का क्षेत्र) के मध्ययुगीन समाज के अध्ययन के लिए उत्तरी फ्रांस के अभिलेखागारों में शोध के दौरान उसका इतिहास संबंधी प्रशिक्षण हुआ। प्रथम युद्ध के बाद (जिसमें उसने उल्लेखनीय सेवा की) स्त्रासबुर्ग विश्वविद्यालय में एक पीठ पर उसकी नियुक्ति हुई फेवब्र की तरह ब्लाख को भी भूगोल तथा समूह मनोविज्ञान में रुचि थी। उसके अलावा वह समाजशास्त्र से पद्धति की यथातथ्यता और भाषा की सुनिश्चितता लेना चाहता था जिसकी पारंपरिक इतिहासकारों में अनुपस्थिति थी। उसने पुरातत्व, कृषि विज्ञान, मानचित्र कला, लोक साहित्य और भाषा के मूल के विज्ञान का भी अध्ययन किया। ब्लाख तुलनात्मक और प्रत्यावर्ती पद्धतियों में विश्वास करने वालों में अगुआ था। तुलनात्मक अध्ययन में उसके अनुसार उसकी रुचि आंरी पिरेन्न के कारण पैदा हुई थी। एक ही देश के अंदर या विभिन्न देशों के बीच तुलना बहुत मूल्यवान होती है। इसमें समानताओं और भिन्नताओं को रेखांकित करने में एक नया संश्लेषण, नए प्रश्न और कभी-कभी संतोषप्रद उत्तर मिल जाते हैं। पद्धति में बाद के दिनों के चलन, परंपराओं, स्थानों के नाम, भूमि का स्वरूप आदि जो पहले से चले आए हों, उसका अध्ययन पहले के काल पर प्रकाश डालने के लिए किया जाता है। टर्नर या और स्पष्ट रूप से फ्रांस के विद्वान मिशले की तरह ही ब्लाख भी खेत जोतते व्यक्तियों से, जो अपने मध्ययुगी पूर्वजों से बहुत भिन्न तरीके से नहीं जोतते थे, बातें करता घूमता रहता था।

समूह मनोविज्ञान में ब्लाख की रुचि सबसे अधिक इस बात में थी कि कैसे मानव व्यवहार पर अविवेक का प्रभाव पड़ता है। यह उसकी पुस्तक 'ले रुआ थोमातुर्ज' (1924) में सबसे शक्तिशाली रूप में दिखाई पड़ती है। इसमें ब्लाख ने दिखाया कि यह विश्वास कि फ्रांस और इंगलैंड के राजाओं के पास निरोगकारी स्पर्श शक्ति दैवी रूप से मिली है, एक प्रकार से अचानक यूं ही प्रचलित हो गया। यह विश्वास राजत्व के सिद्धांत का मूल आधार और उसकी शक्ति बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण तत्व बन गया। ब्लाख का इतिहास के अध्ययन में मुख्य योगदान सामंती समाज के स्वरूप की खोज था। रुआ ए सर्फ : *अंशापित्र दिस्तुआर कापेतिएन्न* (राजा और अर्धदास : कापे कालीन इतिहास का एक अध्ययन) (1920) एक छोटी पुस्तक है लेकिन वह स्पष्ट कर देती हैं कि ब्लाख सामंती समाज को सामंतों और राजाओं नहीं किसानों की नजर से देखता है। '*दि बेसिक कैरेक्टिरिस्टिक्स ऑफ फ्रेंच रूरल हिस्ट्री*' (1931) इतिहासकारों के कानूनी और प्रशासकीय संस्थाओं में पारंपरिक तन्मयता से एकदम अलग ले जाती है। ब्लाख ने यह दिखाने की चेष्टा की कि फ्रांस का कृषि जीवन इन बातों पर कम और मध्ययुग से चले आ रहे काश्तकारी के रूप और संगठन पर अधिक निर्भर है। उसने मात्र ऐसी संस्थाओं और समूहों का अध्ययन करने से इन्कार करके मध्ययुगीन ग्राम समाज को विस्म ति के गर्त से उबरने में मदद की, जिनके संबंध में पारंपरिक मूल स्त्रोत उपलब्ध थे। अब तक इसे मध्ययुग के इतिहासकार नजरअंदाज करते थे, जो दस्तावेजों का भी पीछा करते सामंतों के जागीरों और

उसके कानूनी ढांचे तक ही पहुंचते थे। उस इतिहास की ओर से, जो पहले प्रश्न पूछते हैं और फिर चारों तरफ उस मामूली से मामूली साक्ष्य की तलाश करते है जो उत्तर दे सके, उसने साहसिक और शक्तिशाली प्रहार किया कि बहुत से इतिहासकार प्रहार पहले करते हैं प्रश्न बाद में पूछते हैं। *फ्यूडल सोसाइटी* (1940) जो एक पूर्ण कृति की अपेक्षा एक रूपरेखा अधिक है, ऐसे बहुत से स्त्रोतों और पद्धतियों पर आधारित थी जिनसे वह परिचित हो चुका था। यद्यपि अमरीकी इतिहासकारों का भी काम महत्वपूर्ण है फिर भी 'नए' इतिहास के अमरीकी अग्रणियों के श्रम को फेवब्र ओर ब्लाख का स्थायी महान प्रयत्न और 'विश्वास का कार्य' पीछे छोड़ देता है। आज *अनाल* सबसे अधिक प्रतिष्ठित इतिहास-पत्रिका हैं। यह दूसरी बात है कि इसके बहुत से प्रशंसक इसमें लिखने को कौन कहे उसे पढ़ते भी नहीं। जिन अर्थों में पुरानी इतिहास पत्रिकाएं और नई *इकॉनामिक हिस्ट्री रिव्यू* महत्वाकांक्षी और उदार नहीं है उसी अर्थ में *अनाल* विषय वस्तु में महत्वाकांक्षी और द ष्टिकोण में उदार था। लेकिन इसकी सफलता का अंततोगत्वा सबसे बड़ा कारण यह है कि द ष्टिकोण की व्यापकता को विद्वता के उच्चतम स्तरों, 'सही तटस्थता' और 'ईमानदार श्रम, जिसके पीछे ठोस और सही शोध हो' से जोड़ने पर मजबूती से जोर दिया गया।

अनाल ने यह स्पष्ट कर दिया कि और रुचिकर, और 'पूर्ण', (फेबव्र का शब्द) और 'मानवीय' (ब्लाख का शब्द) इतिहास के लिए कोई शार्टकट नहीं हो सकता। राजनीतिक और सांविधानिक इतिहास की पुरानी शैली संतोषजनक नहीं थी, इसलिए नहीं कि वह श्रम साध्य और कठिन थी बल्कि अकसर इसलिए कि इसमें ये गुण नहीं होते थे और उनमें आसान नुस्खे या अत्यंत सरलीकृत नतीजे होते थे। एक सामान्य पाठक *अनाल* से आंतकित हो जाएगा। किसी अन्य विद्वतापूर्ण पत्रिका की तरह यह भी एक व्यापक पाठक वर्ग, पूरे समाज, से संप्रेषण की आवश्यक ऐतिहासिक भूमिका को पूरी नहीं करती। लेकिन *अनाल* का उदाहरण और फेबव्र तथा ब्लाख की सीधी शिक्षा ने बेहतर इतिहासलेखन के एक पूरे स्कूल को जन्म दिया। जहां ब्लाख के लेखन में स्थायित्व की कमी है फेबव्र अपेक्षतया अधिक पूर्ण इतिहासकार है। दोनों ने इतिहास की प्रकृति की हमारी समझदारी को और गहरी बनाने में *अनाल* के प ष्ठों के माध्यम से योगदान किया—प्रायः संक्षिप्त समीक्षाओं के माध्यम से। बाद में *हिस्टोरिअंस क्राफ्ट* नामक पुस्तक के रूप में अंग्रेजी में प्रकाशित अपनी पांडुलिपि को ब्लाख पूरा नहीं कर पाया था। इस कृति में स्पष्टतया कुछ कमियां हैं लेकिन अंततः उसके इतिहास में व्यक्तिगत विश्वास के एक अत्यंत मानवीय साक्ष्य और दो विश्वयुद्धों के बीच के काल के सर्वाधिक विकसित इतिहासलेखन के स्कूल के घोषणापत्र के रूप में यह पुस्तक अत्यंत सफल है। ब्लाख ने एक प्रश्न 'इतिहास की उपयोगिता क्या है ?' से बात शुरू की है। पहले वह इतिहास के काव्य, उसके निर्विवाद आकर्षण की चर्चा करता है। लेकिन मनोरंजन करना ही पर्याप्त नहीं है। इतिहास की उपयोगिता यह है कि वह समझदारी बढ़ाता है। विवेकपूर्ण ढंग से कार्य करने के लिए समझना आवश्यक है। इतिहास की मानवीय और सामाजिक आवश्यकता को स्वीकार करते हुए ब्लाख कहता है कि 'हम क्रुद्ध हो जाते हैं अगर ..... वह हमें निर्देश देने में असफल रहता है।' इतिहास निश्चित ही 'ज्ञान की ओर व्यापक यात्रा का एक अंश मात्र है' और यह एक ऐसा विज्ञान है जो 'शैशवकाल में है'। 'विश्लेषण के विवेकपूर्ण प्रयास के रूप में वह अभी भी बहुत नया है।' ब्लाख को इस कला के असमंजसों और अंतरमंथनों पर गर्व है लेकिन उसे आशा है कि इतिहासकारों की बढ़ती संख्या और व्यापक तथा और गहरे इतिहास जिसकी हम लगातार रूपरेखा बना रहे हैं, अर्थात् *अनाल* की तरह के इतिहास तक पहुँचेगी।

इस प्रस्तावना के बाद ब्लाख इतिहास की एक परिभाषा प्रस्तुत करता है—इतिहास 'समय सापेक्ष मनुष्य का विज्ञान है।' इसमें मुख्य तत्व मानवीय है। इतिहास कला है या विज्ञान के विवाद को ताक पर रखकर इतिहास के कलात्मक और मानवीय गुणों की ओर से वह एक व्यक्तिगत वक्तव्य प्रस्तुत करता हैं :

भौतिक और मानवीय यथार्थों की अभिव्यक्ति के बीच उतना ही अंतर है जितना मशीन से खुदाई करने वाले और बांसुरी बनाने वाले में। दोनों ही सूक्ष्म काम करते हैं लेकिन जहां खुदाई करने वाले के पास (मापक) यंत्र होते हैं बांसुरी बनाने वाला ध्वनि और स्पर्श के प्रति अपनी संवेदनशीलता द्वारा ही निर्देशित होता है। खोदने वाले के लिए बांसुरी वाले की अनुभववादी पद्धति को अपनाना या दूसरे का पहले की नकल करना, दोनों ही गलत होगा।

पुस्तक के एक अंश 'अंडरस्टैंडिंग दि प्रेजेंट बाई पास्ट' (अतीत के माध्यम से वर्तमान को समझना) में ब्लाख अपने एक अत्यंत सरल और प्रेरक विचार की व्याख्या करता है : जो इतिहास के अध्ययन का लगे हाथ एक आदर्श अनुषंगी औचित्य भी सिद्ध करता है, 'मनुष्य ऐसे तकनीकों की तलाश में लगा रहता है जिनका वह बाद में स्वेच्छा से कैदी बन जाता है। इस प्राविधिक परिवर्तन की महत्ता को स्वीकार करते हुए जिसने वर्तमान को निकट अतीत से भी अलग कर दिया है, 'आज की दुनिया की सही समझदारी' को सबसे महत्वपूर्ण बताता है। अंडरस्टैंडिग 'पास्ट बाई प्रजेंट' वाले अंश में ब्लाख शोध की अपनी प्रत्यावर्ती पद्धति पर जोर देते हुए अपनी बात के केंद्रीय तत्व तक पहुंचता हैं : 'वास्तव में इतिहासकार का महान गुण है वर्तमान को समझने की शक्ति।'

एक और अध्याय 'हिस्टॉरिकल ऑब्जर्वेशन' (ऐतिहासिक पर्यवेक्षण) में वह इतिहासकार की पद्धति पर बात करता है। यहां वह स्वीकार करता है कि पहले के कुछ ही इतिहासकारों ने उपलब्ध विभिन्न स्त्रोतों का पूरा उपयोग किया। वह उस दिन की बात करता है जब इतिहासकार भाषागत और सामाजिक विज्ञान के विभिन्न तकनीकों से और लैस होंगे तथा सहकारी स्तर पर और अधिक शोध होंगे। जब वह यह कहता है कि 'इतिहास जैसा वह हो सकता है' को 'बुरे इतिहास के दोषों के लिए बलि का बकरा नहीं बनाना चाहिए' तो वह घोषणापत्र लिखने वाले के अंदाज में ही वकालत करता है। तीसरा अध्याय 'हिस्टॉरिकल क्रिटिसिज्म' (ऐतिहासिक आलोचना) में जालसाजी की समस्या तथा दस्तावेजों की विश्वसनीयता जैसी बातों का जिक्र है। वह इतिहासकार के कार्य की कठिनाइयों तथा उनके हल में इतिहास की विजय, दोनों ही बारे में प्रभावी ढंग से बात करता है और जैसा कि एक विद्वतापूर्ण पत्रिका के संपादक से अपेक्षित है वह संदर्भों के उपयोग और अन्य अकादमिक उपकरणों की स्तरीयता पर बहुत बल देता है। अगले अध्याय में वह इतिहास में आधारभूत अध्ययन के रूप में समूह-मनोविज्ञान में अपनी स्थायी रुचि की पुष्टि करता है। उसका पूर्ण, समन्वित इतिहास में विश्वास है लेकिन चूंकि मनुष्य इतिहास को उसकी संपूर्णता में ग्रहण नहीं कर सकता इसलिए उसका विश्वास है कि इतिहासकार को समाज के एक पहलू के विश्लेषण से संतोष करना चाहिए। इतिहासकार द्वारा 'सर्फ' (अर्धदास), 'बुर्जुआजी' (पूंजीपतियों), 'मिडिलएजेज' (मध्ययुग) जैसे शब्दों के उपयोग की ब्लाख द्वारा व्याख्या इतनी महत्वपूर्ण है कि उस पर आगे अलग से विचार किया जाएगा। पुस्तक का अंत इतिहास के कारण-कार्य संबंध पर एक छोटे अंश से होता है जिसमें निश्चित ही लुसिआं फेबव्र की अनुगूंज है। 'इतिहास कारण-कार्य लहरों की तलाश करता है और चूंकि जीवन उन्हें ऐसा ही प्रस्तुत करता है वह उन्हें विविध पाकर डरता नहीं।'

मार्क ब्लाख (जर्मन नात्सिओं के विरुद्ध) फ्रांस के प्रतिरोध काल में एक साहसी नायक था। भारी उत्पीड़न के बाद 1944 में जर्मनों ने उसे गोली मार दी थी। अतीत और वर्तमान से उसके एक जैसे जुड़ाव को और कुछ इतने प्रभावी ढंग से चिह्नित नहीं कर सकता था। वर्तमान से प्रतिबद्धता ने उसे ऐतिहासिक खोजों के लिए प्रेरक शक्ति दी। इतिहास के अध्ययन को उसका यह योगदान है कि उसकी प्रतिबद्धता (फेबव्र के सहयोग से) यह प्रदर्शित कर सकी कि 'और व्यापक तथा और गहरा' इतिहास का, जो अत्यंत गंभीर विद्वता के मानदंडों पर जोर देता हो, व्यवहार में क्या अर्थ हो सकता है।

फ्रेनाँ ब्रादेल अनाल मत के एक अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। उन्होंने सारबान्न में अध्ययन किया था। 1923–32 के मध्य उन्होंने अलीजिर्यस् विश्वविद्यालय में पढ़ाते हुए अपना स्पेन के सम्राट फिलिप II

पर शोध करना शुरू किया था। 1932–35 तक उन्होंने पेरिस में पढ़ाया और बाद में ब्राजील में भी। वे लुसिआं फेवब्र के नये इतिहास लेखन से प्रभावित हुए और 1938 में उन्होंने ईकोल में नौकरी कर ली लेकिन जल्द ही विश्व-युद्ध में सैन्य सेवा के लिये बुला लिये गये। 1940 से 1945 के मध्य वह जर्मनी के युद्ध बंधी रहे और इन्हीं दिनों मैन्ज में (1940–42) तथा ल्युबेख में (1942–45) उन्होंने अपने फिलिप II के अध्ययन को विस्त त करके बहुआयामी आर्थिक, भूगौलिक पक्षों को भूमध्यसागर के अध ययन में शामिल किया। यह 1949 में "ला मेदीतराने एल मोंद मेदितराने आं आलेपोक दि फिलिप II" के नाम से प्रकाशिक हुआ। "फिलिप द्वितीय के समय भूमध्यसागर और उसका संसार" हजार प ष्ठों की मोटी पुस्तक है जो तीन भागों में बंटी है (1) भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करता हुआ "परिवेश का अंश" (2) सामाजिक परिवर्तन का वर्णन करता समग्र नियति और सामुदायिक आंदोलन तथा (3) राजनैतिक घटनाओं के वर्णन करने वाला "घटनाएँ, राजनीति और जन"। पहला हिस्सा भौगोलिक वर्णन और विश्लेषण का स्तंम्भ है जो बाद के सामाजिक विश्लेषण और राजनैतिक वर्णन के लिए मूलभूत आधार प्रदान करता है। उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति तीन खण्ड में लिखी सभ्यता और पूंजीवाद (Civilization and capitalism) थी।

इम्नुअल लादुरी अनालस् मत के एक अन्य महत्वपूर्ण इतिहासकार हैं। लादुरी ने अपने अध्ययन The Peasants of Languedoc में सांख्यिकीय आँकड़ों का खूब इस्तेमाल किया विशेषकर कर, मजदूरी, लगान संबंधी आँकड़ों को दर्शाते हुये उन्होंने यह समझाने की कोशिश की कि 15 वीं सदी के उतरार्ध से 18 वीं सदी के प्रारंभ तक (लंबी अवधि में) किसानों का जीवन वैसे ही चलता रहा वास्तव में लादुरी का लक्ष्य लम्बी अवधि के ("Longue duréé") के अपरिवर्तनशील मानसिक तथा भौतिक संरचनाओं के धीरे-धीरे हो रहे विकास पर बल देना था। घटनाओं के सतही अध्ययन की बजाय इन्हीं संरचनाओं के अध्ययन पर वह बल दे रहे थे। उनकी दूसरी कृति Carnival in Romans में भी यह रुझान साफ झलकता है।

अनालस् मत की पद्धति और सैद्धांतिक आधार

वास्तव में अनाल मत ने कोई नई पद्धति और इतिहास लेखन का सैद्धांतिक आधार तैयार नहीं किया बल्कि यह 20 वीं सदी के प्रारंभ में यूरोप में और विशेषकर फ्रांस में परम्परागत राजनैतिक व र्तांत के रूप में लिखे जा रहे इतिहास के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया ही थी। इतिहास लेखन मुख्यतया सम्राटों की या अन्य महत्वपूर्ण दरबार की हस्तियों की गतिविधियों का लेखा-जोखा मात्र बनकर रह गया था। राष्ट्रीय-राज्यों के विकास से यह क्षेत्रीय सीमाओं में भी बंधकर रह गया था। और इसका इस्तेमाल राष्ट्रीय अस्मिता और पहचान बनाने के लिये ही किया जा रहा था। अनाल मत का इतिहास-लेखन एक नयी परम्परा की स्थापना करते हुए, विषयों के विभाजन के कारण पैदा हुयी बौद्धिक दीवारों को लांघने का प्रयास भी था। उनके विचार में राजनैतिक घटनाओं के क्रमबद्ध रखने मात्र से एक काल्पनिक इतिहास ही रचा जा सकता था। उन्होंने समय को लघुकालीन तथा दीर्घ कालीन अंतराल में बांटकर इस बात पर बल दिया। सामाजिक इतिहास को समझने के लिये दीर्घकालीन सामाजिक और मानसिक संरचनायें ही अहम भूमिका निभाती हैं। घटनाओं के इतिहास के स्थान पर इसलिये इन्होंने भौगोलिक, आर्थिक, जनसंख्या सम्बन्धी (demographic) भौतिक संरचनाओं को तथा मानसिक संरचनाओं को (उनकी "mentalite" की धारणा) ही ऐतिहासिक परिवर्तन का आधार माना।

इनकी प्रेरणा का स्त्रोत, जैसे फेवब्र के लिये आंरी बेर्र था जिनका सभी सामाजिक विज्ञानों के बीच अंर्तसम्बन्ध में गहरा विश्वास था। फेवब्र की सामाजिक मनोविज्ञान में गहरी दिलचस्पी थी। फेवब्र और ब्लाख ने लेवी ब्रहुल नामक दार्शनिक से यह धारणा ग्रहण की कि व्यक्तिगत विचारक और उनके विश्वास और मूल्यों के रूप में अभिव्यिक्ति के अलावा समाज में विचार और मूल्यों की एक सुव्यवस्थित संरचना (mentalities की धारणा) भी विद्यमान रहती है और काल के अनुसार बदलती रहती है।

दुर्खाइम से उन्होंने सामाजिक और सामूहिक की व्यक्तिगत ऐतिहासिक कर्त्ता के जीवन में महता स्वीकार की। इसी तरह मानव-भूगोल से उन्होंने यह बात ग्रहण की कि अलग-अलग समाज अपने भौतिक और भौगोलिक वातावरण में कैसे प्रतिक्रयाऐं करते हैं। इसलिये अनाल मत के इतिहास-लेखन में मानव द्वारा निर्मित मोर्चों (frontiers) की बजाये इतिहास को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक मोर्चों पर ज्यादा बल दिया गया था। दूसरा भौगोलिक वातावरण का प्रभाव मानव जीवन पर अप्रत्यक्ष होता है और यह सामाजिक संरचना और विचारों के माध्यम से ही व्यक्ति या ऐतिहासिक कृत्ता तक पहुँचता है। जैसे एक नदी, व्यापारिक मार्ग भी हो सकती है और यह धार्मिक अनुष्ठानों का केन्द्र बिन्दु भी (जैसे गंगा हिन्दुओं के लिये हैं)। इस तरह की भौगोलिक तथा अन्य पहलुओं के अध्ययन को मिलाकर अनाल मत के इतिहासकार एक पूर्ण इतिहास (total history) लिखने के पक्षधर थे। यानि इतिहास लेखन में समाज के सभी पहलुओं-सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक आदि को वे शामिल करना चाहते थे। लुसिआं फेवब्र के बारे में कहा जाता है कि वह इतिहासकार, भूगोलविद् तथा समाजशास्त्री तीनों एक साथ थे। वे जहां भौगोलिक निर्धारणवाद का विरोध करते हैं वहीं इतिहासकारों को भौगोलिक प्रभावों को अपने अध्ययन में शामिल करने की सलाह भी देते हैं। इस तरह से अनाल मत का इतिहास लेखन तुलनात्मक पद्धति पर भी काफी बल देता है और इसके लिए मानता है कि इतिहासकार को अन्य विषयों से भी उधार लेना सीखना चाहिये।

अनाल मत के कई इतिहासकारों ने mentalite के अध्ययन पर भी बल दिया। उनका मानना था कि हर काल की अपनी धारणायें, संवेदनायें या 'तर्क', सोचने के तरीके या विश्वासों की बीच एक सम्बन्ध स्थापित करने के तरीके होते हैं, ये सब मिलकर एक व्यवस्थित मानसिक संरचना (mentalite) का निर्माण करते हैं। जाने माने इतिहासकार पीटर बर्क के अनुसार अगर इतिहासकार काल विशेष की मानसिक संरचना को ध्यान में नहीं रखेगा तो उसके दो खतरे हैं—पहला यह कि वह कुछ विशिष्ट सामूहिक समूहों को अंधविश्वासी और उनके व्यवहार को असंगत मानकर उसे ऐतिहासिक महत्व का ही नहीं मानेगा। पहले के युगों का सामाजिक व्यवहार उसे असंगत लग सकता है लेकिन यह उस काल के विश्वासों पर ही आधारित होता है। दूसरा खतरा यह है कि इतिहासकार यह मान सकता है कि उदाहरण के लिये 17 वीं सदी का किसान भी उसी की तरह सोचता था। पीटर बर्क का मानना है कि दूसरी संस्कृति के अध्ययन में (काल/स्थाना दोनों द ष्टियों से) यह पर्याप्त नहीं हैं कि हम उनकी परिस्थिति में स्वयं को रखकर देखें बल्कि यह भी जरूरी है कि हम उनकी परिस्थिति को परिभाषित करने वाले मापदण्डों को भी माने यानि उनके नजरिये से देखें। अनाल मत ने इस तरह के अध्ययनों में काफी अहम भूमिका निभाई है। किसी काल की मानसिक संरचना की धारणा के बारे में एक आधारभूत समस्या यह भी है कि इतिहासकार उन सब रवैयों और विश्वासों को जो वर्तमान से भिन्न हों (या समकालीन उसकी संस्कृति से दूसरी संस्कृति के विभेदों) को समरूप या एक रूप मान सकता है—इस तरह की बौद्धिक एकरूपता समाज में, विशेषकर वर्ग-विभाजित समाज में शायद ही हमें देखने को मिले। अगर हम यह भी मान ले कि एक विशिष्ट सामूहिक समूह या वर्ग की मानसिक संरचना एकरूप होती है और इस आधर पर इस धारणा का उपयोग किया जा सकता है तब भी समस्या वैसे ही बनी रह जाती है। विभेद के अलावा मानसिक संरचना में आने वाले बदलाव (या समय के द्वारा लाया गया विभेद) भी समस्या का विषय है यानि एक काल की मानसिक संरचना किस तरह दूसरे काल की संरचना में बदलती है। चूंकि एक काल की मानसिक संरचना लंबे समय तक ऐतिहासिक कर्त्ताओं को कैद करके नहीं रख सकती। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि विश्वास और मूल्य समाज से स्वतंत्र नहीं हो सकते। सामाजिक संदर्भ में भी उनकी व्याख्या हो सकती है या विचारधारा के रूप में ही उसे देखा जा सकता है। मार्क ब्लाख की प्रसिद्ध कृति ले रुआ शोभातुर्ज (The Royal Touch) में भी यह सवाल नहीं उठाया गया था कि राजाओं के पास देवी रूप में मिली निरोगकारी स्पर्श-शक्ति का विश्वास किसके हित में था ? यह किस वर्ग की वैधता (legitimation) स्थापित करने का उपकरण था ? इन समस्याओं के बावजूद इसमें कोई संदेह नहीं

है कि अनाल मत ने संकीर्ण राजनैतिक इतिहास से इतिहास-लेखन को मुक्ति दिलाने में काफी अहम योगदान दिया है।

"सबाल्टर्न अध्ययन" और इतिहास लेखन

1980 के दशक से पहले 'सबाल्टर्न' शब्द का प्रयोग कभी-कभी (इटली के मार्क्सवादी विचारक अन्टोनियों ग्रामशी का अनुगमन करके) अधीनस्थ सामाजिक वर्गों जैसे किसान और मजदूरों के लिये किया जाता था। इस शब्द का व्यापक प्रयोग, खासकर गैर-पश्चिमी दुनिया के इतिहास-लेखन में 1982 में ''सबाल्टर्न-स्टड़ीज'' के नाम से प्रकाशित दक्षिण एशिया के इतिहास और समाज के बारे में कई खण्डों में सम्पादित अध्ययन की एक श्रंखला के साथ होने लगा है। इसका पहला खंड जाने-माने बंगाली इतिहासकार रणजीत गुहा ने सम्पादित किया था और उन्हें इस अध्ययन के द ष्टिकोण का जनक भी माना जाता है। प्रारंभ में इसमें कई भारतीय और अंग्रेज इतिहासकारों ने योगदान दिया। बाद के खंड अन्य इस मत के विद्वानों के द्वारा सम्पादित किये गये थे। प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में रणजीत गुहा ने ने 'सवाल्टर्न' शब्द की परिभाषा करते हुये कहा था कि, ''यह शब्द दक्षिण एशिया के समाज में अधीनस्थता (subordination) अभिव्यक्ति करता है चाहे यह अधीनस्थ परिस्थिति वर्ग, जाति, आयु, लिंग या पद या फिर किसी अन्य वजह से हो।'' उन्होंने आगे कहा कि हम जानते हैं कि अधीनस्थता को इसके विरोधी विचार प्रभुत्त्व को समझे बिना नहीं समझा जा सकता क्योंकि 'सबाल्टर्न' समूह शासक वर्गों की गतिविधियों के अधीन ही काम करते हैं, यहाँ तक कि जब वे विद्रोह भी करते हैं, तब भी। सबाल्टर्न अध्ययन इतिहास का ऐसा नजरिया बन कर उभरा है जिसमें 'सबाल्टर्न' समूहों की राजनीति, समाजशास्त्र और अर्थव्यवस्था के अध्ययन के साथ-साथ उनके वैचारिक रूझान, विश्वास और संस्कृति को भी समझने की कोशिश की जाती है।

'सबाल्टर्न स्टडीज' के शुरू के खंडों में रणजीत गुहा का ''आभिजात्य (elite) और सबाल्टर्न समूहों के बीच शक्ति के सम्बन्ध पर विशेष ध्यान था और उनमें भी लोकप्रिय विद्रोह और प्रतिरोध की घटनाओं पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया। इनमें ब्रिटिश सामाजिक इतिहासकार ई॰ पी॰ थॉमसन तथा ई॰ जे॰ हाब्सबाम का असर साफ साफ झलकता दिखाई पड़ता है। यह दिखाने की कोशिश की गई कि भारत के सबाल्टर्न समूह-किसान, आदिवासी, शहरी श्रमिक वर्ग आदि में प्रतिरोध का एक इतिहास रहा है और स्वयं को संगठित कर विद्रोह को संचालित करने की भावना पाई जाती है। यह सब सबाल्टर्न अध्ययन ने उस समय किया जब इन पक्षों को नजर अन्दाज किया जाता था इस तरह के सबूतों को ध्यान नहीं दिया जाता था जिनमें उस अधीनस्थ वर्गों का स्वायत इतिहास दर्ज किया गया था। सबाल्टर्न अध्ययन ने भारतीय इतिहास-लेखन की तीन प्रभावशाली धाराओं की आलोचना की-विजय की भावना से ओत-प्रोत राष्ट्रीयवादी इतिहास-लेखन जिसने लोकप्रिय विद्रोह की आवाज को राष्ट्रीयवादी आंदोलन में ही निहित करके देखा और राष्ट्रीय राज्य के गठन में एक पूरक तत्व के रूप में शामिल कर लिया-दूसरा ''कैम्ब्रीज'' मत से जुड़ा हुआ आभिजात्य इतिहास-लेखन जिसका प्रतिनिधित्व कैम्ब्रीज विश्वविद्यालय से जुड़े कुछ ब्रिटिश दक्षिण एशिया के इतिहासकार करते हैं, जिसमें यह माना गया कि भारत के राजनैतिक क्रिया-कलापों का नेत त्व और पहल आभिजात्य समूह से ही आई थी और आम जनता की इसमें कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं थी। इस तरह के इतिहास लेखन में (कैम्ब्रीज मत) विश्लेषण का आधार नैमियरवादी (ब्रिटिश अनुभववादी इतिहासकार) राजनैतिक गुट तथा आत्म-हित की समझ का ही इस्तेमाल किया गया था और तीसरा मार्क्सवादी भारतीय इतिहास लेखन जो वर्ग विश्लेषण और आर्थिकवादी रवैये का शिकार था। प्रांरम्भिक सबाल्टर्न अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु लोकप्रिय विद्रोह की राजनीति और संस्कृति ही थी-विशेषकर वे तौर-तरीके जो सबाल्टर्न समूहों की 'स्वायतता' या 'सापेक्ष स्वायतता' (relative autonomy) को दर्शाते थे। बाद के अध्ययन में यह नया इतिहास लेखन इस मौलिक लक्ष्य से हटकर नये तरह के मसलों जैसे लिंग आधारित सम्बन्ध या मध्यम वर्गीय मानसिकता का अध्ययन की तरफ बढ़ गया और

इसमें वैचारिक प्रभुत्व (hegemony) तथा प्रभुत्व के तरीकों पर ज्यादा बल दिया गया। इसने फ्रैंच विचारक दैरिदा की deconstruction की पद्धति को अपना कर पाठ्य-सामग्री (text) के आधार पर यह विश्लेषण की कोशिश की कि सबाल्टर्न समूहों का इतिहास कैसे लिखा जा सकता था या कैसे नहीं लिखा गया था। De-construction की तकनीक मुख्यतयाः 'प्रवचन' (discourse) जिनके माध्यम से मनुष्य वास्तविक दुनिया में दखलअन्दाजी करने की कोशिश करते हैं, उन प्रवचनों पर ही सवाल खड़े करने का तरीका है। इसका उद्देश्य यह दर्शाने का रहता है कि कैसे ये प्रवचन (इतिहास के प्रवचनों की तरह ही) सत्य को जानने में सफल या असफल होते हैं। इस दार्शनिक विधि ने भाषा के वास्तविक दुनिया को चित्रण करने की क्षमता पर सवाल उठाये हैं।

'सबाल्टर्न' अध्ययन का प्रांरम्भिक प्रभाव मुख्यतया इसके द्वारा जन-राजनीति पर दिये गये बल के कारण ही था जिसने इतिहास के लेखन में नये स्रोतों को खोजकर नये तरह के इतिहास-लेखन की परम्परा विकसित करने में मदद की। इससे पहले उत्तर अमेरिका या यूरोप से बाहर की इतिहास-लेखन की परम्पराओं का इतना ज्यादा असर नहीं रहा था जितना कि सबाल्टर्न इतिहास-लेखन ने छोड़ा था। लेकिन शुरू से ही सबाल्टर्न इतिहास-लेखन की आलोचना भी हुई और कहा गया कि इन्होंने अवास्तविक रूप से, कल्पनावादी तरीके से किसान और आदिवासी विद्राहों के काल पर ही ध्यान ज्यादा केन्द्रित किया था और इसमें इन समूहों के दैनिक जीवन तथा उनके आभिजात्य वर्ग से संरचनात्मक अधीनस्थता पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया था। यह भी आलोचना का मुख्य मुद्दा रहा कि सबाल्टर्न अध्ययन ने वर्ग की भाषा की जगह तमाम सामाजिक अनुभव को भौंदे तरीके से दो विरोधी भाग-अभिजात्य (elite) और सबाल्टर्न में बाँट कर देखा था। यह बात भारत के जटिल सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों और पदानुक्रम पर आश्रित समाज को ठीक तरह से समझने में सहायक नहीं हो सकती थी। कुछ विद्वानों ने यह सवाल भी उठाया कि क्या प्रबोधन-काल के बाद के व्यक्तित्व (individuality) और स्वतंत्रता के विचार का उपयोग किये बिना इतिहासकारों के लिये सबाल्टर्न समूह की चेतना को दर्शा पाना सम्भव भी है या नहीं। सबाल्टर्न अध्ययन की एक महत्वपूर्ण कमी यह भी रही है कि इसने भारत के औपनिवेशिक काल के इतिहास पर भी काम किया और औपनिवेशिक सत्ता से पूर्व सत्ता के सम्बन्धों का कोई विश्लेषण नहीं किया गया। इसमें लिंग-आधार पर सामाजिक विभाजन और स्त्रियों को एक सबाल्टर्न समूह के रूप में अध्ययन करने को भी नजर अन्दाज किया गया है। इसके अलावा सबाल्टर्न इतिहास-लेखन अपने मूल लक्ष्य जो जनता का इतिहास इसके स्वयं के अनुभवों और चेतना के आधार पर रचने का था उससे दूर होकर नये उत्तर-आधुनिकता के द ष्टिकोण से प्रेरित होने लगा है। आजकल यह साहित्यिक सिद्धान्त, मध्यम-वर्ग की पाठ्य सामग्री तथा औपनिवेशिक स्रोतों जैसे विषयों पर ज्यादा ध्यान दे रहा है। अपने अंतिम चरण में, सबाल्टर्न अध्ययन **''गैर-पश्चिमी इतिहासों की अधीनस्थता''** पर ज्यादा ध्यान दे रहा है न कि इन देशों के वास्तविक सामूहिक समूहों पर तथा उनकी अधीनस्थता पर जो इन इतिहासों में फँसें हैं।

सबाल्टर्न-अध्ययन दक्षिणी एशिया के इतिहास-लेखन की काफी रोचक और महत्वाकांक्षी योजना थी जिसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में भी-विशेषकर पूर्व-औपनिवेशिक अफ्रीका तथा लातिन अमेरिका के समाजों के इतिहास-लेखन में भी साफ झलकता है। सैद्धान्तिक समानता की बजाय, आधुनिक अभिजात्य इतिहास-लेखन पर संदेह ही इन विद्वानों को जोड़ने वाली कड़ी है। इसमें भारतीय तथा ब्रिटिश राष्ट्रीयवादी धारणाओं की सीमाओं से निकलकर उन सामूहिक समूहों को कर्त्ताओं की श्रेणी में रखनें की कोशिश की गयी जिन्हें आभिजात्य इतिहास ने हासिये पर रखा हुआ था। रणजीत गुहा ने इस बात पर काफी बल दिया कि भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास लेखन आभिजात्य वर्ग और उसकी धारणाओं से अधिक प्रेरित रहा है। आभिजात्य (elite) से उनका तात्पर्य प्रभुत्वशाली समूहों को दर्शाने से था जिसमें उन्होंने ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य के अधिकारियों तथा देशी सम्पतिवान तथा प्रभावशाली वर्गों को शामिल किया गया। विदेशी आभिजात्य वर्ग में ब्रिटिश उद्योगपति और

व्यापारी, बागान-मालिक भी सम्मिलित थे जबकि देशी प्रभुत्वशाली समूह में सांमतवादी भू-सम्पतिवान जमींदार, महाजन, व्यापारी तथा देशी उद्योगपति आदि प्रमुख थे। स्पष्ट रूप से हम आभिजात्य वर्ग या समूह में सरंचना की द ष्टि से विविधता भी देख सकते है और आभिजात्यवादी इतिहास लेखन इतिहास के सर्जन में कर्त्ताओं (Agency) की भूमिका में देशी या विदेशी आभिजात्य समूह पर ही बल देता आया था। औपनिवेशिक या नव-औपनिविशिक इतिहास-लेखन ने भारत के ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों, प्रशासकों, उनकी नीतियों, संस्थाओं तथा यूरोपीय संस्कृति की महत्ता पर ही जोर दिया था जबकि देशी राष्ट्रीयवादी आभिजात्य लेखन भारतीय आभिजात्य समूह के व्यक्तित्त्वों पर, संस्थाओं, गतिविधियों या विचारों पर ही ध्यान केन्द्रित करता है। जैसे औपनिवेशिक इतिहास-लेखन में भारतीय राष्ट्रीय को यूरोपीय विचारों की प्रेरणा तथा भारतीय लोगों की प्रतिक्रिया (European Stimulus-Indian response) के रूप में ही परिभाषित किया गया था। व्यवहारवादी नजरिये से प्रेरित यह इतिहास-लेखन की धारा भारत में राष्ट्रवाद के विकास को उपनिवेशवाद द्वारा स्थापित संस्थाओं अवसरों और साधनों के संदर्भ में भारतीय आभिजात्य समूह के प्रतिक्रिया के रूप में उभरे विचार या गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करती है। यह औपनिवेशिक आभिजात्य इतिहास लेखन कई रूपों में मिलता है लेकिन इसकी मुख्य बात यह है कि इससे भारतीय राष्ट्रीयवाद को, देशी आभिजात्य समुदाय द्वारा औपनिवेशिक सत्ता द्वारा स्थापित संस्थाओं तथा सांस्कृतिक ढाँचें के माध्यम से राजनीति में भागीदारी करके सीखने की प्रक्रिया के रूप में ही देखा गया था। एक औपनिवेशिक व्याख्या में राष्ट्र-हित और आदर्श की बजाय राष्ट्रीय आभिजात्य नेताओं को दौलत, शक्ति या प्रतिष्ठा के रूप में पारितोषिक पाने की दौड़ में शामिल किया गया था। इसके ठीक विपरीत राष्ट्रीयवादी आभिजात्य इतिहास-लेखन में राष्ट्रवाद को देशी आभिजात्य वर्ग का ऐसा आदर्शवादी कार्य माना गया जिसने भारतीयों को विदेशी हुकूमत से मुक्ति दिलाई थी। इस इतिहास-लेखन के कई रूप हैं जिनमें अलग-व्यक्तित्व नेताओं की भूमिका या आभिजात्य संगठनों को राष्ट्रीयवादी अभियान की मुख्य प्रेरक शक्ति माना गया है। इसमें देशी आभिजात्य वर्ग का साम्राज्यवादी संस्थाओं से मौलिक अंर्तविरोध माना गया और उसे जनता के हितों का प्रोत्साहन देने वाले समूह के रूप में ही देखा गया तथा उसके साम्राज्यवाद के साथ समझौता परस्त रवैये को नजर अन्दाज कर दिया जाता है। रणजीत गुहा के शब्दों में इस इतिहास लेखन में ''भारतीय राष्ट्रीयवाद का इतिहास एक तरह से भारतीय आभिजात्य समूह की आध्यात्मिक जीवन-कथा के रूप में ही लिखा गया है।''

इस तरह के इतिहास लेखन की आलोचना सबाल्टर्न अध्ययन में की गई और उसमें सबाल्टर्न समूहों-किसान, मजदूर आदि के द्वारा उनके स्वयं के योगदान, आभिजात्य राजनीति से स्वतंत्र रूप से जो उनकी अपनी स्वायत राजनीति थी और जो आभिजात्य राष्ट्रवाद की समझौतावादी, कानूनी संघर्ष से कहीं ज्यादा जुझारू और प्रतिरोध के लड़ाकू तरीकों का इस्तेमाल करती है-इन पक्षों पर ज्यादा बल दिया गया है। जहाँ औपनिवेशिक इतिहास लेखन में सबाल्टर्न समूहों के जूझारूपन को कानूनव्यवस्था के सवाल के रूप में देखा गया था और राष्ट्रीयवादी इतिहास लेखन में इसे आभिजात्य नेताओं के करिश्माई प्रभाव या संगठन के द्वारा उर्ध्वाधर रूप में लामबंद्ध करने (vertical mobilization) के रूप में दर्शाया गया था। इसके विपरीत सबाल्टर्न स्टडीज में जनता की राजनैतिक गतिविधियों को उनकी स्वयं की पहल के रूप में देखने की कोशिश की गई है। यह माना गया कि सबाल्टर्न समूहों की राजनीति उपनिवेशवाद द्वारा या आभिजात्य समूह द्वारा स्थापित संस्थाओं और संगठनों के इर्द-गिर्द केवल कानूनी और संवैधानिक दायरे में नहीं घूमती है बल्कि इसकी अपनी एक अलग स्वाययता और रणनीति है जो औपनिवेशिक संस्थाओं के प्रभाव से अलग, आभिजात्य समझौतावादी राजनीति से स्वतंत्र अपना कार्यक्षेत्र स्थापित करती है। औपनिवेशिक और राष्ट्रीय इतिहास-लेखन में शासक वर्ग और उनके भारतीय बौने (जो देशी प्रभुत्वशाली आभिजात्य समूह थे) की राजनीति पर ही जोर दिया गया था और जनता की राजनीति से रहित यह अऐतिहासिक इतिहास-लेखन था। लेकिन आभिजात्य समूह (elite) की राजनीति से दूर और स्वतंत्र, स्वायत सबाल्टर्न समूहों की

राजनीति भी थी जिसमें मुख्य कर्त्ता प्रभुत्वशाली सामाजिक समूह नहीं थे और न ही औपनिवेशिक गोरे साहब बल्कि इस भारतीय राजनीति में मुख्य कर्त्ता मेहनतकश अवाम के करोड़ों लोग थे या छोटे मध्यम श्रेणी के विभिन्न ग्रामीण और कस्बों के सामाजिक समूह जो स्वायत रूप से क्रियाशील थे जिनकी राजनीति का क्षेत्र आभिजात्य समूह पर निर्भर नहीं था। यह कुछ हद तक परम्परागत तौर तरीकों का इस्तेमाल करके क्रियाशील होते थे अर्थात् इनके संगठन, विचारधारा और राजनीति की जड़े पूर्व-औपनिवेशिक संस्कृति, धर्म या संगठन के तरीकों में ही तलाश किये जा सकते थे। लेकिन इनके लाभबद्ध होने के तरीके पुराने होने पर भी अप्रचलित या अप्रयुक्त नहीं थे। आभिजात्य वर्गों के परम्परागत दरबारी राजनीति को उपनिवेशवाद ने खत्म कर दिया था लेकिन उपनिवेशवाद सबाल्टर्न समूहों की परम्परागत संगठन के शैलियों और प्रतिरोध के तरीकों को पूरी तरह से समाप्त नहीं कर पाया था और इनकी परम्परागत तौर-तरीके की राजनीति और संगठन नये रूपों में राज की नयी परिस्थितियों में भी फलते फूलते रहे थे। समय और संरचना की द ष्टि से इनमें काफी गइराई थी।

राजनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विशेषता सबाल्टर्न समूह की राजनीति को आभिजात्य समूहों की राजनीति से अलग करती थी। आभिजात्य राजनीति में लोगों को लामबंद्ध उर्ध्वाधर तरीके से होता था जबकि सबाल्टर्न राजनीति में क्षैतिज (horizontal) दिशा में। इसका एक अर्थ यह भी था कि आभिजात्य राजनीति को औपनिवेशिक शासक वर्ग की संवैधानिक तंत्र के साथ तालमेल करके या पूर्व-औपनिवेशिक काल की अर्ध-सांमती संस्थाओं के माध्यम से राजनीति करनी पड़ती थी जबकि सबाल्टर्न समूहों के द्वारा स्वयं को लामबंद्ध करने के लिये क्षेत्रीयता (teritoriality) या परम्परागत बंधुता या रिश्तेदारी के सम्बन्ध (Kinship) के संगठन का इस्तेमाल किया गया। या कई बार इन्होंने अपने वर्ग के संगठन भी प्रयोग में लाये। यह सब सबाल्टर्न समूहों की चेतना के स्तर पर निर्भर करता था कि वे किस प्रकार के राजनैतिक साधन प्रयोग में लाते हैं। इसी तरह जहाँ आभिजात्य राजनीति में लाभबद्धता का आधार कानूनी तथा संवैधानिक था वहीं सबाल्टर्न राजनीति उग्र रूप में विकसित होती है, इसमें स्वायतता और स्वत स्फूर्तता का पहलू काफी अहम था। लोकप्रिय स्तर पर किसान और आदिवासी विद्रोह सबाल्टर्न राजनैतिक क्रियाशीलता के बेहतरीन उदाहरण माने गये। हाँलाकि शहरी क्षेत्रों में भी मेहनतकश जनता और मध्यम वर्ग के कई संघर्षों में किसान विद्रोहों के तौर-तरीके इस्तेमाल किये जाते हैं। इसी प्रकार लोकप्रिय विद्रोहों में विचारधारा में भी समय और घटना में काफी विविधता प्रदर्शित होती है। इस विविधता के बावजूद एक समान विशेषता इन विद्रोहों की यह थी कि ये सब आभिजात्य समूह के प्रभुत्व का प्रतिरोध करते हैं। इन सबाल्टर्न समूहों का शोषण और उत्पीड़न का अनुभव इनकी राजनीति की उपमाओं, मूल्यों तथा नियमों को इन्हें आभिजात्य राजनीति से अलग करता है। सबाल्टर्न अध्ययन ने यह दर्शाने की कोशिश की है कि आभिजात्य राजनैतिक क्षेत्र (domain) से स्वतंत्र और स्वायत सबाल्टर्न की राजनीति का क्षेत्र होने का अर्थ था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग पूरे राष्ट्र की भाषा नहीं बोल सकता था। आम जनता के जीवन और चेतना के बहुत से ऐसे आयाम थे जो इस आभिजात्य वर्ग के वैचारिक प्रभाव या hegemony से मुक्त था। सबाल्टर्न अध्ययन का मानना है कि दोहरी चेतना और वैचारिक रूझानों को नजर अन्दाज करके आधुनिक औपनिवेशिक काल के इतिहास को सही तरह से नहीं समझा जा सकता है। आभिजात्य और सबाल्टर्न समूहों की राजनीति और चेतना के स्वरूप के अलग-अलग होने का यह तात्पर्य भी नहीं है कि इनका आपस में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। देशी आभिजात्य समूह विशेष कर देशी पूँजीपति वर्ग ने इन सबाल्टर्न समूहों को राष्ट्रीय धारा में जोड़ने की कोशिश की—विशेषकर साम्राज्यवाद-विरोध के नाम पर कई संघर्ष लड़े गये जिनमें सबाल्टर्ज समूह हिस्सा लेते हैं। सबाल्टर्न समूह के इतिहासकारों के अनुसार इस तरह के संघर्षों में भी निम्न वर्ग आभिजात्य समूहों के नियंत्रण को पूरी तरह स्वीकार नहीं करता है और अपने जूझारू तौर तरीकों और राजनीति की छाप इन पर छोड़ता है। सबाल्टर्न स्टडीज (निम्नवर्गीय प्रसंग) के लेखन का कार्य ''आम जनता-गरीब किसान, चरवाहा,

कामगार, मजदूर, दलित जातियाँ, स्त्री समाज आदि की उदरावस्था तक ही सीमित न रहकर उसके सोच-विचार तक पहुँचनें का रहा हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में रणजीत गुहा ने अपनीपुस्तक 'एलिमेंटरी आस्पेक्ट्स आफ पेजेंट इंसर्जेंसी इन कोलोनियल इंडिया'' (औपनिवेशिक भारत में कृषक विद्रोह के मूल पहलू) में कृषक को स्वतः अपने इतिहास का कर्त्ता स्वीकार किया है।

सबाल्टर्न स्टडीज़ में निम्न जन की चेतना और उस चेतना की स्वायत्तता को मूल स्तम्भ माना गया है। गौण से गौण, तुच्छ, हीन, निर्बल गुट अथवा व्यक्ति (स्त्री अथवा पुरूष) इन्सान तो होता ही है—सोचता-विचारता है, अपना निश्चय करता है; संसार में रहने, बढ़ने का पथ प्रशस्त करता है, और इस आधार पर निम्न जन-चेतन को एक आवश्यक स्वावलम्बी रूप नहीं प्रदान किया जाता तो पूर्व की भांति 'समाज' अथवा राष्ट्र का इतिहास लिखने के नाम पर एक अधूरे इतिहास का लेखन ही होगा। ऐसा इतिहास जिसके प ष्ठों पर कृषकजन अथवा कामगार तो होंगे परन्तु राष्ट्रीय नेताओं के संकेत पर कठपुतली की भांति क्रियाशील होंगे अथवा भूख से संत प्त समूह के रूप में उपद्रव करके उस अतीत में लुप्त हो जायेगें जो इतिहास हीन होगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि इतिहास हीन समाज का कोई भविष्य नहीं होता और भविष्य हीन समाज का कोई इतिहास नहीं होता।

सबाल्टर्न स्टडीज़ के लेखक वर्ग का कथन है कि निम्न जन की स्वावलम्बी चेतना पर बल देने का यह तात्पर्य नहीं है कि हम केवल निम्न जन का ही इतिहास लिखना चाहते हैं। हमारा प्रयत्न एक नये प्रकार का इतिहास लेखन है जो अभिजन के दायरे से बाहर जाकर निम्न वर्ग की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को भी परखे; और उसके साथ साथ इन (अभिजन और निम्नजन) की प्रक्रियाओं को दो अलग खेमों में न ढकेल कर, इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, आश्रय और द्वन्द्व के बल पर हमारे उपनिवेशीकाल की समझ को गति प्रदान करें। इसीलिये निम्न वर्गीय प्रसंग में निम्नजन की परिस्थितियों और प्रयासों के अतिरिक्त अभिजात वर्ग की परिस्थितियों और प्रयासों पर भी (नेहरू, बंकिम, गाँधी, राजगोपालाचारी, सरोजिनी नायडू आदि पर भी) लेखन उपलब्ध है। सबाल्टर्न स्टडीज़ की अवधारणा ही यह है कि इन दोनों पहलुओं को बिना अपनाये हुए, इस निम्नवर्गीय परिवेश को अपनाये बिना भारत का अथवा कहीं का भी इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता।

इटली के मार्क्सवादी चिंतक आंतोनिओं ग्राम्शी ने 'सबाल्टर्न' शब्द समाज के गौण, दलित, उत्पीड़ित लोगों के लिए प्रयोग किया था। भारतीय इतिहास अध्ययन के लिए भी इस नज़रिये को अपनाना प्रासंगिक तथा आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि प्रभुत्व केवल आर्थिक दबाव के आधार पर ही स्थापित नहीं रहता। निम्नजन को उनकी गौणता का अहसास विविध प्रसंगों में प्रतिदिन कराया जाता रहा है। एक छोटे खेतीहर और एक भूस्वामी के मध्य केवल जमीन होने ना होने का ही अन्तर नहीं होता है-वेशभूषा बोलचाल, घर-द्वार, जांत-पांत, देवी-देवता सभी अभिजन वर्ग के ऊँचे होते हैं अर्थात् कृषक जीवन के विविध पहलुओं पर उनका अधिकार रहता है। मूल स्त्रोत और कर्ता के पारस्परिक सम्बन्ध निम्नवर्गीय इतिहास लेखन में अधिकाधिक गतिरोध उत्पन्न करते हैं। सामान्य जन की गतिविधि ायों की जानकारी मानक स्रोतों में स्वतः नहीं पाई जाती है; अधिकांश दस्तावेजों में उनका स्वरूप बागी, बलवाई का होता है। निम्नजन स्वयं नहीं लिखते, अभिजन या सरकारी कर्मी (पटवारी-लेखपाल, थानेदार, मजिस्ट्रेट आदि) उनके सम्बन्ध में लिखते हैं। इससे शब्दों का आंशिक अर्थ ही उभरता है। एक मार्ग और है 'लोकगाथा', 'लोकगीत, 'लोकस्म ति' द्वारा निम्नजन की गतिविधियों, उनकी चेतना को समझने का परन्तु लोकसाहित्य के अपने ही आयाम हैं ये स्त्रोत पारदर्शी भी नहीं होते। निम्नजन के साक्षात्कारों से भी ऐतिहासिक पुर्नकल्पना विश्वसनीय नहीं बन पाती। इस प्रकार निम्नजन-इतिहास रचना का प्रयास इतिहास-लेखन-चिंतन और मनन के विषय में महत्वपूर्ण प्रश्न और समस्यायें उत्पन्न करते हैं, इतिहास के शोधकर्ताओं को उनसे जूझना पड़ता है। फिर भी 'उपाश्रयी' स्वायत्ता के इतिहासकारों (रणजीत गुहा, शाहित अमीन, ज्ञानेन्द्र पांडे, सुमित सरकार आदि) को नये-नये विषयों को उठाते हुये इतिहास लेखन की इस विद्या में कुछ रोमांचक प्रतीत होता है, इससे अधिक अभी कुछ परिकल्पना और प्राक्कलन नहीं हो सकता।

परन्तु इतिहास-लेखन के इस नये सम्प्रदाय ने पहले के समस्त इतिहास लेखन (साम्राज्यवादी या नव-साम्राज्यवादी राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी) को 'अभिजनवादी' इतिहास लेखन कहकर ठुकरा दिया है, जिसके पास जनता के इतिहास लेखन की समझ में योगदान देने को कुछ भी नहीं है। इसमें इस 'पुराने', 'तंगनजर' और 'अभिजनवादी' इतिहास लेखन के स्थान पर उस तथ्य को प्रस्थापित करने का प्रयास निहित है जिसे 'उपाश्रयवादी' अथवा जनता का इतिहास लेखन कहा गया है। उपाश्रयवाद के अन्तर्गत इतिहास-लेखन में औपनिवेशिक भारत में कृषक प्रतिरोध तथ कृषक चेतना अधिकाधिक स्पष्ट हुई है इसके अतिरिक्त किसान समुदाय और राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। इन सभी प्रकरणों पर उपाश्रयवादियों का द ष्टिकोण अस्पष्ट है। वे एकतरफा और तंगनजर इतिहास-लेखन के शिकार हुये हैं। उपाश्रयवादी इतिहासकारों ने उपाश्रयी चेतना के अध्ययन की कोई पद्धति प्रस्तुत नहीं की है। बिपिन चन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि इस उपाश्रयवादी द ष्टिकोण की विशेषता यह है कि यह अनैतिहासिक है और प्रत्येक तरह की लोकप्रिय दुस्साहसिकता और प्रत्येक तरह की चेतना को महिमामंडित करता है। प्रबुद्ध वर्ग, संगठित दलीय नेत त्व और दूसरे अभिजन समूहों की हर पहल और हर गतिविधि के प्रति इसमें एक अनैतिहासिक तिरस्कार भाव विद्यमान है। इस नये सम्प्रदाय ने जन चेतना को केन्द्र में रखकर इतिहास लेखन का निश्चय किया परन्तु इसने अपने लिये अभी तक कोई नये स्रोत नहीं खोजे हैं; इनके लेखन का आधार अभी भी वही पुराने अभिजन स्रोत हैं।

उत्तर-आधुनिकतावाद (Postmodernism)

उत्तर-आधुनिकतावाद हमारे वर्तमान समय की परिस्थितियों का सामान्य वर्णन माना जा सकता है। इन परिस्थितियों को उत्तर-आधुनिकता का नाम दिया गया है। फ्रांसीसी सांस्कृतिक आलोचक जीन फ्रैकों लियोटार्ड ने उत्तर-आधुनिकतावाद के स्वरूप की व्याख्या करते हुए इसे भव्य और प्रतिष्ठित वर्त्तांतों (meta-narratives) को नकारने वाली परिस्थिति माना है। प्रबोधन काल से ही पश्चिमी जगत में मानव प्रगति का वर्णन करने के लिये इन व र्तांतों का सहारा लिया गया। हमारे आज के उत्तर-आधुनिक युग में इस आधुनिकवाद या प्रबोधनकाल के सांस्कृतिक उत्पाद के खिलाफ या प्रगति की धारणा के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में जो बौद्धिक धारा उपजी है उसी का नाम उत्तर आध ुनिकतावाद है। कुछ बौद्धिक क्षेत्रों में स्वयं आधुनिकतावाद ने अपनी कमियों को चुनौती देनी शुरू कर दिया है। हम इतिहास के छात्रों के लिये यह महत्वपूर्ण सवाल है कि उत्तर-आधुनिकतावाद का हमारे विषय के लिये क्या अर्थ हो सकता है ? उत्तर-आधुनिकतावाद ने प्रबोधन काल से स्थापित प्रगति की धारणा को चुनौती देकर प्रगति के विचार पर आधारित हमारी चिर-परिचित धारणाओं, हमारे समझदारी के आधारभूत पहलुओं, सामाजिक अस्तित्व और अर्थ पर भी सवाल खड़े किये हैं। सामान्य इतिहासकार इन धारणाओं का सहारा ले रहे थे इसलिये उन्हें उत्तर-आधुनिकतावाद में इतिहास-विरोधी रवैया भी झलकता दिखाई देगा। उदाहरण के लिए उत्तर-आधुनिकतावाद में एक महत्वपूर्ण पहलू है भाषा-विषयक घुमाव (linguistic turn) जो इस बात को चुनौती दे रहा है कि भाषा के माध्यम से हम वस्तुओं का, विचारों का, अर्थों का या तथ्यों का चित्रण सही-सही कर सकते हैं। अगर भाषा अर्थ और भाव को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर सकती तो हम इस नतीजे पर भी पहुँच सकते हैं कि लिखा गया ऐतिहासिक व त्तांत अतीत की अंर्तवस्तु (Contents of past) की ठीक तस्वीर बना ही नहीं सकता। दूसरा यह नतीजा भी हो सकता है कि अतीत अकस्मात् हुई घटनाओं का समूह ही है, उसका स्वयं में कोई अर्थ नहीं हैं यह इतिहासकार ही है कि जो अतीत के सबूतों को एक व त्तांत के रूप में संगठित करके, विभिन्न घटनाओं को क्रमबद्ध करके, उनमें एक व्यवस्था कायम करता है और हमें यकीन दिलाने की कोशिश करता है कि उसका वर्णन तथ्यपरक है, वस्तुनिष्ठ है और सबूतों और सत्य पर आधारित है। उत्तर आधुनिकतावाद इसके विपरीत सापेक्षवाद (relativism) में विश्वास करता है ना कि वस्तुनिष्ठता में। प्रबोधन काल से जन्मी अनुभववादी पद्धति

में यह माना गया था कि मानव मस्तिष्क तर्क और पर्यवेक्षण के आधार पर प्राकृतिक जगत की, समाज की, यहाँ तक कि मानवीय चेतना की भी जानकारी हासिल कर सकता है या वह अस्तित्व के संदर्भ को समझ सकता है। उत्तर-आधुनिकता ने इस समझ पर ही सवाल खड़ा कर दिया है कि भाषा वास्तविक जगत और उसके संदर्भ को समझने में कारगर साधन के रूप में काम कर सकती है। भाषा-विषयक घुमाव (linguistic turn) का प्रयोग ऑस्ट्रिया के दार्शनिक गुस्ताव बर्गमैन ने किया था जैसे बाद में उत्तर आधुनिकतावाद ने इस रूप में इस्तेमाल करना शुरू किया कि घटनाओं में, बाहरी जगत में कोई अर्थ निहित नहीं होते हैं बल्कि भाषा ही व्याख्या और अर्थ को जन्म देती और भाषा से, एक ही व र्तांत से असंख्य और असीमित अर्थ निकाले जा सकते हैं। क्योंकि एक-एक सूचित करने वाला प्रतीक या चिन्ह (भाषा-विज्ञान की भाषा में signifier) असीमित अर्थों को सूचित कर सकता है (signified are infinite)। इस सापेक्षवादी नजरिये से देखने पर ऐतिहासिक वर्णन में वस्तुनिष्ठता और सत्य नहीं हो सकता। ज्ञान-शास्त्र की द ष्टि से, भाषामूलक घुमाव में यह सवाल खड़ा किया गया है कि क्या भाषा से बाहर कोई वस्तुनिष्ठ तथ्य या सबूत है जिनको खोजा जा सकता है ? या इतिहास की द ष्टि से कहें तो क्या ऐतिहासिक वर्णन भली-भांति अतीत की सही तथ्यात्मक तस्वीर बना सकता है ? प्रतीकात्मक या अलंकारों पहलुओं से भरी भाषा वास्तविकता तक पहुँचाने में हमारी मदद कर ही नहीं सकती। भाषा वास्तविकता तक पहुँचने का साधन नहीं है बल्कि यह एक अंतिम बाधक है क्योंकि पाठ्य सामग्री में अर्थ आगे के लिये स्थगित कर दिये जाते हैं या शब्दों के माध्यम से हम अर्थों को टालते चले जाते हैं। क्या इतिहासकार भाषा की आलंकारिक विकृति को दूर करके वास्तविक अतीत तक पहुँच सकता है या उसे लुड़विग विटग्नस्टाइन की यह बात मान लेनी चाहिये कि भाषा खेल के नियमों का एक समूह है और हर भाषा के खेल के सत्य स्थापित करने के अपने अलग-अलग नियम होते हैं। इस दूसरी स्थिति में हमें सापेक्षवादी नजरिये को ही अपनाना पड़ेगा।

इतिहास के दर्शन के अमेरिकी विद्वान हेडेन व्हाईट ने अतीत को एक पाठ्य सामग्री की तरह माना है जिसकी व्याख्या की जरूरत होती है। उन्होंने भाषा की अर्थ निर्मित करने की शक्ति को पहचानते हुये यह दर्शाने की कोशिश की है कि जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग इतिहासकार करते हैं वही उनके एतिहासिक वर्णन का अर्थ निर्धारित करता है। या दूसरे शब्दों में इतिहासकार भाषा के माध्यम में अतीत के वर्णन पर अपने अर्थ लादता है। फैंक एन्करस्मिट के अनुसार भाषा के विभिन्न रूपों का सहारा लेकर इतिहासकार अतीत को अपने वर्णन के रूप में अनुवाद करके पेश करता है एंकरस्मिट के अनुसार, इतिहासकार चार प्रकार की आलांकारिक विधियां इस्तेमाल करता है:

(*i*) **रुपक अलंकार** (metaphor)

(*ii*) **लाक्षिणिक प्रयोग** (metonymy)

(*iii*) **उपलक्षक** (synecdoche)

(*iv*) **व्यंग्य या विड़म्बना** (irony)

हेडेन व्हाइट के अनुसार इतिहासकार अतीत को इतिहास के रुप में संगठित करते हुये वास्तविकता से कम और अपने स्वयं की अस्तित्वमूलक धारणाओं से अधिक प्रभावित होता है। व्हाइट ने The Content of Form (1987) में कहा कि इतिहास लेखन, इतिहासकार की अस्तित्व संबंधी समझ, विचारधारा, उसका ज्ञान-शास्त्र, उसके कथा-वस्तु के चुनाव (emplotment) आदि पर ही आधारित होता है। पहले से निर्धारित लक्ष्य के तहत ही इतिहासकार अपने व र्तांत का रूप गढ़ता है और यही रूप उसके इतिहास लेखन और उसमें अंर्तनिहित विषय वस्तु को आकृति देता है। उत्तर आधुनिकतावाद इस प्रकार से उत्तर अनुभववादी (post-empiricist) धारणा है और सामाजिक और भौतिक शक्तियों के स्थान पर सांस्कृतिक और भाषामूलक संरचनाओं को अधिक महता देता है। यह भाषा विषयक घुमाव इतिहासकार के लिए कई पेचीदा सवाल खड़े करता है। इसके तर्कों में मुख्य-मुख्य तर्क इस प्रकार से हैं : (1) अतीत को एक प्रकार की पाठ्य सामग्री मानना जिसका संदर्भ स्वयं यह पाठ्य

सामग्री ही है—वास्तविक जगत की वास्तविक घटनायें नहीं (2) इतिहासकार का आलंकारिक साधन अपना कर वर्णन का निर्माण करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि प्रमाणों या सबूतों के माध्यम से इन व तांतों का निर्माण (3) लेखक के प्रयोजन (intentionality) का ठीक ठीक अनुमान लगा पाना असम्भव सा कार्य है। (4) इतिहास, इतिहासकार की व्याख्या के अलावा कुछ नहीं है।

इस तरह के उत्तर-आधुनिकता के नजरिये से देखने पर इतिहास एक मुख्य पश्चिमी जगत के शानदार और भव्य व तांत (meta narrative) के अलावा और कुछ नहीं हैं। आधुनिकतावाद ने आकस्मिक घटनाओं को एक तरह की अटकलबाजी का इस्तेमाल करके 'इतिहास' का नाम दे दिया और उत्तर आधुनिकतावाद के अनुसार इस आधुनिकतावादी अटकलबाजी में दिशा निर्धारण करने वाले और महत्व दर्शाने वाले ऐतिहासिक विकास और प्रगति के बड़े-बड़े प्रोग्राम है जैसे मार्क्सवाद, उदारवाद, पूंजीवाद और राष्ट्रवाद आदि। इन शानदार प्रगति के व तांतों ने अपने को ऊपर से विश्वसनीय दिखाने के लिए, सत्य का आभास देने के लिए व्यवसायिक इतिहास लेखन के विभिन्न पहलुओं को अपना लिया विशेष कर अनुभववादी प्रत्यक्षवाद को—जो तथ्यों के संकलन, उनकी जाँच-पड़ताल, तर्क, वस्तुनिष्ठता, निष्कर्ष, प्रमाण आदि पर बल देता था। उत्तर आधुनिकतावाद के अनुसार तथाकथित वस्तुनिष्ठ पद्धति द्वारा वास्तविक अतीत और इसके भाषा और प्रवचन (discourse) द्वारा चित्रण में जो स्थायी सम्बंध माना जाता है वैसा स्थायी सम्बन्ध है नहीं क्योंकि अन्य साहित्यिक कृतियों की तरह ही इतिहास-लेखन भी आलंकारिक और भाषामूलक चित्रण से अतीत में अर्थों का निर्माण करता है। कई इतिहासकारों ने यह सवाल खड़ा किया है कि अगर उनकी पद्धति सत्य तक नहीं पहुंच सकती तो उत्तर-आधुनिकतावाद हमें कोई वैकल्पिक पद्धति क्यों नहीं सुझाता। उत्तर आधुनिकवाद का केवल यही कहना है कि हमारी वर्तमान उत्तर-आधुनिक परिस्थितियों में ऐसा कोई सामाजिक व्यवहार या पद्धति या नियमों का समूह है कि नहीं जो अतीत की वास्तविकता की सच्ची तस्वीर पेश कर सके। उत्तर आधुनिकतावाद वैकल्पिक ज्ञान-अर्जन की पद्धति का विकास करने की बजाय सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के प्रबोधन काल की मान्य धारणाओं को चुनौती देता हैं। अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी ज्ञान अर्जन के तरीके ही इतिहास को एक विषय के रूप में स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुये थे। अनुभववाद हमारी विभिन्न इन्द्रियों द्वारा प्रमाणों का पर्यवेक्षण (observation) तथा उससे निष्कर्ष द्वारा अर्थ ढूँढने की पद्धति है। यह प्रत्यक्षवाद का आधार भी है क्योंकि प्रत्यक्षवाद वैज्ञानिक प्रयोगात्मक विधि से बाहरी जगत (प्रकृति और समाज) दोनों के नियमों को ढूँढने का प्रयास करता है। इसी के आधार पर आधुनिकतावादी इतिहास-लेखन हुआ जिसमें ऐतिहासिक पर्यवेक्षक अतीत के सबूतों और प्रमाणों से अर्थ निकाल कर उसे एक आकृति देता है और यह काम वह उदासीनता से, वस्तुनिष्ठता से करने का प्रयास करता है। इतिहासकार का सांस्कृतिक महत्व इसी बात में निहित है कि वह अतीत की वास्तविक तस्वीर पेश करने का दावा करता है। इतिहासकार का मानना है कि अगर हमें अपने अतीत का ज्ञान नहीं होगा तो हम सदैव वर्तमान में ही जीयेंगें और हमारी कोई पहचान भी नहीं होगी। उत्तर आधुनिकतावाद ने इतिहास के सर्वमान्य सिद्धांतों को कड़ी चुनौती दी है जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

आधुनिकतावादी इतिहास-लेखन में अतीत की अंर्तवस्तु या वास्तविकता ही इतिहासकार द्वारा रचित व तांत का रूप निर्धारित करती है। प्रबोधन काल की वैचारिक धाराओं में रूप की बजाय अंर्तवस्तु (content) को प्राथमिकता देना प्रमुख लक्षण था। इतिहास को सामान्यतया एक सही क्रम में रखे तथ्यों का वर्णन तथा उनके कारणों और प्रभावों की व्याख्या के रूप में ही स्थापित किया गया यानि अतीत के ज्ञान को वस्तुनिष्ठ ढंग से सबूतों और प्रमाणों द्वारा चित्रित करके इतिहासकारों ने एक तरह से पालतू बना लिया। लेकिन तथ्यों को कड़ी में पिरोकर एक तस्वीर पेश करने में इतिहासकार धारणाओं का प्रयोग भी करते हैं और सामान्यीकरण (Generalisation) के द्वारा वे स्वयं भी धारणाओं का निर्माण करते हैं। अतीत को इतिहास के रूप में प्रवचन और भाषा के माध्यम से वर्णन करने में एक अंर्तविरोध यह रहता है कि इतिहासकार वस्तुनिष्ठ भी है और अपने व्यवसाय में उलझा हुआ भी।

इतिहास-लेखन इस विरोधाभास से बच नहीं सकता था क्योंकि प्रबोधन काल से प्रेरित आधुनिकतावाद का एक मुख्य लक्षण था—पूंजीवादी उदार मानवतावाद (bourgeois—liberal humanism)। इस मानवतावादी उदारवाद ने मनुष्य की तार्किक, प्रयोजनशील, अविभाजित चेतना को सब जगत के केन्द्र में स्थापित किया था—यानि प्रयोजनशील केन्द्रित कर्त्ता, 'मानव', 'मैं' या 'आत्मन्' को ब्रह्माण्ड के केन्द्र में मान लिया गया था। इस 'मैं' या 'आत्मन' (self) को स्वायत्तता दी गई और यह अनेक दुहरेपनों (dualisms) का आधार बन गया जैसे कर्त्ता का विषय वस्तु से अलग होना, तथ्य का कल्पना से, चेतन का अवचेतन से, शब्द का जगत से, वास्तविक का अवास्तविक से, सत्य का आविष्कार से अलग मानना उस मानवतावाद का ही परिणाम था। इस व्यापारिक और बाजारू औद्योगिक पूँजीवाद की विचारधारा के रूप में उदारमानवतावाद ने जो ज्ञान पैदा किया, जिसमें इतिहास का ज्ञान भी शामिल था, वह यूरोप-केन्द्रित, गोरे लोगों की नस्ल के पुरुषों द्वारा, विशेषकर मध्यमवर्ग द्वारा, स्वचेतन और स्वतंत्रता-प्रेमी 'स्वायत' मानव द्वारा प्रकृति और जगत पर नियंत्रण स्थापित करने का साधन बना। यह इतिहास के माध्यम से अतीत पर, वैज्ञानिक तकनीकी के माध्यम से वर्तमान पर और 'प्रगति' के विचार के माध्यम से भविष्य पर भी नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश थी। यह ज्ञान-अर्जन विशेष सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में हुआ, लेकिन इसे स्वाभाविक, स्थायी और सार्वभौमिक मान लिया गया।

हाँलाकि स्वयं इतिहास के दर्शन में समय समय पर स्वयं इतिहासकारों ने इस बात को मानने से इन्कार किया है कि दस्तावेजों में या स्त्रोतों में कोई पारदर्शिता है और सबूतों और तथ्यों को खोजने के लिये सावधानी से इनके अध्ययन पर जोर दिया। विको, क्रोचे, कालिंगवुड और ई०एच० कार आदि इस तरह के इतिहासकार थे जिन्होंने ज्ञान के साद श्यता सिद्धांत का विरोध किया यानि इनका मानना था कि सबूत या तथ्य स्त्रोतों से एकत्र करके, उन्हें कैंची से काटकर चिपकाकर (scissor and paste history) से सही इतिहास लेखन नहीं हो सकता है। लेकिन उत्तर-आधुनिकता ने इतिहास की आलोचना को एक नया ही रूप दिया है। उत्तर आधुनिकतावादी ने शब्द और जगत के बीच की साद श्यता (correspondence) को नकार दिया है और आधुनिकवाद के द्वारा अंर्तवस्तु को रूप के ऊपर प्राथमिकता देने को भी चुनौती दी है। उत्तर आधुनिकतावाद इतिहास की अंर्तवस्तु की बजाये उसके रुप-भाषा के माध्यम से, अलंकारों के साधनों को अपनाकर सबूतों और प्रमाणों में स्थापित की गई व्यवस्था को ज्यादा प्राथमिकता देते हैं। और इससे इतिहासकार की सत्य की अवधारणा और वस्तुनिष्ठता पर आँच आती है। उत्तर-आधुनिकता ने इतिहास, काल्पनिक साहित्य, विचारधारा और द ष्टिकोण के विभाजनों को खत्म कर दिया है। इसके अनुसार अतीत के वर्णन को इतिहासकार ही रूप देता है, संगठित करता है और अपनी पूर्व-कल्पना के मुताबिक ढालता है। इतिहास को एक ऐसा प्रवचन मान लेने से जिसमें अर्थ इतिहासकार ही रचता है, सबूत और प्रमाणों के द्वारा ये स्वतः पैदा नहीं होते—ज्ञान के उत्पादन और संगठन में काम कर रही सांस्कृतिक प्रक्रियाओं पर उत्तर आधुनिकतावाद ने काफी जोर दिया है। यहाँ एक अहम सवाल यह उठता है कि इतिहासकार जिसे अतीत का इतिहास कहता है उसके निर्धारित करने वाले भाषायी और सांस्कृतिक पहलुओं का स्वरूप और प्रकृति कैसी है ? जाना जा सकने वाले इतिहास के स्थान पर उत्तर-आधुनिकता ने हमें इतिहास के रूप में अतीत, वर्णित अतीत की धारणायें दी हैं। जैक दैरिदा ने महाद्वीपीय दर्शन की आदर्शवादी धारा के एक प्रमुख दार्शनिक नित्शे (1844–1900) से काफी उधार लेकर पश्चिमी जगत की विश्लेषणात्मक दर्शन की धारा की मूल-धारणा ज्ञान हासिल करने में सक्षम कर्त्ता ("The knowing subject") पर सवाल खड़े किये हैं। उन्होंने न केवल ज्ञान के साद श्यता सिद्धांत को ही चुनौती दी है। (जगत की वस्तुओं के अनुरूप (साद श्य) शब्द अर्थ को दर्शाते हैं।) बल्कि इस धारणा को भी नकार दिया है कि जगत के केन्द्र में वस्तुनिष्ठ कर्त्ता जो जानने के प्रयोजन से लैस है—वह ज्ञान (वस्तुनिष्ठ सत्य) तक पहुँच सकता है।

उत्तर आधुनिकता की व्याख्या ने बाहरी जगत में वास्तविकता और कर्त्ता द्वारा इसका ज्ञान हासिल

करने की क्षमता पर इस तरह से मौलिक सवाल खड़े किये हैं। दरअसल देखा जाये तो यह कोई नयी चर्चा नहीं है हेगेल (1770–1831) ने कांट के ज्ञान-शास्त्र या ज्ञान के सिद्धांत की चर्चा करते हुए कहा था कि कर्त्ता का ज्ञान स्वाभाविक या सार्वभौमिक न होकर, उसकी ऐतिहासिक स्थिति ('historical situatedness') पर ही निर्भर करता हैं। इसका अर्थ यह है कि ज्ञान बाहरी जगत की वस्तुओं में अंर्तनिहित नहीं है, यह पहले से ही कर्त्ता के बाहर मौजूद नहीं है बल्कि समय, काल, स्थिति, स्थान, प्रवचन और विचारधारा के अनुसार कर्त्ता इस ज्ञान का निर्माण करता है। अनुभववाद ने यह माना था कि शब्द और जगत के सम्बन्ध के कारण कर्त्ता वस्तुनिष्ठ सत्य को जान सकता है। उत्तर-आधुनिकतावाद का मानना है कि इस तरह एक स्वायत कर्त्ता (subject) की धारणा एक विशिष्ट विचारधारा या एक सांस्कृतिक व्यवहारों के समूह का ही नतीजा था। मानवीय तर्क अनेक कारणों से सापेक्ष ही होता है। इन कारणों में प्रमुख हैं : समय, स्थान, विचारों का समूह, भौतिक परिस्थितियां, लिंग, व्यक्तिगत अपेक्षायें, नस्ल, भाषा का प्रयोग, व्यक्ति की भविष्य की धारणा आदि। इतिहास लेखन के लिये इस तरह की अवधारणा का अर्थ होगा कि हमारा अतीत का ज्ञान भी सापेक्षऽही होगा और यह सापेक्ष केवल सबूत या साक्ष्य के अनुसार ही नहीं होगा बल्कि इस वजह से यह सापेक्ष होगा क्योंकि अतीत को एक व त्तांत के रूप में रचने में सांस्कृतिक व्यवहार और भाषायी अलंकार इसे प्रभावित करते हैं। आधुनिकतावाद ने कर्त्ता को एक ज्ञान को निर्धारण करने वाली शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। उत्तर आधुनिकतावाद ने केवल इस स्थिति को पलटने की कोशिश की है और कहा है कि कर्त्ता निर्धारण करने वाला न होकर स्वयं निर्धारित होता है और ज्ञान-अर्जन की स्व-चेतन प्रक्रिया हमारे अस्तित्व सम्बन्धी समझ को भी प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दैरिदा और फूको जैसे फ्रांसीसी उत्तर-संरचनावादी (post-structuralists) विद्वानों ने सत्तामूलक और ज्ञान-शास्त्र के सम्बन्धों की पुर्नव्याख्या करने की कोशिश की है। इन्होंने ज्ञान-अर्जन की क्षमता रखने वाले कर्त्ता पर संदेह व्यक्त करते हुए बाहरी वास्तविकता को दर्पण जैसे कर्त्ता द्वारा चित्रित करने की सम्भावना को नकार दिया है। इसके साथ इस बात को भी चुनौती दी है कि कर्त्ता वास्तव में अंतिम अर्थ को स्थापित कर सकता है। उनका निष्कर्ष है कि इतिहास, सांस्कृतिक ज्ञान के अन्य रुपों के समान ही, शक्ति और विचारधारा से ही मुख्यतया सम्बंधित है और वास्तविकता का चित्रण करने में असफल भी है। इसका अर्थ है कि इतिहास अतीत की वास्तविकता को सांस्कृतिक उदासीन ढंग से वर्णन करने में असमर्थ है। अति आधुनिकतावाद में सत्य कोई अनुभववादी घटना नहीं है। अति आधुनिकता न तो आधुनिकतावादी इस सत्तामूलक धारणा में विश्वास करती है कि कर्त्ता ज्ञान हासिल करने में समर्थ है ना ही उस ज्ञान-शास्त्र में जो वस्तुओं में अंर्तनिहित विषय-वस्तु को रूप से ज्यादा महत्व देता है। इसके अनुसार तथ्य भी नैतिक और सांस्कृतिक धरातल के अंतरंग भाग ही हैं। इसका मतलब यह हे कि ऐतिहासिक सत्य तथ्य या सबूतों की बजाय नैतिक मापदंडों पर निर्भर करता है, सांस्कृतिक मूल्यों से प्रभावित होता है और अलंकारों द्वारा इसका निर्माण होता है। उत्तर आधुनिकतावाद को उत्तर-संरचनावाद, उत्तर-अनुभववाद आदि नामों से भी जाना जाता है। हेडेन व्हाइट ने यह इंगित किया कि इतिहास अतीत की अंर्तनिहित भावना और प्रकृति को नहीं समझ सकता क्योंकि यह एक ऐसा चित्रित ज्ञान है जो इतिहासवादी पाठ्य सामग्री से स्वयं अपनी वास्तविकता का निर्माण करता है। अतीत इसलिये इतिहास को प्रभावित तो करता है लेकिन इसका निर्धारण नहीं करता।

उत्तर आधुनिकतावाद इस बात पर बल देता है कि भाषा का इस्तेमाल कैसे करते हैं और भाषा हमारा इस्तेमाल कैसे करती है ? विशेषकर यह वास्तविकता को दर्पण की तस्वीर की तरह भाषा दर्शाने में नाकामयाब है। इसलिये अतीत का वर्णन इतिहास के रूप में करने में, उत्तर-संरचनावाद ने यह मुद्दा उठाया है कि कैसे अलंकार और प्रतीकात्मक चित्रण ही प्रत्यक्ष रूप से व त्तांत की वह शक्ति है जिनके माध्यम से अर्थों का निर्माण होता है। भाषा की संस्कृति, विचारधारा या लिंग के अनुसार स्थिति ग्रहण करना ही इन अर्थों का निर्धारण करता है। इसीलिये इतिहास अन्य सभी सांस्कृतिक

प्रवचनों की तरह ही एक सापेक्षवादी प्रक्रिया ही है। उत्तर-आधुनिकतावाद अतीत के तथ्यों को नकारने की कोशिश नहीं है बल्कि केवल इस बात पर जोर देता है कि अतीत को इतिहास का रूप देने की प्रक्रिया सापेक्षवादी है क्योंकि यह एक सांस्कृतिक व्यवहार है, एक ऐसा प्रवचन जो दूसरे अन्य प्रवचनों पर निर्भर करता है। इसका यह मानना है कि भाषा के माध्यम से तथ्यों को संगठित करने की प्रक्रिया ही में अर्थों का गठन होता है और इसलिये सबूत या साक्ष्य (या इतिहास द्वारा छोड़े गये निशान) को हमें प्रतिष्ठित ज्ञान के केन्द्र नहीं मानना चाहिये। अतीत के निशान (traces) हमें स्पष्ट और वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक ज्ञान नहीं देते, बस केवल अतीत की एक छाप (impression) ही हमें देते हैं, ऐसा उत्तर-आधुनिकता का मानना है। उत्तर-अनुभववादी इतिहास, इतिहास को एक साहित्यिक प्रदर्शन या तमाशा (literary performance) ही मानता है। इतिहास इतिहासकार द्वारा दिया गया अतीत के बारे में उसका स्वयं का एक बयान ही है। हर ऐतिहासिक काल ज्ञान-अर्जन और उसके उपयोग के लिये अलग-अलग उद्देश्यों से प्रेरित होकर अलग-अलग मापदंडों का निर्धारण करता है। मिचेल फुको के अनुसार ज्ञान के निर्माण के मापदंड बहुदा सत्ता और शक्ति (Power) के सामाजिक वितरण पर भी निर्भर करते हैं। इन्हीं मापदंडों में भाषायी संरचना तथा उस काल की प्रवचनात्मक संरचना (discursive structure) भी शामिल हैं। स्थान, समय, संस्कृति और भाषा इतिहासकार की अवधारणाओं को प्रभावित करते है और उसकी ऐतिहासिक कल्पना शक्ति को भी। इतिहासकार की ऐतिहासिक कल्पना-शक्ति अतीत के वर्णन को एक उद्देश्यपूर्ण क्रम में रखकर घटना की व्याख्या करती है—इस प्रक्रिया को आधुनिकतावादी इतिहासकार अतीत में एक विशेष आकृति ढूँढने की प्रक्रिया बताता है लेकिन उत्तर-आधुनिकता इसे कथानक गढ़ने की कल्पनाशील प्रक्रिया ही मानता है।

अध्याय - 7

इतिहास के सिद्धान्त
(Major Theories of History)

इतिहास की चक्रवादी (Cyclical) धारणा

यह धारणा कि मानव स्वयं एक अपने सपनों के समाज के निर्माण में भूमिका निभाता है और अपनी इच्छा से समाज को एक निश्चित दिशा में प्रगति के रास्ते पर ले जा सकता है-यह एक प्रबोधन काल की आधुनिकता का ही विचार है। डार्विनवाद या विकासवाद ने इस धारणा को मजबूत किया कि प्रजातियों के विकास के समान ही मानवीय इतिहास भी एक सीधी रेखा में प्रगति और विकास के मार्ग पर चलता है। इसके ठीक विपरीत बहुत सी मानवीय सभ्यताओं और संस्कृतियों में हम इसके ठीक विपरीत विचार को पाते हैं-यानि कि काल एक चक्राकार गति में चलता है और एक निश्चित चक्र से गुजरने के बाद मानव समाज अपने पहले की स्थिति में दुबारा-दुबारा से पहुँचता रहता है इतिहास की इस चक्राकार गति के सिद्धान्त में यह बात निहित है कि मानव इतिहास किसी पूर्वनिर्धारित स्कीम के अनुसार चल रहा है। इसका लक्ष्य पूर्व-निर्धारित है और इसलिये इसके विभिन्न चरण या अवस्थायें भी पहले से ही तय हैं। विभिन्न सभ्यताओं में समय या काल की गति की चक्राकार धारणा काफी प्रभावशील रही है। भारतीय सभ्यता के ब्राह्मणवादी नजरिये में संसार की उत्पत्ति और विनाश को एक चक्राकार रूप में भी प्रस्तुत किया गया था। इसमें मानव-इतिहास को चार युगों में बाँटा गया था-संतयुग (या कृत), त्रेता, द्वापर और कलियुग। भारत के ब्राह्मण साहित्य में ये चारों युग-जुए में फैंके जाने वाले पासे के चार पक्षों को दर्शातें हैं। कृत युग सबसे ज्यादा सुखदायक और उत्तम नैतिकता का समय है और जैसे-जैसे काल की गति आगे बढ़ती है वैसे-वैसे ही पतन की प्रक्रिया की शुरूआत होती जाती है जो कलि के युग में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। यह एक तरह से धार्मिक धारणा भी थी जिसमें प्रत्येक युग का गुणात्मक स्वरूप इसमें निहित धार्मिकता या नैतिकता के स्तर द्वारा निर्धारित होता है। धर्म को एक गाय के रूप में चित्रित किया गया जो सतयुग में अपने चारों पैरों पर खड़ी रहती है और फिर हर युग में एक-एक पैर कम होता जाता है और कलि-युग में यह धर्मरूपी गाय एक ही पैर पर खड़ी रहती है। इसका मतलब है कि कृत-युग (या सतयुग) हर द ष्टि से मानव इतिहास का उत्तमतम युग था जिसमें जीवन सुखद, सम्पन्न, नैतिक और पारस्परिक भाईचारे पर आधारित था, जहाँ छल, द्वेष, अन्याय, अधर्म जैसे नकारात्मक मूल्यों के लिये कोई स्थान नहीं था जबकि कलियुग को अधर्म और क्लेश, द्वेष, अधर्म और अनैतिकता का बोलबाला हो जाता है। यह केवल युग का एक सामूहिक चित्रण ही था और व्यक्ति के प्रत्येक युग में धर्म के मार्ग पर चल कर मोक्ष तक पहुँचने का लक्ष्य उपलब्ध था। हर युग में साधना और मुक्ति के साधन भी अलग-अलग हैं और यह कहा गया है कि सतयुग में लम्बी और कठोर तपस्या से जो फल प्राप्त होता था वहीं कलियुग में केवल ईश्वर के नाम के जाप से भी मुक्ति मिल सकने की

संभावना बताई गयी क्योंकि जब धर्म की अधिक हानि हो रही हो, पाप का चारों तरफ बोलबाला हो उस समय के अनैतिक और निष्कृष्ट काल में विरला ही मनुष्य आस्तिक होगा-ऐसा इस धारणा में कल्पना की गयी थी। इन चार युगों के मिलने से एक महायुग बनता है। यहीं चार युग या एक महायुग मिलकर कल्प बनाते हैं। कल्प स ष्टि की रचना से लेकर प्रलय या स ष्टि के विनाश तक का पूरा समय होता है। भारतीय धार्मिक चिंतन में काल की यह चक्राकार धारणा अवतारवाद के सिद्धान्त (कि जब जब धर्म की हानि होती है तब तब ईश्वर भिन्न-भिन्न रूपों में अवतार लेकर मानवता को अधर्म और पाप के साम्राज्य से मुक्ति दिलाते हैं) से भी काफी घनिष्ट रूप से जुड़ी है।

बुद्ध धर्म में भी चार युगों में विश्वास व्यक्त किया गया है हाँलाकि उसमें ब्राह्मणों के मूल-सिद्धान्त में थोड़ा बदलाव भी किया गया है। चारों युगों को एक महायुग में रखने की बजाये बौद्ध आठ युगों को एक काल की ईकाई के रूप में देखते हैं इसे उन्होंने 'अन्तर कप्प' का नाम दिया दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि बौद्धों के युग कलियुग से शुरू होकर कृत युग तक जाते हैं और फिर उल्टे क्रम में चलते हुये दुबारा कलियुग तक आते हैं। बीस 'अन्तकप्प' मिलकर एक 'असंखेयकप्प' का निर्माण करते हैं और चार असंखेयकप्प मिलकर एक कल्प बनाते हैं।

यूनानी-रोमन-चिन्तन धातु युगों की कल्पना

यूनानियों तथा रोमनवासियों दोनों ने इस समस्या में विशेष अभिरूचि दिखाई है तथा उनमें इस विषय पर एक दीर्घकालिक परिसंवाद की परम्परा मिलती है जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर विविध सिद्धान्तों का उद्‌भव हुआ। प्रत्येक सिद्धान्त इन दो में से किसी एक कोटि के अन्तर्गत आता है: (क) मनुष्य ने अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से ऊपर उठ कर विकास किया है, (ख) उसका पतन हुआ है। यद्यपि इन दोनों सिद्धान्तों का ही महत्व रहा है, तथापि दूसर सिद्धान्त सभी समयों में प्रमुख विचार के रूप में मान्य रहा है।

यूनानी-रोमन चिन्तना के अन्तर्गत युग-सिद्धान्त के प्रसंग में हेसियोड का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है तथा इस समस्या पर विचार करने वाले सभी परिवर्ती लेखक उससे प्रभावित रहे हैं। उसने चार युगों की कल्पना की है तथा इन युगों के नाम चार धातुओं के ऊपर दिये गए हैं : पहला युग स्वर्ण युग हैं; इस युग के मनुष्य उस समय रह रहे थे जिस समय स्वर्ग में क्रोनोस का शासन चल रहा था। स्वयं मनुष्य देवताओं के समान कर्म करते थे, प थ्वी स्वयंमेव उन्हें सभी श्रेयस्कर वस्तुएँ प्रदान करती थी। मनुष्य की इस नस्ल की समाप्ति के पश्चात् रजत युग के मनुष्य आए। पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा ये कई द ष्टियों से हीनतर स्थिति में थे और अन्ततः अपनी मूर्खता के कारण वे विनाश को प्राप्त हुए; ये परस्पर मार-काट में लगे रहते थे तथा देवताओं की पूजा भी नहीं करते थे जोकि मनुष्यों का कर्त्तव्य है। इसके पश्चात् कांस्य-युग आया; इस युग के मनुष्य शक्तिशाली किन्तु दयावान से सर्वथा शून्य थे; उनके घर तथा शस्त्र कांस्य निर्मित होते थे क्योंकि उन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था। ये भी पारस्परिक कलह एवं मारकाट से विनष्ट हुए। इसके पश्चात लौह-युग आता है। प्रारम्भ में वीरपुरूष हुए भी जो पूर्ववर्ती युग के मनुष्यों की तुलना में अधिक अच्छे तथा न्यायपूर्ण थे; ट्राय तथा थेबीज के युद्धों में भाग लेने वाले पूर्वकालीन महत्वपूर्ण व्यक्ति इसी प्रकार के वीरपुरूष थे। वर्तमानकालिक लौहयुग में श्रम तथा दुःख से विमुक्ति नहीं है तथा देवता हमारे ऊपर और भार डालेंगे।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हैसियोड द्वारा प्रस्तुत युगों के विवरण के बीच में वीरपुरूषों से संबद्ध काल के अस्तित्व के कारण मानव इतिहास के निरन्तर पतन की परिकल्पना में अवरोध आता है, साथ ही इसमें उस मान्यता का भी विरोध दिखाई पड़ता है कि इनमें से प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व एक विशिष्ट प्रकार की मनुष्य-जाति द्वारा होता है। कालान्तर में युगों का यह सिद्धान्त समय के चक्रात्मक विकास के सिद्धान्त के साथ जुट गया। युगों के चक्रात्मक विकास का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि जैसे रात और दिन का, चन्द्रमा के व द्धिमान तथा क्षीयमान पक्ष को, अथवा ऋतुओं में एक

के पश्चात् दूसरे का अनुमान होता है, उसी प्रकार संपूर्ण ब्रह्मांड में भी परिवर्तन की इसी प्रकार की चक्रात्मक प्रक्रिया चलती रहती है। बेबीलोनिया की सभ्यता में विश्व-वर्ष (जिसे रोमवासी-मैग्नस एन्नस' नाम से पुकारते थे) का यह सिद्धान्त पहले से ही ज्ञात था जो यूनानी सभ्यता में सर्वप्रथम हेरैक्लिटस के चिन्तन में प्रकट होता है; बाद के दर्शनिकों ने इस पर विस्तारपूर्ण विवेचन किया। इस विचारधारा का पूर्वकाल से जनमानस में प्रचलित युग-सिद्धान्त के साथ संलग्न होना स्वाभाविक था। यूनानी चिन्तन में इस समस्या पर वाद-विवाद अत्यन्त प्राचीन काल से दिखाई पड़ता है; इस पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण चर्चा प्लेटो के विभिन्न परिसंवादों में प्राप्त होती है (उदाहरणार्थ, टिमेइयस रिपब्लिक)। इस सिद्धान्त के अनुसार संपूर्ण मानव-अनुभव का मापन दो विश्व-वर्षों द्वारा होता है; प्रथम में विश्व आगे की ओर बढ़ता है, दूसरे में यह पीछे की ओर चलते हुए पुनः अपने प्रारम्भ-बिन्दु पर पहुँचता है। प्रत्येक विश्व-वर्ष, इस प्रकार, उन दो पक्षों में से एक होता है जिनमें कि मानव जाति का इतिहास विभक्त है तथा युगों का एक के पश्चात् दूसरे के आने का यह क्रम ब्रह्माण्ड की स्थिति तक चलता रहेगा। जो सिद्धान्त संपूर्ण पर लागू होता है, वही इसके प्रत्येक तथा सभी खण्डों पर भी लागू होगा। मनुष्य के युग ब्रह्माण्ड की कल्पना इस चक्रीय विकास-प्रक्रिया से घनिष्ठरूपेण संबद्ध है। सुदूर अतीत का स्वर्णिम युग एक समय पुनः लौटेगा। इस प्रकार, भविष्य की आशामय परिकल्पना सुखद अतीत के विगत हो चुकने के शोक को सन्तुलित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही यह विश्वास भी प्रचलित था कि हममें से प्रत्येक उस आगामी स्वर्ण-युग में एक बार पुनः जीवन धारण करेगा।

द्वितीय शताब्दी ई॰ पूर्व में रहस्यवादिता के पुनरूज्जीवन ने यूनानी-रोमी युगचक्रवादी विचारधारा में एक नया आयाम जोड़ा। इस विचारधारा के अन्तर्गत विविध ऐसी पुस्तकों का प्रणयन होता दिखाई पड़ता है जिनमें आगामी समय के सम्बन्ध में भविष्योक्तियाँ की गई हैं; इन परिकल्पनाओं तथा भविष्योक्तियों में तर्क बुद्धि के स्थान पर भावना तथा श्रद्धा की अधिक अभ्यर्थना है। लेखक का अपने पाठकों से यह आग्रह मिलता है कि वर्तमान युग प्रायः अपनी समाप्ति पर है तथा अनतिदर भविष्य में एक महान् परिवर्तन घटित होने वाला है। वह इस बात को एक मत अथवा सिद्धान्त के रूप में नहीं कहता जिस पर कोई आलोचनापूर्ण चर्चा की जा सकती है; वह इसे एक देव-प्रेरित भविष्य कथन के रूप में प्रस्तुत करता है जिसकी सत्यता वर्तमानकालिक घटनाओं में पहले से ही देखी जा सकती है और जिसके विषय में किसी प्रकार की शंका का कोई स्थान नहीं है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह सिद्धान्त ईसाई धर्म की प्रमुख मान्यता के रूप में प्रतिष्ठित होता है। यूनानी-रोमी युगचक्रवाद का सिद्धान्त समय-समय पर कुछ संशोधन के साथ अपनी निरन्तरता को बनाए रखते हुए दिखाई पड़ता है।

यूरोप में समय की चक्रवादी व्याख्या :

ईसाई धर्म को यह परम्परा उत्तराधिकारी रूप में प्राप्त हुई, किन्तु ईसाई चिन्तन में युग-सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न रूप में हुआ। इससे पूर्व की कृतियों में स्वर्णिम युग को सुदूर अतीत में रखा गया था तथा मानव इतिहास के परवर्ती युगों को पतन के तथा विनाशोन्मुख इतिहास के रूप में उपकल्पित किया गया था, किन्तु ईसाई धर्म में जीजस के आगमन को नीवन आशा तथा सुखद भविष्य के सूचक के रूप में समझा गया। इसके पहले ही इजरायल के पैगम्बरों ने निकट भविष्य में मसीहा के जन्म की भविष्योक्ति द्वारा इस प्रकार के आशाजनक विचार को प्रचलित रखा था, जोकि प थ्वी पर विशुद्ध धर्म, शान्ति तथा सुख की संस्थापना करने वाला होगा। ईसाई धर्म ने इस सूख को पकड़ा और विश्व के इतिहास को विकास के इतिहास-जो यदि निरन्तर विकास नहीं तो कम से कम समय-समय पर होने वाले विकास का नैरन्तर्य प्रदर्शित करेगा-के रूप में उपकल्पित किया। सेन्ट आगस्टिन पहला व्यक्ति था जिसने मनुष्य के इतिहास में सात अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। उसके बाद अपने

वाले सभी धर्मशास्त्री किसी न किसी रूप में आगस्टिन की युग-व्यवस्था से प्रभावित रहे हैं। स्पेनवासी पादरी पालस आरोसियन (418 ईसवी) सेन्ट आगस्टिन का बहुत बड़ा प्रशंसक था तथा अपनी पुस्तक **हिस्तोरिया** को उसने सेन्ट आगस्टिन के प्रति समर्पित किया है; उसने अपनी पुस्तक को सात खण्डों में विभक्त किया है, जो मानव-इतिहास के सात युगों के परिचायक हैं। रोम के इतिहास का उसके ऊपर गंभीर प्रभाव पड़ा था। रोम की स्थापना, गाल जाति द्वारा रोम की विजय, अलेक्जेंण्डर की म त्यु, काथेज का पराभव, दासयुद्ध, सीजर आगस्टन का शासनकाल-जिसके साथ वह जीसस के जन्म को भी सम्बद्ध करता है-वे स्मरणीय तथा महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं जो उसके युगों की सीमा-रचना करती हैं। मध्ययुगीन ईसाई लेखकों ने युग-सिद्धान्त पर पर्याप्त चर्चा की। इसके पहले ही इतिहास की विकास-प्रक्रिया को एक पूर्वस्थित दैवी परियोजना के अनुसार अग्रसर होती हुई उपकल्पित किया गया था। ईश्वर की इच्छा के रूप में इतिहास स्वयं की अपने को व्यवस्थित करता है एवं अपने लक्ष्य की ओर प्रवर्तमान रहता है, जिसमें मनुष्य द्वारा किसी प्रकार के परिवर्तन का अनुप्रवेश संभव नहीं है; यहाँ तक कि वे व्यक्ति भी, जो यह सोचते हैं कि वे इस दैवी परियोजना के विरूद्ध कार्य कर रहे हैं, वस्तुतः अनजाने में इसमें सहायक भूमिका ही निभाते हैं। अतः मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस परियोजना को आगे बढ़ाने में सहायता पहुँचावे; यदि वह इसके विरूद्ध कार्य करता है तो भी वह इसमें किसी प्रकार परिवर्तन नहीं ला सकता, केवल अपने जीवन को निरर्थक बनाता है तथा निराशा एवं संताप को पहुँचता है। इस कारण मध्ययुगीन इतिहास-लेखन का मुख्य कार्य इस दैवी परियोजना को खोजना तथा इसके प्रयोजन को ठीक-ठीक समझना था। इस परियोजना का विकास समय के अन्तर्गत ही हुआ था और इस कारण इस विकास में कुछ विशिष्ट अवस्थाओं का होना स्वाभाविक था। इस तथ्यविशेष पर चिन्तन ने किसी महत्वपूर्ण घटना से प्रारम्भ होने वाले ऐतिहासिक युगों में विश्वास को उभारा और तत्परिणामस्वरूप विभिन्न ऐतिहासिक युगों की परिकल्पना प्रस्तुत की गई। मध्ययुगीन युग-विभाजन के एक प्रतिनिधि सिद्धान्त के रूप में फ्लोरिस के जोएकिम (12वीं शताब्दी) के सिद्धान्त को लिय जा सकता है। उसने इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया : पिता अथवा ईश्वर (Father) का शासनकाल अर्थात् पूर्व-ईसाई युग; पुत्र (Son) का शासनकाल अर्थात् ईसाई युग, तथा पवित्र आत्मा (Holy Ghost) का शासन काल अर्थात् वह युग जो भविष्य में आने वाला है। किसी भावी युग के प्रति उद्धरण मध्ययुगीन इतिहास-लेखन की एक प्रमुख विशिष्टता है। इस दैवी परियोजना की सत्यता का प्रमाण क्या है? यह पूछे जाने पर इन लेखकों का उत्तर यह है कि इसके विषय में उन्हें श्रुतिप्रकाश (revelation) से ज्ञात हुआ है, और इस श्रुतिप्रकाश से जहाँ एक ओर यह ज्ञात होता है कि ईश्वर ने अतीत में क्या किया है, वहीं दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि वह भविष्य में क्या करने वाला है। इतिहास का लक्ष्य, इस प्रकार, ईश्वर द्वारा पूर्व नियोजित तथा श्रुतिप्रकाश के माध्यम से, मनुष्य को पूर्वज्ञात है।

युगसिद्धान्त आधुनिक विश्लेषण : विको एवं हर्डर के विचार

17 वीं शताब्दी से युग-सिद्धान्त पर उत्साह के साथ विचार प्रारम्भ हुआ और उस समय में हुए बोसुए से लेकर आधुनिक युग में स्पेंग्लर तथा टॉयनबी तक इसकी एक अविच्छिन्न परम्परा दिखाई पड़ती है। अपनी पुस्तक **दिस्कूर्स सूर लिस्त्वार यूनिवर्सेल** (1681) में बोसुए सेन्ट आगस्टिन द्वारा प्रतिपादित सात युगों को स्वीकार करता है। उसके अनुसार, प्रथम युग का समय-विस्तार आदम से नोआ तक है तथा यह स ष्टि के उद्भव तथा प्रारम्भिक काल का विशेषक है, दूसरे युग-जो नोआ से लेकर अब्राहम के काल को सन्निविष्ट करता है-में जलप्लावन की घटना घटी तथा मनुष्य प्रथम बार दण्डित हुआ एवं इसी समय से रक्तरंजित विजयों के युग का प्रारम्भ हुआ; अब्राहम से लेकर मोजेज तक के काल को सन्निविष्ट करने वाले तीसरे युग में 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' का प्रारम्भ हुआ, मोजेज से लेकर जेरूसलम में सोलोमन द्वारा 'मंदिर' के निर्माण की घटना तक का काल चौथे युग को उपलक्षित करता

है, पाँचवाँ युग बेबीलोन की दासता तक चलता है, छठा साइरस से जीसस तक चलता है और सांतवाँ जीसस के जन्म से लेकर हमारे अपने समय तक आता है। बोसुए के इस काल-विभाजन से स्पष्ट है कि उसकी द ष्टि अतीत की ओर उन्मुख थी और उसने भविष्य में स्थित उस युगविशेष की परिकल्पना नहीं प्रस्तुत की जिसमें सभी लोग सुख एवं शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे, जबकि क्राइस्ट द्वारा सभी शत्रु पराभूत हो जाऐंगे और जब लोग ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर सकेंगे।

विको अठारहवीं शताब्दी में हुआ। वह स्वयं एक कुशल तथा प्रशिक्षित इतिहासकार था तथा उसने ऐतिहासिक विधि के सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयास किया। विकों के अनुसार ऐतिहासिक प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें रहते हुए मनुष्य अपनी भाषा, प्रथाओं, विधि तथा प्रशासन इत्यादि से संबद्ध संस्थाओं की रचना करता है; इस प्रकार, उसके अनुसार इतिहास मानव समाजों तथा इनकी संस्थाओं के उद्‌भव तथा विकास की कथा है। यहाँ हम पहली बार इतिहास की वस्तु सामग्री के विषय में एक संपूर्णतः आधुनिक विचार का दर्शन करते हैं। मनुष्य के एकान्तिक कार्य-व्यापारों तथा उनको परस्पर सुग्रथित करनी वाली दैवी परियोजना में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसाकि मध्य युग में समझा जाता था; इतिहास की योजना सर्वथा मानवीय योजना है, किन्तु वह किसी अपूर्ण इच्छा के रूप में पूर्वस्थित नहीं है जोकि अपने क्रमिक पूर्णत्व की ओर प्रवर्तित हो रही हो। मानव समाज की संपूर्ण संरचना स्वयं मनुष्य द्वारा रची गई है तथा यह मानव मस्तिष्क द्वारा पूर्णतः परिज्ञेय है। विको ने विधि तथा भाषा इत्यादि विषयों के इतिहास का स्वयं गंभीर शोधपूर्ण अध्ययन किया था और उसके विचार इस अध्ययन पर आधारित थे। उसने इन शोधों को उसी प्रकार का निश्चित ज्ञान प्रदान करने में सक्षम पाया जिस प्रकार के निश्चित ज्ञान को देकार्त ने भौतिकशास्त्रीय तथा गणितीय शोधकार्यों से संबद्ध किया था। इस तरह का ज्ञान किस प्रकार उद्‌भूत हुआ है इसकी चर्चा करते हुए उसने कहा है कि इतिहासकार अपने मस्तिष्क में उस प्रक्रिया की पुनर्रचना कर सकता है जिसमें अतीतकालिक मनुष्यों ने इसके विभिन्न तत्वों का निर्माण किया था। इतिहासकार के मस्तिष्क तथा इसके द्वारा अध्येय विषयवस्तु के बीच एक प्रकार का पूर्वस्थित सामरस्य होता है। सुदूर के कालों के इतिहास में विको की विशेष रूचि थी और इस प्रसंग में उसने कुछ नियमों को बनाने का प्रयास किया।

उसने यह प्रतिपादित किया कि इतिहास के कुछ कालों का एक सामान्य स्वभाव था जिनका अन्य कालों में पुनर्प्रकाशन हुआ और इस प्रकार दो भिन्न युगों का समान स्वभाव संभव है। उदाहरण के लिए उसने कहा कि यूनानी इतिहास के होमन-काल तथा योरोपीय मध्य युग में सामान्य साद श दिखाई पड़ता है तो इन दोनों युगों को ही उसने 'हिरोइक युग' की सामान्य संज्ञा प्रदान की; इन दोनों युगों में कुछ सामान्य तत्व देखे जा सकते हैं : योद्धा-कुलीन तन्त्र के हाथ में प्रशासन का होना, कृषि पर आधारित अर्थ-व्यवस्था, वैयक्तिक शक्ति तथा स्वामिभक्ति के विचार पर आधारित नैतिकता, गाथा-काव्य इत्यादि। आगे उसने यह कहा कि ये समान युग उसी क्रम में इतिहास में घटित हुए हैं। प्रत्येक 'हीरोइक युग' के पश्चात् 'क्लासिक-युग' आता है जिसमें कल्पना के स्थान पर विवेक की, गाथा-काव्य के ऊपर गद्य-साहित्य की, कृषि के ऊपर उद्योग की प्रभुता होती है तथा नैतिकता का आधार युद्ध न हो कर शान्ति होता है। इस युग के पश्चात एक नए प्रकार की बर्बरता में पतन का युग आता है; यह नए प्रकार की बर्बरता होती है जिसमें विचार अथवा विवेक तो होता है, किन्तु इसकी सर्जनात्मक शक्ति क्षीण हो चुकी होती है। विको इस चक्रीय विकास को सुनिश्चित कालों के चक्र में इतिहास का पुनरावर्तन मात्र नहीं मानता। यह एक व त्त न होकर सर्पिल आकार का है क्योंकि इतिहास कभी भी अपने को दोहराता नहीं अपितु प्रत्येक नए युग में वह अतीतकालिक घटनाओं द्वारा विशिष्टीकृत रूप में पदार्पण करता है। चूँकि इतिहास सदैव ही सर्जनात्मक नवीनताओं को अन्तर्विष्ट करता है। अतः चक्रीय विषय हमें भविष्योक्ति की अनुमति नहीं प्रदान करता। यहाँ विको के विचार का प्राचीनकालीन यूनानी-रोमन चिन्तन में युगचक्रवाद संबंधी विचार से विभेद स्पष्ट है। उसके विचार में हमें वह सिद्धान्त-विशेष प्राप्त होता है जिसके अनुसार इतिहास भविष्यवाणी नहीं कर सकता।

जर्मन विचारक हर्डर की मानव जाति के दार्शनिक इतिहास के संबंध में विचार शीर्षक पुस्तक 1784 तथा 1791 के बीच में चार जिल्दों में प्रकाशित हुई। हर्डर ने युगचक्रवाद पर मनुष्य के जीवन से संबंधित अवस्थाओं की समव त्तिता के आधार पर विचार किया है। उसके अनुसार, मानव-जीवन भौतिक विश्व में अपने परिवेश के साथ घनिष्ठरूपेण संबद्ध है। इस भौतिक ब्राह्माण्ड का सामान्य स्वरूप एक जीवी का है जो इस प्रकार नियोजित है कि यह अपने अन्दर उच्च स्तर के जीवी को विकसित करता रहता है। भौतिक ब्राह्माण्ड एक योनि के समान है जिसमें किसी क्षेत्र विशेष में सौर मण्डल का जन्म होता है, पुनः सौर मण्डल वह योनि है जिसमें प थ्वी का जन्म होता है जोकि सभी ग्रहों की अपेक्षा मनुष्य का उपयुक्त कार्य-क्षेत्र बनती है; प थ्वी की इस भौतिक संरचना के अन्तर्गत विशिष्ट खनिजीय निर्मितियों, विशिष्ट भौगोलिक जीवी (प्रायद्वीप) इत्यादि का जन्म होता है। प थ्वी पर फिर जीवन का प्रारम्भ होता है जिसमें सबसे पहले वनस्पति जीवन का आविर्भाव होता है; पशु-जीवन वनस्पति जीवन का ही और विकसित रूप है और फिर इसका और अधिक विकसित रूप मानव जीवन के आविर्भाव में देखा जा सकता है। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मनुष्य वस्तुतः पशु का परिष्कृत रूप है जैसे पशु वनस्पति का परिष्कृत रूप; इस प्रकार, मानव स्वभाव केवल दो चरण आगे बढ़कर वनस्पतिक स्वभाव का परिष्कार मात्र है।

हर्डर प्रकृति की विकास-प्रक्रिया को किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख मानता है जिसमें विकास की प्रत्येक अवस्था प्रकृति द्वारा इस प्रकार नियोजित है ताकि वह आगामी अवस्था का मार्ग प्रशस्त कर सके। कोई भी अवस्था स्वयं में लक्ष्य नहीं है, किन्तु मनुष्य के आविर्भाव में यह प्रक्रिया अपनी परिणति को पहुँचती है। मनुष्य को उत्पन्न करने में प्रकृति का प्रयोजन एक तर्कबुद्धिप्रधान प्राणी को उत्पन्न करना है और इसी कारण मानव स्वभाव अपना विकास आध्यात्मिक शक्तियों की एक अवस्था के रूप में करता है जिसका पूर्ण विकास भविष्य में स्थित होता है। इस प्रकार, मनुष्य दो विश्वों के बीच कड़ी के रूप होता है : भौतिक जगत जिसमें से वह स्वयं निकला है, तथा आध्यात्मिक जगत जो उसके द्वारा वस्तुतः अस्तित्व में नहीं आता (क्योंकि आध्यात्मिक सिद्धान्तों के रूप में वह शाश्वतरूपेण विद्यमान होता है) किन्तु प थ्वी पर आत्म-सिद्धि करता है।

एक प्राकृतिक प्राणी के रूप में मानव जाति कई नस्लों में विभाजित है। प्रत्येक नस्ल अपने भौगोलिक परिवेश के साथ घनिष्ठरूपेण संबद्ध होता है और इस भौगोलिक परिवेश से प्रभावित उसकी अपनी विशिष्ट मौलिक शारीरिक तथा मानसिक विशिष्टताएँ होती हैं, किन्तु प्रत्येक नस्ल मानव जाति के एक विशिष्ट प्रकार का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अपने विशिष्ट चिरस्थायी लक्षण होते हैं। प्रत्येक नस्ल सुख तथा जीवन के आदर्श के विषय में अपने विचार रखता है। विभिन्न नस्लों में विभक्त मानव जाति भी एक योनि के समान है जिसमें ऐतिहासिक जीवी का जन्म होता है जोकि मानवीय जीवी का एक उच्चतर प्रकार है। हर्डर के मतानुसार, योरोप प्रकृति का वह प्रिय केन्द्र है जिसमें, इसकी विशिष्ट भौगोलिक तथा जलवायु संबंधी विशिष्टताओं के कारण, ऐतिहासिक जीवन का उद्‌भव होता है, और इस कारण केवल योरोप में ही मानव जीवन को विशुद्ध अर्थों में ऐतिहासिक कहा जा सकता है। चीन, अमेरिका तथा भारत में कोई वास्तविक ऐतिहासिक प्रगति नहीं हुई है, अपितु, इसके विपरीत, यहाँ एक अपरिवर्तनशील सभ्यता रही है। इस प्रकार, योरोप मानव जाति का एक विशेषधिकार प्राप्त क्षेत्र है, ठीक उसी प्रकार जैसे मनुष्य पशुओं में विशेष स्थान रखता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कई महत्वपूर्ण विचारों से युक्त होने पर भी हर्डर के चिन्तन में कई त्रुटियाँ हैं। वह केवल समव त्तिताओं के आधार पर बिना उनकी परीक्षा किए विविध निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। उसने अपने विचारों का समीक्षात्मक परीक्षण नहीं किया। यह भी सत्य नहीं है कि केवल योरोप ही ऐसा प्रदेश है जिसका अपना इतिहास था, यद्यपि यह सत्य है कि उसके अपने समय में योरोपियों को केवल इसी प्रदेश का विस्त त ऐतिहासिक ज्ञान व्याप्त था। इसी प्रकार, नस्लों के संबंध में भी उसके

विचार को बिना परीक्षा के स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्पेंग्लर एवं टॉयनबी की युगचक्रवादी परिकल्पना

औसवाल्ड स्पेंग्लर तथा आरनोल्ट टॉयनबी दो अन्य आधुनिक विचारक हैं जिन्होंने इतिहास की युगचक्रवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। स्पेंग्लर (1880-1936) की प्रसिद्ध कृति पश्चिम का पतन है जो एक तकनीकी शैली में लिखी होने तथा कठिनाई से बुद्धिग्राह्य होने पर भी प्रारम्भ से ही अत्यन्त लोकप्रिय रही है। सपेंग्लर के चिन्तन पर प्रथम विश्वयुद्ध का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसकी पुस्तक की प्रथम जिल्द 1918 में प्रकाशित हुई और लगभग चार साल बाद इसकी दूसरी जिल्द पर्याप्त बड़े आकार में प्रकाशित हुई। उसने स्पष्ट रूप से इस तथ्यविशेष का दर्शन किया कि सभ्यता के आश्वासन पूर्ण नहीं हुए थे तथा उसका अपना युग प्रगति तथा विकास का युग न होकर बहुमुखी अवनति तथा पतन का युग था। उसने अपने ऊपर नीत्शे के विचारों का प्रभाव स्वीकार किया है।

स्पेंग्लर के अनुसार, इतिहास उन विविध प थक्-प थक् इकाइयों का अनुक्रम है जिन्हें कि हम संस्कृति कहते हैं। प्रत्येक संस्कृति का अपना विशिष्ट स्वभाव होता है, जिसकी अभिव्यक्ति उसके विकास-क्रम के विभिन्न पक्षों में विस्तार से होती है। साथ ही प्रत्येक संस्कृति की एक निश्चित आयु होती है। व्यक्ति के समान संस्कृति भी विकास तथा परिपक्वता का भोग करने के पश्चात् म त्यु को प्राप्त होती है। स्पेंग्लर ने इस बात पर बल दिया कि हमें सत्य का सामना करने से कतराना नहीं चाहिए। कई रूपों में वह एक प्रकार की निराशावादिता में आनन्द प्राप्त करते हुए दिखाई पड़ता है। जबकि कुछ अन्य लोग नवस्थापित राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) की सफलता में विश्वास प्रकट कर रहे थे और यह सोच रहे थे कि अब युद्ध नहीं होंगे, उसने इन सभी प्रयासों की विफलता की पूर्वघोषणा की।

उसके अनुसार, प्रत्येक संस्कृति एक जैसे इकाई के समान है और उसमें भी तद्रूप जीवन-चक्र देखे जा सकते हैं। प्रत्येक संस्कृति का प्रारम्भ प्रांरम्भिक समाजों की बर्बरता से होता है, कालान्तर में इसके अन्तर्गत विविध राजनीतिक संस्थाओं, कला तथा विज्ञान इत्यादि का विकास होता है, जो प्रारम्भ में सामान्य होता है, किन्तु अनुवर्ती युग में विविध क्षेत्रों में उत्कृष्टता दिखाई पड़ती है, पुनः संस्कृति का पतनशील युग आता है जिसमें सर्वत्र विकृति दिखाई पड़ने लगती है, संस्कृति की स जनशीलता समाप्त हो चुकी होती है और अन्ततोगत्वा यह संस्कृति विनष्ट हो जाती है। न केवल इन युगों के चक्र निश्चित हैं, अपितु प्रत्येक युग-चक्र द्वारा लिया जाने वाला समय भी निश्चित है; इस प्रकार, यदि हम यह जान सकें कि हम अपनी संस्कृति के चक्र में किस बिन्दु-विशेष पर खड़े हैं तो भावी युगों के विषय में भी एकदम ठीक-ठीक बता सकते हैं।

टॉयनबी की दस जिल्दों में लिखी प्रसिद्ध पुस्तक **स्टडी ऑफ हिस्ट्री** का प्रकाशन 1934 में प्रारम्भ हुआ एवं बीस वर्षों में समाप्त हुआ। टॉयनबी का मुख्य प्रयोजन सार्वभौमिक इतिहास का लेखन है और इस द ष्टिकोण से उनका लक्ष्य स्पेंगलर के लक्ष्य से साद श्य रखता दिखाई पड़ता है। किन्तु टॉयनबी ने अपने इतिहास-विषयक निष्कर्षों को समीक्षापूर्ण तथा वस्तुनिष्ठात्मक पर्यवेक्षण पर आधारित होने का दावा किया है। स्टडी ऑफ हिस्टरी का पाठक टॉयनबी के इतिहास-विषयक अध्ययन की व्यापकता तथा ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में उसके विशद ज्ञान से हतप्रभ सा हो जाता है और आद्यन्त उनमें अपने सिद्धान्तों के समर्थन में ऐतिहासिक तथ्यों की सक्षिता प्रदान करने की प्रव त्ति दिखाई पड़ती है। किन्तु टॉयनबी के आलोचकों का यह कहना है कि उनमें इतिहासकार की निवैयक्तिकता का अभाव है एवं वे अपने सिद्धान्तों के मोह में इस प्रकार बंधे दिखाई पड़ते हैं कि प्रायः ऐतिहासिक तथ्यों की सम्यक् व्याख्या उनसे नहीं हो पाती। पीटर गेल-जो टॉयनबी का प्रमुख आलोचक है तथा उनकी कठोर आलोचना के कारण जिसे 'टॉयनबी-विरोधी ('anti-Toynbee') की उपाधि मिल चुकी है-का कहना है कि टॉयनबी के इतिहास-ज्ञान में किसी को कोई संदेह नहीं हो

सकता; किन्तु वे एक धर्मदूत हैं, इतिहासकार नहीं। इसी प्रकार, विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों की उनकी विस्तारपूर्ण व्याख्याएँ भी प्रायः उस क्षेत्र के विशेषज्ञों द्वारा अनुमोदित नहीं होतीं और उनका कहना है कि अपने सिद्धान्तों से संगत बनाने के लिए टॉयनबी ने ऐतिहासिक तथ्यों को मनमानें ढंग से विकृत करके प्रस्तुत किया है।

टॉयनबी की पुस्तक बीस वर्षों से ऊपर के दीर्घकाल में सम्पन्न हुई और इतने लम्बे समय को अंतर्भूत करने वाले टॉयनबी के चिन्तन की प्रारम्भिक तथा परवर्ती अवस्थाओं में पूर्ण समंजसता तथा विचार-समानता नहीं दिखाई पड़ती। जहाँ प्रारम्भ में वे मुख्यतः एक समाज वैज्ञानिक के रूप में दिखाई पड़ते हैं, पुस्तक की अन्तिम जिल्दों में उन्होंने अपने विषय के विस्तार क्षेत्र को बहुत अधिक बढ़ा लिया है। इस परवर्ती अवस्था में वे समाजवैज्ञानिक की अपेक्षा आध्यात्मशास्त्री अधिक दिखाई पड़ते हैं और उनकी मुख्य अभिरूचि ऐसे प्रश्नों के उत्तर ढूँढने में दिखाई पड़ती है जैसे इतिहास में कोई अन्तर्निहित अर्थ है या नहीं ? अथवा क्या यह किसी लक्ष्य विशेष की ओर बढ़ा रहा है ? इत्यादि तथा उनका यह भी विश्वास है कि वे इन प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हैं क्योंकि उनका विचार है कि उन्होंने अतीतकाल में विभिन्न समाजों के पतन के मूलभूत कारण को समझ लिया है। अतएव पुस्तक की प्रारम्भिक जिल्दों से ही टॉयनबी के लेखन का मुख्य का प्रयोजन तथा उनके द्वारा प्रयुक्त कार्यविधि को समझना अधिक उपयुक्त होगा।

टॉयनबी के इतिहास-विषयक चिन्तन का प्रमुख सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि इतिहास की विषय-वस्तु मानवजाति की कुछ विशिष्ट इकाईयाँ हैं जिन्हें टॉयनबी ने समाज की संज्ञा प्रदान की है। इन विभिन्न समाजों को सभ्यताएँ भी कह सकते हैं जो मानव-जाति के इतिहास में समय-समय पर उद्भूत विकसित और विनष्ट हुई हैं। सभ्यता ही, उनके अनुसार, इतिहास अध्ययन की एकमात्र इकाई है और उन्होंने अतीत काल तथा वर्तमान युग की इस प्रकार की इक्कीस सभ्यताओं को छाँट निकाला है। विभिन्न सभ्यताओं के उद्भव, विकास तथा पतन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना उनका प्रमुख प्रयोजन है। प्रत्येक समाज या तो आदिम होता है या सभ्य। अधिकांश समाज प्रथम कोटि के अन्तर्गत आते हैं और दूसरी कोटि के समाजों की संख्या न्यून होती है। प्रथम कोटि के समाजों की जीवन-अवधि प्रायः कम होती है और या तो वे सभ्य समाजों की हिंसा का शिकार बनते हैं अथवा किसी अन्य आदिम समाज द्वारा ही विनष्ट कर दिए जाते हैं। प्रत्येक सभ्यता एक स्वतः-पर्याप्त इकाई होती है तथा एक प्रकार विशेष का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकार, टॉयनबी के अनुसार, सभ्यताएँ देश और काल दोनों में परस्पर प थक् और सर्वथा विशिष्ट होती हैं। जैसे ही कोई सभ्यता अपने स्वरूप में परिवर्तन करती है वह मूल सभ्यता नहीं रह जाती और उसके साथ पर एक नई तथा प थक् सभ्यता का जन्म मानना चाहिए। टॉयनबी की व्यवस्था में इस विचार का स्थान नहीं है कि कोई सभ्यता अपने कुछ तत्वों को छोड़ते हुए तथा दूसरों से कुछ तत्वों को ग्रहण करते हुए अपना विकास कर सकती है और फिर भी वही मूल सभ्यता रह सकती है। दो सभ्यताओं के पारस्परिक संबंध केवल बाह्य संबंध ा होते हैं और उनमें एक स्पष्ट प थक्त्व पूर्वापेक्षित रहता है। हम में यह बताने की योग्यता होनी चाहिए कि किस बिन्दु-विशेष पर एक सभ्यता समाप्त होती है और दूसरी सभ्यता प्रारम्भ होती है। हम यह नहीं कह सकते कि कोई सभ्यता दूसरी सभ्यता में रूपान्तरित हो सकती है।

टॉयनबी के सिद्धान्त के विवेचन से यह प्रकाशित होता है कि व्यक्ति अथवा समाज की उसकी कल्पना में इसके अन्तस्थ पक्ष तथा जो इसके बाहर स्थित हैं उसके बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा है। उसके अनुसार अन्तस्थ पक्ष और बाह्यस्थित वस्तु विशेष एक दूसरे का सर्वथा परिहार करते हैं। किन्तु जैसाकि कालिंगवुड ने टॉयनबी की अपनी आलोचना में कहा है-यह स्मरणी है कि इतिहास में मनुष्य की वैयक्तिकता अथवा विशिष्टता जड़ जगत की अन्य वस्तुओं की विशिष्टता से भिन्न होती हैं, उसमें अपने पर्यावरण को स्वयं में सन्निविष्ट करने की क्षमता होती है। वह इतिहासकार जो अपनी सभ्यता से इतर किसी सभ्यता का अध्ययन करता है वह उस सभ्यता के मानसिक जीवन को अपने लिए उस

सभ्यता के अनुभवों के पुनर्विधायन द्वारा ही समझ सकता है। जब हम ऐतिहासिक द ष्टिकोण से किसी सभ्यता का अध्ययन करते हैं तो इस प्रक्रिया में हम उस सभ्यता की मानसिक सम ति की उपलब्धि करते हैं तथा यह हमारे अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है। पाश्चात्य सभ्यता ने इसी प्रकार प्राचीन यूनानी सभ्यता से लाभ उठाया है और यूनानी सभ्यता से उपलब्ध ज्ञान को नई दिशाएँ प्रदान करते हुए अपना वर्तमान विशिष्ट स्वरूप प्राप्त किया है; इस प्रकार, वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता प्राचीन यूनानी सभ्यता से केवल बाह्य रूप में नहीं संबंधित है, यह संबंध एक आन्तरिक संबंध है। टॉयनबी के चिन्तन में मुख्य दोष यह है कि उन्होंने सभ्यता के जीवन को केवल जैव जीवन के रूप में समझा है, एक मानसिक जीवन के रूप में नहीं। उनके विचार में इतिहास तथ्यों का भंडारमात्र रह जाता है जिन्हें इतिहासकार देखता है और संग हीत करता है। टॉयनबी ने तथ्यों को इस रूप में लिया है मानों उनको केवल व्यवस्थित करना है। तथा इन पूर्व-प्राप्त तथ्यों को अपनी व्यवस्था में इधर-उधर उपयुक्त स्थान पर बिठा देना है। इन दोषों के बावजूद, टॉयनबी में एक परिष्कृत ऐतिहासिक बुद्धि का दर्शन होता है तथा वे प्रायः अपने वास्तविक ऐतिहासिक निर्णयों को अपने सिद्धान्तों में निहित दोषपूर्ण सिद्धान्तों से विकृत होने देने से बचाने की चेष्टा करते दिखाई पड़ते हैं।

इतिहास के सिद्धान्त : ऐतिहासिक, भौतिकवाद

मार्क्स हेगेल का सबसे महत्वपूर्ण अनुयायी भी था और विरोधी भी। अनुयायी इसलिये कि उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार किया, विरोधी इसलिये कि उसने विज्ञानवाद को भौतिकवाद से विस्थापित किया। मार्क्स के मत की एन्गेल्स ने सर्वप्रथम, 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' और प्लेखानोव ने 'द्वन्द्वात्मक भौतकवाद' की व्याख्या दी थी। मार्क्स के इस मत को प्रायः एक इतिहास-दर्शन के रूप में समझा जाता है किन्तु स्वयं मार्क्स के इस मत को प्रायः इस इतिहास-दर्शन के रूप में समझा जाता है किन्तु स्वयं मार्क्स ने न उसके नाम की उद्‌भावना की थी, न उसका तात्पर्य इतिहास की एक दार्शनिक व्याख्या से था। मार्क्स दार्शनिक व्याख्याओं के स्थान पर ऐतिहासिक व्याख्या रखना चाहता है। अपने एक पत्र में उसने कहा था उसने पश्चिमी योरोप में पूँजीवाद की उत्पत्ति का निरूपण किया है, उसे एक सार्वभौम और अनिवार्य विकास के रूप में न समझना चाहिए। विभिन्न ऐतिहासिक सन्दर्भों में सद श घटनाएँ विभिन्न परिणामों को पैदा करती हैं। इन विभिन्न घटनावलियों के अर्थ उनके अलग-अलग विकास के अध्ययन से पता चलते हैं न कि किसी इतिहास-दर्शन में उपलब्ध सार्वभौम नियम से। इस प्रकार का इतिहास-दर्शन वस्तुतः अनैतिहासिक होता है। यदि हेगेल इतिहास-दर्शन का प्रवर्तक था तो मार्क्स को ऐतिहासिक समाज विज्ञान अथवा समाज-वैज्ञानिक इतिहास विश्लेषण का प्रवर्तक कहा जा सकता है। मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' समाज की एक नई विश्लेषण-पद्धति, इतिहास की ओर नई द ष्टि है। तथापि यह स्मरणीय है कि मार्क्स के अनुयायियों ने विश्व-इतिहास की ओर नई द ष्टि है। तथापि यह स्मरणीय है कि मार्क्स के अनुयायियों ने विश्व-इतिहास में एक निश्चित सामान्य क्रम को स्वीकार किया है, भले ही विशेष परिस्थितियाँ इस क्रम में अपवाद प्रस्तुत करें। यह भी स्मरणीय है कि लेनिन ने इस द ष्टि अथवा पद्धति के दार्शनिक पूर्वाभ्यपगमों की स्वीकारपूर्वक व्याख्या की है। फलतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि मार्क्स का आग्रह ऐतिहासिक विश्लेषण और उसकी एक विशेष पद्धति पर है, उसकी व्याख्यासरणि एक विशेष दार्शनिक द ष्टि के ऊपर आधारित है। इस प्रकार की दर्शनमूलक ऐतिहासिक विश्लेषण-पद्धति को एक प्रकार का इतिहास-दर्शन कहना गलत नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह सही है कि मार्क्स इतिहास को सामान्य दार्शनिक सिद्धान्तों से निगमितनहीं करता। मार्क्स के अनुसार वैसा निगमन विज्ञानवादी व्याख्याओं का दोष है।

हेगेल के विचारों में द्वन्द्वात्मकता के रूप में एक क्रान्तिकारी अर्थ निहित था। यदि विचारों में अर्न्तद्वन्द्व उनमें परिवर्तन उत्पन्न करता है और सामाजिक सत्ता विचारानुबन्धिनी है, तो स्पष्ट ही परिवर्तन और विकास मानव जीवन के मुख्य लक्षण बन जाते हैं। न कोई सत्य या निष्ठा पारमार्थिक रहती है, न

कोई समाज-व्यवस्था। प्रत्येक सत्य, प्रत्येक व्यवस्था अपने अन्दर के विरोधों के प्रकट होने से 'असत्य' लगने लगती है और नवीन उद्भावनाओं को स्थान देती है। विशिष्ट परिस्थितियों और सन्दर्भों में जो सार्थक और प्रामाणिक था वहीं अवस्थान्तर में निरर्थक और बाधक बन जाता है। इस द ष्टि से सिद्धान्त उतने महत्वपूर्ण नहीं है जितनी ज्ञान और आलोचना की प्रक्रिया जो क्रमशः नये-नये सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती हैं, उनके सीमित सत्य को परखती है और फिर उन्हें असत्य करार दे आगे बढ़ जाती है। ज्ञान की यह निरन्तर आत्मालोचन की प्रक्रिया ही हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्राण है। "हेगेल के अनुसार द्वन्द्वात्मक नये अवधारण का आत्मविकास है। न सिर्फ निरपेक्ष अवधारण या प्रत्यय शाश्वतरूप से विद्यमान है-पता नहीं कहाँ-किन्तु वही समस्त सत्ताशाली जगत की क्रियाशील जीवित आत्मा है। उसका उन अवस्थाओं से विकास होता है जिनका विस्त त उल्लेख तर्कशास्त्र में किया गया है और जो सब उसमें अन्तर्भूत हैं, तब वह (प्रत्यय) अपने को अनात्मीकरण के द्वारा प्रकृति के रूप में बदल जाता है जहाँ चेतना के बिना, प्राकृतिक अनिवार्यता के रूप में प्रच्छन्न होकर, वह एक नये विकास से गुजरता है और आखिर में मनुष्य की आत्मचेतना के रूप में प्रकट होता है। यह आत्मचेतना अपने को फिर से इतिहास में विभूत करती है। जब तक कि वह हेगेल के दर्शन में पुनः आत्मलाभ करती है। इस प्रकार हेगेल के अनुसार प्रकृति और इतिहास का द्वन्द्वात्मक विकास ..... सिर्फ अवधारणा के-पता नहीं कहाँ, पर निश्चय ही मानव-मस्तिष्क के बाहर-शाश्वत आत्मसंचालन की दरिद्र नकल मात्र है इस विचार-विपर्यय को दूर करना आवश्यक था। हमने अवधारणों को फिर से अपने मस्तिष्कों में उनके भौतिक रूप में समझा-वास्तविक पदार्थों के प्रतिबिम्बों के रूप में, न कि वास्तविक पदार्थों के प्रतिबिम्बों के रूप में। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक नये बाह्य जगत और मानव चिन्तन, दोनों की गति के सामान्य नियमों का विज्ञान बन गया। इस विज्ञान में गतिनियमों की दोनों व्यवस्थाएँ तत्वतः समान हैं यद्यपि एक मानव मन में व्यक्त होती है और उसका सचेत प्रयोग संभव है, दूसरी प्रकृति में और अद्यावधि मानव इतिहास में आकस्मित सी प्रतीत होने वाली अन्तहीन घटना श्र ंखला के अन्तराल में बाहरी अनिवार्यता-नियति-के रूप में अबोधपूर्वक व्यक्त होती है। इस प्रकार प्रत्यय की द्वन्द्वात्मकता वास्तविक जगत की द्वन्द्वात्मक गति का चेतन प्रतिबिम्ब बन जाता है और यह धारणा हेगेल के द्वन्द्वात्मक नय को, जोकि पहले शीर्षासन कर रही थी, अपने पैरों पर खड़ा कर देती है। हेगेल के द्वन्द्वात्मक नये में यह एक ''महान और मौलिक विचार है कि जगत को बने बनाए पदार्थों के संघात के रूप में नहीं समझना चाहिए बल्कि प्रक्रियाओं के सम्प्रवाह के रूप में। इस प्रवाह में पदार्थ भी और हमारे मस्तिष्क में उनके मनोविकल्पात्मक प्रतिबिम्ब भी अर्थात् सम्प्रत्यय भी अविच्छिन्न रूप से उदित और अस्त होते रहते हैं। इस प्रवाह में सब संयोगों और तात्कालिक निवर्तनों के बावजूद अन्त में एक प्रगतिशील विकास अपने आप को प्रतिष्ठापित करता है। द्वन्द्वात्मकता का अर्थ इस प्रकार यह हुआ कि हम विश्व में प्रत्येक वस्तु को और प्रत्येक ज्ञान को एक परिवर्तनशील प्रक्रिया मानें जो अपने आन्तरिक विरोधों के संघर्ष से रूपान्तरित होकर विकास का अंग बनती है।

हेगेल इस प्रक्रिया को ज्ञान के स्वरूप में अधिष्ठित, मूलतः आध्यात्मिक प्रक्रिया मानते थे। मार्क्सवादी दर्शक इस मूल अधिष्ठान को भौतिक कहते हैं। भूतसत्ता स्वरूपतः गतिशील है और उसके अन्तर्गत विरूद्ध शक्तियों के संघर्ष से उसका गुणात्मक परिवर्तन घटता है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिक विकास है जो प्रकृति के स्तर से मनुष्य-समाज को उत्पन्न करता है। अठारहवीं शताब्दी तक का भौतिकवाद एक 'यान्त्रिक भौतिकवाद' था जो भूतसत्ता को स्वरूपतः अपरिवर्तनीय और उसकी घटनाओं का आगन्तुक कारणों से उत्पन्न सार्थकताहीन संघटन और विघटन मात्र मानता था। उसकी द ष्टि से चेतन सत्ता और उसका विश्व-समाज का ऐतिहासिक विश्व-एक अतर्क्य संयोग मानना चाहिए जिसमें सार्थकता घुणाक्षरन्याय से ही खोजी जा सकती है मार्क्स का कहना था ''अब तक के सभी भौतिकवादों का प्रधान दोष यह रहा है कि वस्तु (Gegenstand) सत्ता, इन्द्रियग्राह्यता, केवल एक विषय (Object) या प्रतिभास (Anschauung) के रूप में सोची गई है, न कि मानव ऐन्द्रिय क्रिया या

व्यवहार के विषयिनिष्ठ रूप में। इसका परिणाम हुआ है कि कारित्र का पक्ष भौतिकवाद के बदले विज्ञानवाद ने ढूँढा, यद्यपि वह एक अमूर्त क्रिया का पक्ष था क्योंकि विज्ञानवाद वास्तविक, ऐन्द्रिय क्रिया को मानता ही नहीं है। ..... मानवीय चिन्तन का सत्य उसकी व्यवहार समर्थता है ..... भौतिकवादी सिद्धान्त कि मनुष्य अपनी परिस्थिति और शिक्षा की उपज है ..... यह भूल जाता है कि मनुष्य ही अपनी परिस्थितियों का बदलता है और शिक्षक को स्वयं शिक्षा पानी होती है।'' (थीसीज, आन फौयरवाख़)। मार्क्स का भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जो प्रकृति और समाज को अन्तर्द्वन्द्व के कारण परिणामी मानता है। उसमें मानवीय चेतना निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है बल्कि अपनी बाहरी प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थिति को उसके नियम पहिचान कर सक्रिय रूप से गढ़ती है। जहाँ हेगेल के लिए वास्तविकता का अर्थ है बुद्धयनुरूपता, यहाँ वास्तविकता का अर्थ है भौतिकता, चित्त-निरपेक्ष सत्ता। हेगेल के लिए ज्ञान की सच्चाई भी उसकी बुद्धयनुरूपता से पता चलती है जबकि मार्क्स के लिए ज्ञान की सच्चाई व्यवहार या क्रिया में व्यक्त होती है। हेगेल के लिए मनुष्य का सार उसकी चेतना या ज्ञान है, मार्क्स का कहना है कि ''मनुष्य का तत्व प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाली कोई अमूर्त बात नहीं है, वह वस्तुतः सामाजिक सम्बन्धों की समष्टि है।'' हेगेल के लिए स्वाधीनता संकल्प के विषय की बुद्धयनुरूपता है, मार्क्स के लिए वह भौतिक नियमों की पहिचान है।

इस विवरण से स्पष्ट होगा कि मार्क्सीय भौतिकवाद में (Naturalism) स्वभावाद और बाह्यार्थवाद (Realism) मिले हुए हैं किन्तु इन तत्वों का वास्तविक अभिप्रायः विज्ञानसम्मत विश्व द ष्टि का अपनाना और दार्शनिक विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान ही है। इस भौतिकवाद का यथार्थ तात्पर्य मनुष्य के उस अस्तित्व से है जो समाजिक सम्बन्धों से परिभाषित होता है। यह अस्तित्व समाज में ही होता है। इस सामाजिक अस्तित्व को मार्क्स ने आर्थिक साधनों की अवस्था और उन पर आश्रित उत्पादन के संबंधों पर निर्भर माना है। अन्य संस्थाएँ और आदर्श समस्त मानवीय चेतना, इस सामाजिक सत्ता का ही प्रतिबिम्ब है। एन्गेल्स का कहना है कि ''समस्त दर्शन, विशेषतया आधुनिक दर्शन का मूल प्रश्न चेतना और सत्ता का संबंध है।'' मार्क्स ने इस प्रश्न पर कहा था कि ''मेरे अध्ययन ने मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया कि राज्यों के रूप एवं न्यायिक संबधों को न स्वतः समझा जा सकता है न मानव मन की सामान्य प्रगति से। वे जीवन को भौतिक अवस्थाओं में बद्धमूल हैं। ..... लोग जिस सामाजिक उत्पादन में लगे रहते हैं वे उसके प्रसंग में निश्चित सम्बन्धों में अपने को पाते हैं। ये संबंध अनिवार्य हैं और उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करते। ये संबंध भौतिक उत्पादन की शक्ति के विकास की अवस्थाविशेष पर निर्भर करते हैं। इन उत्पादन-संबंधों की समष्टि समाज की आर्थिक-संरचना कही जा सकती है। इसी नीति पर न्यायिक राजनीतिक ऊपरी ढांचे आधारित हैं और उनके अनुरूप ही विशिष्ट सामाजिक चेतना के रूप बनते हैं। भौतिक जीवन का उत्पादन क्रम सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के समान्य लक्षण निश्चित करता है। मनुष्यों की चेतना उसकी सत्ता का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उनकी सामाजिक, सत्ता उनकी चेतना का निर्धारण करती है। विकास की एक अवस्था में उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ विद्यमान उत्पादन-सम्बन्धों के साथ संघर्ष में पड़ती हैं। इस संघर्ष को स्वत्व-व्यवस्था से संघर्ष भी कह सकते हैं क्योंकि वह उत्पादन संबंधों की ही कानूनी अभिव्यक्ति है। उत्पादन-शक्तियों के विकास के रूप होने के बदले ये सम्बन्ध उनके पैरों में बेड़ी बन जाते हैं। तभी सामाजिक क्रान्ति का समय घटता है। आर्थिक नींव के बदलने से समस्त विराट् ऊपरी ढाँचा न्यूनाधिक जल्दी से रूपान्तरित हो जाता है ..... कोई समाज-व्यवस्था तब तक नष्ट नहीं होती जब तक उसकी उत्पादन-शक्तियाँ पूर्णतया विकसित नहीं हो जातीं। उच्चतर उत्पादन-संबंध भी तब तक व्यक्त नहीं होते जब तक उसकी सत्ता की भौतिक शर्तें पुराने समाज के गर्भ में विरूढ़ नहीं हो जातीं। ..... समाज की आर्थिक रचना के प्रगतिशील युगों में एशियायी, प्राचीन सामन्ती और नवीन मध्यवर्गी व्यवस्थाओं का सामान्यतः निर्देश किया जा सका है।''

यदि हेगेल ने इतिहास का प्रारूप दर्शन में पाया था, तो मार्क्स ने उसकी कुंजी आर्थिक परिवर्तनों में

खोजी है। औत्पादनिक साधनों और सम्बन्धों पर समाज की संस्थाओं और धारणाओं की इमारत टिकी है। किन्तु प्रत्येक ऐसी व्यवस्था में एक अन्तर्द्वन्द्व रहता है। एक वर्ग उत्पादन में परिश्रम करता है, दूसरा साधनों के स्वत्व के कारण उसके 'अतिरिक्त फल' का उपभोग। अब तक के सभी ऐतिहासिक समाज इस श्रमिक और धनिक के वर्ग-द्वैत को अपने अन्दर लिए होने के कारण साधनों के पर्याप्त विकास होने पर संघर्ष और क्रान्ति से नष्ट हुए हैं। ''अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वाधीन और दास, पैट्रीशन और प्लीबियन, लौर्ड और सिर्फ (श्रेणी में) आचार्य और अन्तेवासी, एक शब्द में, उत्पीड़क और उत्पीड़ित, सदा एक विरोध में स्थित रहे और निरन्तर कभी छिपा, कभी प्रकट युद्ध करते रहे जिसका अन्त कभी समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन से हुआ, कभी दोनों वर्गों के समान विनाश से।'' इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का निरूपण वर्ग-संघर्ष के इतिहास में परिणत होता है। इस इतिहास का उपान्तिम चरण पूँजीवाद की उत्पत्ति थी और इस व्यवस्था की विस्त त व्याख्या से मार्क्स ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि पूँजीवाद अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण मार्क्स की विशिष्टता है।

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था तब प्रारम्भ होती है जब पैदावार माल का रूप धारण करती है, जब वह सीधे उपभोग के लिए नहीं बल्कि विनिमय के लिए उत्पन्न की जाती है। माल के उत्पादन और विनिमय का पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्राधान्य होता है। माल में दो तत्व होते हैं-उपभोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य। उपयोग माल के स्वगत गुण के कारण होता है, किन्तु विनिमेयता उनमें कोई समान धर्म बताती है। अरस्तू ने कहा था, ''विनिमय समानता के बिना नहीं हो सकता और समानता उस वक्त तक नहीं हो सकती, जब तक कि दोनों वस्तुएँ एक ही माप-दण्ड से न नापी जा सकती हों।..... किन्तु वास्तव में यह असंगत है कि इतनी असमान वस्तुएँ एक मापदण्ड से नापी जा सकती हों।'' मार्क्स का कहना है कि वह समान तत्व जो सब मालों में उनके मूल्य को तय करता है, वह उनके उत्पादन में व्यय हुआ श्रम है। ''मूल्यों के रूप में तमाम माल धनीभूत श्रम-काल की निश्चित राशियाँ मात्र हैं।'' यह मार्क्स का प्रसिद्ध 'मूल्योत्पत्ति' का श्रम-सिद्धान्त; है। पूँजीवाद के लिए पैदावार का माल बनना पर्याप्त नहीं है, उसके लिए श्रम एक माल बन जाता है जिसे खरीद कर पूँजीति माल को बेचने के लिए पैदा करता है और मुनाफे को अपना धन्धा बढ़ाने में खर्च करता है।

माली मूल्यों के रूप में उत्पादक श्रम के द्वारा सामाजिक सम्बन्ध मूर्तिमान् होते हैं। ''माल एक रहस्यमयी वस्तु केवल इसलिए है कि मनुष्यों के श्रम का सामाजिक स्वरूप उनको अपनी श्रम की पैदावार का वस्तुगत लक्षण प्रतीत होता है; क्योंकि उत्पादकों के अपने श्रम से जो कुछ पैदावार हुई है, उसके साथ उनका सम्बन्ध उनको एक ऐसा सामाजिक सम्बन्ध प्रतीत होता है, जो स्वयं उनके बीच नहीं, बल्कि उनके श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के बीच कायम है ..... वहाँ मनुष्यों के बीच कायम एक खास प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध है, जो उनकी नज़रों में वस्तुओं के सम्बन्ध का अजीबोगरीब रूप धारण कर लेता है। इसलिए यदि इसकी उपमा खोजनी है तो हमें धार्मिक दुनियाँ के कुहासे से ढके क्षेत्रों में प्रवेश करना होगा। उस दुनियाँ में मानव मस्तिष्क से उत्पन्न कल्पनाएँ स्वतन्त्र और जीवित प्राणियों जैसे प्रतीत होती हैं जो आपस में एक दूसरे के साथ और मनुष्य जाति के साथ सम्बन्ध स्थापित करती रहती हैं। मालों की दुनिया में मनुष्य के हाथों से उत्पन्न होने वाला वस्तुएँ भी वही करती हैं। मैने इसे जड़पूजा का नाम दिया है ..... धार्मिक दुनियाँ वास्तविक दुनियाँ का प्रतिबिम्ब मात्र होती है और मालों के उत्पादन पर आधारित समाज के लिए ..... अमूर्त मानव को पूजने वाला ईसाई धर्म ..... सबसे उपयुक्त धर्म है ..... पूँजीवादी समाज की तुलना में प्राचीन सामाजिक संगठन अत्यन्त सरल और सहज ही समझ में आ जाने वाला था। लेकिन उनकी नींव या तो व्यक्तिगत रूप से मनुष्य के अपरिपक्व विकास पर, जिसने कि उस वक्त तक अपने को उस नाल से मुक्त नहीं किया था, जिसने उसे आदिम कबीले के समाज के अपने सहयोगी मुनष्यों के साथ बांध ा रखा था, और या जो पराधीनता के प्रत्यक्ष सम्बन्धों पर रखी गयी थी। ऐसे सामाजिक संगठन केवल

उसी हालत में पैदा हो सकते हैं और कायम रह सकते हैं जब श्रम की उत्पादक शक्ति एक निम्न स्तर से ऊपर न उठी हो और इसलिए जब मनुष्य तथा मनुष्य के बीच और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भौतिक जीवन के क्षेत्र में पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध उतने ही संकीर्ण हों। यह संकीर्णता प्राचीन प्रकृति पूजा में तथा लोकधर्मों के अन्य तत्वों में प्रतिबिम्बित होती रहती है। वास्तविक दुनिया के धार्मिक प्रतिबिम्ब का बहरहाल केवल उसी समय अन्तिम रूप में लोप होगा, जब रोजमर्रा के जीवन के व्यावहारिक सम्बन्धों में मनुष्य को अपने सहयोगी मनुष्यों तथा प्रकृति के साथ सहज ही समझ में आ जाने वाले तथा युक्तिसंगत सम्बन्धों के सिवा और किस प्रकार के सम्बन्धों का सामना नहीं करना पड़ेगा।'' संक्षेप में, माल के उत्पादक समाज में मानवीय सम्बन्धों की जीवन्त सत्ता माल की जड़पूजा में छिप जाती है।

प्रारम्भिक समाज में माल का साक्षात् विनिमय होता है। अधिक विकसित समाज में किसान या कारीगर माल को मुद्रा के लिए बेच कर उससे फिर अपनी आवश्यकता का माल खरीदता है। पहली अदलाबदली या वस्तु-विनियम की अवस्था का संकेत 'माल-माल' से और दूसरी मुद्रा-विनिमय की अवस्था का 'माल-मुद्रा—माल (मा- -मु- -मा)' से किया जा सकता है। मा-मु-मा माल के परिचलन का सरल रूप है, किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में यह रूप बदल जाता है क्योंकि पूँजीपति अपनी मुद्रा से पहले श्रम, कच्चामाल, उपकरण आदि खरीदता है और फिर तैयार माल को बेचकर जो पैसा कमाता है उसे वह फिर से उत्पादन में लगाता है। इस प्रक्रिया का पथ इस प्रकार संकेतित हो जाता है-मुद्रा-माल-मुद्रा (मम-मा-मु)। मुद्रा खर्च कर मुद्रा कमाने का प्रयोजन मुनाफा ही होता है अर्थात् परिचलन के इस मार्ग में पहली मुद्रा और अंतिम मुद्रा में अन्तर होना चाहिए। यदि हम इस परिपथ को मु-मा-मु कहें तो यह कह सकते हैं कि मु > मु और मु-मु = मु। यह मु या मुद्राव द्धि ''अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) है।'' मालों का साधारण परिचलन-खरीदने के लिए बेचना-एक ऐसे उद्देश्य को कार्यान्वित करने का साधन है, जिसका परिचलन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् वह उपभोग मूल्यों को हस्तगत करने-या आवश्यकताओं को तुष्ट करने-का साधन है। इसके विपरीत, पूँजी के रूप में मद्रा परिचलन स्वयं अपने में एक लक्ष्य होता है; कारण कि मूल्य का विस्तार केवल बारम्बार नये सिरे से होनी वाली इस गति के भीतर ही होता है। इसलिए पूँजी के परिचलन की कोई सीमा नहीं होती।''

''इस गति के सचेत प्रतिनिधि के रूप में मुद्रा का स्वामी पूँजीपति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व, या कहना चाहिए कि उसकी जेब ही, वह बिन्दु है जहाँ से मुद्रा यात्रा प्रारम्भ करती है और यहीं वह फिर लौट आती है। परिचलन मु-मा-मु का वस्तुगत आधार अथवा उसकी मुख्य कमानी है मूल्य का विस्तार करना।'' मूल्य का यह विस्तार इस बात से होता है कि पूँजीपति जितना मुद्रा माल के उत्पादन में व्यय करता है उससे अधिक मूल्य के माल का वह उत्पादन करता है। यदि पूँजी को दो भागों में बाँटा जाय, एक तो वह जिसका कच्चा माल, औजार आदि प्रतिनिधित्व करते हैं और दूसरी जिसका प्रतिनिधित्व श्रम-शक्ति करती है, तो पहले को स्थिर पूँजी और दूसरे को अस्थिर पूँजी कह सकते हैं इनमें पहली के मूल्य में कोई परिणात्मक परिवर्तन नहीं होता। मूल्य-विस्तार अस्थिर पूँजी से ही होता है। श्रमिक पर पूँजीपति जितना व्यय करता है उससे अधिक मूल्य का वह स जन करता है।''. .... स्थिर पूँजी का मूल्य पैदावार में स्थानान्तरित हो जाता है और उसमें केवल पुनः प्रकट होता है। इसीलिये उत्पादन-प्रक्रिया में जिस नये मूल्य का स जन होता है, जो मूल्य पैदा होता है, वह या यूँ कहिए कि उसका मूल्य पैदावार के मूल्य से भिन्न होता है।'' फलतः 'अतिरिक्त मूल्य' का कारण श्रमिक का शोषण है। उसकी मजदूरी जितने काल के श्रम के समान मूल्य की है उससे अधिक समय तक उसे श्रम करना पड़ता है और यह 'अतिरिक्त श्रम' या शोषण ही 'अतिरिक्त मूल्य' का उत्पादक है।

मार्क्स ने इस विश्लेषण से यह सिद्ध किया है कि पूँजीवादी व्यवस्था श्रम के शोषण पर आधारित है और उसमें संचय की प्रव त्ति अन्तर्निहित है। मार्क्स ने यह भी तर्क दिया है कि पूँजीवादी समाज की नीति में अन्तर्विरोध होते हैं और वे ''व्यवहारिक पूँजीपति के दिमाग पर सबसे अधिक जोर से इस नियतकालिक चक्र के परिवर्तनों के रूप में प्रभाव डालते हैं जिसमें समस्त आधुनिक उद्योगों को गुजरना पड़ता है और जिसका सर्वोच्च बिन्दु सर्वव्यापी संकट होता है।''

ल्यूकास ने कहा है कि मार्क्स की पद्धति का अन्ततम तत्तव ऐतिहासिक है। इस द ष्टि से सामाजिक सत्ता सामाजिक सम्बन्धों का अविच्छिन्न परिवर्तन है, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। स्वयं मार्क्स ने कहा है' उत्पादन-शक्तियों के बढ़ने में, सामाजिक सम्बन्धों के टूटने में, विचारों के गढ़ जाने में, एक निरन्तर गति होती है। एक ही स्थिर बात है और वह है गति का तत्व, अमरणशील मरणशीलता' **(पावर्टी आव फिलासफी)** यदि हेगेल ने दार्शनिक विचारों की ऐतिहासिक सापेक्षता और इतिहास की विचार-सापेक्षता प्रतिपादित कर इतिहास की एक नयी विद्या और द ष्टि को जन्म दिया था, तो मार्क्स ने सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं की ऐतिहासिकता और विचारों की समाजसापेक्षता प्रतिपादित कर एक और नयी ऐतिहासिक विद्या और पद्धति का आविष्कार किया। यह भी निस्सन्देह है कि इतिहास-लेखन पर मार्क्स का प्रभाव हेगेल की तुलना में अधिक रहा है। जो इतिहासकार मार्क्स के विशिष्ट मतों का प्रतिवाद करते हैं, वे भी अब यह मानते हैं कि सामाजिक सत्ता एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और अधिकांश ऐतिहासिक बातें समाजसापेक्ष होती हैं। इतिहास की 'आर्थिक व्याख्या' एक निरपेक्ष सत्य के रूप में प्रायः स्वीकृत न होने पर भी, इतिहास में आर्थिक तत्वों का महत्व निस्सन्देह है।

कार्ल मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिख एंजेल्स ने सबसे पहले मार्क्स को इतिहास का नया नजरिया और सिद्धान्त खोजने का श्रेय दिया। यह सिद्धान्त जो उन्होंने एंजेल्स के साथ मिलकर स्थापित किया-ऐतिहासिक भौतिकवाद या इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के नाम से अक्सर जाना जाता है। अगर सरल भाषा में कहें तो मार्क्स का विश्वास था कि इतिहास को सही तरीके से समझने के लिये उस समाज के विचार या विचारधाराओं के स्थान पर उस समाज और काल की भौतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करना चाहिये। मार्क्स के अनुसार किसी समाज को समझने के लिये जिन परिस्थितियों का विश्लेषण करना चाहिये। मार्क्स के अनुसार किसी समाज को समझने के लिये जिन प्रमुख कारकों पर ध्यान देना जरूरी है-वे इस प्रकार हैं :

1. किसी समाज के आर्थिक विकास का स्तर,
2. उत्पादन और विनिमय की पद्धति में परिवर्तन,
3. समाज का श्रेणी-विभाजन या वर्ग-विभाजन, तथा
4. वर्ग-संघर्ष का प्रकृति और परिमाण।

मार्क्स का ऐतिहासिक सिद्धान्त इतिहास में विचारों की प्राथमिकता को नकारता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह इतिहास में विचारों की शक्ति को नहीं मानता लेकिन उसका कहना था कि इतिहास में अमूर्त दार्शनिक विचारों से ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका भौतिक परिस्थितियाँ अदा करती है और उनकी भूमिका कहीं ज्यादा मूल्यवान और चिरस्थायी होती है। इसलिये मार्क्सवादी इतिहास की अवधारणा में इतिहास का शोध और अनुसंधान सैद्धान्तिक अटकलबाजी के बजाय ठोस तथ्यात्मक आधार पर होना चाहिये। यह बात आज के संदर्भ में हमें आम समझ की तरह लग सकती है लेकिन उस समय जब मार्क्स अपना योगदान दे रहे थे और जब इतिहास विषय दर्शन-शास्त्र की एक उपशाखा के रूप में ही पढ़ाया जाता था, काफी उग्र और क्रान्तिकारी समझी गयी थी। हाँलाकि कई बार कार्ल मार्क्स की ऐतिहासिक अवधारणा पर इसके विरोधी आर्थिक निर्धारणवाद (economic determinism) का आरोप लगाते हैं लेकिन मार्क्स की ऐतिहासिक अवधारणा में मानवीय क्रिया-कलापों को केन्द्रीय बिन्दु की तरह माना जाता रहा है। मार्क्स ने इतिहास के विकास में मानवीय क्रियाओं

को अहम स्थान दिया था-विशेषकर अगर हम उनकी इस आम धारणा को ही ले जिसमें उन्होंने मानवीय श्रम को इतिहास में सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तन का आधार माना था तो यह बात साफ हो जाती है कि मार्क्स की नजर में ''वास्तविक मानवीय कर्म'' (real human activity) को इतिहास की मुख्य प्रेरक-शक्ति स्वीकार किया गया था। लेकिन इसमें भी उन्होंने इस बात पर ज्यादा बल दिया कि मनुष्य श्रम कैसे करते हैं। किन परिस्थितियों में श्रम के द्वारा उत्पादन करते हैं और ये बातें किस तरह समाज के ढाँचें को प्रभावित करती हैं। इसके साथ-साथ मार्क्स ने मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों पर भी काफी बल दिया था। उन्होंने कहा था कि हम मनुष्य प्रकृति पर निर्भर करते हैं लेकिन प्रकृति मानवता से स्वतंत्र है। बहुदा इन मार्क्सवादी चिंतन के पहलुओं पर लोग चर्चा नहीं करते और मार्क्स द्वारा सुझाये गये वर्ग-संघर्ष (class-struggle) को ही समाज को समझने का मुख्य उपकरण मानते हैं।

मार्क्स और उनके सहयोगी एंजेल्स ने इस ऐतिहासिक अवधारणा को 1845 में **द जर्मन आइडियॉलोजी** नामक पुस्तक से शुरू किया था। दार्शनिक पूर्व-धारणाओं पर निर्भर न रहकर मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को अनुभववादी पर्यवेक्षण तथा तथ्यों पर आधारित करने की पुरजोर कोशिश की थी। उन्होंने तर्क दिया कि किसी समाज और काल का इतिहास तभी अच्छी तरह समझ में आयेगा जब हम समाज की आर्थिक संरचना की तह तक जायें लेकिन साथ में यह भी चेतावनी दी यह किसी मानवीय इतिहास का एकमात्र आधार नहीं हो सकता है। इस आर्थिक आधार से बहुत कुछ उभरकर आता है-कानून, धर्म, राजनीति, संस्कृति और विशिष्ट किस्म की सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप-सब आर्थिक आधार से पनपते हैं। जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियों का विस्तार होता है या उनमें बदलाव आता है वैसे-वैसे समाज का ढाँचा और उसके साथ-साथ इतिहास भी बदलता जाता है। इसी धारणा को मार्क्स ने अपनी एक पुस्तक में The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte में फ्राँस के समकालीन इतिहास की व्याख्या करते हुए अपनाया। मार्क्स ने इस बात पर बल दिया कि इतिहास में विभिन्न कर्त्ताओं की वर्ग-स्थिति ही उनके जीवन के प्रति विचार और उनके विश्व-दर्शन को निर्धारित करती है। इसका प्रत्यक्ष मतलब यह निकला कि जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था बदलती है, वैसे-वैसे समाज की वर्ग-संरचना भी बदल जायेगी और इससे आवश्यक रूप से चेतना के रूप में भी परिवर्तन होगा। जैसा कि कार्ल मार्क्स ने अपनी 1859 में लिखी पुस्तक; **ए कन्ट्रीब्यूसन टु दि क्रिटिक ऑफ पालिटिकल एकॉनमी** में साफ तौर पर ऐलान किया था कि ''मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करता है।'' इस तरह के नजरिये से यह निष्कर्ष आसानी से निकला जा सकता है कि इतिहास की मार्क्सवादी या भौतिकवादी व्याख्या मानवीय क्रियाओं की एक गैर-लचीली या भाग्यवादी सी व्याख्या करती है। सोवियत संघ में तथा मार्क्स के अंधे अनुयायिओं में कई बार इस तरह की भाग्यवादी व्याख्या को प्रोत्साहन दिया गया और इतिहास को त्रुटिरहित और आसानी से समझ में आ जाने वाले क्रमबद्ध नियमों के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह विचार या कुछ लोग इसे विकृति का नाम भी देते हैं-मार्क्स के मूल विचार या ऐतिहासिक अवधारणा से एकदम अलग था क्योंकि इसमें मानवीय क्रियाओं या पहल को कोई जगह नहीं दी गई थी। कार्ल मार्क्स ने 1845 में ही **दि होली फैमिली** में घोषणा की थी कि ''इतिहास कुछ नहीं करता ..... यह मनुष्य ही है, वास्तविक जीवित मनुष्य जो सब कुछ करता है ..... इतिहास और कुछ नहीं है बल्कि अपने-अपने लक्ष्यों से प्रेरित मानव की क्रियायें ही इतिहास हैं।'' इसी तरह अपने एक पत्र में कार्ल मार्क्स ने 1871 में लिखा था कि इतिहास बहुत सरल हो जायेगा अगर उसे हमेशा त्रुटिरहित उचित परिस्थितियाँ मिलती रहें और इतिहास में कोई आकस्मिक घटनायें न हों। उन्होंने यहाँ तक भी कहा कि अगर आकस्मिक घटनायें न हो तो इतिहास का स्वरूप रहस्यमयी और मायावी हो जायेगा।

विश्व-इतिहास की रहस्यवादी धारणा के स्थान पर मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का नाम इतिहास की

द्वन्दात्मक प्रणाली (Dialectical method) रखा था। इस अवधारणा में उन्होंने अवैज्ञानिक आदर्शवादी धारणा जिसमें 'महान विभूतियों' के कारनामों की गाथा कही जाती थी, उसे भी चुनौती दी और यांत्रिकीय भौतिकवाद को भी जिसमें मानव को इतिहास में कोई जगह नहीं दी गई थी। उनके इस द्वन्दात्मक विचार में, मानवता इतिहास में कर्त्ता और विषय-वस्तु दोनों (Both Subject and Object of history) की भूमिका में देखी जानी चाहिये। मानव इतिहास की गति को चलाता है और स्वयं इतिहास की गति से प्रभावित भी होता है। मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं लेकिन इस इतिहास का निर्माण करने वाली परिस्थितियों का चयन स्वयं उनके द्वारा नहीं होता बल्कि विरासत में मिली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उसके क्रिया-कलापों को प्रभावित करती रहती हैं। मार्क्स की ऐतिहासिक अवधारणा का 19 वीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी में इतिहासकारों पर गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इनमें कई विद्वान तो समाजवादी आंदोलन से जुड़े हुए राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही थे जिनमें कार्ल काउत्सकी का नाम प्रमुख है जिन्होंने कई ऐतिहासिक कृतियाँ लिखीं जैसे **मध्य यूरोप में कम्युनिज्म** (1897) तथा **थॉमस मूर और उनकी कल्पना** (1927) । लेकिन ज्यादातर विद्वान एकेडमिक क्षेत्र के हुये। विशेषकर ब्रिटिश मार्क्सवादी इतिहासकार क्रिस्टोफर हिल, जॉर्ज, रूड़े हिल्टन, एरिक हाब्सवाम तथा ई॰ थॉमसन ने पश्चिमी जगत के इतिहास-लेखन को काफी अधिक प्रभावित किया है। इन इतिहासकारों ने इतिहास-लेखन की परम्परागत आदतों को बदला और अपने अध्ययन में भौतिकवादी विश्लेषण, वर्ग-विश्लेषण और मानवीय कर्त्ता का विचार अपनाया। जैसे जॉर्ज रूडे ने अपनी चर्चित पुस्तक The Crowd in the French Revolution (1959) में इस प्रचलित विचार का पुर्नअध्ययन किया कि कैसे क्रांति के दौरान 'विवेकहीन भीड़'' पेरिस की गलियों में सक्रिय थी। कई तरह के नये प्राथमिक स्रोतों का उपयोग करके रूडे ने यह साबित करने की कोशिश की कि पेरिस की भीड़ विवेकशील थी और इस तरह उन्होंने 'भीड़' की पुरानी ऐतिहासिक धारणा को नकार दिया। पश्चिमी यूरोप में हाँलाकि मार्क्सवादी इतिहास-लेखन मुख्य धारा तो नहीं बन पाया लेकिन जिस तरह के गंभीर शोध और अध्ययन इन विद्वानों ने किये-उससे इन्हें काफी गंभीरता से लिया जाने लगा। मार्क्स का प्रभाव इतिहास-लेखन में अमेरिका में भी पड़ा जहाँ राजनैतिक रूप से इस तरह के विचारों के लिए अनुकूल जलवायु नहीं थी। फिलिप एस॰ फोनर ने अमेरिका के श्रमिक वर्ग का नया इतिहास लिखा जो सामंजस्य के बजाय वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत से प्रेरित था। इसी तरह मार्क्सवादी इतिहास-लेखन से प्रेरणा लेकर हर्बट आप्टेकेर ने दास-प्रतिरोध और संघर्ष का इतिहास लिखा। बाद में यूजेन जेनोवेज ने मार्क्सवादी उपकरणों का सहारा लेकर अमरीकी दास इतिहास की पुर्नव्याख्या की।

जो भी हो कार्ल मार्क्स के लिए मानवीय इतिहास में भौतिक उत्पादन का मुख्य स्थान था। मनुष्यों को जिंदा रहने के लिए खाना और बचाव के लिये जगह की हमेशा से जरूरत रही है और रहेगी। जिन तरीकों और उपकरणों से जीवन-निर्वाह के साधन व्यक्ति और मानव-समूह जुटाते हैं और साथ-साथ काम करते हैं-उसी से उनके सामाजिक अस्तित्व को आधार मिलता है। इस तरह के सामाजिक उत्पादन में कुछ श्रम का विभाजन भी जरूरी हो जाता है और उसी श्रम के विभाजन के अनुरूप वर्ग-संरचना की नींव खड़ी होती है। चूँकि उत्पादन और कार्य दैनिक जीवन के केन्द्रीय बिन्दु की तरह है। इसलिये सामाजिक सम्बन्धों में एक भौतिक तत्व मौजूद रहता है। यह बात मार्क्स और एंजेल्स ने 'जर्मन विचारधारा'' नामक अपनी रचना में स्पष्ट कर दी थी। बाद में 1859 में मार्क्स ने अपने इस भौतिकवादी ऐतिहासिक द ष्टिकोण को या **ऐतिहासिक भौतिकवाद को अपनी महत्वपूर्ण रचना** A contribution to the Critique of Political Economy की प्रस्तावना में ज्यादा सुस्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। उन्होंने लिखा :

''अपने अस्तित्व के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य आवश्यक रूप से कुछ विशिष्ट सम्बन्ध बनाते हैं जो उनकी इच्छा स्वतंत्र होते हैं, इनको मौजूदा उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की अवस्था के

अनुरूप हम उत्पादन के सम्बन्धों का नाम दे सकते हैं। इन उत्पादन के सम्बन्धों की सम्पूर्णता ही समाज का आर्थिक आधार तय करती है जो वह वास्तविक आधार है जिस पर पूरा कानूनी और राजनैतिक ऊपरी ढाँचा (superstructure) उभरता है और जिसके अनुरूप ही चेतना के विशिष्ट रूप दिखाई पड़ते हैं। भौतिक जीवन के उत्पादन की पद्धति ही सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की सामान्य प्रक्रियाओं का निर्धारण करती है। मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण करती नहीं अपितु उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करता है।''

इसके आगे मार्क्स ने स्पष्ट किया कि अपने विकास की एक अवस्था में कैसे समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियाँ मौजूदा उत्पादन के सम्बन्धों से टकराव की स्थिति में पहुँच जाती हैं। उत्पादक शक्ति का विकास करने की बजाय इस हालत में उत्पादन के सम्बन्ध उनके विकास में एक रोड़े या अवरोध की तरह खड़े हो जाते हैं। फिर कैसे एक सामाजिक क्रांति का युग शुरू होता है। समाज का आर्थिक ढाँचा या आधार बदल जाने से उस पर खड़ा ऊपरी ढाँचा भी तेजी से रूपान्तरित हो जाता है। इससे यह साफ है कि मार्क्स के विचार में भौतिक उत्पादन ही समाज का आधार है और उसमें आने वाले बदलाव से ही उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध तथा उनसे जुड़ी हुई वर्ग-संरचना के स्वरूप भी बदल जाते हैं। मार्क्स ने भौतिक उत्पादन से जन्म ले रहे सामाजिक सम्बन्धों, श्रम के विभाजन के रूप तथा समाज की वर्ग-संरचना इन सब को सामूहिक रूप से उत्पादन की पद्धति (Mode of Production) का नाम दिया। उत्पादन की पद्धति के आधार पर ही मार्क्स ने इतिहास के काल-चक्र को विभाजित किया। मार्क्स ने अपने विश्लेषण में उत्पादक शक्तियों के प्रभाव पर भी बल दिया था। उत्पादक शक्तियों (Productive forces) में उत्पादन की प्रक्रिया में इस्तेमाल होने वाले सभी अवयव जैसे कच्चा माल, तकनीकी, ऊर्जा के स्रोत, वैज्ञानिक ज्ञान का स्तर तथा श्रम-शक्ति की कुशलता आदि शामिल होते हैं। इन उत्पादक तत्वों का उत्पादन की विशिष्ट प्रक्रिया में संयुक्त रूप से मिलान (या जिसे हम उत्पादन का तकनीकी संगठन कह सकते है) भी उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों से जुड़ा रहता है। उत्पादन के सम्बन्ध समाज में सम्पत्ति के सम्बन्धों के रूप में या वास्तविक उत्पादकों तथा उत्पादन के साधनों के मालिकों के बीच के सम्बन्धों के रूप में नजर आते हैं। मार्क्स का यह भी मानना था कि समाज में उत्पादन की शक्तियों की अपनी शक्ति तथा गति भी होती है जिसे समझना भी जरूरी है।

मार्क्सवादी ऐतिहासिक धारणा में समाज के क्रमिक विकास के बीच में ही संकट के काल, क्रांति और तेज संक्रमण के काल भी आते रहते हैं। यह उस समय होता है जब उत्पादन के सम्बन्ध बदलती हुई उत्पादन की शक्तियों से मेल नहीं खाते। वे उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक बन जाते हैं और उन उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों का टूटना जरूरी हो जाता है ताकि उनके स्थान पर नये उत्पादन के सम्बन्ध ले सकें जो आगे समाज के विकास को बढ़ा सकें। इसी से समय-समय मानव समाज में भिन्न-भिन्न समाज-व्यवस्थायें, दास-व्यवस्था, सांमतवाद या पूँजीवाद आदि समय-समय पर क्रम से उभरती हैं। मार्क्स द्वारा लिखे कम्युनिस्ट मेनिफैस्टो में प्राचीन काल से औद्योगिक पूँजीवाद तक के ऐतिहासिक विकास को एक रूपरेखा के रूप में दर्शाया गया है। अगर मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद में, उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध गतिशील आर्थिक संरचना की नींव पर खड़े हैं तो ये स्वयं भी एक तरह के संस्थागत सम्बन्धों को (कानूनी तथा राजनैतिक ऊपरी ढाँचें को) नींव प्रदान करते हैं। यही वह क्षेत्र है जहाँ चेतना के विशिष्ट रूप बनते-बिगड़ते दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार उत्पादक शक्तियों के दबाव में उत्पादन के सम्बन्ध बदल जाते हैं उसी प्रकार उत्पादन के सम्बन्ध बदल जाने से कानूनी, राजनैतिक ढाँचें तथा चेतना के रूपों को बदलना और नयी परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालना पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संकट के समय में, जब उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के बीच संघर्ष और टकराव चल रहा हो, उस समय उससे कानूनी-राजनैतिक उपरी ढाँचा और चेतना के अन्दर भी यह द्वन्द दिखाई पड़ेगा। ऊपर उघ त किया

गया मार्क्स की प्रस्तावना का कथन उनके इतिहास के प्रति नजरिये का सुस्पष्ट कथन था और उनके निर्णायक सिद्धातों को प्रस्तुत करता है। यहाँ मार्क्स ने सार रूप में अपने पहले के तर्कों को विकसित करके तथा ज्यादा स्पष्ट करके रख दिया था। इसी धारणा के आधार पर दीर्घकालीन ऐतिहासिक परिवर्तन को दिखाने वाली योजना मार्क्स ने उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों की गतिमान धुरी के रूप में प्रस्तुत की और उन्होंने इस नमूने को-आर्थिक आधार। कानूनी तथा राजनैतिक ऊपरी ढाँचा-तथा इनके बीच के सम्पूर्ण अंर्तसम्बन्ध- को विशिष्ट ऐतिहासिक क्षणों को समझने के लिये भी इस्तेमाल किया। लेकिन मार्क्स द्वारा सुझाये इन सिद्वान्तों या नमूनों को अंतिम सत्य मानने की भूल नहीं की जानी चाहिये। मार्क्स ने सामाजिक जटिलताओं को सरल रूप में-नींव और ऊपरी ढाँचें की उपमा के रूप में समझाने की कोशिश की थी लेकिन उनके स्वयं के शब्दों में यह एक प्रारम्भिक चित्रण ही था। हाँलाकि यह प्रांरम्भिक चित्रण या दिशा-निर्देश देने वाला समाज का नमूना भी उनके वर्षों के अनुभव और मेहनत का नतीजा था फिर भी मार्क्स की रचनाओं को आलोचनात्मक द ष्टिकोण से तथा अन्य रचनाओं के संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिये-विशेषकर उनकी समकालीन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन और अनुभववादी विश्लेषण करने वाली रचनाओं के साथ मिलाकर ही हम मार्क्स की मौलिकता को समझ सकते हैं। कार्ल मार्क्स ने एक अमरीकी अखबार-न्यूयोर्क डेली ट्रिब्यून में 300 से अधिक लेख लिखे और 1852-1862 के बीच कई जर्मन अखबारों में भी सैंकड़ों लेख लिखे जो उनकी ऐतिहासिक जाँच तथा सामग्री से भरपूर हैं। 1858 में मार्क्स ने कई हस्तलिखित नोटबुक तैयार की जिनसे ऐसा लगता है कि उनके दिमाग में विभिन्न उत्पादन की पद्धतियों का विकास ऐतिहासिक द ष्टिकोण से परखने की योजना थी। इन्हें 1973 में अंग्रेजी में Grundrisse के नाम से प्रकाशित किया गया। इन नोटबुकों का ऐतिहासिक भाग 1964 में **Precapitalist Economic Formation** के नाम से छापा गया था। इसके अलावा के मुख्य ग्रंथ, **दास कैपिटल** में काफी ऐतिहासिक तथ्यात्मक सामग्री मिलती है। हाँलाकि **दास कैपिटल** को लिखने का मूल उद्देश्य मार्क्स के शब्दों में, राजनैतिक अर्थव्यवस्था (Political economy) की आलोचना करना ही था लेकिन इतिहास की रचना न होते हुये भी मार्क्स ने समकालीन इतिहास के कई महत्वपूर्ण पहलुओं पर गहरा अनुभववादी अनुसंधान किया था। उदाहरण के लिये **कैपिटल** के अध्याय 10 में उन्होंने मिल-मालिक और मजदूरों के बीच काम के घंटों को लेकर चल रहे टकराव का विस्त त ऐतिहासिक वर्णन दिया है। अध्याय 14 और 15 में इसी प्रकार कारीगरी स्तर के हस्त-शिल्प उत्पादन से औद्योगिक फैक्टरी उत्पादन में संक्रमण पर विस्तार से चर्चा की गई है। या इसी तरह अध्याय 26-33 तक ऐतिहासिक सामग्री का इस्तेमाल करके इग्लैण्ड में पूँजी के प्राथमिक संचय (primary accumulation of capital) के तौर तरीकों पर विस्तार से चर्चा की गई है। कहने का मतलब यह है कि मार्क्स के एक प्रस्तावना में दिये गये कथन से ही हम मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को नहीं समझ सकते। इसके लिये जरूरी है कि हम मार्क्स के अनुभववादी तथ्यों पर आधारित ऐतिहासिक सामग्री का भी अध्ययन करें।

अक्सर मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की आलोचना इस बात के लिये की जाती है कि उन्होंने समाज और इतिहास के विकास को एक सरल रैखिक दिशा में चलने वाले सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं या चरणों के रूप में देखा और इसमें ऐतिहासिक विशिष्टता या आकस्मिक होने वाले परिवर्तनों को कोई जगह नहीं दी गई थी। मार्क्स ने **दास कैपिटल** के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना में कहा था कि पूँजीवादी उत्पादन के नियम लौह-रूपी आवश्यकता के साथ सब देशों में काम करेंगें तथा अधिक औद्योगिक विकसित देश कम विकसित देश को अपने भविष्य की तस्वीर दिखाता है। इसी प्रकार बाड़बंदी के द्वारा अंग्रेज किसानों को भूमिविहीन करके उन्हें भूमिहीन मजदूर में बदलने की प्रक्रिया मार्क्स ने कहा था कि पश्चिम यूरोप के सभी देशों में आवश्यक रूप से दोहरायी जायेगी। लेकिन मार्क्स ने अपने कथन को संशोधित करते हुये यह भी कहा था कि पूँजीवाद के द्वारा किसानों को सम्पत्ति विहीन बनाने की प्रक्रिया अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूपों में विकसित होगी, यह

प्रक्रिया अलग-अलग समय पर होगी और अलग-अलग चरणों में चलेगी। मार्क्स निसंदेह इस बात की भविष्यवाणी नहीं कर सकता था कि अलग-अलग देशों में इस प्रक्रिया के चरणों में क्या फर्क होंगें ? क्या इससे यह सिद्ध होता है कि मार्क्स सब राष्ट्रों के लिये इतिहास की प्रक्रिया को एक जैसा चित्रित कर रहा था या अलग-अलग देशों में इतिहास का रूप अलग-अलग होना था। रूस में पूँजीवादी के विकास की संभावनाओं की चर्चा करते हुये मार्क्स ने एक पत्र में स्पष्ट किया था कि पश्चिमी यूरोप के पूँजीवादी नियम वहाँ काम करेंगे कि नहीं यह वहाँ के ऐतिहासिक विकास की प्रव त्तियों पर निभर्र करेगा। ऐतिहासिक विशिष्टता से किस तरह विकास का रूप भिन्न हो जाता है इसका उल्लेख करते हुय मार्क्स ने रोमन साम्राज्य में किसानों को सम्पत्ति विहीन बनाने की प्रक्रिया की तुलना इग्लैण्ड के समकालीन सामाजिक परिवर्तन से की। रोम में इसी प्रक्रिया ने ऐतिहासिक परिस्थितियाँ अलग होने से दासता को जन्म दिया था जबकि यह इग्लैण्ड मे पूँजीवादी विकास में सहायक हुई क्योंकि इस समय ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बिल्कुल अलग थीं। यहाँ मार्क्स स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक दर्शन की विकास की एकमात्र सब तालों की कुंजी से इतिहास को समझने के बजाय ऐतिहासिक विशिष्टता पर बल दे रहे थे।

एक और गलतफहमी तथाकथित आधार तथा उपरी ढाँचा के नमूने को अऐतिहासिक तरीके से इस्तेमाल करने से उभरती है। मार्क्स के लिए केवल 'आर्थिक पहलू' ही निर्धारक पहलू नहीं था बल्कि इतिहास की द ष्टि से विशिष्ट उत्पादक क्रियाओं का आधार-पत्थर (matrix) तथा सामाजिक सम्बन्ध ही निर्णायक थे। मार्क्स ने **कैपिटल** के तीसरे खण्ड में स्पष्ट किया था कि उत्पादन के साधनों के मालिक तथा तत्कालिक उत्पादकों के बीच के सम्बन्ध में ही सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचें का छिपा हुआ आधार था। इसका अर्थ यह नहीं था कि उसी सामाजिक आर्थिक आधार के विभिन्न रूप और स्वरूप नहीं हो सकते थे। अनुभववादी परिस्थितियों के कारण, प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण, नस्लों के सम्बन्ध की वजह से या बाहर से काम रही ऐतिहासिक ताकतों की वजह से-एक ही आर्थिक ढाँचें के विभिन्न रूप हो सकते थे। अर्थात् मार्क्स ने इस बात पर बल दिया कि भौतिक उत्पादन को उसके विशिष्ट ऐतिहासिक रूप के अनुसार ही समझना चाहिये, एक आम श्रेणी के रूप में नहीं। मार्क्स ने बार-बार इस बात को दोहराया कि खाना, कपड़ा तथा बचाव की जगह जैसी बुनियादी चीजों का भौतिक उत्पादन सभी कालों में मानवीय अस्तित्व की पूर्व-शर्त थी जैसा मार्क्स ने कहा कि आर्थिक पक्ष की प्राथमिकता केवल उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद समाज की ही विशेषता नहीं थी। उन्होंने कहा कि ''मध्य युग में इंसान कैथोलिक विश्वास पर ही जिन्दा नहीं था ना ही प्राचीन विश्व में राजनीति पर''। मार्क्स ने धर्म या राजनीति की प्रमुखता को 'आर्थिक पहलू'' की निर्धारण करने वाली शक्ति से अलग करके देखने की कोशिश की। किसी ऐतिहासिक काल में धर्म या राजनीति के प्रमुख होने को भी मार्क्स ने उस समय के उत्पादन की पद्धति से जोड़कर देखने की कोशिश की। मार्क्स ने **कैपिटल** तथा अन्य पुस्तकों में भी इस बात पर जोर दिया था कि पूर्व-पूँजीवादी उत्पादन पद्धतियों में गैर-आर्थिक दबाव और बल उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण में अहम भूमिका निभाते थे। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो राजनैतिक संरचनायें ही आर्थिक क्षेत्र के निर्मित करने में महत्वपूर्ण होती थी।

कम्युनिस्ट मैनिफैस्टों में मार्क्स ने यह भी घोषणा की थी कि अब तक की मौजूद सभी समाज व्यवस्थाओं में इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास रहा था। लेकिन पॉलिटिकल इकानामी की आलोचना में मार्क्स ने इसका उल्लेख ही नहीं किया था। यह भी हो सकता है कि प्रशा के सेंसर से बचने के लिये मार्क्स ने उसमें वर्ग-संघर्ष का उल्लेख न किया हो। जो भी कारण रहा हो-इससे कई सवाल पैदा होते हैं। यदि उत्पादक शक्तियों और सामाजिक सम्बन्धों का आधार-पत्थर ऐतिहासिक परिवर्तन की मुख्य प्रेरक शक्ति है तो फिर इसमें वर्ग-संघर्ष की भूमिका क्या है ? चेतन सामाजिककर्ताओं और आर्थिक संरचनाओं का तुलनात्मक प्रभाव इतिहास में क्या रहता है ? और इसी

से जुड़े कुछ सवाल सामाजिक वर्ग की परिभाषा तथा इतिहास में वर्ग-स्थान, वर्ग-चेतना और राजनैतिक गतिविधि के बीच किस तरह का सम्बन्ध रहता है। मार्क्स ने अपनी दो कृतियों **दि क्लास-स्ट्रगल इन फ्राँस** तथा The Eighteen Brumaire of Louis Bonaparte में इन सवालों का जवाब देने की कोशिश की थी। इनमें से पहली पुस्तक समकालीन फ्राँस की कुछ घटनाओं का ऐतिहासिक भौतिकवादी नजरिये से विश्लेषण था। सरल व्याख्या तथा बड़े-बड़े सामान्यीकृत (generalised) व्याख्या छोड़कर मार्क्स ने 1830 और 1840 के दशकों में फ्राँसीसी समाज की जटिलताओं को समझने की कोशिश की और The Eighteen Brumarie में मार्क्स ने एक सोची समझी सावधानी पूर्व फ्राँस के राजनैतिक इतिहास का काल-विभाजन करने की कोशिश की। उन्होंने इस बात को सहजता से स्वीकार किया कि फ्राँस राजनैतिक इतिहास में, उसके कथानक में अभी पूँजी और श्रम कर्त्ताओं के रूप में नहीं उभर आये थे। परस्पर विरोधी राजनैतिक शक्तियाँ अलग-अलग तरीके से विस्त त सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रही थी और ये शक्तियाँ पूँजीपति और श्रमिकों तक सीमित नहीं थी। विभिन्न संविधान, राजनैतिक मोर्चे, निर्वाचन की विधियाँ, परम्परायें और विचारधारायें-या दूसरे शब्दों में राजनैतिक जीवन का समस्त भू-भाग अपने भौतिक प्रभाव छोड़ रहा था और यह केवल मौजूदा आर्थिक वास्तविकता की छाया-मात्र नहीं था। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से यह भी बताया कि कैसे अतीत से प्राप्त विरासत वर्तमान को प्रभावित करती है। मार्क्स के शब्दों में ''म त पीढ़ियों की परम्परायें जीवित के दिमागों पर बुरे सपने की तरह हावी रहती है।'' ("The traditions of dead generation weigh like a nightnare on the minds of the living") इसलिये मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद में सुझाया गया ''आधार-ऊपरी ढाँचा'' नाम का नमूना सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों को तथा एक अवस्था में विभिन्न सामाजिक पक्षों के प्रभाव को समझने का उपयोगी और लचीला साधन मात्र है। मार्क्स ने इनकों मील के पत्थर की तरह दिशा-निर्देश के लिये इस्तेमाल किया, ये कोई अनुभववादी तथात्मक घटनाओं के वर्णन नहीं हैं। ये अस्थायी व्याख्यायें हैं जिनसे हम समाज को समझने की कोशिश कर सकते हैं। **दि जर्मन आइडियोलॉजी** में मार्क्स ने साफ कहा था कि अनुभववादी पर्यवेक्षण से हमें अलग-अलग परिस्थितियों में, बिना रहस्यवाद का, अटकलबाजी का सहारा लिये सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक पक्षों का सम्बन्ध ढूँढना चाहिये। जिसे भौतिकवादी ऐतिहासिक द ष्टिकोण के नाम से हम जानते हैं-उस द ष्टिकोण का मार्क्स ने 1883 में अपनी म त्यु तक भी कोई विस्त त सैद्धान्तिक वर्णन नहीं तैयार किया था। राजनैतिक गतिविधियों विशेषकर इन्टरनेशनल बर्किंग मेन'स एसोसिएशन में उनकी भागीदारी तथा खराब सेहत के कारण इस तरह के प्रयास के लिए उनके पास समय नहीं था। मार्क्स के लिखित पत्र, लेख, कापियाँ काम चलाऊ लिखित दस्तावेज आदि ही उनके द्वारा तैयार किये गये-इनमें से बहुत से छपने के लिये अंतिम रूप में वे स्वयं तैयार नहीं कर पाये थे। **कैपिटल** का प्रथम खंड उन्होंने तैयार कर दिया था। लेकिन यह भी उनकी म त्यु के बाद ही छपा था। मार्क्स की म त्यु के बाद उनके सहयोगी एंजेल्स ने उनकी हस्तलिखित सामग्री का सम्पादन करके, कई बार दुबारा लिखकर छपवाया था जैसे कैपिटल के खंड 2 और 3 का प्रकाशन इसी तरह एंजेल्स के द्वारा किया गया था। कहने का अर्थ यह है कि मार्क्स द्वारा लिखित संग्रह बहुत ही बिखराव वाला तथा कमियों वाला है। इसके अलावा मार्क्स के अध्ययन की मुख्य विषय-वस्तुयें-जैसे दीर्घकालीन इतिहास के परिवर्तन में उत्पादक-शक्तियों की निर्धारक शक्ति, इतिहास में वर्ग-संघर्ष की मुख्य भूमिका, आर्थिक उत्पादन और राजनैतिक संरचनाओं के बीच अंर्तसम्बन्ध आदि इस तरह की हैं कि इनमें अधिकांशत सार रूप में और कहीं-कहीं विस्त त विश्लेषण मिलता है। इनमें आपस में कई बार सुसंगति या तारतम्यता नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि उल्टा कई बार ये विरोधी दिशाओं में संकेत करती दिखाई देती हैं। जैसे मार्क्स में हमें एक तनाव यह दिखाई पड़ता है कि कई बार वे सामाजिक कत्ताओं (social agency) पर बल देते हैं कि कैसे चेतन मानव स्वयं सामूहिक क्रिया-कलापों से इतिहास का निर्माण करते हैं तथा कई बार संरचनात्मक तत्त्वों के

(विशेषकर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों का) मानवीय व्यवहार पर और उसके निर्धारण पर बल देते हैं। यही विरोधाभास हमें इस रूप में भी दिखाई पड़ता है कि कई बार वे समाज को समझाने के लिये एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त और नमूने के निर्माण की बात करते हैं तो कई बार विशिष्ट समय में अनुभववादी विश्लेषण पर अधिक बल देते हैं। मार्क्स एक नये सिद्धान्त की नींव रख रहे थे और उसमें व्याप्त अस्थायी भाव तथा अनिश्चितता ही उसके विकास का सबसे महत्वपूर्ण कारण बनता है।

1880 के दशक में जब यूरोप में मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर कई समाजवादी दलों का विकास शुरू हुआ तब ये सैद्धान्तिक कमियाँ महसूस की गई। एंजेल्स ने मार्क्स के कई रचनायें उपलब्ध करायी और स्वयं एंजेल्स ऐतिहासिक भौतिकवादी की सरलीकृत व्याख्या के खासकर सब मानवीय क्रिया-कलापों को आर्थिक संरचनाओं का परिणाम के रूप में देखने के विरोधी थे हाँलाकि एंजेल्स की कई रचनाओं ने स्वयं यह अहसास दिया कि ऐतिहासिक, भौतिकवाद एक सुव्यवस्थित तथा सम्पूर्ण सिद्धान्त है जिसके आधार पर किसी भी अनुभववादी सामाजिक-वास्तविकता का विश्लेषण किया जा सकता है। इन रचनाओं में प्रमुख थी-एंटी डयूहरिंग (1878) तथा Ludwig Feurbach and the outcome of classical German Philosophy (1888)। जर्मनी में और कई अन्य जगहों में भी प्राकृतिक विज्ञान के नजदीक साबित करने की ललक ने तथा मार्क्स और डार्विन की विकासवादी धारणा में समानता दिखाने के उद्देश्य से एंजेल्स ने (कई स्वयं मार्क्स ने) ऐतिहासिक भौतिकवाद को एक प्रत्यक्षवादी (postivist) पद्धति के रूप में स्थापित करने की कोशिश की जो प्राकृतिक विज्ञान के नमूनों पर आधारित थी। कार्ल काउत्सकी तथा जार्जी प्लेखानोव दूसरी पीढ़ी के मार्क्सवादी थे जिन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों की अधिकारपूर्ण व्याख्या करने की कोशिश की। काउत्सकी द्वारा 1927 में जर्मन भाषा में लिखी, ''इतिहास की भौतिकवादी धारणा'' तथा प्लेखानोव द्वारा लिखी 1919 में ''भौतिकवाद के बचाव में'' (In Defence of Materialism) ऐसी रचनायें थीं जिनमें मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति को जोरदार तरीके से वैज्ञानिक पद्धति के नजदीक होने की बात दुहराई गयी थी। दोनों ही विद्वानों ने अपनी व्याख्या में 1859 में मार्क्स द्वारा रचित A contribution to the critique of Political Economy की प्रस्तावना का सहारा लिया था और सार्वभौमिक इतिहास के निर्माण में संकीर्ण तरीके से उत्पादक शक्तियों के विकास पर बल दिया था। यही नहीं उत्पादक शक्तियों की व्याख्या भी संकीर्ण तरीके से ही की गई थी और तकनीकी द्वारा इनके निर्धारण को ही मुख्य माना गया था। इन मार्क्सवादी विद्वानों ने इतिहास को मानव द्वारा तकनीकी के माध्यम से विजित करने और नियंत्रित करने वाली द ढ़ और अटल तथा लगातार जारी प्रक्रिया के रूप में देखा। इन विद्वानों से राजनैतिक मतभेद के बावजूद रूसी मार्क्सवादी विचारक बुखारिन ने अपनी 1925 रचित पुस्तक ''ऐतिहासिक भौतिकवाद'' या स्टालिन ने 1938 में लिखी ''द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद'' में उनके द्वारा ''उत्पादक शक्तियों द्वारा इतिहास की गति को निर्धारण'' करने की धारणा को ही प्रतिस्थापित किया।

इसका यह अर्थ भी नहीं है कि दूसरी पीढ़ी के मार्क्सवादी विचारकों की मार्क्सवादी इतिहास लेखन में कोई भूमिका नहीं रही। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले, ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार कई अध्ययन मार्क्सवादी विद्वानों ने किये। जैसे काउत्सकी ने ईसाई धर्म के उद्भव और थॉमस मूर पर ऐतिहासिक अध्ययन किये और एडुआर्ड बर्नस्टीन ने 1640 और 1650 के दशकों में ''इज्लिंस क्रांति'' पर अध्ययन किया। उनके द्वारा लिखी गई ''क्रोमवेल तथाकम्युनिज्म'' कृति थी जिसमें अंग्रेजी राजनैतिक सुधार की माँग करने वाले लेवलर्स (Levellers) की भूमिका पर नयी सामग्री उन्होंने जुटाई। इसके अलावा राजनैतिक कार्यकत्ताओं के लिए मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल इतिहास को समझने का तरीका ही नहीं था बल्कि उनके वर्तमान के राजनैतिक व्यवहार के लिए ज्ञान हासिल करने का एक साधन भी था। कई सारे समकालीन इतिहास और परिस्थितियों को समझने के लिये लिखे गये

अध्ययन ऐतिहासिक ज्ञान के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। इनमें प्रमुख-प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. काउत्सकी, दि अग्रेरेरियन क्यूसचन (1898)
2. लेनिन, रूस में पूँजीवाद का विकास (1899)
3. हिल्फरडिंग, वित्तिय पूँजी (1923)
4. बुखरिन, इम्पीरियलीजम एडं वर्ल्ड एकानामी (1929)
5. लेनिन, साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की चरमसीमा (1919)

ये सारी की सारी रचनायें समकालीन समस्याओं के संदर्भ में की गई थीं लेकिन इनमें इतिहास को समझने के लिये आवश्यक ऐतिहासिक उपकरणों और धारणाओं का उपयोग किया गया था।

जहाँ रूसी बोल्सेविक पार्टी ने 1920 के दशक के बाद इतिहास की व्याख्या संकीर्ण तरीके से करके एक निर्धारणवादी रवैया अपनाया, उसी जगह 1920 के दशक से ही पश्चिमी यूरोप में मार्क्सवादी सिद्धान्त की कई विद्वानों ने अलग तरीके से व्याख्या भी की। इनमें इटली के कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक तथा नेता, अन्टोनियो ग्राम्शी प्रमुख थे जो 1926 के बाद से फासिस्ट जेलों में रहे जहाँ उन्होंने अपनी महत्त्वूर्ण **Prison Notebooks** लिखी। ग्राम्शी ने इतिहास को एक यांत्रिकीय फार्मूले की तरह इस्तेमाल न करके, चेतना, संस्कृति, मानवीय कर्त्ता जैसे महत्वपूर्ण पक्षों पर बल दिया। इसी प्रकार जार्ज लुकास ने **'इतिहास और वर्ग चेतना'** (1923) में वस्तु-पूँजी (commodity festishism) की मार्क्सवादी धारणा की नये तरीके से व्याख्या की। जार्ज लुकास का प्रभाव 1930 के दशक में उभरे फ्रैंकफर्ट मत पर साफ झलकता था जिसमें वाल्टर बैनजामिन, होर्क हाइमर, हर्बर्ट मारक्यूज तथा थियोडोर अर्डोनों जैसे जाने माने विद्वान थे-जिन्होंने मार्क्स की हेगेल से समानताओं को इस्तेमाल करके तथा नई वैचारिक धाराओं का प्रयोग करके, दर्शन तथा संस्कृति की आलोचना के नये आयाम खड़े किये। लेकिन व्यवहारिक इतिहास-लेखन में मार्क्सवाद के व्यापक प्रभाव की शुरूआत मॉरिस डॉब की *Studies in the Development of Capitalism* (1946) से मानी जा सकती है। इसके बाद से मार्क्सवादी ऐतिहासिक अध्ययनों की बाढ़ सी आ गई। आजकल सभी देशों और क्षेत्रों में, लचीलेपन के साथ मार्क्सवादी इतिहासकार अहम भूमिका निभा रहे हैं।

इतिहास की पर्यावरण-सम्बन्धी धारणा

1. इतिहास की यांत्रिक और भौगोलिक व्याख्याएँ परस्पराश्रित और एक दूसरे की पूरक हैं। प्राकृतिक क्रम और परिस्थितियों की प्रक्रिया की समता पर ही इतिहास की यांत्रिक व्याख्या आधारित हैं जब इस द ष्टिकोण से विचार करते हुए हम संस्कृति और समाज की विविधता को भौतिक परिस्थितियों की विभिन्नता से सम्बन्धित करते हैं तो इतिहास की भौगोलिक व्याख्या सामने आती हैं इस व्याख्या के अनन्त रूप प्राचीन काल से मिलते हैं और इतिहास-दर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी उनसे परिचित है। यहाँ उन सब का वर्णन न करके आधुनिक काल के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा करना पर्याप्त है।
2. **ल्प्ले**—गत शताब्दी में प्रसिद्ध फ्रैंच समाजशास्त्री फ्रैदरिक ल् प्ले ने मानव समाज के विकास की प्रक्रिया में भौगोलिक और भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव पर बहुत जोर दिया था। ल्प्ले (1806-1881) एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक और खनिज विज्ञान के आचार्य थे। उन्होंने यूरोप के विभिन्न देशों में खनिज सम्बन्धी योजनाओं का संगठन किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक समाजों का अध्ययन किया और उनकी प्रव ति सामाजिक विद्याओं की ओर बढ़ी। 'ला रिफोर्म सोसियाल ऑफ फार्म' (फ्राँस के सामाजिक सुधार), 'कोंसतीत्यूसियों आसाँसिएल', (मौलिक संविधान) आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उन्होंने 'ला रेफोर्म सोसियाल' शीर्षक पत्रिका का

प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसमें महत्वपूर्ण सामग्री संकलित है। ल्प्ले स्थान, व्यवसाय और जन (परिवार) के पारस्परिक सम्बन्ध को बहुत महत्व देते थे। उनके मतानुसार किसी परिवार या जाति का स्वरूप और व्यवसाय उसकी भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। इन परिस्थितियों की खोज और पर्यवेक्षण से सामाजिक प्रक्रिया का ज्ञान हो सकता है।

3. **देमूले**—ल्प्ले के विचारों को एदमों देमूलें (1842-1907) ने ग्रहण किया। उनका जन्म मार्सेई के एक चिकित्सक के यहाँ हुआ था। 1873 में उन्हें पेरिस इस उद्देश्य से बुलाया गया कि वे फ्रेंच समाज का इतिहास लिखें और अभिजात वर्गों के इस आरोप का उत्तर दें कि सामान्य जनता का फ्राँस के इतिहास में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं रहा। अतः उन्होंने 4 भागों में फ्राँस का इतिहास लिखा और एक 'मध्यकालीन नागरिक आन्दोलनों का इतिव त्त' (ल् मूवमाँ कोम्यूनाल ए म्युनिसिपल आँ मोइयानाज़) तैयार किया। 1880 से वे ल्प्ले और तूरविल के विचारों से प्रभावित हुए। उनकी प्रसिद्ध कृतियों में, 'आ क्वा त्यां ला स्युपेरियोरिते दे आंग्लो-साक्सों (एंग्लो-सेक्शन जाति के महत्व का कारण) 'लेदुकासियों नूवल (नवीन शिक्षा), 'लै फ्राँसे दोजूरदुई', (आजकल की फ्रेंच जाति) और 'कोमा ला रूत क्रे ल्तिप सोसियाल' (मार्गों से समाज कैसे बनते हैं) महत्वपूर्ण हैं।

देमूलें की प्रमुख स्थापना यह है कि समाज और जाति का स्वरूप उस मार्ग की भौगोलिक अवस्था पर निर्भर होता है जिससे उसके पुरखों ने संचरण किया हो। मध्य-एशिया और पूर्वी-यूरोप के स्तेपों की प्रमुख पैदावार घास है। घास के सार्वभौम अस्तित्त्व के फलस्वरूप वहाँ के निवासियों का सार्वजनिक व्यवसाय भी पशुपालन ही है। वहाँ के जीवन में घोड़े की प्रमुखता है क्योंकि यह उन परिस्थितियों के अनुरूप मनुष्य की सब आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। खान, पान, निवास, वेश, कला, मनोरंजन, आदि संस्कृति के सभी पक्ष इन परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करते हैं। चूँकि भूमि अनायास ही घास का उपहार प्रस्तुत करती है, अतः वह सब की सामूहिक सम्पत्ति मानी जाती है। वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रादुर्भाव तो वहाँ होता है जहाँ मनुष्य को भूमि से आहार ग्रहण करने के लिए परिश्रम करना पड़ता हैं। स्तेपों का साम्यवाद पित सत्ताक व्यवस्था पर आधारित होता है। व्यक्ति परिवार का और परिवार समाज का एक कोशा-मात्र होता है। पारस्परिक संगठन और संतुलन चरम सीमा पर पहुँचा होता है। रूढ़िवाद और परम्पराप्रियता द ढ़ता से बद्धमूल होती है। ये समाज घास की परिवर्तनशील हरीतिमा के साथ-साथ घूमते रहते हैं। जब ये कारवाँ किसी योग्य नेता के नेत त्व में आ जाते हैं तो इनकी सामूहिक शक्ति साम्राज्यों का निर्माण करती है अतीला, चिंगीस और तीमूर आदि के साम्राज्य इसी प्रकार विकसित हुए। किन्तु स्थायी जीवन से अनभिज्ञ होने के कारण वे इन साम्राज्यों को सँभालने में असमर्थ रहते हैं। फलतः पुच्छल तारे की तरह वे अपनी क्षणिक चमक दिखाकर लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार स्तेप के भूगोल ने घुमक्कड़ समाजों के स्वरूप को पूर्णतः निर्धारित किया है।

घुमक्कड़ समाजों का एक समूह उत्तर की ओर बढ़ता हुआ टुण्ड्रा के प्रदेश में जा पहुँचा। अतः सील, मत्स्य और रेनडीयर के प्रदेश ने उनके सामाजिक स्वरूप में आमूल परिवर्तन कर दिये। एसकीमो और लाप जाति का जीवन इस परिवर्तन को परिलक्षित करता है। बहुत दिन हुए इन जातियों के लोग बेरिंग सट्रेट को पार करके अमेरिका में प्रविष्ट हुए। वे घास के मैदान (सवन्ना) में से गुजरकर दक्षिण-पूर्व के सरोवर-प्रदेश में आये। उनका स्वरूप फिर बदला और वे प्रेरीज़ के शिकारी बन गये। उनमें पित सत्ताक-व्यवस्था बनी तो रही, किन्तु कुछ क्षीण हो गयी। जो लोग पहाड़ी इलाकों में बस गये उनका स्वरूप एकदम भिन्न हो गया। दक्षिणी अमेरिका के जंगलों में पहुँचकर तो परिवार को साथ रखना असंभव हो गया। अतः परिवार

व्यवस्था भंग हो गयी। पति और पत्नी का ही एक जगह निर्वाह हो सकता था। बच्चे बड़े होते उनसे प थक् हो जाते थे। इस प्रकार विभिन्न भूभागों और प्रदेशों के भूगोल ने सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप निश्चित किया।

देमूलें का विचार आदिम जातियों के विषय में तो चरितार्थ हो सकता है, किन्तु उससे संस्कृत जीवन की जटिलताओं की व्याख्या करनी कठिन है। जब वे पिथागोर के दर्शन को इटली के पादवर्ती समुद्र के व्यापार की कुंजी से सुलझाने का यत्न करते हैं तो उनकी व्याख्या हास्यास्पद हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका प्रयत्न और सिद्धान्त एक-पक्षीय है।

4. **तूरविल**—ऑरी द् तूरविल (1842-1903) ने इतिहास की शिक्षा प्राप्त की। 1863 में उन्होंने पादरी का कार्य आरम्भ किया और 1873 में पेरिस के सन्त ऑगस्तीन के गिरजे के विकार बन गये। उन्होंने ल् प्ले के विचारों को अपनाया और उनकी परिधि को विस्त त किया। उनकी रचनाओं में 'इस्त्वार द् ला फोर्मासियों पर्तिकुलारिस्त', 'लोरोजीन दे ग्रां पप्ल आक्त्वल' जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'द ग्रोथ ऑफ मॉडन नेशन्स', शीर्षक से प्रकाशित हुआ, उल्लेखनीय है।

तूरविल ने व्यक्तिवादी समाज के विकास का गम्भीर अध्ययन किया। उनके मतानुसार पित सत्ताक व्यवस्था के कुछ लोग ओदीन के नेत त्व में दोन के प्रदेश से चले जो रूस के दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित है और स्केन्दीनेविया में जा बसे। वहाँ स्केन्दीनेविया के पश्चिमी भाग की भौगालिक स्थिति ने पित सत्ताक समाज को व्यक्तिवादी समाज में बदल दिया। नॉर्वे में उर्वर भूमि की कमी और फियोर्दों की बहुतायत के कारण वे नवागन्तुक मछली पकड़ कर अपना जीवनयापन करने लगे। इन फियोर्दों में छोटी किश्तियाँ ही चल सकती थीं जिनमें अधि ाक से अधिक पति-पत्नी और एक-दो बच्चे बैठ सकते थे। इन लोगों में आत्मनिर्भरता, साहस और स्वतन्त्रता का भाव बद्धमूल हो गया। व्यक्तिवादी समाज का प्रादुर्भाव हो गया। स्केन्दीनेविया से कुछ लोग वैयक्तिक रूप से सेक्सनी में जा बसे और वहाँ से धीरे-धीरे पश्चिमी यूरोप में फैल गये। वे फ्रेंक कहलायें। पहले वे रोमन सम्राटों के अनुचर और कर्मचारी बने। फिर मेरोविंजियन और केरोलिंजियन सम्राटों के यहाँ काम करने लगे। उन्हें जो भूमि और सम्पत्ति मिली उस पर वे स्वतंत्र रूप से कार्य करते थे। उन्होंने एकतन्त्रीय शासन पर विजय पायी और अपना स्वतंत्र संविधान प्रचलित किया जिसे सामन्तशाही (फ़्यूडलिज्म) कहते हैं। धीरे-धीरे यूरोप में फिर से पित सत्ताक व्यवस्था का जोर हो गया; किन्तु जो लोग इंग्लैण्ड में जा बसे थे उन्होंने व्यक्तिवादी व्यवस्था को जीवित रखा। वहाँ से ये लोग अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि में जा बसे।

5. **हंटिंगडन**—एलस्वर्थ हंटिंगडन (1876-) ने सिद्ध किया है कि जलवायु ऐतिहासिक परिवर्तनों का आधार है। उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'सिविलिज़ेशन एण्ड क्लाईमेट' (सभ्यता और जलवायु), 'वर्ल्ड पावर एण्ड एवोलूशन', (विश्व-शक्ति और विकास) और 'दि केरेक्टर ऑफ रेसेज़', (जातियों का स्वरूप) हैं। उनके सिद्धान्तों पर मोंतेस्कयू और बकिल का गहरा प्रभाव है। उनके मतानुसार इतिहास की प्रक्रिया और सभ्यता का उत्थान-पतन जलवायु पर निर्भर है। उनका सिद्धान्त यह है कि आदर्श तापमान 64 डिग्री फारनहाइट और आदर्श नमी 80 डिग्री है। जब जलवायु इस आदर्श के निकट पहुँचता है तो सभ्यता की उन्नति होती और जब वह इससे हटता है तो सभ्यता का ह्रास होता है। जलवायु, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति और मानसिक क्षमता का अभिन्न सम्बन्ध है। चूँकि इन तत्वों और तथ्यों के विकास और अभिव्यक्ति का नाम ही सभ्यता है इसलिए जलवायु और सभ्यता का भी घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। हंटिंगडन ने यूनान, रोम, तुर्की, जर्मनी, आदि देशों का इतिहास इस द ष्टिकोण से समझने की चेष्टा की।

किन्तु उनके सिद्धान्त बहुत कुछ कल्पना-प्रसूत हैं। कैलीफोर्निया के व क्षों की परिधियों से उन्होंने जलवायु के परिवर्तन का जो अनुमान किया वह सार्वजनिक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल के जलवायु का निश्चय करना पूर्णरूप से संभव नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि अनुकूल और उपयुक्त जलवायु का मानव विकास की प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव पड़ता है परन्तु यह मानना कि जलवायु ही एकमात्र इतिहास की प्रक्रिया का उपकरण है, एक-पक्षीय और असंगत प्रतीत होता है।

6. **रातजल और भू-राजनीति**—फ्रीडरिख **रातज़ल** (1844-1904) एक प्रसिद्ध जर्मन भूगोलशास्त्री थे। उनके विचार 'शारीरिक विकास' के सिद्धान्तों से संश्लिष्ट थे। उनकी विचारधारा 'एन्थ्रोपोज्योग्रेफी' कहलाती है। वे मानव भूगोल की गतिशीलता और सक्रियता में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार वातावरण संस्कृति को निर्धारित करता है। मानव जाति के संचरण और पार्थक्य में सामूहिक अवयवी (ऑर्गेनिक) शक्तियाँ काम करती हैं और उन्हीं से ऐतिहासिक प्रक्रिया का संचालन होता है।

रातज़ल की प्रमुख विचारधारा 'स्थान' (राउम) से सम्बन्धित थी। जिस राष्ट्र का 'स्थान', प्रदेश और क्षेत्र विस्तीर्ण होते हैं और सदस्यों की 'देश-धारणा' (स्पेस कन्सेप्शन) भी प्रसरणशील होती है और फलतः उनमें प्रसार, युद्धप्रियता, आशावाद, यौवनोल्लास, उन्नति और प्रगति का भाव बद्धमूल हो जाता है, इसके विपरीत छोटे आकार के राष्ट्रों की 'देश-धारणा' संकुचित होती है। जिससे निराशावाद, उत्साहहीनता, वार्द्धक्य, विश्रान्ति, संकीर्णता और वैमनस्य का भाव जड़ पकड़ता है। प्रत्येक जाति अपनी 'देश-धारणा, (स्पेस कन्सेप्शन) को विस्तीर्ण करने की चेष्टा करती है। इसी से ऐतिहासिक परिवर्तन होते हैं। रातज़ल के मतानुसार संस्कृति और स्थान अथवा देश का अवयवित्वमय (ऑर्गेनिक) सम्बन्ध है।

रातज़ल के विचारों की छाया उनके शिष्य हांज हेलमोत के 'वेल्तगेशिश्ते', (विश्व-इतिहास) में परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान नात्सी-युग के भू-राजनीति (जियोपोलिटिक्स) के सिद्धान्त पर इनका गंभीर प्रभाव पड़ा है। इस सिद्धान्त को म्युनिख के भूगोलशास्त्री कार्ल हाउजहोफेर ने विकसित किया और कहा जाता है कि हिटलर की युद्धनीति पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस सिद्धान्त के अनुयायी यह मानते हैं कि किसी राष्ट्र का जीवन और नीति उसकी भौगोलिक परिस्थिति और देश-धारणा पर निर्भर होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति देश-धारणात्मक सम्बन्धों की प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक संस्कृति एक अवयवी है जो अपनी मात भूमि में बद्धमूल रहती है। इस भूमि का स्वरूप, रचना स्थिति और देश-विस्तार उसके जीवन की दिशा और गति को निर्धारित करते हैं। अतः राष्ट्रीय नीति के निर्माण के भौगोलिक तत्वों का प्राधान्य रहता है। रूस और जर्मनी का प्रदेश 'विश्वद्वीप' का 'हृदयस्थल' है। जो राष्ट्र इस प्रदेश पर अधिकार करेगा। वह 'विश्वद्वीप' का स्वामी होगा और फलतः विश्व-साम्राज्य का अधिकारी होगा। अतः भू-राजनीति के अनुयायी जर्मनी के प्रसार और जर्मन-रूसी एकीकरण के प्रबल समर्थक थे। कहा जाता है कि जर्मनी और रूस में द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में जो संधि हुई थी वह इन विचारकों की सबसे बड़ी सफलता थी। ऑस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया और पोलेण्ड आदि देशों में जर्मनी ने जो प्रसार और अधिकार की नीति अपनायी उसकी घोषणा भू-राजनीति के अनुयायी बहुत पहले कर चुके थे। प्रसिद्ध जर्मन विचारक ओस्वाल्ड स्पेंगर इस सिद्धान्त से काफी प्रभावित हुए थे। किन्तु र्‌युडोल्फ हेस के निष्कासन और जर्मन-रूसी युद्ध के आविर्भाव से इन विचारकों की भावना पर तुषारपात हो गया। आजकल वैज्ञानिक और आर्थिक प्रसार की प्रव त्ति ने इस दर्शन को निरर्थक सिद्ध कर दिया है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसकी युद्ध-विषयक मान्यताएँ बड़ी मार्मिक थीं।

7. **मूजिओल**—पी॰ मूजिओल ने अपने ग्रन्थ 'ले प्रोब्लेम द् लिस्त्वार' (इतिहास की समस्या) और 'स्तातिक दे सिविलिज़ासियो' (सभ्यताओं का स्थिति-शास्त्र) में 'ऊँचाई का नियम' निर्धारित किया। उनके मतानुसार सबसे अधिक उन्नत और जनाकीर्ण प्रदेश तथा नगर ऊँचे प्रदेशों से निचले प्रदेशों की ओर सरकने की प्रव त्ति प्रकट करते हैं। उत्तर में पर्वतीय प्रदेशों से सदा दक्षिण की ओर आक्रमण होते रहे हैं ओर इनसे इतिहास का ताना-बाना बनता रहा है। विशेषतः ट्यूटन जातियों के इतिहास में यह प्रव त्ति द ष्टिगोचर होती है। किन्तु इसके अपवाद भी अनेक हैं। भारत में मराठों ने दक्षिण से उत्तर की ओर अभियान किया और चोलों ने उनसे पहले उत्तर की ओर प्रसार किया।

8. **मत्तिऊजी**—ए॰ मत्तिऊजी ने सिद्ध किया कि प्राचीन मिस्त्र, असुरिया, ईरान, यूनान, रोम आदि के राजनीतिक संगठन का आधार इन देशों की भौतिक परिस्थिति थी। मिस्त्र और खल्दिया में नील और दलजा-फ्रात नदियों का प्रवाह अनियमित था। बाढ़ के दिनों में कहीं ज्यादा पानी हो जाता था, कही कम। अतः कुछ जनपद तो सम द्ध हो जाते थे और कुछ तंगी में आ जाते थे। उनमें पारस्परिक संघर्ष भभक उठता था। इस अशांति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए सुद ढ़ केन्द्रीय प्रशासन की आवश्यकता थी। अतः मिस्त्र और सुमेर के साम्राज्यों का अभ्युदय हुआ। ईरान में नदियों का कार्य पर्वतों ने किया। उन्होंने प्रदेश को अनेक भूखण्डों में बाँट कर वैमनस्य को जन्म दिया और केन्द्रीयकरण की समस्या को तीव्र कर दियांफिनिशिया में समुद्रतट और पर्वतमालाओं ने प थकता की परिस्थिति उत्पन्न करके जनराज्य की परम्परा को द ढ़ किया। यूनान का राजनीतिक संगठन समुद्र, भूमि और पर्वतों का परिणाम था। मत्तिउजी ने अपने विचार अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ले फाक्तर द् लेवोल्यूसियों द्पप्ल' (जातियों के विकास के तत्व) में प्रकट किये।

   मत्तिऊजी के विचार आंशिक रूप से ही ग्राह्य है। यह तथ्य कि एक ही प्रकार के केन्द्रीय शासन को वे नदी और पर्वत-जैसे विभिन्न तत्वों द्वारा समझाने की चेष्टा करते हैं उनके सिद्धान्त की दुर्बलता का परिचय देता है।

9. **वार्ड और गिलफिलन**-बहुत-से यूरोपीय विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि उत्तर के शीत कटिबन्ध के लोग दक्षिण के उष्ण कटिबन्ध के लोगों से अधिक सम द्ध, समुन्नत और पुष्ट होते हैं। मोतेस्क्यू, वाले, आदि के लेखों में इन विचारों की आव त्ति मिलती है। वर्तमान काल में आर॰ वार्ड ने अपने 'क्लाइमेट' (जलवायु) शीर्षक ग्रन्थ में इन विचारों को वैज्ञानिकता का चोला पहनाने की चेष्टा की है। आर्य आदि उत्तरी जातियों ने भारत पर विजय प्राप्त करके जो साम्राज्य स्थापित किये, मंगोल; मंचू-जैसी जातियों ने चीन पर अधिकार करके जो व्यवस्थाएँ बनार्यी और यूनानी, रोमन तथा ट्यूटनों ने यूरोपीय संस्कृति के निर्माण में जो महत्वपूर्ण कार्य किया वह इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए प्रमाणरूप से प्रस्तुत किया जाता है।

   गिलफिलन की धारणा है कि उत्तर के ठण्डे देशों के लोंगों ने ही विश्व का नियंत्रण और प्रशासन किया। जैसे-जैसे संस्कृति का केन्द्र उत्तर से दक्षिण की ओर खिसकता है उनकी अवनति और ग्लानि होती है। जब रोम का महत्व कार्थेज और सिकन्दरिया में अवतीर्ण और ग्लानी होती है। जब रोम का महत्त्व कार्थेज ओर सिकन्दरिया में अवतीर्ण हुआ। तो रोमन संस्कृति ह्रास के पथ पर चलने लगी और जब मध्यकाल में यह फिर उत्तरी प्रदेशों में पहुँच गया तो पुनः संस्कृति का प्रसार प्रारम्भ हो गया।

10. **आलोचनात्मक समीक्षा**—वस्तुतः भौगोलिक व्याख्या से सम्बन्धित मत-मतान्तर इतने अधिक हैं कि उनकी सम्यक् समीक्षा के लिए पूरा ग्रन्थ चाहिए। यहाँ कुछ प्रतिनिधि विचारों की ओर

ही संक्षिप्त संकेत किये जा सके हैं। इसका अध्ययन करने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से अधिकतर एकपक्षीय और अपूर्ण हैं। देमूलें का नियम कि संचरण-मार्गों द्वारा संस्कृति का स्वरूप निश्चित होता है काल्पनिक-सा है और भूजिओल की धारणा कि ऊँचे पर्वतीय प्रदेश के लोग निचले मैदानों की जनता पर सदा शासन करते हैं, सीमित तथ्यों पर आधारित है। हंटिगडन की विचारधारा भी कपोल-कल्पना प्रतीत होती है। एक तो उनकी जलवायु के परिवर्तन को नापने और निश्चित करने की पद्धति गलत है जैसा कि बार्ड ने सिद्ध किया है, दूसरे उनके विचार सब जगह लागू नहीं होते। यदि जलवायु ही जातियों के विकास का नियन्ता माना जाय तो यह पता नहीं चलता कि 1845-1890 तक जापान में ऐसा कौन-सा महत्वपूर्ण जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन हुआ जिसने एक पिछड़ी हुइ जाति को विश्व के उन्नत राष्ट्रों की श्रेणी में रख दिया। जहाँ तक रातजल की 'देश-धारणा' के सिद्धान्त का प्रश्न है, स्विट्जरलैण्ड और नीदरलैण्ड-जैसे संकुचित राष्ट्रों के उत्साह और आशावाद की व्याख्या इसके द्वारा नहीं होती; वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में बलकान के छोटे-छोटे देशों ने बड़ी प्रगति दिखायी और पिछले युग में रूस, चीन, भारत-जैसे विशाल देश अवनति के गर्त में पड़े रहे। यदि विस्त त देश ही सब कुछ होता तो यह ऐतिहासिक तथ्य क्यों सामने आता; यहूदियों का देश चारों ओर आक्रमणकारियों के लिए खुला हुआ था फिर भी वहाँ के लोगों ने अभूतपूर्व उन्नति की। वर्तमान काल में वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप यौद्धिक-पद्धति में जो युगान्तरकारी परिवर्तन हुए उनका भौगोलिक परिस्थिति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार भू-राजनीति का सिद्धान्त भी थोथा हो जाता है। मत्तिऊजी के विचार इसी से खण्डित हो जाते हैं कि एक स्थान पर केन्द्रीय प्रशासन की व्याख्या वे नदियों द्वारा करते हैं तो दूसरी जगह पर्वतों द्वारा। एक-सी ही भौगोलिक परिस्थितियों में समोअन और माओरी जातियों ने सामन्ती और अभिजात व्यवस्थाओं को विकसित किया और पपुअन जाति ने सामूहिक साझे की पद्धति को अपनाया जिसमें शासक के लिए कोई स्थान नहीं था। वार्ड की धारणा के तो अनेक अपवाद हैं। पल्लव, चोल, मराठों को छोड़ते हुए भी यह स्पष्ट है कि सुमेरी और अक्कड साम्राज्यों के निर्माता दक्षिण के लोग थे और मिस्त्र में प्रारम्भ से दक्षिण के लोगों ने उत्तरी प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित किया। यदि गिलफिलन के सिद्धान्त पर विश्वास किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि एक दिन एस्कीमो और लैप संसार का आधिपत्य प्राप्त कर लेंगे जिसकी सम्भावना नहीं दिखती। मिस्त्र में ह्रास के युगों में राजनीतिक सत्ता का केन्द्र दक्षिण की ओर नहीं, उत्तर की ओर गया। इसी प्रकार पतनकाल में यूनानी सत्ता का केन्द्र दक्षिण के एथेन्स और स्पार्ता से उत्तर में मकदूनिया और बोतिया की ओर गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त सब सिद्धान्त एकांगदर्शी हैं। मोरिस आर॰ कोहन ने इनकी समीक्षा करके लिखा है-

'इतिहासकार को भौगोलिक तथ्यों को इतिहास और संस्कृति के स्थायी नियामक तत्व नहीं समझ बैठना चाहिए, अपितु ऐसे तथ्य मानना चाहिए जो वैज्ञानिक प्रक्रियाओं तथा मानव बुद्धि और क्षमता के योग से महत्व प्राप्त करते हैं।

जातीय व्याख्या

1. **जाति और सस्कृति**—सामाजिक कार्य-कलाप में रक्त, जाति, पैत कता आदि का महत्व बहुत प्राचीन काल से आँका जाता रहा है। ऋग्वेद में आर्य और दास की जातीय व्यंजना स्पष्टरूप से मिलती है। पतंजलि (दूसरी शती पू॰ खी॰) तक के समय तक आर्य और शूद्र के भेद को श्वेत और कृष्ण वर्ण के अन्तर पर आधारित किया जाता रहा। वर्तमान काल में जातीय धारणाओं के अनेक रूप द ष्टिगत होते हैं। बफन का विचार था कि समस्त जातियाँ एक आदिम

श्वेत जाति की उपज हैं। विभिन्न जलवायु में इन्होंने विभिन्न रूप ग्रहण किये। ब्लूमनबाख ने वर्ण, केश, मुख और शिर के भेद के आधार पर मानवता को काकेशी (यूरोपीय), मंगोल, हब्शी, अमेरिकी और मलयी इन पाँच जातियों में विभक्त किया। इसी साक्ष्य पर देनीकर ने सत्रह वर्ग निर्धारित किये जो उनतीस उपवर्गों में विभाजित किये गये। इसी आधार पर दकवर्थ ने सात प्रधान जातियों का वर्गीकरण किया। रिपले ने केवल तीन ही भेद बताये-नीलनेत्र सुदीर्घ नोर्दिक, श्याम वर्ण लघुशिरस्क एलपीन और दीर्घशरस्क मेदीतरेनियन। इस प्रकार हम देखते हैं कि जातिशास्त्रियों में कोई मतैक्य नहीं है।

जातियों के निर्धारण और वर्गीकरण के साथ जो संस्कृति का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसके द्वारा इतिहास की बहुत-सी व्याख्याएँ की गयी हैं। प्रायः प्रत्येक जाति के लोगों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इस विभाजन पर जोर दिया है। फ्राँस में आँरी द् बूलेंविए ने सिद्ध किया कि फ्रेंच अभिजात वर्ग फ्रेंक या जर्मन है और विजित वर्ग केल्त है और इनके सहजात गुणों में इतना अन्तर है कि पहले का दूसरे पर शासन करना अनिवार्य है। इसके विपरीत आबे सिएस ने यह सिद्ध किया कि त तीय वर्ग (तिए एता) के लोग वास्तविक फ्रेंच हैं और अभिजात वर्ग विदेशी आगन्तुक है। अतः फ्रेंच क्रान्ति मूलतः फ्राँस देशवासियों द्वारा विदेशियों की निकालने का प्रयत्न है। वर्तमान काल में ऐसे ही कितने सिद्धान्तों द्वारा समाजिक और राजनीतिक भेदों को समझाने की चेष्टा की गयी है। यहाँ केवल चार-पाँच मतों का उल्लेख करना पर्याप्त है।

2. **गोबिनो**—जोज्फ् आर्थर द् गोबिनो (1816-82) ने एक फ्रेंच अभिजात परिवार में जन्म लिया। 1849 में उन्हें कूटनीति-विभाग में स्थान मिल गया और उन्होंने काफी यात्राएँ कीं। 'ले रिलिजियों ए ले फिलोसोफी दाँ लाजी साँत्राल', (मध्य एशिया के धर्म और दर्शन) तथा 'इस्त्वार दे पर्स' (ईरान का इतिहास) उनके एशियाई भ्रमण के परिणाम थे। उन्होंने नाटकों और उपन्यासों के रूप में विश्व-संस्कृति का इतिहास लिखने की योजना बनायी। 'ला रिनेसांस' हो गया। लापूज और अमोन ने सिद्ध किया कि आर्य जाति ही लम्बी खोपड़ी वाली है और इस कारण यह विश्व का नेत त्व करने की क्षमता रखती है। किन्तु वर्तमान जन-शास्त्रियों ने यह प्रतिपादित किया है कि आस्ट्रेलियन, एस्कीमों, न्यू केलिडोनियन, होतनतोत, काफिर और पश्चिमी अफ्रीका ने नीग्रो लोगों की खोपड़ियाँ काफी लम्बी होती हैं। फिर भी इन्होंने इतिहास में कोई प्रमुख भाग नहीं लिया। इस प्रकार जाति की मौलिक सपिना असंयत और असंगत है और इसके आधार पर इतिहास की व्याख्या करना भ्रान्तिमूलक है।

आधुनिक विद्वानों ने विशेषतः दोबजन्सकी और होगबन आदि ने यह सिद्ध किया है कि मानव शरीर का 90 प्रतिशत भाग, तन्तु, शिरा, पेशी, अंग आदि सब जातियों में एक-जैसा है। आकस्मिक घटनाओं, प थकता और परिस्थितियों के फलस्वरूप शरीर के केवल 5 प्रतिशत भाग में अन्तर मिलता है। इन्हीं से आकृति सम्बन्धी भेद उत्पन्न हो गये हैं जो जातियों के लक्षण माने जाते हैं। किन्तु इन भेदों का कोई सम्बन्ध मानसिक या सांस्कृतिक विकास से नहीं है। सीधे बाल या घुंघराले बाल, लम्बा तंग सिर या छोटा चौड़ा सिर इत्यादि शारीरिक भेद ऐतिहासिक प्रक्रिया से सर्वथा असम्बद्ध हैं। जहाँ तक खाल के रंगीन या काली होने का प्रश्न है, जिस पर जाति-शास्त्री बहुत जोर देते हैं, यह सिद्ध हो चुका है कि भूमध्यरेखा के प्रदेशों में यह सूर्य की किरणों से सुरक्षित रहने का एक प्राकृतिक आवरण है। इसके साथ कोई ऐसा भाव या गुण नहीं है जिसके आधार पर इन जातियों का तिरस्कार किया जाय। वास्तव में जैसा कि मोरिस ओपलर ने लिखा है-'मानव इतिहास शरीर के ह्रासोन्मुख महत्व और मन तथा संस्कृति के विकारोन्मुख महत्व की कथा है।' जाति का सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक तो है ही, साथ ही संकट-जनक भी है जैसा कि नात्सी-जर्मनी के उदाहरण से सिद्ध हो चुका है।

जनसंख्या व्याख्या

1. **प ष्ठभूमि**—संस्कृति के उत्थान-पतन में जनसंख्या का महत्वपूर्ण स्थान है। अफलातूं के 'गणतंत्र' में जनसंख्या और लोकमंगल का घनिष्ठ सम्बन्ध निर्धारित किया गया है। उनके मतानुसार जनसंख्या को शारीरिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी आधार पर नियंत्रित करना आवश्यक है, किन्तु अरस्तू ने इस आधार को अस्वीकार करके सम्पत्ति के द ष्टिकोण से जनसंख्या को नियमित करने का विधान प्रस्तुत किया। रोमन युग में विवाह और वंशवर्धन को प्रोत्साहर दिया जाने लगा क्योंकि अभिजात वर्गों का विस्तार कम होता जा रहा था। मध्यकाल में इस विषय की विशेष चर्चा नहीं हुई। किन्तु पुनरूत्थान युग में मेकियावली ने दुर्भिक्ष और महामारी द्वारा जनसंख्या के नियमन के सिद्धान्त को स्वीकार किया और बोतेरो के यौन-प्रव त्ति की उग्रता और खाद्य-सामग्री की सीमित उपलब्धि की चर्चा करके मालथस के कुछ विचारों की प ष्ठभूमि प्रस्तुत की। इसके बाद सर मैथ्यू हेल, सर विलियम पेटी और योहान पीतर स्यूसमिल्स के लेखों में जनसंख्या के गुणात्मक व द्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। 1789 में मालयस ने 'एसे आन दि प्रिंसिपल ऑव पॉपुलेशन (जनसंख्या के सिद्धान्त पर निबन्ध) प्रकाशित किया। उनका विचार था कि जनसंख्या में गुणात्मक व द्धि होती है। फलतः जनसंख्या खाद्य-साधनों से आगे निकल जाती है और इसका भरण-पोषण कठिन हो जाता है। यदि बुद्धिमत्ता से इसकी व द्धि को नियंत्रित न रखा जाय तो युद्ध, दुर्भिक्ष, महामारी और क्षय द्वारा इसमें प्राकृतिक कमी होने लगती है। उनके मतानुसार साम्यवाद, निर्धन-सहायता- अधिनियम आदि व्यर्थ के ढंकोसले हैं। वास्तविक प्रश्न जनसंख्या के नियंत्रण का है। मालथस के सिद्धान्त बहुत प्रचलित हुए, किन्तु उनका कड़ा विरोध भी चल पड़ा। कुछ लोगों ने यह सिद्ध किया कि जनसंख्या स्वयमेव प्राकृतिक कारणों द्वारा नियंत्रित रहती है। सर आर्चिबालड एलीसन ने यह विचार प्रकट किया कि यद्यपि खाद्य सामग्री के साधनों में स्वाभाविक व द्धि होती है, जनसंख्या का नियमन भी आवश्यक है और समुन्नत समाज में बौद्धिक नियंत्रण और कृत्रिम उपायों द्वारा यह आवश्यकता पूरी होती है। व द्धि की प्रव त्ति निस्सन्देह प्रबल है, किन्तु नियमन की प्रव त्ति भी कुछ कम प्रबल नहीं है। 1850 के पश्चात् औद्योगिक उन्नति और यूरोपीय प्रसार के फलस्वरूप जनसंख्या की समस्या से ध्यान हट गया और मालथस के विचारों को उपहासास्पद तथा निराशामय माना जाने लगा। इधर यूरोप में जन्म-स्तर गिर गया और युद्ध-शास्त्रियों तथा राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों को चिन्ता होने लगी। प्रथम महायुद्ध से पहले जनसंख्या की अवनति इस विषय के साहित्य का प्रमुख केन्द्रस्थल था। कुछ विचारकों की धारणा थी कि जन्म-विरोधक सामग्री के प्रचार और प्रयोग से जनसंख्या घट रही है, किन्तु टॉमस जेरोल्ड आदि का विचार था कि मानव उत्पादकता और उर्वरता दोनों मे प्राकृतिक और शारीरिक कारणों से कभी हो रही है। इधर मार्क्स और उनके अनुयायियों ने मालथस के सिद्धान्तों का खण्डन किया और यह सिद्ध किया कि समाजवादी व्यवस्था में खाद्य सामग्री की कमी और जनसंख्या की व द्धि का कोई प्रश्न नहीं रहेगा क्योंकि आर्थिक सम द्धि समान सार्वजनिक वितरण के लिए प्रस्तुत होगी। आजकल मालथस के सिद्धान्त को अतीत का गल्प समझ लिया गया है किन्तु जनसंख्या के द ष्टिकोण से इतिहास की प्रक्रिया की कई व्याख्याएँ सामने आ गयी हैं। इनमें से कुछ की चर्चा यहाँ अभीष्ट है।

2. **आदोल्फ कोस्त**—आदोल्फ कोस्त (1842-1901) फ्रेंच समाज-शास्त्री और समाजशास्त्र सभा के प्रधान थे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ले प्रिंसिप द्युन सोसियोलॉजी आब्जेक्टिफ, (पेरिस 1899) तथा 'लेक्सपीरियांस दे पप्ल ए ले प्रेविजियों केल ओतोरिज़' हैं। उनका विचार था कि सामाजिक तथ्य विकास के रेखात्मक पथ का अनुसरण करते हैं। जनसंख्या की व द्धि और

घनत्व से इस विकास की दिशा निश्चित होती है। जैसे-जैसे जनसंख्या की व द्धि होती है, सामाजिक विभाजन और संतुलन बढ़ता है और आदान-प्रदान की प्रक्रिया तीव्र होती है, संस्कृति और सभ्यता उन्नति करती है। नील, खल्दिया, भारत और चीन में जनसंख्या की व द्धि से सभ्यता का विकास हुआ। जब तक जनसंख्या का आकार और घनत्व बढ़ता रहा ये समाज उन्नति के पथ पर आरूढ़ रहे और जनसंख्या का ह्रास होते ही इनकी अवनति प्रारम्भ हुई।

3. **गिनी**—कोरदो गिनी रोम विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्राध्यापक रहे। ये इटली की सांख्यिकी संसद के प्रधान, 'मेत्रोन' पत्रिका के सम्पादक और अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के लेखक हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना 'ई फत्तोरी देमोग्राफिची देल एवोलूजियोन देल्ले नाजियोनी', (जातियों के विकास के जनसंख्यात्मक तत्व) है। इसमें उन्होंने जनसंख्या की उन्नति-अवनति द्वारा संस्कृति के उत्थान पतन और इतिहास की गतिविधि की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी विचारधारा इस प्रकार है।

   सामाजिक विकास के प्रारम्भ में जनता की उत्पादकता और उर्वरता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है। इससे जनसंख्या में व द्धि होती है और सामाजिक विभाजन बढ़ता है। धीरे-धीरे अभिजात और निम्नवर्गों की उर्वरता में अन्तर होने लगता है। किन्तु अभिजात वर्गों की तीव्र व द्धि से देश की जनसंख्या अधिक हो जाती है। जनता निवास के लिए नूतन प्रदेश ढूँढने लगती है। उपनिवेश, प्रसार, सम्राज्य और सामरिकता का बोलबाला हो जाता है। राष्ट्रीय और जातीय भावना द ढ़ हो जाती है। युद्ध और उन्नति की दुन्दुभि बजने लगती है। किन्तु युद्ध और निष्कासन तथा बहिर्गमन से समाज के उत्तम तत्व क्षीण हो जाते हैं। निम्न वर्गों की उर्वरता कम हो जाने के कारण जनसंख्या घटने लगती है निम्न वर्गीय लोग समाज पर छा जाते हैं। उनकी प्रतिभा और क्षमता साधारण होती है। वे समाज के केन्द्रस्थलों पर अधिकार करके कार्यस्तर को गिरा देते हैं। अभिजात और निम्न वर्गों के भेद दूर हो जाते हैं। जनतंत्र का आगमन होता है। जनसंख्या की अवनति और उपनिवेशों के शोषण के कारण आर्थिक सम द्धि तो बढ़ती है, जीवन का स्तर भी उठता है। विलासिताएँ बढ़ती हैं, कला, व्यापार और उद्योगों की उन्नति होती है, किन्तु शान्तिप्रियता और सार्वजनिकता भी छा जाती है इससे राष्ट्रीयता का ह्रास और कर्मण्यता का क्षय होता है। पतन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। पतन का प्रथम लक्षण जनसंख्या की कमी होता है। ग्राम से लोग नगर की ओर अधिक बढ़ते हैं और खेतीबाड़ी में कमी आ जाती है। फलतः आर्थिक विपन्नता पैदा होती है। नागरिक और औद्योगिक वस्तुओं के खरीददार लुप्त हो जाते हैं। अतः आर्थिक संकट, श्रम-विप्लव, जनक्रान्ति, अधिनायकशाही आदि का साम्राज्य हो जाता है। समाज पतित और म त हो जाता है। गिनी ने इस द ष्टि कोण से रोम, यूनान, और फ्राँस के इतिहास का अध्ययन किया है। उनका विचार है कि फ्राँस और यूरोप का इतिहास पतन की ओर चल रहा है।

4. **कार्ली**—गिनी से मिलते-जुलते कार्ली के विचार हैं। वे मानते हैं कि समाज की उर्वरता के कम होने से आवष्किारों की संख्या में कमी हो जाती है और जाति 'आशा और सम्भावना' (ला फेदे नेल्ले पोसीविलीता) फीकी पड़ जाती है। इससे आर्थिक क्षेत्र में भयानक प्रतिक्रिया होती है। मनोविज्ञान ही बदल जाता है। समाज की एकता लुप्त हो जाती है। व्यक्तिवाद और स्वार्थ बढ़ जाता है। राष्ट्र के उत्कर्ष और महत्व के आदर्श के स्थान पर धनलिप्सा और जिघ क्षा बढ़ जाती है। सामरिक वीरता का पद शान्तिमय विलासिता को मिल जाता है। जैसे-जैसे अभिजात वर्ग क्षीण होते जाते हैं, समाज का पतन और संस्कृति का क्षय होता जाता है, क्योंकि अभिजात वर्गों की एकता और व द्धि ही सामाजिक उत्कर्ष का लक्षण और कारण है। कार्ली ने अपने विचार अपने ग्रन्थ 'लेपवीलिब्रियो देल्ले नाजियोनी' में व्यक्त किये हैं।

5. **आलोचनात्मक समीक्षा**—जनसंख्या सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों में इतना सार तो अवश्य है कि इसकी व द्धि की चुनौती से जातियाँ नवीन सर्जन कार्य में प्रव त्त होती हैं। यूनान में जब जनसंख्या बढ़ी तो कोरिन्थ और केलिसस ने उपनिवेशीकरण की नीति अपनायी, स्पार्ता ने अपने पड़ोसियों को लूटने-खसोटनें का काम शुरू किया और एथेन्स ने अपनी आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक संगठन को ठीक करके उत्पादन में व द्धि की और निर्यात को बढ़ाया। परन्तु यह बात कि एक ही चुनौती की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई इस तथ्य की द्योतक है कि ऐतिहासिक गतिविधि का सार मनुष्य की सर्जनशक्ति है।

गिनी और कार्ली का सिद्धान्त यूनान ओर रोम के इतिहास पर आधारित है। यह चीन और भारत पर लागू नहीं होता। पतन और अवनति के अनन्तर भी चीनी और भारतीय समाज अब तक जीवित हैं और इतिहास के संग्रहालय की वस्तु नहीं बने। यदि यह माना जाय कि इन देशों के उच्च वर्गों की उर्वरता में कमी नहीं आयी तो इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि उर्वरता की न्यूनता या अधिकता कोई सार्वभौम नियम नहीं है। यह सत्य है कि परिवार और संतति के प्रति विरक्ति और फलतः जनसंख्या का ह्रास पतन का एक लक्षण है, किन्तु यह इस प्रक्रिया का कारण नहीं बन सकता। बहुधा यह भी देखने में आया है कि जनसंख्या की कमी-बेशी से संस्कृति की गति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आधुनिक जनसंख्या विशेषज्ञ वाल्टर एफ॰ विलकोक्स ने सिद्ध किया है कि 1750 से पहले एशिया की जनसंख्या अन्य प्रदेशों की जनसंख्या से ज्यादा बढ़ रही थी। 1750 के बाद यूरोप की जनसंख्या का स्तर बढ़ा। किन्तु एशिया में मध्यकालीन अन्धकार मंगोलों के ठीक बाद ही शुरू हो चुका था जबकि यूरोप में पुनरूत्थान के प्रभात में आधुनिक संस्कृति का अरूणोदय हो रहा था। अतः यह निश्चित-सा है कि जनसंख्या की उन्नति-अवनति द्वारा इतिहास की बोधगम्य व्याख्या नहीं हो सकती।

हाँलाकि अधिकतर इतिहासकारों, ऐतिहासिक भूगोलवेता और पुरातत्व विज्ञान लम्बे समय से मानवीय क्रिया-कलापों पर जलवायु और वातावरण के प्रभाव को स्वीकार करते आये हैं, लेकिन फिर भी इनके प्रभाव के आंकलन को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद प्रारम्भ से ही रहा है। अधिकांश इतिहासकार इस तरह के प्रभावों को नजरअन्दाज ही कर देते हैं। सामान्यता यह माना जाता है कि लघुकालीन वार्षिक जलवायु आदि के परिवर्तन, मौसमी उतार-चढ़ाव का फसलों पर या अन्य आर्थिक गतिविधियों पर तत्कालिन प्रभाव पड़ता है। लेकिन दीर्घकालीन जलवायु और वातावरण के प्रभावों को अक्सर नजरअन्दाज किया गया है। एक ऐतिहासिक काल में जलवायु और वातावरण सम्बन्धी बहुत कम परिवर्तन हुये है। दूसरे ये परिवर्तन इतने धीमें होते है कि इनका आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन गंभीर असर नहीं पड़ता और तीसरा अतीत के जलवायु और वातावरण के बारे में पर्याप्त जानकारी का अभाव भी है जिससे इनके प्रभाव को दर्शाये जाने में कठिनाई होती है। इस सब के बावजूद बहुत से विद्वानों ने मानवीय समाज के विकास में इन पहलूओं के प्रभाव को दिखाने की कोशिश की है। इल्सवर्थ इटिंगटन ने मानवीय इतिहास के निर्धारण में जलवायु की भूमिका को अत्यधिक महत्व दिया था। उनके विचार में सभ्यताओं के विकास में जलवायु की सबसे अधिक अहम भूमिका रही थी। इतिहासकारों में ब्रॉदल और पार्कर तथा अनाल स्कूल के इतिहासकार लादूरी आदि ने इतिहास और जलवायु के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन करने की कोशिश की है। आर॰ डी॰ सैक की पुस्तक Human Terristoriality (1986) में भूगोल का इतिहास और समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण किया। इसी तरह ई॰ एल॰ जोन्स ने एशिया और पश्चिमी यूरोप पर, विशेषकर औद्योगीकरण के विकास के संदर्भ में, जलवायु के प्रभावों का अध्ययन किया। उनकी कृति, **दि यूरोपियन मिराकल** (1988) काफी चर्चित हुई। अनाल मत के इतिहासकारों ने प्रारंभ से ही वातावरण और इतिहास के अंर्तसम्बंधों को

ढूँढने की कोशिश की थी। लुसियन फेब्र ने Geographical introduction में इसकी चर्चा शुरू की थी अनाल स्कूल के ब्रॉदल ने अपने अध्ययनों में जहाँ जलवायु के असर पर ज्यादा बल दिया था वहीं लादूरी ने जनसंख्या सम्बन्धी बदलावों (demography) पर ज्यादा जोर दिया।

इतिहास लेखन के संरचनात्मक (Structural) सिद्धांत

संरचनात्मक इतिहास-लेखन के अनेक रूप हैं और संरचनावाद (structuralism) के भी अनेक पक्ष हैं लेकिन संरचनात्मक पद्धति मुख्यतया व्यक्तिवाद, अनुभववाद और भाष्य-विज्ञानी पद्धति (hermeneutics) की विरोधी पद्धति है। संरचनावाद सामाजिक संरचनाओं को स्वतंत्र चीजें मानते हुये उनके स्वरूप और प्रभावों का इतिहास ढूँढने की कोशिश करता है। इस सिद्धांत के कई रूप दर्शन, समाज-शास्त्र और मानव-शास्त्र में हमें देखने को मिलते हैं। संरचनायें एक अमूर्त नियमों के समूह के रूप में, जिन्हें शायद गणित की औपचारिक भाषा में भी अभिव्यक्त किया जा सके, जो द श्य भाषाओं, संस्कृतियों, जानने के तरीकों या सामाजिक संरचनाओं में अंर्तनिहित लेकिन छिपे हुए (inherent but hidden) रहते हैं। इस तरह का संरचनावाद भाषा विज्ञानी फर्दीनंद दि सौसर, समाजशास्त्री क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस, मनोविज्ञानी जीनपीज, सांस्कृतिक विश्लेषक रोलैण्ड बार्थ तथा फ्रांसीसी मार्क्सवादी विचारक लुई आलथूजर का है। दूसरी तरफ संरचनायें भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक सम्बन्धों या व्यवहार के रूप भी हो सकते हैं जो लोगों को एक खास तरीके से परस्पर जोड़ते हैं तथा जो द श्य ऐतिहासिक घटनाओं का निर्धारण करती हैं। (जैसे अनाल मत के इतिहासकार)। फ्रांसीसी संरचनावाद के सामाजिक अध्ययन में दो रूप देखने को मिलते हैं। पहली धारा के लोग जैसे दुर्खाइम और लुसियाँ फेवब्र मानसिक संरचना (mentalite's), सामूहिक विश्वास के रूप, चित्रण तथा सोच-समझ के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करती है और उनके माध्यम से सामाजिक परिवर्तन तथा मानवीय क्रियाओं की व्याख्या करती है। दूसरी धारा आर्नी पिरेन तथा मार्क ब्लाख जैसे विद्वानों की है जो व्यापक सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की जांच-पड़ताल पर बल देती है। इन संरचनाओं की व्याख्या बहु-स्तरीय (multi-layered) तथा बहु-काल रूपों (multi-temporal) की तरह की गई है। साथ ही साथ इनका अध्ययन घटनाओं के इतिहास से अलग करके किया जाता है। एक उपमा जिसका उपयोग बहुदा संरचनावादी पद्धति को दर्शाने के लिये किया जाता है, वह पुरातत्व-ज्ञान (archeology) की है। पुरातत्व-विशेषज्ञ का काम व्यापक सबूतों को छाँटकर उनसे अतीत के भवन निर्माण, जीवन शैली, संस्कृति अथवा अर्थव्यवस्था का चित्रण करना होता है—आदर्श स्थिति इसमें होती है पूर्ण पुर्ननिर्माण। इसी तरह अनाल मत के इतिहासकार (ब्रादेल ओर लादुरी) तमाम संरचनात्मक स्तर, चक्र, चरणों और रूपान्तरणों को दर्शाने की इच्छा जाहिर करते हैं। हाँलाकि यह एक असम्भव सा काम है।

एक अन्य महत्वपूर्ण सवाल जो संरचनावाद में उठता है वह कर्त्ता, क्रिया और संरचना का अंर्तसंबंध है। ब्रादेल के इतिहास-लेखन में मानवीय कृत्ताओं की बहुत कम जगह है हाँलाकि वे दैनिक जीवन की घटनाओं पर जोर देते हैं। संरचनायें बहुत स्थायी और कायम रहने वाली चीजें है। जिन्हें सतही घटनायें ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाती जबकि लादुरी ने लेवि-स्ट्रॉस के संरचनावाद और मानवीय ऐतिहासिक कृत्ताओं का अच्छा संश्लेषण किया है। लादुरी ने Carnival in Romans नामक अपनी रचना में सामूहिक क्रियाओं द्वारा संरचना के विकास में यकायक बिगाड़ को अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। सततता और रूपान्तर का द्वन्द्व किसी भी संरचना की मौलिक वास्तविकता है। मार्क्सवादी फ्रांसीसी विचारक आलथूजर ने संरचनावाद के ज्ञान-शास्त्र पर बल दिया है। उनके अनुसार समाज एक पूर्णता है जो सब क्रियाओं तथा घटनाओं को स्वयं में समाहित कर लेता है। उनकी पद्धति तालकोट पारसनस् से मिलती-जुलती है। फर्क केवल इतना है कि पारसनस सामाजिक सम्बन्धों को द श्य पादानुक्रम के रूप में देखते हैं जबकि आलथूजर के अनुसार कारण दर्शाने वाले सम्बन्ध अद श्य

है जो केवल सामाजिक प्रभुत्व या दासता के माध्यम से (प्रभाव के माध्यम से) जाने जा सकते हैं। इसी तरह इम्नुअल वालर-स्टाईन का विश्व-व्यवस्था सिद्धांत (World-system theory) भी एक संरचनावादी धारणा है जिसमें भूमण्डलीय पूँजीवाद (global capitalism) इस बात का निर्धारण करता है कि विशिष्ट स्थानों पर, विशिष्ट समय पर कौन सी उत्पादन की पद्धति कायम है।

क्रिस्टोफर लायड के अनुसार संरचनावादी इतिहास-लेखन की कम से कम पाँच धारायें हैं जो इस प्रकार हैं-

(1) अनुभववादी (empiricist) structuralism,

(2) व्यवस्थवादी-प्रयोजनवादी धारणा (Systemic-functionalist approach),

(3) व्याख्यावादी (interpretist approach),

(4) सम्बन्धवादी-संरचनावादी (Relational-structurist) रुझान;

(5) पद्धतिवादी संरचनावाद (methodological structuralism)

अनुभववादी संरचनावाद में जीवन-कथा, अनुभववादी ऐतिहासिक समाजशास्त्र, अनुभववादी इतिहास (सामाजिक संख्यात्मक आर्थिक इतिहास और व्यवहारवादी व्यक्तिवादी इतिहास लेखन को शामिल किया गया है। संरचनावादी-प्रयोजनवादी धारणा में हर सामाजिक संरचना की व्याख्या एक संरचना के प्रयोजन या उद्देश्य के रूप में की जाती है। व्याख्यावादी संरचनावाद मानवीय क्रियाओं की वैज्ञानिक व्याख्या का विरोध करता है तथा कई बार समाज-शास्त्रीय और मानव-वैज्ञानिक व्याख्याओं का सहारा भी लेता है।

इसी तरह सम्बंधवादी संरचनावाद में एक मत या सुव्यवस्थित नजरिये के स्थान पर कई धाराओं से बना है। इसमें कुछ अनाल मत के इतिहासकार, मार्क्सवादी इतिहासकार और कुछ समाज शास्त्री भी शामिल किये जा सकते हैं। साथ ही साथ इसमें वेबरवादी इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों, नोबर्ट इलियास का समाजशास्त्र या एलेन टॉरेन का क्रिया समाज-शास्त्र भी आ जायेगा। यह संरचनाओं के वास्तविक होने तथा प्रभावी होने की बात तो करते है लेकिन संरचनाओं को सम्पूर्ण समाज को आधार नहीं मानते। समाजशास्त्री और विचारक एंथनी गिड़ड्नस ने व्यक्ति/क्रिया/समाज/समय आदि का सम्बन्ध दर्शाने वाले कई अस्तित्वमूलक, पद्धतिवादी धारणाओं को जन्म दिया है। मार्क्स बेवर और पीज का संश्लेषण गिड्डनस ने करने की कोशिश की है। गिड्ड़नस का संरचनावाद पाँच मुख्य धारणाओं पर आधारित है। ये इस प्रकार हैं :-

(1) चेतन मानवीय कर्त्ता जो विकेन्द्रित भी है और सामाजिक संरचना के निर्माण की शक्ति जिसके पास है—उसके अस्तित्वमूलक और कार्य पद्धति में केन्द्रिय स्थान दिया गया है।

(2) ना समाज प्राथमिक है और न मानवीय कर्त्ता, दोनों ही निरंतर दुहराये जाने वाले व्यवहारों से निर्मित होते हैं।

(3) संस्थायें ऐसी संरचनात्मक सामाजिक व्यवहार को दर्शाती हैं जिनका स्थान और काल में विस्तार हम देख सकते हैं। संरचना भी संस्थामूलक सम्बन्धों से ही बनती है जो दुहराये जाने वाले सामाजिक व्यवहार को संगठित रूप मिलने से बनती है।

(4) सामाजिक संरचना और व्यवहार स्थान और काल में ही मौजूद होगें।

(5) सामाजिक परिवर्तन की शक्तियाँ क्रिया, चेतना संस्थाओं और संरचनाओं के कारण-कार्य सम्बन्ध में ही निहित हैं।

इसका अर्थ है इस नजरिये के लोग समाज के वास्तविक और यर्थाथवादी अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यह यथार्थवादी स्वरूप संस्थामूलक ऐतिहासिक संरचनाओं का ही है। यह सामाजिक सम्बन्धों

का ऐसा सिद्धांत है जिसमें सामाजिक कर्त्ता सामाजिक विश्व की संरचनाओं का निर्माण समय के अनुसार करते हैं। उसमें सामाजिक संरचना सामाजिक सम्बन्धों का ऐसा नमूना है जो संरचना के लिये नियम तथा व्यवहार तय करते हैं और यहीं संरचना को संस्थामूलक आधार भी प्रदान करते हैं। संरचना तथा क्रियाकलाप समाज के दो अलग-अलग ध्रुव नहीं है बल्कि द्वन्द्वात्मक विभेद के दो अलग-अलग रूप ही हैं। समाज इनके अनुसार संरचित है, टूटा हुआ भी है तथा विविध आयामी, पारस्परिक प्रभावित करने वाले संबंधों का समुच्चय भी है। गिड्डनस के विचार पूरी तरह पद्धतिवादी संरचनावादी धारणा से एकदम नहीं मिलते। गिड्डनस की समाज के बारे में धारणा या आकृति ज्यादा व्यापक है तथा इसमें अस्तित्ववादी सत्तामूलक, पद्धति से सम्बन्धित तथा सैद्धान्तिक सभी तरह के तत्व मौजूद हैं। यह अपने को सामाजिक-ऐतिहासिक व्याख्या करने का पूर्ण ढाँचा दिखाने की कोशिश करता है। गिड्ड़नस के विचार या धारणायें संरचनावादी-प्रयोजनाद से भी भिन्न है और फ्रांसीसी (लेवि स्ट्रॉस) के द्वारा प्रतिपादित संरचनावाद से भी। इतिहासकार संरचनावाद या पद्धतिवादी जैसी धारणाओं का उपयोग नहीं करते लेकिन इनके मुख्य-मुख्य तत्वों का इस्तेमाल, स्पष्ट रूप से या अनदेखे में, अनेक इतिहासकार करते हैं। ये विचार हमारे सोचने-समझने के तरीके में बस चुके हैं। वैसे ही जैसे वर्तमान में मार्क्स, वेबर या पीज के विचार समाजशास्त्रों में व्याप्त हो चुके हैं। समाजिक सम्बन्धों की वास्तविक संरचनाओं तथा संरचित करने वाली प्रक्रिया की शक्ति के बारे में सतही एकता के बावजूद विभिन्न इतिहासकारों के विचार और सिद्धांत विविधता से भरपूर हैं। जैसे सामाजिक संरचनात्मक बदलाव के बारे में जैसे अधिकांश यह मानते हैं कि संरचना के कई स्तर और क्षेत्र हो सकते हैं लेकिन ये सभी संरचनावादी विद्वान ऐतिहासिक भौतिकवादी नहीं हैं। सभी यह नहीं मानते कि तकनीकी या आर्थिक स्तर या क्षेत्र संरचना का प्राथमिक स्तर या क्षेत्र है। कई मार्क्सवादी विचारक भी भौतिकवादी व्याख्या को नहीं मानते और कई वेबरवादी कुछ हद तक भौतिकवादी हैं। या दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी या वेबरवादी सिद्धांत एकरूपीय सिद्धांत या सामाजिक संरचना की परिकल्पना पेश नहीं करते हैं। बहुत से मार्क्सवादी इतिहासकार संरचनावाद के तथा आर्थिकवाद को प्राथमिकता देने के विरोधी हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहासकारों का एक समूह ब्रिटिश मार्क्सवादी मत से जुड़े इतिहासकारों का एक समूह ब्रिटिश मार्क्सवादी मत से जुड़े इतिहासकारों का है। जिसमें क्रिस्टोफर हिल, एडुआर्ड थामसन तथा रेमण्ड विलियम्स् शामिल हैं। दूसरे मार्क्सवादी मत के इतिहासकारों से इनकी एक मुख्य भिन्नता यह है जो इनकी पहचान का मुख्य केन्द्र-बिन्दु है कि ये अतीत के सामाजिक जीवन में मानसिक तथा सांस्कृतिक संरचनाओं पर ज्यादा बल देते हैं तथा वर्ग की इनकी धारणा सामाजिक व्यवहार और जीवन मूल्यों के आधार पर टिकी हुई है ना कि एक जड़ आर्थिक संरचना में सामाजिक कर्त्ता की स्थिति पर।

मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की दूसरी धारा ज्यादा संरचनावादी पद्धति का अनुसरण करती है ओर इसमें मुख्य रूप से सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संरचनाओं के अध्ययन तथा विश्लेषण पर ही जोर दिया गया है, हाँलाकि इसमें घटनाओं तथा व्यक्ति, सामूहिक समूहों तथा वर्गों की गतिविधियों को भी नजरअन्दाज नहीं किया गया है। इस प्रकार का मार्क्सवादी इतिहास-लेखन काफी हद तक लादुरी के 'पूर्ण इतिहास' से मिलता जुलता है। जिसमें सामाजिक सम्पूर्णता के सभी आयामों या पक्षों की पारस्परिक अंर्तसम्बन्ध या कार्य-कारण सम्बन्ध के रूप में जाँच-पड़ताल करने की कोशिश की गयी है। ई० जे० हॉब्स बॉम तथा आर० एस० नील इसके मुख्य उदाहरण हैं। मार्क्सवादी ऐतिहासिक समाजशास्त्र स्पष्ट रूप से सैद्धांतिक तथा तुलनात्मक है तथा इसमें इतिहास की संरचनाओं का, सामान्य व्यक्तियों या दैनिक जीवन की घटनाओं पर ज्यादा ध्यान दिये बगैर, अध्ययन किया जाता है। यह अंधानुकरण की तरह मार्क्सवादी पद्धति पर निर्भर नहीं है तथा इसमें अन्य सामाजिक सिद्धांत की परम्पराओं का इस्तेमाल भी किया जाता है। इस तरह के मार्क्सवादी ऐतिहासिक समाज-शास्त्र के मुख्य रचनाकार हैं—बैंरिगटन मूर, पैरी एंडरसन, रॉबर्ट ब्रेनर, रोड़नी

हिल्टन आदि। संरचनावादी मार्क्सवादियों की तुलना में, जिनके साथ इनकी काफी समानतायें है तथा जिनके साथ ये महत्वपूर्ण धारणाओं को समान रूप से प्रयोग करते हैं; यह शक्तिशाली व्यक्तियों, समूहों तथा वर्गों की उन गतिविधियों पर ज्यादा जोर देते हैं जो संरचना का निर्माण करने में मददगार दिखाई पड़ती हैं। इनके नजरिये में सामाजिक पूर्णता (social-totality) ऐसी चीज नहीं है जो व्यवस्था के अंर्तगत आने वाले सभी कत्ताओं की गतिविधियों को प्रभावित करती है। मार्क्सवादी इतिहास लेखन की इन तीनों उपर वर्णित धाराओं ने आर्थिक निर्धारणवाद (economic reductionism) या भौंडे मार्क्सवाद को चुनौती दी है। लेकिन ये सभी मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के संरचनावादी विचार की इस केन्द्रिय धारणा में यकीन करते हैं कि सामाजिक आधार, उसे जैसे भी परिभाषित किया जाये, वह समाज और इतिहास की मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में काम करता है।

वेबरवादी ऐतिहासिक समाजशास्त्र भी मार्क्सवादी ऐतिहासिक समाजशास्त्र से काफी समान है तथा इसकी पद्धति भी सैद्धांतिक तथा तुलनात्मक है, इसमें काफी विविधता भी है क्योंकि वेबर की बौद्धिक विरासत स्वयं काफी अस्पष्ट थी। क्लिफोर्ड, ग्रीव्ज, अर्नेस्ट गैल्नर, जॉन ए० हाल, बैंजामिन नैल्सन आदि प्रमुख ऐतिहासिक समाजशास्त्री इसमें शामिल हैं तथा इनके रुझान तथा अध्ययन के विषय काफी अलग-अलग तरह के हैं। यह इसलिये है कि बेबर से प्रभावित ये विद्वान सामाजिक संरचनाओं की वस्तुनिष्ठता के बारे में तथा भौत्तिक, सांस्कृतिक तथा वैचारिक पहलुओं के सामाजिक परिवर्तन पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में एकमत नहीं हैं। लेकिन एक बात इनमें समानता पैदा करती है वह है वेबर से उधार ली गयी समाजशास्त्रीय विश्लेषण की ऐसी विधि जिसमें संरचना की वस्तुनिष्ठता और उसके अध्ययन की विधि को संरचित करने वाले कृत्ता की गतिविधियों से जोड़कर देखने की कोशिश की गई है।

संरचनावादी प्रणाली में एलन प्रेड की ऐतिहासिक भूगोल का नजरिया काफी महत्वपूर्ण है जिसमें सामाजिक परिवर्तन पर वातावरण, स्थान तथा सामाजिक सम्बन्धों के भौगोलिक परिवेश का संदर्भ महत्वपूर्ण माना गया है। एलन प्रेड का कहना है कि स्त्री-पुरूष इतिहास का निर्माण या स्थानों का निर्माण उनके अपने द्वारा चुनी हुई परिस्थितियों में नहीं करते बल्कि पहले से ही मौजूद सामाजिक और स्थान (परिवेश) सम्बन्धी संदर्भ में ही करते हैं। इसलिये स्थान, भूगोल तथा समय का सामाजिक-संरचना के बनाने में अहम भूमिका रहती है। एक अन्य संरचनावादी धारणा एलेन टोरेन की क्रिया समाजशास्त्र (action sociology) की है जो गिड्डसन के समान ही क्रिया तथा संरचना में एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के विचार पर आधारित है। इसमें अनुभववादी शोध पर, विशेषकर समकालीन सामाजिक आंदोलनों को समझने के लिये, उनके उद्‌भव, संरचना तथा गतिविधियों के संदर्भ में, पर भी बल दिया गया है। टोरेन का क्रिया समाजशास्त्र वास्तव में समकालीन समाजिक इतिहास ही माना जा सकता है।

इस वर्णन से यह साफ है कि संरचनावादी सिद्धांत कोई एक अलग सिद्धांत नहीं है बल्कि सामाजिक घटनाओं और परिवर्तन को समझने के तथा उनकी व्याख्या करने के अलग-अलग तरीके हैं। अगर उनकी कोई एक स्पष्ट कार्यपद्धति है तो यह सतही व्याख्या के स्तर पर दिखाई नहीं पड़ती क्योंकि अलग-अलग विद्वानों की व्याख्या उनके अपने-अपने सिद्धांत के उपयोग पर ही निर्भर करती है। उनकी व्याख्या उनके द्वारा इस्तेमाल किये गये साक्ष्य की विशेषताओं तथा उनके द्वारा उठाये गये सवालों की विभिन्नता पर भी निर्भर करती है। लेकिन इन तमाम विभिन्नताओं के बावजूद उनकी कार्य-पद्धति में कहीं गहराई में एक समानता दर्शायी जा सकती है। इनकी कार्यपद्धति को हम स्पष्ट रूप से व्यक्तिवादी धारणा तथा सम्पूर्णता (holism) की धारणा से अलग पहचान सकते हैं। संरचनावाद का मुख्य विचार—कि मानव विश्व को संरचित करता है तथा प्रजनित करता है—यह विचार मुख्यतया प्रबोधन काल का विचार ही था। कार्ल मार्क्स तथा मैक्स वेबर का प्रारंभिक संरचनावादी सिद्धांत और कार्य-पद्धति के विकास पर काफी प्रभाव रहा। मार्क्स ने **फॉयर बाख पर**

अपनी थीसिस में तथा **जर्मन विचारधारा** में मानवीय व्यवहार की प्रमुखता पर जोर दिया था। मार्क्स के विचार में संस्थामूलक सामूहिक कर्त्ता सामाजिक वर्गों के रूप में, अपने सामूहिक भौत्तिक हितों के अनुरूप काम करते हुये, सामाजिक इतिहास की प्रमुख प्रेरक-शक्ति होते हैं। इसी के आधार पर उन्होंने सामाजिक संरचना तथा परिवर्तन का विश्लेषण करने की कोशिश की। उनकी पद्धतिवादी संरचनावाद की झलक भी हम मार्क्स की रचनाओं में देख सकते हैं। इसी तरह बेबर ने तार्किक क्रिया (rational action) तथा उसके विभिन्न सामाजिक संगठन के रूपों के अध्ययन पर बल दिया। वेबर क्रिया, चेतना और संरचना के अंर्तसम्बन्धों की व्याख्या भी करते हैं। उन्होंने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का विरोध किया लेकिन स्वयं उनकी रचनाओं विशेषकर The Agrarian Sociology तथा General Economic History में मार्क्स जैसी ही संरचनात्मक कार्य-पद्धति को अपनाया गया है। वेबर ने वैचारिक और सांस्कृतिक तत्वों की शक्ति को ही व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रियाओं का आध ाार माना जबकि मार्क्स ने विचारधाराओं को वास्तविक भौतिक हितों के बारे में एक प्रकार की झूठी चेतना (false consciousness) ही माना था। वेबर के एक अन्य समकालीन समाजशास्त्री जॉर्ज सिम्मेल ने भी समाज को एक संरचना ही माना तथा व्यक्ति (सामाजिक-कर्त्ता) तथा संरचना के अंर्तसम्बन्धों की व्याख्या करने की कोशिश की। इसी तरह मनोवैज्ञानिक पीज की संरचनावाद (1968) एक महत्वपूर्ण रचना थी जिसने संरचनावादी कार्य-पद्धति के विकास में काफी मदद की।

संरचनावादी इतिहासकार और विचारकों ने समाज की संरचना करने वाली प्रक्रियाओं में मानवीय कर्त्ता को अहम भूमिका में रखा है। यह विचार सामाजिक यर्थाथवाद से भी जुड़ा हुआ है। व्यक्ति या सम्पूर्ण समाज के लक्ष्य, प्रयोजन, व्यवहार या शक्ति पर ध्यान देने की बजाए, संरचनावादी सामाजिक संरचना के अवयवों और मानवीय क्रिया पर ज्यादा बल देते है। इस मानवीय कर्त्ता की धारणा इस सिद्धांत में व्यक्तिगत स्वायतता या तर्कवादी (rationalist) तथा व्यवहारवादी (behaviourist) रूप में नहीं की जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति या मानव कर्त्ता व्यक्तिगत रूप से भी और सामूहिक रूप से भी सामाजिक मौजूदा संरचनाओं, मूल्यों तथा संस्थाओं से प्रभावित या प्रेरित होकर ही सामाजिक प्रक्रियाओं में भागीदारी करते हैं।

संरचनावादी इतिहास लेखन को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक दीर्घकालीन बड़े स्तर की संरचनाओं तथा परिवर्तन का एक खास ऐतिहासिक परिवेश में अध्ययन तथा छोटे स्तर के स्थानीय संरचनाओं का अध्ययन। क्लीफोर्ड ग्रीत्जस् ने सामान्य सांस्कृतिक घटनाओं की जटिल सामाजिक संरचनाओं से अंर्तसम्बन्ध दर्शाने वाले कई अध्ययन किये हैं। इसी तरह लादुरी ने भी Carnival in Romans (1981) में घटनाओं का गहन और जटिल अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन दोनों विद्वानों के लेखन की एक खास बात यह है कि इन्होंने स्थानीय सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के पक्षों को जटिल, व्यापक समाज की संरचना करने वाली प्रक्रियाओं से जोड़कर देखने की कोशिश की है। इसके ठीक विपरीत बैरिंगटन मूर की रचना The Social bases of obedience and Revolt (1978) संरचनात्मक परिवर्तन का बहुआयामी और अनेक जटिल स्तरों पर अर्थव्यवस्था, सामाजिक वर्ग-संरचना, राजनीति तथा संस्कृति की व्याख्या करने वाला अध्ययन है। इन जटिल और व्यापक संरचनाओं के आधार पर मूर ने उन्नीसवीं सदी के अंत में तथा बीसवीं सदी के प्रारंभ में जर्मन श्रमिक वर्ग की सामाजिक-राजनैतिक चेतना तथा व्यवहार के विकास में भूमिका दर्शायी है।

इकाई - III

अध्याय - 8

इतिहास में विवाद
(Debates in History)

(A) यूरोपियन सामंतवाद (European Feudalism)

किसी धारणा और विषय को लेकर कई बार इतिहासकार एकमत नहीं होते और यह उनके बीच विवाद या संवाद को जन्म देता है। ज्यादातर इतिहास "अपूर्ण साक्ष्य" पर ही आधारित होता हैं और साक्ष्य जितना अपूर्ण होगा उतनी ही उसकी व्याख्या पर असहमति की सम्भावनायें ही होगीं। अपनी धारणाओं को स्थापित करने में इतिहासकार अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से तो अपनी असहमतियों को अक्सर दर्शाता है ही, बल्कि कई बार अपने समकालीन सहकर्मियों से भी अपनी असहमति जताता है। ऐतिहासिक विवाद अतीत के सही विवरण के विकास को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ है। स्त्रोत सामग्री के सागर में गोता लगाने वाला इतिहासकार यह सोचने की गलती कर सकता है कि घटनाओं और उनकी व्याख्या से जो तस्वीर उसने बनाई है, उपलब्ध सामग्री के आधार पर एकमात्र वहीं सम्भव है। लेकिन दूसरे इतिहासकार की नजर में नये सम्बन्ध या परिपेक्ष्य, जो पहले ने अनदेखा कर दिया है, ज्यादा महत्वपूर्ण हो सकते है। इन्हीं विवादों और संवादों से ऐतिहासिक समस्या का नया और गहरा और सुघड़ रूप उभरकर हमारे सामने आता है।

यूरोपीय सामंतवाद के बारे में मुख्यतः दो विवाद हैं-पहला प्राचीन विश्व से सामंतवाद में रूपान्तरण के बारे में और दूसरा सामंतवाद से पूंजीवाद के संक्रमण को लेकर।

(I) प्राचीन विश्व में सामंतवाद का जन्म

यूरोप में प्राचीन विश्व की समाप्ति और सामंतवाद के उद्‌भव को लेकर विद्वानों में विवाद रहा है। पैरी एंडरसन, गाई बुआ, क्रिस विकहम आदि ने इस पर अलग-अलग तरह के विचार रखे हैं। प्राचीन विश्व की यूरोप में समाप्ति से घटनाओं की कौन सी कड़ी मानी जायी—इस पर भी विद्वानों के विचार अलग-अलग हैं—किसी के लिये इसका अर्थ ग्रीक-रोमन पैगन मतों का पतन है, किसी के लिये ध ार्मनिरपेक्ष लातिन भाषा के साहित्य का विलुप्त होना, किसी के लिए रोमन साम्राज्य का धराशायी होना, किसी के लिए दास-व्यवस्था का खत्म होना आदि। इन सब के लिए कोई एक कारण तो था नहीं। पैरी एंडरसन जब प्राचीन राज्य के पतन की बात करते हैं तो वह सतही तौर पर तीसरी से छठी शताब्दी के बीच होने वाले आर्थिक परिवर्तनों का जिक्र भी करते हैं। परम्परागत विश्लेषण फ्रैडरिख एंजेल्स के "परिवार के उद्‌भव" (origin of family, private property and state) से आगे नहीं जाते : जैसे दास-प्रथा के अलाभकारी होने, रोमन राज्य के उत्पीड़न प्राचीन दास-प्रथा आधारित अर्थव्यवस्था का स्थान ज्यादा जीवंत जर्मन कबीलों द्वारा लेने जो तेजी से सामंतवादी उत्पादन पद्धति को अपनाने से आगे नहीं बढ़ पाये। उसमें भी यह सवाल कि कब दास-प्रथा से सामंतवाद विकसित होता है—उसका जबाव भी अलग-अलग दिया गया है—कुछ लोगों के अनुसार तीसरी सदी, कुछ के

अनुसार छठी सदी और कुछ के अनुसार आठवीं सदी या उसके भी बाद में यह रूपान्तरण शुरू होता है। क्रिस विकहम के अनुसार रोमन राज्य के अंतिम काल को इसके आर्थिक संगठन को ठीक प्रकार समझकर ही समझा जा सकता है विशेषकर उत्पादन की पद्धति को समझकर। जो सर्वमान्य व्याख्या उत्तर-रोमन युग की है वह यह है कि इसमें दास उत्पादन पद्धति सामंती पद्धति को जगह दे रही थी। मार्क ब्लाख ने भी इसी तरह का विचार इस संदर्भ में व्यक्त किया था। ब्लाख के अनुसार चौथी और पाँचवीं शताब्दी में महान युद्धों का कारण दासों की संख्या में व द्धि होती है लेकिन इनका उपयोग बड़े दासों द्वारा संचालित खेतों में नहीं हो रहा था। बल्कि दासों के श्रम पर आधारित बड़े खेत बिखराव की दिशा में चल पड़े थे और उनमें दासों का काश्तकार (tenants) के रूप में रखा जाने लगा था। इसके साथ-२ स्वतंत्र काश्तकारों की स्थिति बिगड़नी शुरू होती है और दास और काश्तकार सामूहिक वर्गों के सम्मिश्रण से कृषि-दासता (serfdom) की व्यवस्था पनपनी शुरू होती है। विकहम मार्क ब्लाख के इस विश्लेषण को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार तीसरी शताब्दी के अंत तक दास प्रथा काफी हद तक समाप्ति की ओर अग्रसर थी। सामंती-पद्धति जैसी उत्पादन पद्धति के आधार पर निर्भर काश्तकारों पर कृषि-उत्पादन संगठित हो चुका था। अभी भी काफी तादाद में दास थे लेकिन बहुत से ये दास काश्तकारों के रूप में बदल चुके थे तथा दस्तावेजों में स्वतंत्र काश्तकारों (coloni) का जिक्र में बढ़ता जा रहा है। चौथी और पाँचवीं शताब्दी के बड़े-बड़े भूस्वामी इन व्यक्तिगत उनके उपर आश्रित काश्तकारों के माध्यम से ही अपनी जागीरों का संचालन करवा रहे थे। हाँलाकि सामन्ती उत्पादन पद्धति अभी भी प्रमुख उत्पादन पद्धति के रूप में नहीं विकसित हुई थी। कृषि-अधिशेष का मुख्य साधन लगान नहीं बल्कि कर ही था। कर की मात्रा ज्यादा और बोझिल ही नही थी बल्कि यह राज्य ओर उसकी संस्थाओं का आर्थिक आधार भी था। रोमन राज्य का इस समय प्रमुख कर भूमिकर ही था अन्य कर जैसे व्यापारियों पर कर या व्यापारिक मार्गों पर चूँगी कर का परिमाण भी काफी ज्यादा था लेकिन साम्राज्य के राजस्व में इनका अनुपात बहुत कम था।

भूमिकर समान रूप से सभी भू-सम्पत्तियों पर लगाया जाता था हाँलाकि दरों में काफी क्षेत्रीय विभेद मौजूद थे और कुछ प्रांतों में यह भूमि के उपजाऊपन के अनुसार लगाया जाता था। यह भी सच है कि सीनेट के सदस्य भूस्वामी, राज्य के अधिकारी तथा धार्मिक भू-स्वामियों को बहुदा लगाये जाने वाले पूरक करों से मुक्त रखा जाता था। पाँचवीं शताब्दी तक भूमिकर मुख्यतः कृषि-उत्पाद के रूप में ही लिया जाता था हाँलाकि कभी-कभी इसका आकलन मुद्रा के रूप में किया जाता था। पांचवीं सदी के बाद से यह दुबारा स्वर्ण-मुद्रा के रूप में लिया जाने लगा था। भूमिकर सभी स्वतंत्र कृषकों से लिया जाता था और जहां कृषक दास थे वहां वह उनके भू-स्वामियों से लिया जाता था। कर उगाहने का संस्थामूलक ढाँचा इस प्रकार लगान उगाहने से अलग तरह का था, उस स्थिति में भी जहाँ काश्तकार-कृषक काम कर रहे थे। चौथी सदी के अंत में काश्तकारों द्वारा भूस्वामी के माध यम से कर देने की प्रणाली विकसित होनी शुरू हो रही थी और पाँचवीं सदी में यह तरीका सामान्य हो चला था। यहाँ कर की अधिकता या कुल निरपेक्ष परिमाण से ही अहम बात यह है कि भूमिकर और लगान देने वाली भूमियों का अनुपात कितना था। कृषक स्वामी कुछ प्रांतों में अभी भी ज्यादा तादाद में थे। लेकिन जहाँ किसान कर और लगान दोनों दे रहे थे वहाँ उनका सापेक्ष परिमाण जानना एक मुश्किल काम भी है। क्रिस विकहम का यह मानना है कि लगान की तुलना में भूमिकर की उगाही के माध्यम से कृषि अधिशेष के अधिग्रहण का काफी महत्व रोमन साम्राज्य के अंतिम दौर में था हाँलाकि इसमें काफी क्षेत्रीय विभेद थे। भूमिकर से कृषि-अधिशेष के अधिग्रहण के साथ-साथ लगान या सामंती प्रथा द्वारा कृषि-अधिशेष के अधिग्रहण की पद्धति भी साथ-साथ मौजूद थी। इसका अर्थ यह था कि उत्पादन के सामाजिक सम्बंध भू-स्वामियों के हितों की अपेक्षा राज्य के हितों से ज्यादा जुड़े हुए थे और इसीलिये राज्य को कोशिश थी कि कृषकों को कैसे भूमि से बाँध कर रखा जायें।

भू-स्वामियों ने साम्राज्य के प्रारंभिक दौर में ऋण के बंधन और पट्टों के जबरन नवीकरण के माध्यम से काश्तकारों को इस तरह जमीन पर बांधने और अपने उपर आश्रित बनाने की कोशिश की थी। जिसका राज्य ने विरोध किया था लेकिन अब स्वयं राज्य अपनी जरूरत के कारण कृषकों को जमीन पर आश्रित बनाने के तरीके ढूँढ रहा था और इसके लिये कानून बनाता है, लेकिन कानून बना देने का अर्थ यह नहीं था कि सब किसान या काश्तकार इन कानूनों को मानेगें।

राज्य की कर-प्रणाली अर्थव्यवस्था का आधार थी और राज्य की नींव का आधारभूत ढाँचा इसी पर टिका हुआ था। राज्य को सेना पर खर्च करने के लिये (चौथी सदी के जर्मन कबीलों के आक्रमणों से इसकी जरूरत ज्यादा बढ़ती गई), केन्द्रिय तथा प्रांतीय नौकरशाही के लिये और साम्राज्य के बड़े शहर विशेषकर रोम और कुस्तुतितियां आदि की आपूर्ति के लिये मुद्रा तथा कृषि-उत्पाद की आवश्यकता थी। रोमन साम्राज्य करों को प्रत्यक्ष रूप से उगाहने का काम करता था। रोमन साम्राज्य शहरों पर आधारित था। हर शहर की अपनी स्थानीय सीनेट होती थी तथा कर-एकत्र करने वाला ढाँचा भी रहता था। इन शहरों तथा उसके कुलीन-अभिजात्य वर्ग द्वारा ग्रामीण अंचलों पर आधिपत्य स्थापित किया गया था। ग्रामीण अंचलों से अधिशेष अधिग्रहण का काम भी ये शहर करते थे। लेकिन पाँचवी और छठी सदी में इस प्राचीन उत्पादन प्रणाली का पतन, खासकर साम्राज्य के पश्चिमी भाग में, होना शुरू हो जाता है। रोमन साम्राज्य और उसकी कर-प्रणाली से शहरी अभिजात्य वर्ग को काफी सम्पत्ति संचित करने में मदद मिली थी इस दौलत का इस्तेमाल केवल भू-सम्पत्ति के रूप में ही हो सकता था। राज्य की सेवाओं से सम द्ध हुये इस अभिजात्य वर्ग की रुचि अब ज्यादा से ज्यादा भू-सम्पत्ति एकत्र करने तथा राज्य को कम से कम कर देने की बन रही थी। पाँचवीं सदी से जर्मन 'बर्बर' कबीलों के आक्रमण तेज होने से इस भू-स्वामी वर्ग को, विशेषकर साम्राज्य के पश्चिमी भाग में, एक राजनैतिक निर्णय का अधिकार मिल रहा था—वह यह था कि वह साम्राज्य और उसके संरक्षण को माने (जो अब सैन्य खर्चों और राजकीय करों के कारण महँगा होने लगा था) या निजी सम्पत्ति के आधार पर साम्राज्य से स्वतंत्र होकर लगान के रूप में सामंती उत्पादन-सम्बंधों की नींव रखे। विकहम के अनुसार, भू-स्वामी अभिजात्य वर्ग के लिये यह दूसरा रास्ता ज्यादा लाभकारी था। मार्क्सवादी इतिहासकार यह मान कर चलते हैं कि समाज के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन वर्ग-संघर्ष के माध्यम से ही आते हैं। उत्तरी गौल तथा स्पेन में कुछ स्थानों पर किसान विद्रोहों का जिक्र मिलता है लेकिन बाकी क्षेत्रों में बिखरते रोमन साम्राज्य के स्थान पर किसान नये सामंती भू-स्वामी वर्ग का आधिपत्य और संरक्षण स्वीकार करते हैं। इस तरह का संरक्षण, प्रारंभ में किसानों को राज्य के बोझिल करों से बचने का एक रास्ता लग रहा था। नये जर्मन मूल के राज्य प्रारंभ में सामंती आधार पर संगठित राज्य नहीं थे—इनमें भी शासक वर्ग के अल्पतंत्र की कोशिश थी कि कैसे साम्राज्य के वित्तिय ढाँचें और संरचनाओं का फायदा उठाये और उसे बनाये रखा जाये।

पैरी एंडरसन के मत में उत्पादन की सामंती पद्धति या सामंती सामाजिक संरचना (feudal social formation) रोमन तथा जर्मन व्यवस्थाओं का 'संश्लेषण' (synthesis) था। प्रारंभिक मध्ययुगीन संस्कृति और मूल्य जर्मन कबीलों से प्रभावित थे—प्रभुत्व की विचारधारा (ideology of lordship) जर्मन कबीलों से आई थी। लेकिन विकहम का मानना है कि एक गौण व्यवस्था के रूप में सामंतवाद 'जर्मन' आक्रमणों से पहले से ही रोमन साम्राज्य के गर्भ में पैदा हो चुका था और जर्मन आक्रमणकारियों में भू-स्वामी अभिजात्य वर्ग का उभरना भी रोमन प्रभाव से उत्पन्न प्रक्रिया मालूम होती है। परम्परागत जर्मन कबीलों का समाज समानता-जैसी पद्धति पर आधारित था तथा इसमें सामुदायिकता के पहलू काफी असरदार थे। यह भी विवाद का मुद्दा है कि क्या कैरोलिनजियन काल में दास-प्रथा की जगह कृषि-दासता की पद्धति जो भू-स्वामी को श्रम-सेवायें देने की व्यवस्था थी—उसे सामंतवाद का मुख्य लक्षण माना जाये या नहीं। विकहम के अनुसार इसमें सभी मध्यकालीन काश्तकार शामिल माने जाने चाहिये चाहे वे कृषि दास के रूप में भूस्वामी की जागीर में श्रम-सेवायें प्रदान करते हैं या

केवल लगान देते हैं। श्रम-सेवाओं को लेना भी लगान लेने की ही एक विधि है जिसमें कृषि दास को ज्यादा नियंत्रण में रख सकता था इसलिये कृषि दासता को दास-प्रथा और सामंती लगान देने वाली विधि के बीच की संस्था मानना भी उचित जान नहीं पड़ता।

(II) सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण

सामंतवाद के सम्बन्ध में यह दूसरा विवाद है कि सामंतवाद से पूँजीवाद में बदलाव कैसे आता है? इसमें मॉरिस डॉब और पॉल स्वीजी का विवाद प्रमुख है। स्वीजी की धारणा है कि सामंतवाद के पतन को सामंती व्यवस्था से बाहर प्रेरक-शक्ति ढूँढकर समझा जा सकता है। उनके अनुसार व्यापार इस रुपान्तरण में महत्वपूर्ण योगदान देता है। स्वीजी के विचार में सामंतवाद एक उपभोग के लिये उत्पादन करने वाली व्यवस्था थी ओर इसमें लम्बी दूरी के व्यापार की कोई निर्धारक भूमिका नहीं थी कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन हो और यह उत्पादन किस विधि से हो क्योंकि सामंती व्यवस्था में उत्पादन उत्पादकों के उपभोग के लिये या स्थानीय मंडियों के लिये ही होता था। स्वीजी ने यह दिखाने की कोशिश की है कि किस प्रकार लम्बी-दूरी के व्यापार का विकास सामंती शासक वर्ग की विस्त त होती जा रही राजस्व की माँगों के कारण शुरू होता है लेकिन यह सामंती सम्बन्धों को तोड़ने में मदद करता है। मॉरिस डॉब ने इसके विपरीत यह माना कि सामंती व्यवस्था के विघटन में भू-स्वामी वर्ग द्वारा किसानों का अत्यधिक शोषण तथा आर्थिक अधिशेष का अनुत्पादक उपयोग तथा उनके बढ़ती राजस्व की माँग की पूर्ति न होने से सामंतवाद के आंतरिक अंर्तविरोधों से सामंतवाद का पतन शुरू होता है क्योंकि अब सामंती वर्ग के पास लगान बढ़ाने की शक्ति और अवसर संकुचित होते जा रहे थे। स्वीजी के अनुसार विनिमय अर्थव्यवस्था के ये प्रभाव उत्पादन-व्यवस्था पर पड़ते हैं जिनसे सामंती-व्यवस्था प्रभावित होती है—(*i*) सामंती उत्पादन व्यवस्था से ज्यादा तर्कसंगत उत्पादन व्यवस्था और श्रम के विभाजन का ज्ञान होने से सामंती व्यवस्था की अकुशलता का पता चलता है, (2) विनिमय मूल्य का अस्तित्व में आने से उत्पादकों के मूल्य और सामाजिक रवैये में बदलाव आता है; (3) सामंती अभिजात्य वर्ग के उपभोग की नयी पसंदों का विकास होता है; (4) शहर, ग्रामीण कृषि दासों के लिये आकर्षण का केन्द्र बनकर उभरते हैं। उनके विचार में विनिमय अर्थव्यवस्था के आ जाने मात्र से कृषि-दासता या सामंतों की भू-सम्पत्तियों का स्वयंमेव विघटन शुरू नहीं होता है लेकिन रोजगार के नये केन्द्रों के रूप में शहरी-व्यापारिक केन्द्रों के विकास के कारण भू-स्वामी सामंती वर्ग को ऐसी रियायतें काश्तकारों को देनी पड़ी कि उससे क्रमशः कृषि-दासता का विघटन शुरू हो जाता है। इसके अलावा सामंती भू-सम्पत्तियाँ अकुशल तथा मंडियों के लिये उत्पादन करने में सक्षम साबित नहीं हो पा रही थी। पूर्वी यूरोप में सोलहवीं सदी में कृषि-दासता के पुर्नजीवित होने का कारण, स्वीजी के विचार में इन क्षेत्रों का नयी उभरती विनिमय अर्थव्यवस्था से भौगोलिक दूरी थी। इन तर्कों से साफ है कि स्वीजी की धारणा मुख्यतयः आर्नी पिरेन के विश्लेषण से मेल खाती है।

वास्तव में पश्चिमी यूरोप में सामंतवाद के पतन (14 वीं सदी) से लेकर सोलहवीं सदी के उतरार्ध में पूँजीवाद के प्रारंभ होने के बीच में एक लम्बी समय-अवधि थी। स्वीजी इस मध्यवर्ती समय को डॉब की तरह सामंती नहीं मानते। उन्होंने इस अवधि को पूर्व-पूँजीवादी वस्तु-उत्पादन (pre-capitalist commodity production) का संक्रमण काल माना है जिसमें प्रमुख पहलू न सामंती थे और न पूरी तरह पूँजीवादी। स्वीजी ने पूँजी के प्राथमिक संचय में व्यापार और वस्तु-उत्पादन की भूमिका को ही काफी महत्वपूर्ण माना था। ब्रेनर ने स्वीजी के इस मत का खण्डन किया कि वे सामंतवाद में विकास की सम्भावनायें व्यवस्था में न ढूँढकर उत्पादन की इकाईयों में ढूँढने की कोशिश कर रहे हैं। स्वीजी के मत में विनिमय के लिए या बाजार-केन्द्रित माँग से उत्पादन संचालन में मुनाफा कमाना ही लक्ष्य रहता है और सामंती उत्पादन की इकाईयां इसके लिये तैयार नहीं थी। ब्रेनर के अनुसार

स्वीजी यह मान कर चल रहे हैं कि सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण से पहले ही पूँजीवाद मौजूद था।

मॉरिस डॉब ने Studies in the Development of Capitalism ने इस विचार को नकार दिया कि बाजार के अनुसार उत्पादन और वेतनभोगी मजदूरी द्वारा उत्पादन में कोई आवश्यक सम्बन्ध है। उनके अनुसार सामंती व्यवस्था में अधिशेष-अधिग्रहण भू-स्वामी वर्ग द्वारा गैर-आर्थिक दबाव के माध्यम से ही होता है और यहीं इस व्यवस्था में उत्पादक शक्तियों के विकास की सम्भावनाओं का निर्धारण करता है। सामंतवाद की अपनी गतिशील अवस्था 10 वी और 12 वीं सदी के बीच थी जब कृषि के विस्तार, तकनीकी सुधार और बंधुआ किसानों से अधिशेष हासिल करते हुये सामंतवाद उत्पादन का विस्तार करता है। लेकिन सामंतवाद में कृषि से प्राप्त अधिशेष का उपयोग अनुत्पादक तरीके से होता है। किसान उत्पादक जो कुछ भूमि के हिस्सों के स्वामी भी थे, उनके द्वारा भी कृषि की उत्पादकता बढ़ाने का कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं था क्योंकि सामंती अभिजात्य वर्ग कृषकों से अधिक से अधिक अधिशेष वसूल कर लेने की कोशिश में लगा हुआ था। डॉब के अनुसार, सामंतवाद में व्यापार और व्यापारिक पूँजी के आर्थिक प्रभाव भी सामंती वर्ग–सम्बन्धों के द्वारा ही निर्मित होते हैं। व्यापारिक पूँजी यहाँ चूँकि प्रत्यक्ष उत्पादन में हिस्सेदारी नहीं करती इसलिये उनके मुनाफों का स्त्रोत भी छोटे कारीगर उत्पादकों या किसानों के विरुद्ध व्यापारिक शर्तों और परिस्थितियों को बना देने में ही निहित था। यानि व्यापारिक वर्ग का व्यापार पर एकाधिकार ही मुनाफे बढ़ाने का आधार था। यह सामंती उत्पादन व्यवस्था का ही अंग था और इसे आसानी से सामंतवाद अपने अंदर शामिल कर लेता है। अगर डॉब के मत में व्यापार सामंतवाद के विघटन के लिये जिम्मेदार नहीं था तो फिर कौन से पहलू इसके पतन के कारण बनते हैं। डॉब के अनुसार यह निम्नलिखित थे :

(*i*) यूरोप में कुछ क्षेत्र थे जहाँ कृषि-दासता के स्थान पर अनुबंध पर आधारित सामाजिक सम्बन्ध विकसित हो रहे थे और जहाँ कृषक भू-सम्पत्तियों के मालिक भी बन रहे थे। पश्चिमी यूरोप में ऐसा हो रहा था लेकिन पूर्वी यूरोप में कृषि दासता मजबूत हो रही थी। डॉब के मत में यह अंतर कुलीन भू-स्वामी वर्ग और किसानों की सापेक्ष शक्ति और आपसी संघर्ष पर ही निर्भर करता था। इसमें निरंकुश राज्यों का उदय भी अहम भूमिका रखता है। ब्रेनर ने इस वर्ग-संघर्ष में राजनैतिक कारणों के योगदान को प्रमुख स्थान दिया है जबकि डॉब के मत में आर्थिक कारण ही ज्यादा योगदान देते हैं।

(*ii*) डॉब ने सामंतवाद से आजादी हासिल कर चुके छोटे उत्पादकों के योगदान को भी काफी अहम माना है। जैसे इंग्लैंड में लगान के मुद्रा के रूप में बदलाव से 14–15 वीं सदी से इस तरह के उत्पादकों की भूमिका बढ़ती है और इसी तरह से गैर-कृषि क्षेत्र में भी छोटे और मध्यम स्तर के पूँजीपति बड़े व्यापारिक पूँजी के शिकंजे से स्वतंत्र होकर उत्पादन कर रहे थे।

(*iii*) डॉब ने 1640 की इंग्लैण्ड की क्रांति को पूँजीपति वर्ग के द्वारा सत्ता पर कब्जा जमाने की निर्णायक शुरूआत मानी।

ताकाहाशी ने इस विवाद में इस बात पर जोर दिया है कि पूँजीवाद की दिशा में संक्रमण श्रम के रूप काफी ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनके अनुसार केवल मुद्रा के रूप में लगान की शुरूआत, कृषि-दासता का शिथिल होना और वस्तु उत्पादन की व द्धि ही सामंतवाद के विघटन के लिये पर्याप्त नहीं थे। उनके विचार में सामंती सम्बन्धों का विघटन और औद्योगिक पूँजी का उदय ही पूँजीवाद के लिये जरूरी था।

लादुरी ने नव-मालथसवादी जनसंख्या सम्बन्धी धारणा के आधार पर सामंतवाद के पतन की व्याख्या करने की कोशिश की है। उनके अनुसार सामंती अर्थव्यवस्था के दीर्घकालीन रुझानों को माल्थस की धारणा के अनुरूप दर्शाया जा सकता है अर्थात् जनसंख्या इतनी बढ़ती है कि उनके पोषण के

लिये खाद्य-सामग्री कम पड़ जाती है जिसका नतीजा अकाल आदि के रूप में आता है जिनसे जनसंख्या में गिरावट आ जाती है लेकिन धीरे-धीरे यह अपने पूर्व-स्तर की तरफ फिर बढ़ती है और एक नया चक्र शुरू होता है। यह दो धारणाओं पर आधारित है :

(*a*) सामंती व्यवस्था में उत्पादन व द्धि की क्षमता का अभाव होना; और

(*b*) जनसंख्या बढ़ने की प्राकृतिक प्रव त्ति जो सीमित संसाधनों पर निर्भर रहती है।

जनसंख्या व द्धि की अवस्था को लादुरी और पॉस्टन ने व्यापार की शर्तों को उद्योग और व्यापार के विरुद्ध और कृषि के पक्ष में मानते हुये गिरती मजदूरी की दरों, बढ़ते खाद्य-पदार्थों के मूल्य तथा बढ़ते लगान के साथ जोड़कर देखने की कोशिश की है। पॉस्टन ने कृषक की दासता या स्वतंत्रता, गैर-आर्थिक दबाव के प्रभावशाली होने या न होने को या सामंती लगानों की अधिकता या कमी सब जनसंख्या के उतार-चढ़ाव पर निर्भर करती थी। पॉस्टन और लादुरी ने व्यापारिक गतिविधियों के विकास से सामंतवाद के पतन की धारणा की आलोचना भी की है।

ब्रेनर ने जनसंख्या-सम्बन्धी धारणा की भी आलोचना की है और व्यापारिक गतिविधियों को सामंतवाद के पतन के लिये उत्तरदायी मानने को भी वे तैयार नहीं हैं। ब्रेनर के विचार में यह दोनों प्रकार की धारणायें वर्ग-संरचना और उसके प्रभावों को नजरअन्दाज कर देती है। ब्रेनर के मत में सामंतवाद के पतन में कृषि-दासता की समाप्ति और उसके प्रभाव और छोटे किसानों में भू-स्वामित्व का उभरना तथा उसका प्रमुखता ग्रहण करना काफी अहम भूमिका निभाने वाले पहलू थे। कृषि दासता का होना या न होना या इसका स्वरूप मुख्यतया भू-स्वामी अभिजात्य वर्ग तथा किसानों के संघर्ष पर ही निर्भर करता है। भू-स्वामी अभिजात्य वर्ग की अपेक्षा थी कि वह किसानों को ज्यादा से ज्यादा दासता में रखे जबकि किसान अपनी स्वतंत्रता चाहते थे। इस वर्ग-संघर्ष का परिणाम हर क्षेत्र और स्थान या समय में अलग-अलग रूप में हमारे सामने आता है।

ब्रेनर ने कृषि के क्षेत्र में पूँजीवादी सम्बन्धों के विकास को समझने के लिये इंग्लैंण्ड और फ्रांस की कृषि की तुलना की। इंग्लैंण्ड में कृषि-दासता का विघटन होने का नतीजा किसानों द्वारा भू-सम्पत्ति पर स्वतंत्र नियंत्रण के रूप में उभरकर सामने नहीं आया। चौदहवीं सदी से ही इंग्लैंड के कृषक वर्ग में काफी विभेद पैदा हो चुके थे और एक सम द्ध धनी किसानों का वर्ग मंडियों के खाद्यान्न या ऊन आदि का उत्पादन कर रहा था। यह वर्ग स्वयं खेतिहर मजदूरों का उपयोग उत्पादन में कर रहा था और खुद बड़े भू-स्वामियों को काश्तकार के रूप में काम करता था। यहाँ भू-स्वामी अभिजात्य वर्ग का रवैया भूमि-उपयोग और शोषण के रूपों के प्रति बदल रहा था और बहुत से लोगों ने अपने भू-सम्पत्तियां व्यापारियों के हाथों बेच दी थी। चर्च की भू-सम्पत्तियों का पुर्नवितरण भी काफी हुआ था। सोलहवीं सदी के किसान विद्रोह भी इंग्लैंण्ड में पूंजीवाद के कृषि में प्रवेश को नहीं रोक पाये थे। इसलिये इंग्लैंण्ड में कृषि-उत्पादन की वर्ग संरचना भूस्वामी-पूँजीपति– तथा–वेतनभोगी मजदूर के रूप में उभरी थी। यह किसानों की भू-स्वामित्व प्राप्त कर ने की विफलता को दर्शाता है। इसके विपरीत फ्रांस में किसान भू-स्वामी वर्ग से स्वतंत्र अपनी आजादी और भू-सम्पत्ति के अधि ाकार स्थापित करने में कामयाब रहे थे बल्कि लम्बे समय तक उन्हें बचाये भी रख सके। इस छोटे स्वतंत्र किसान वर्ग से राज्य ने ज्यादा भू-राजस्व वसूल करना शुरू किया। लेकिन बड़ा भू-स्वामी वर्ग यहाँ जड़े नहीं जमा सका और इसीलिये यहां कृषि में पूँजीवादी रुपान्तरण भी धीमी गति से ही हो रहा था।

(B) भारतीय सामंतवाद (Indian Feudalism)

कुछ समय से सामंतवाद इतिहासकारों के बीच विवाद का विषय रहा है। इस विवाद की शुरूआत भारतीय सामंतवाद के संदर्भ में हरबंस मुखिया के लेख, "क्या भारत में फ्युड़लिज्म रहा है ?" से हुई

थी। यह उन्होंने 1981 में लिखा था। इस विवाद में केन्द्रिय मुद्दा यह था कि यदि पूँजीवाद ही प्रथम विश्वव्यापी उत्पादन की आर्थिक व्यवस्था थी तो क्या सामंतवाद जैसी पूर्व-पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था विश्व-स्तर पर कायम थी या नहीं। भारतीय इतिहास लेखन में फ्यूडलिज्म की मान्यता ने 1956-1965 के बीच अपने पैर मजबूती से जमा लिये थे। डी० डी० कोसंबी की **एन इंट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री** और आ० एस० शर्मा की कृति **इंडियन फ्युडलिज्म** में भारतीय सामंतवाद की कल्पना मुख्य रूप सके राज्य द्वारा दिये गये भूमिदानों (land grants) के रूप में की थी। इसे किसी भी उत्पादन-पद्धति के रूप में नहीं देखा गया था। हरबंस मुखिया के लेख, "क्या भारतीय इतिहास में सामंतवाद रहा है ?" में सैद्धान्तिक और आनुभाविक दोनों आधारों पर भारत के संदर्भ में फ्युड़लिज्म की प्रांसगिकता पर आपत्ति जताई गयी। उन्होंने इस बारे में बहस के नये आयाम खोले और भारतीय सामंतवाद को केवल एक प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में देखने पर सवाल खड़े किये। मुखिया का मत था कि भारत में फ्यूडलिज्म की जगह स्वतंत्र कृषक उत्पादन ही ज्यादा प्रभावशाली रहा था और यह स्वतंत्र कृषक उत्पादन व्यवस्था, ना कि सामंतवाद मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज की मुख्य विशेषता थी। इसी की बदौलत भारतीय मध्यकालीन उत्पादन व्यवस्था यूरोप की फ्यूडल उत्पादन व्यवस्था से भिन्न थी।

मुखिया ने सबसे पहले यह सवाल खड़ा किया कि सामंतवाद की परिभाषा क्या है ? और कहा कि सामंतवाद की कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि फ्यूडलिज्म कोई विश्वस्तर की उत्पादन व्यवस्था थी ही नहीं और विश्व स्तर की पहली उत्पादन व्यवस्था पूँजीवाद ही थी। इसलिये उनका तर्क है कि सामंतवाद को दुनिया के हर क्षेत्र में ढूँढना ही फिजूल है। अर्थात् मुखिया के मत में सामंतवाद की धारणा यूरोप के सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में ही पेश की जा सकती है—शायद उसके बाहर नहीं। सामंतवाद को "गैर-आर्थिक बल-प्रयोग" पर आधारित व्यवस्था के रूप में या काफी हद तक संगठित शासक वर्ग द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बल प्रयोग करके कृषि अधिशेष (agricultural surplus) को हड़प लेने वाली कृषि-उत्पादन व्यवस्था के रूप में ही परिभाषित किया है। इस तरह की परिभाषा में किसान के शोषण के राजनैतिक या कानूनी ढाँचे को ध्यान में रखकर ही सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक संरचना की पहचान उसके आधार पर करने की कोशिश की जाती है। यह परिभाषा, मुखिया के अनुसार, इतनी व्यापक है कि इसमें सभी पूर्व-पूंजीवादी उत्पादन की पद्धतियों को शामिल किया जा सकता है। क्योंकि सभी पूर्व-पूँजीवादी समाजों में कृषि-उत्पादन की प्रधानता रहती है, सम्पत्ति का असमान वितरण रहता है और शासक वर्ग गैर-आर्थिक दबाव के बल पर तरह-तरह की युक्तियों से; लगान (श्रम, नकद या वस्तुओं के रूप में) या राजस्व अथवा आश्रित या बंधुआश्रम (serfdom) के रूप में, किसानों की उपज का अधिशेष हथिया लेता है।

आर० एस० शर्मा की द ष्टि में, भारतीय सामंतवाद का विकास ईसवी सन् की चौथी सदी से शुरू होता है और ग्यारहवीं या बारहवीं सदियों तक यह अपनी चरमसीमा तक पहुँच जाता है। दूसरी तरफ बी० एन० एस० यादव की राय में, दिल्ली सल्तनत के स्थापित होते ही राजनैतिक और आर्थिक कारणों से भारतीय सामंतवाद का पतन शुरू हो जाता है। दूसरी तरफ रूसी इतिहासकार एम० एम० कोवालेवस्की का मत था कि भारत में सामंतीकरण की प्रक्रिया सल्तनत काल से ही शुरू होती है। यह देखने के लिये कि क्या भारत में सामंतवाद था—मुख्यतया विद्वान मध्यकालीन यूरोप के सामंती नमूने से या सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से भारतीय व्यवस्था की तुलना करके ही देखते हैं क्योंकि मध्यकालीन यूरोप का समाज ही सामंतवाद का सबसे विकसित और सुसंगठित रूप था। डी० डी० कोसंबी ने भारतीय फ्यूडलिज्म के अध्ययन के लिये एक नया चौखटा तैयार किया था। उन्होंने इसे उपर से फैलने वाले (राज्य की पहल पर) सामंतवाद और नीचे से फैलने वाले सामंतवाद के रूप में प्रस्तुत किया था। आर० एस० शर्मा ने **भारतीय सामंतवाद** नामक अपनी महत्वपूर्ण रचना में

सामंतवाद के बारे में कुछ महत्वपूर्ण धारणायें अपनाने की कोशिश की जिनको बाद में बी० एन० एस० यादव ने भी स्वीकार किया इसमें सबसे महत्वपूर्ण धारणा यह थी कि व्यापार और शहरीकरण का सामंतवाद से विरोध होता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात थी भू स्वामी मध्यवर्ती वर्गों का महत्व बढ़ जाना। आर० एस० शर्मा के अनुसार, इन वर्गों के महत्व बढ़ने का कारण राज्य द्वारा सरकारी अधिकारियों और ब्राह्मणों को दिये गये भू-दान (land grants) थे। उनका कहना है कि इसके फलस्वरूप किसान उन मध्यवर्ती वर्गों के अधीन हो गये और इन्हीं पर आश्रित हो गये। आर० एस० शर्मा ने भारत में सामंतवाद को यूरोप के आधारभूत ढाचे के नमूने के अनुसार परखा। उन्हें भारत में सामंतवाद के लगभग सभी पहलू जैसे भू-दासता (serfdom), श्रीमंत क्षेत्र (मैनअॅर), आत्मनिर्भर आर्थिक इकाईयाँ, कारीगरी और वाणिज्य-व्यापार का सामंतीकरण, भारत में भी विकसित होते दिखाई देते हैं। विकसित होते सामंतवाद को आर० एस० शर्मा ने व्यापार और शहरीकरण की अवनति से भी जोड़कर देखा और इसी प्रकार जिन पहलुओं को यूरोप के सामंतवाद की जड़ें कमजोर करने का कारण माना गया था, जैसे व्यापार और शहरीकरण को पुर्नविकास, किसानों का शहरों को भागना और श्रम के उजरती मजदूरी (piece-rate-wage) में बदलने की प्रक्रिया, वह सब के सब—आर०एस० शर्मा ने विदेशी आक्रमण से सामंतवाद को नहीं जोड़ा था लेकिन बी० एन० एस० यादव के अनुसार हूणों के आक्रमणों ने पतन की दिशा में बढ़ रहे गुप्त साम्राज्य को ध्वस्त करके उत्तर भारत में सामंतवाद के उदय होने में अहम योगदान दिया। यादव के अनुसार, उत्तर-भारत में गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य का विकास सामंती फ्रैंकिश कैरोलिजयन साम्राज्य के अनुसार ही हुआ था। इन दोनों विद्वानों के विचार में, भारतीय सामंतवाद की मुख्य विशेषता यह थी कि राज्य द्वारा भूस्वामी मध्यवर्त्ती लोगों को भूदान दिये जाने के साथ-साथ उन्हें अन्य प्रशासनिक अधिकार भी दिये गये और इससे किसानों की इन सामंती वर्गों पर निर्भरता लगातार बढ़ती जाती है। किसानों के इन भू-स्वामी वर्गों पर निर्भरता से उनकी गतिशीलता पर भी अधिक से अधिक कानूनी और सामाजिक पाबंदियां लगती गयी और उनकी श्रम सेवाओं को गैर-आर्थिक दबाव का सहारा लेकर बाधित श्रम के रूप में बदला जाने लगा। कुल मिलाकर आर०एस० शर्मा ने भारतीय और यूरोपीय सामंतवाद में एक जैसे पहलू ढूँढने की कोशिश करते हुये उनमें एक साद श्यता स्थापित करने की कोशिश की है।

व्यापार और शहरीकरण से सामंतवाद के विरोध की धारणा हेनरी पिरेन के समय से ही इतिहासकारों के बीच काफी विवाद का विषय रही है। सामान्यतया इतिहासकार अब इन्हें पारस्परिक विरोधी पहलुओं के रूप में नहीं देखते। डी०सी० सरकार और ज्यादा प्रभावशाली ढंग से बी०डी.० चट्टोपाध्याय ने तथाकथित सामंतवाद के भारत में उत्थान के समय व्यापार और शहरीकरण के ह्रास की धारणा पर प्रश्नचिन्ह लगाया है। प्रोफेसर हरबंस मुखिया के अनुसार यूरोपियन फ्यूडलिज्म और भारतीय सामंतवाद में एक बुनियादी फर्क है : यूरोप में सामंतवादी का उदय एक ओर तो दासप्रथा पर आधारित उत्पादन सम्बन्धों से उत्पन्न संकट और दूसरी ओर जर्मन कबीलों के बीच बढ़ती हुई श्रेणीबद्धता से पैदा हुये बदलावों का नतीजा था। यानि यूरोप में सामंतवाद का विकास समाज के आधार में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ हुआ था। परंतु इसके ठीक विपरीत भारत में तथाकथित सामंतवाद राज्य की गतिविधियों से पैदा होता है। यानि राज्य के द्वारा वेतन की जगह भू-दान देने से या अन्य धार्मिक तथा परमार्थी के दिये गये भू-दानों (land grants) से इसके विकास की प्रक्रिया जन्म लेती है। ये भू-दान प्राप्त वर्ग राज्य से प्राप्त कानूनी अधिकारों के बलबूते पर किसानों पर पांबदियां लगाते हैं। हरबंस मुखिया का यह भी मानना है कि प्रशासनिक और कानूनी प्रक्रियाओं द्वारा सामंतवाद जैसी जटिल सामाजिक संरचना का जन्म नहीं ले सकती। उनके विचार में आर० एस० शर्मा और बी० एन० यादव द्वारा जुटाये गये प्रमाण किसानों के शोषण-उत्पीड़न की पुष्टि तो करते हैं लेकिन उनकी सामंती वर्गों की परतंत्रता और बंधुवा बनाये जाने की नहीं। सामंतवाद के

विकास का अर्थ किसी बाहरी तत्व द्वारा किसान की उत्पादन की प्रक्रिया पर नियंत्रण होना चहिये और हरबंस मुखिया के अनुसार भारत के संदर्भ में इस बात को साबित नहीं किया जा सका है उनके अनुसार, यूरोप में भू-दासता (serfdom) में किसान के श्रम के कम से कम एक हिस्से का उपयोग उसके अपने स्वयं के खेत में उत्पादन के लिये न होकर लार्ड की उत्पादन की प्रक्रिया में होता था। भारत में बाधित श्रम का स्वरूप यूरोप से बिल्कुल अलग था और उत्पादन की प्रक्रिया में इसका उपयोग नहीं किया जाता था। प्रोफेसर मुखिया के अनुसार भारत में कृषि-दासता या सर्फडम के न होने का कारण यह था कि भारत में कृषि-उत्पादन की परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि उसमें कृषि-दास श्रमिकों (serfs) की जरूरत नहीं पड़ती थी और इसीलिये भारत में बाधित श्रम उत्पादन की प्रक्रिया का अंग नहीं बल्कि शासक वर्ग की प्रशासनिक और राजनैतिक सत्ता की अभिव्यक्ति था।

प्रोफेसर मुखिया के अनुसार, उन्नीसवीं सदी के पूर्व तक भारत की मिट्टी यूरोप की मिट्टी से सामान्यतया अधिक उपजाऊ थी। दूसरी और उष्ण जलवायु के कारण भारतीय किसान कुदरती तौर पर काफी कम संसाधनों से ही गुजारा कर सकता था और इन्हीं कारणों से भारतीय कृषि के इतिहास की मुख्य विशेषता यह रही है कि आर्थिक रूप से किसान यहाँ पूरी तरह स्वतंत्र रहे हैं। मुखिया के अनुसार भारत में वैदिक काल में कृषि के विकास के समय से ही एक ही खेत में दो-दो फसलें उगा लेना सामान्य सी बात थी लेकिन यूरोप में दसवीं या ग्यारहवीं सदी में एक चक्र में तीन-तीन खेतों को लाने से भी साल में कभी दो फसलें नहीं उगाई जा सकीं। बल्कि हिन्दुस्तान में कहीं-कहीं स्त्रोतों से साल में तीन-तीन फसलें तक उगाने के उल्लेख भी मिलते हैं। यह साबित करना मुश्किल है कि भारत में हर खेत में साल में दो या तीन फसलें पैदा होती थी क्योंकि सब प्रकार की भूमियाँ और उनका उपजाऊपन भारत में भी एक जैसा नहीं था लेकिन सबूतों से यह साफ है कि भारत में कम से कम कुछ जमीन में साल में दो या तीन फसलें पैदा की जाती थी। दूसरे भारत में कोई भी खेत साल के कुछ महीनों से अधिक खाली नहीं रहता था जबकि उत्तर मध्यकालीन यूरोप में तीन खेतों के चक्र का उपयोग करने पर भी इस स्थिति को प्राप्त नहीं किया जा सका था। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में खेतों को परती छोड़ने का चलन तो था लेकिन इसका परिणाम कम था। भारतीय ग्रंथों में परती के लिए कुमारी (जिसे अब तक जोता-बोया न गया हो) या त्यक्त (वह खेत जिसे खेती करने के बाद किसी कारण से छोड़ दिया गया हो) या अधिक से अधिक उस जमीन के लिये किया गया है। जिसमें कुछ समय के लिये खेती बंद कर दी गई हो। कुमारी या त्यक्त जमीन के विपरीत परती जमीन (fallow land) कृषि चक्र का अभिन्न अंग है। भारत में जमीनों को कुछ समय तक विश्राम दिया जाता था लेकिन उर्वरता लौटाने के लिये उसे परती छोड़ने के संकेत कम ही मिलते हैं। जैसे आइने-अकबरी में भूमि का एक वर्ग यह बताया गया है जिसमें किसान कुछ समय तक खेती नहीं करते और इस प्रकार उसकी ताकत बढ़ाते हैं। प्रोफेसर मुखिया का मत है कि भारत में कृषि-योग्य भूमि का अभाव तो था नहीं और इसीलिये जमीन को परती छोड़ने के चलन की जगह जमीन का त्याग करके कुमारी जमीन को आबाद करना ज्यादा आसान रहा होगा हाँलाकि इसके सबूत भी बहुत कम मिलते हैं। कुमारी जमीन को खेती योग्य बनाना भी खर्चीला काम है और किसान उसका सहारा तभी लेगें जब खाद द्वारा पुराने खेत की उर्वरता बढ़ाने का काम अधिक खर्चीला महसूस हो। मुखिया के मत में बीसवीं सदी से पूर्व के काल में भारत में अपेक्षाकृत अधिक खाद उपलब्ध रहती थी।

प्रोफेसर मुखिया का तर्क है कि भारत में खाद बनाने की कला, और खेती के उपकरण भी समय के अनुसार परिष्कृत ही थे। भारतीय हल सतह की मिट्टी ही खुरचता था लेकिन यहां ज्यादातर मिट्टी की उर्वरता सतह पर ही होती है और इसलिये मिट्टी को गहराई तक तोड़ने वाले हल की जरूरत भी भारतीय किसानों को नहीं पड़ी। हल के अलावा भी कई अन्य उपकरणों का उपयोग कृषि में होता था जैसे वैदिक साहित्य में हँसिया और छलनी का जिक्र हुआ है। रामायण (बाल्मीकि कृत)

में फावड़े का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कुदाल और अनाज से भूसी की अलग करने के लिये ओखल और मूसल की चर्चा हुई है। धीरे-धीरे कृषि उपकरणों के निर्माण में लोहे का प्रयोग भी लगातार बढ़ता जाता है। इसी तरह भारत में बीज को गहराई पर बोने की विधि भी काफी पुरानी मालूम पड़ती है। प्रतिरोपण की विधि का भी भारतीयों को ज्ञान था। इसी प्रकार प्राचीन काल और मध्यकालीन भारतीय कृषि में सिंचाई का प्रचलन भी एक महत्वपूर्ण बात थी। तालाब, नदी, झील और कुँओं से पानी निकालने की पद्धतियों का जिक्र मिलता है। मौर्य राज्य द्वारा सिंचाई पर कर लगाने का उल्लेख भी मिलता है। सातवीं सदी से नौरिया तथा सल्तनत काल से फारसी चक्र (रहट—The Persian wheel) के उपयोग का प्रसार उत्तरी भारत में होता है। फिरोजशाह तुगलक और शाहजहाँ ने नहरों के निर्माण करवाये हाँलाकि नहरों का इस्तेमाल अपेक्षाकृत अंग्रेजी राज में ज्यादा बढ़ता है। कुल मिलाकर प्रोफेसर मुखिया ने इस बात पर जोर दिया है कि भारत में मिट्टी की प्रकृत उर्वरता तथा बेहतर औजारों और विधियों के कारण कृषि-उत्पादकता का स्तर ऊँचा था और भारतीय किसान को जीवन-यापन के लिये ज्यादा संसाधनों की जरूरत नहीं पड़ती थी क्योंकि भारत की उष्ण-जलवायु तथा सामाजिक ढाँचा भी ऐसा था कि किसान-परिवार का कम में ही गुजारा हो जाता था। जैसे भारत में पाँचवीं सदी ई०पू० भी कृषक-परिवार के जीवन-यापन के लिये नौ से चौदह एकड़ जमीन को काफी माना जाता था। हाँलाकि बाद के समय के लिये किसानों को जोतों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है लेकिन किसान परिवार की जोत के आकार की जरूरत तभी बढ़ सकती थी जब या तो मिट्टी का उपजाऊपन कम होता या किसान परिवार का जीवन-स्तर ऊँचा हो रहा होता। इसके अभाव में सम्भवतया किसान की जोत का आकार नहीं बढ़ा होगा। साथ-ही साथ प्रोफेसर मुखिया का एक तर्क यह भी है कि भारत में जोतों के अपेक्षाकृत छोटे रकबों का मुख्य लाभ यह भी था कि इससे उत्पादन प्रक्रिया के दौरान यहां यूरोप की तरह श्रम की बरबादी नहीं होती थी। इसका नतीजा यह था कि यहाँ कृषि कार्य के लिये यूरोप की तुलना में बहुत श्रम की जरूरत होती थी। इसके अलावा ये कार्य साल के दौरान पश्चिमी यूरोप की तुलना में बहुत ज्यादा लम्बे अरसे तक किये जा सकते थे। इसलिये भारत में ऐसी स्थिति नहीं थी कि साल के कुछ खास समय में श्रम की बहुत अधिक माँग रहती हो, जैसा की पश्चिमी यूरोप में रहती थी। इसलिये भारत में कृषि-दासता के विकास की सम्भावनायें ज्यादा नहीं थीं। चूँकि भारत में उत्पादन की प्रक्रिया श्रम के प्रबल अभाव की स्थिति पैदा नहीं करती थी, इसलिये किसान को कृषि दास बनाने की आवश्यकता ही पड़ी। भारत में ऐसी जरूरत कभी-कभी और थोड़े समय के लिये ही पैदा होती थी। यही वजह है कि भारतीय किसान को कृषि-दास कहने का अभिप्राय मुख्यतया उसकी गतिशीलता पर लगी कानूनी पाबंदियों, भूमि के हस्तांतरण के निर्बाध अधिकार के अभाव और उसकी बाधित श्रम करने की मजबूरी के आधार पर ही ऐसा कहते हैं। यह सच है कि मुख्य रूप से भू-राजस्व की वसूली भारतीय राज्य की मुख्य चिंता का विषय था और इसके लिये उसकी कोशिश रहती थी कि किसान अपनी जमीन को आबाद रखें। अर्थशास्त्र में यह विधान किया गया था कि जो लोग जमीन को आबाद नहीं करते उनकी जमीन छीनकर दूसरों को दे दी जाय, या फिर उसमें गाँव के श्रमिकों और व्यापारियों द्वारा खेती कराई जायी। अर्थशास्त्र में भूमि के निर्बाध हस्तांतरण और किसानों के चाहे जहाँ जा बसने पर भी प्रतिबंध लगाने का सुझाव दिया गया है। स्पष्ट रूप से, इस तरह के कदमों का लक्ष्य राज्य की भू-राजस्व से होने वाली क्षति को रोकना था। हरबंस मुखिया के अनुसार मौर्य-काल के बाद से ही स्वतंत्र कृषक उत्पादन की नींव काफी पक्की हो चुकी थी। सातवीं सदी तक अधिकांश शूद्र किसान बन चुके थे। इस तरह के स्वतंत्र कृषक उत्पादन के होने का यह मतलब भी नहीं था ग्रामीण अंचलों में वर्ग-विभाजन विकसित ही नहीं हुआ था। खास तौर से जाति प्रथा से सामाजिक और आर्थिक असमानता को खूब बल मिला। इस प्रथा का एक खास परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े भू स्वामियों की जमीन पर खेती करने के लिये भूमिहीन कृषक

मजदूर बड़ी संख्या में उपलब्ध रहें। लेकिन इन सब बातों के बावजूद उत्पादन प्रक्रिया में, हरबंस मुखिया के अनुसार, स्वतंत्र कृषक उत्पादन की प्रधानता थी।

प्रोफेसर आर० एस० शर्मा ने मुखिया के इस मत पर शंका जाहिर की है कि पूँजीवाद से पहले कोई विश्व-व्यापी उत्पादन पद्धति या सामाजिक व्यवस्था कायम ही नहीं हुई थी। उनके अनुसार जन जातीय व्यवस्था भी विश्वव्यापी ऐतिहासिक व्यवस्था थी और पाषाणयुगीन व्यवस्था या खाद्य उत्पादक व्यवस्था भी विश्वव्यापी सामाजिक व्यवस्थायें थीं। उनके अनुसार जनजातीय व्यवस्था बराबर कायम भी रह सकती है और उसके अवशेष पर राज्यबद्ध तथा वर्ग विभाजित समाजों का उदय भी हो सकता है। प्रोफेसर शर्मा के अनुसार, जनजातीय समाज कौटुबिक सम्बंध (Kinship relation) पर संगठित होता है लेकिन फिर भी इस संगठन के रूप अलग-अलग हो सकते है। जैसे भात सत्तात्मक और पित सत्तात्मक रूप इसके हो सकते हैं। इसी प्रकार जनजातीय समाज के रीति रिवाज और सम्पत्ति के उत्तराधिकार के नियम भी एक दूसरे से भिन्न हो सकते है। और यहाँ तक कि एक ही जनजाति के अंदर ये रीति-रिवाज और उत्तराधिकार के नियम अलग-२ हो सकते हैं। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए प्रोफेसर आर० एस० शर्मा कहते हैं कि जैसे जनजातीय समाज में बहुत अधिक विविधतायें हो सकती हैं उसी प्रकार विभिन्न स्थानों और कालों में सामंती समाजों के रूप भी अलग-अलग हो सकते हैं। लेकिन मुखिया के तर्क के विपरीत उनका यह भी मानना है कि सामंतवाद में कुछ सार्वभौमिक विशेषतायें सदैव पायी जाती है। उनके अनुसार सामंतवाद को उत्पादन के साधनों के वितरण और कृषि अधिशेष के अधिग्रहण की व्यवस्था के रूप में ही देखना चाहिये। हाँलाकि हर क्षेत्र में सामंतवादी व्यवस्था की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषतायें भी हो सकती, इसीलिये आर०एस० शर्मा ने मुखिया की इस बात का खण्डन किया कि सामंतवादी उत्पादन व्यवस्था पश्चिमी यूरोप तक ही सीमित थी और भारत में इसका कोई लक्षण प्रकट नहीं हुआ था। मार्क ब्लाख की सामंतवाद की परिभाषा को मानते हुए आर० एस० शर्मा ने सामंतवाद को मुख्य रूप से कृषि पर आश्रित ऐसी व्यवस्था माना है जिसमें एक वर्ग भूमि पतियों का होता है और दूसरा पराधीन किसानों का। इस व्यवस्था के तहत भूमिपति सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक उपायों से (या संक्षेप में गैर-आर्थिक उपायों से) किसान के कृषि-अधिशेष को हड़प लेते हैं। कृषि-दासता (serfdom), सोपान बद्ध समाज (hierarchical order of society) तथा विभाजित प्रभुसत्ता (decentralized polity) पश्चिमी यूरोप के सामंतवाद की मुख्य विशेषतायें थीं।

इस न्यूनतम सार्वभौम विशेषताओं के साथ सामंतवाद के अनेक रूप हो सकते हैं। जो सामंतवाद पश्चिमी यूरोप में पैदा हुआ, उसकी विशिष्टायें दुनिया के अन्य हिस्सों में पनपे सामंतवाद के अन्य रूपों पर लागू नहीं होती। इसी तरह दुनिया के अलग-अलग भागों में धार्मिक अनुदान भोगियों के भी अलग-अलग रूप दिखाई पड़ते हैं। जैसे रोम के पोप बहुत बड़े भू-स्वामी थे। कोरिया में काफी जमीनों पर बौद्धों और कनफ्यूसियस के अनुयायियों का अधिकार था। पूर्वी भारत में भी बौद्ध-विहारों का बहुत अधिक वर्चस्व था। दक्षिण भारत में मंदिर जागीरों के रूप में सामने आये और ऊपरी और मध्य गंगा घाटी में ऐसी ही स्थिति ब्राह्मणों की थी। उत्तर भारत में धार्मिक दानभोगियों को राज्य को कोई कर नहीं देना पड़ता था लेकिन दक्षिण भारत में बहुत से स्थानों पर उन्हें कर देने पड़ते थे। इसी प्रकार अन्य मध्यवर्ती भू-स्वामियों के भी अलग-अलग रूप हो सकते हैं। उड़ीसा सहित कुछ क्षेत्रों में जनजातीय सरदारों को भू-स्वामी बनाए जाने के उदाहरण मिलते हैं। अन्य क्षेत्रों में अनेक प्रशासनिक अधिकारी किसानों से वसूल किये गये करों का स्वयं उपभोग करते थे। इसी प्रकार अलग-अलग क्षेत्रों के किसान अलग-अलग सीमा तक भूस्वामियों के अधीन हो सकते हैं और यही नहीं बल्कि विभिन्न क्षेत्रों के कृषक वर्ग के सदस्यों में भी अंतर हो सकता है। कृषि, शिल्पों और जिन्सों के उत्पादन और वाणिज्य व्यापार में प्रगति और शहरीकरण के बढ़ने से कृषक वर्ग के अंदर फर्क

पैदा हो सकते थे। जो किसान अपने गुजारे से कुछ अधिक पैदा कर सकते थे वे भू स्वामियों को श्रम के रूप में दी जाने वाली सेवाओं के एवज में नकद अदा करके अपनी आजादी खरीद सकते थे, बशर्ते कि इस बात को राज्य का अनुमोदन प्राप्त हो और एक खास हद तक बाजार अर्थव्यवस्था सुलभ हो। लेकिन जहाँ ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं थी वहाँ समरूप किसान वर्ग कायम रह सकता था। हाँलाकि इस तरह के इलाकों में भी कृषि की उत्पादन विधियों और जमीन की उर्वरता का असर खेती की पैदावार पर पड़ सकता था और इस कारण से किसानों की आर्थिक स्थिति में अंतर और भिन्नतायें पैदा हो सकते थी। इसी तरह से किसानों को अपने खेतों के अलावा भू-स्वामियों के खेतों में कृषि दासों के रूप में काम करने को विवश किया जा सकता था। पश्चिमी यूरोप में इसका आम प्रचलन था लेकिन आर०एस० शर्मा का मानना है कि कृषि-दासता को सामंतवाद का पर्याय नहीं मान लेना चाहिये। यह कृषि-दासता (serfdom) का रूप पराधीनता का एक खास तरीका था जिससे किसान जमीन से बंधा रहता था जिसमें वह लार्ड के खेत में काम करने के लिए मजबूर था। आर० एस० शर्मा के अनुसार, कृषि दासता की व्यापक स्थिति न होने पर भी पूर्व मध्यकालीन भारतीय समाज में किसान राज्य और भू-स्वामियों के अधीन ही थे उन्हें 'स्वतंत्र कृषक' नहीं माना जा सकता है। आर० एस० शर्मा ने मुखिया के इस मत का खण्डन किया है कि मध्यकालीन भारत में किसान को उत्पादन की स्वतंत्रता थी या उत्पादन के साधनों पर उसको पूरा नियंत्रण प्राप्त था। चूँकि उत्पादन से होने वाले लाभ के उपभोग राज्य या उसके मध्यवर्ती भू-स्वामी शासक वर्ग के लोग कर रहे थे और कृषि-उत्पादन से होने वाली आमदनी किसान के हाथ में न रहकर, कृषि-अधिशेष (agricultural surplus) के रूप में शासक वर्ग द्वारा हथिया ली जाती थी इसलिये उत्पादन के साधनों पर किसानों का नियंत्रण कारगर नहीं था। कर लगान, बेठ-बेगार, बराबर मौके पर मौजूद अनुदान भोगियों का लगातार कृषि-उत्पादन में हस्तक्षेप, ये सब बातें किसान के उत्पादन-प्रक्रिया पर नियंत्रण को कारगर नहीं होने देती थी। आर०एस० शर्मा का यह भी मानना है कि भूमिदानपत्रों से इस बात में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि सामान्यतः उत्पादन के साधनों पर भू-स्वामी का अच्छा-खासा नियंत्रण था। भू स्वामी किसानों से विभिन्न प्रकार के लगानों की माँग करते थे, और वे उनसे तरह-तरह के देयों की वसूली करते थे। स्पष्ट रूप से राजकीय सनदों के बल पर ही वे ऐसा कर सकते थे जिनमें उन्हें गाँव अथवा भूमिखण्ड या तरह-तरह के करों की वसूली के अधिकार अनुदानस्वरूप दिये जाते थे। आर० एस० शर्मा के अनुसार हाँलाकि प्रारंभिक राज्य द्वारा दिये गये दानपत्रों में भोगाधिकार ही मुख्य थे लेकिन बाद में दानपत्रों में ऐसी रियायतें दी गयी कि उससे अनुदानी गाँव और भूमियों के वास्तविक स्वामी बनते चले गये और दान में दिये गये गाँव उनकी निजी जागीर जैसे बनते चले जाते हैं। उदाहरण के तौर पर गुप्त और गुप्त काल के बाद के दानपत्रों और चोल राजाओं के दानपत्रों में भी भोगी को दान में प्राप्त भूमि से पुराने किसानों को हटाकर वहाँ नये काश्तकारों को बसाने का अधिकार दिया गया था। सातवीं सदी के बाद के ज्यादातर अनुदानों के अनुसार गाँव के दान में उसकी निम्नस्थ भूमि, उर्वर भूमि, जलाशय, सभी प्रकार के व क्ष, चारागाह और पंगडंडियाँ स्पष्ट रूप से शामिल किये जाते थे। पूर्वी भारत के दानपत्रों में आम, महुए और कटहल के पेड़ों के अलावा विभिन्न प्रकार के कृषि संसाधनों के साथ ग्रामदान के उदाहरण देखने को मिलते है। दान में कपास, पटसन, नारियल और सुपारी के पेड़-पौधे भी दिये जाते हैं, लेकिन ऐसा दसवीं सदी के बाद देखने को मिलता है जब नकदी फसलों का महत्व बढ़ गया था। इन प्रावधानों का मतलब, आर० एस० शर्मा के अनुसार यह था कि कृषि सामूहिक संसाधन भी दान-भोगियों के नियंत्रण में चले जाते हैं और इसका सीधा अर्थ यह है कि अगर किसान को कृषि के संसाधनों के निर्बाध उपयोग की सुविधा नहीं है तो उसकी उत्पादन की स्वायतता काफी हद तक सीमित हो जाती है। जैसे किसान अपने पशुओं को चराने के लिये सामूहिक चरागाहों पर निर्भर रहता था, लेकिन उनके ऊपर दानभोगियों के नियंत्रण से सामूहिक चरागाहों के उपयोग पर

प्रतिबंध लगाये जा सकते थे। आर० एस० शर्मा के मत में, इस तरह दानभोगियों को चरागाहों पर अधिकार दे देने से कृषि-उत्पादन की स्वतंत्रता में भारी कमी आ जाती थी।

इसके अतिरिक्त, अधिकतर दानपत्रों में किसानों से भोक्ताओं के आदेशों का पालन करने को कहा जाता था। दानभोगी को दिया गया ऐसा निरंकुश अधिकार किसान को एक तरह से उसके हुक्म का गुलाम बना देता है। प्रोफेसर आर० एस० शर्मा के अनुसार इसका मतलब यह था कि किसान की श्रम शक्ति पर, जो निस्संदेह उत्पादन का बड़ा साधन है, दानभोगी का सामान्य नियंत्रण स्थापित हो जाता है। इस श्रम का उपयोग या तो उन खेतों में किया जा सकता था जिन्हें किसान स्वयं जोतता-बोता था या उनमें जिनका प्रबंध दानभोगी करता था। इस स्थिति में वह किसान के उत्पादन-निर्णयों को भी प्रभावित कर सकता था। धीरे-धीरे कृषि में उपसामंतीकरण (sub-infeudation) की प्रणाली भी पैदा होती है और किसान और राज्य के बीच सोपानबद्ध भू-स्वामियों की एक कतार खड़ी होती चली जाती है। स्त्रोतों में प्रमुख ब्राह्मण, 'महत्तम', 'उत्तम', 'कर्षक', 'क्षेत्रकर', 'कुंटुबिन' और 'कारूक' आदि का उल्लेख मिलता है। इसके अलावा अनुदानभोगी, ब्राह्मण और अग्रहार का भी वर्णन मिलता है। फिर 'क्षुद्र प्रकृति' या छोटे काश्तकार भी हैं और मेघ, अंध्र और चंडाल तो है ही। प्रोफेसर आर० एस० शर्मा के अनुसार इस प्रकार का श्रेणी-विभाजन अधिकांश किसानों के लिये उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण की गुंजाइश नहीं छोड़ता। निस्संदेह बड़े भू-स्वामी छोटे पट्टेदार, बटाईदार काश्तकार या यहाँ तक कि कभी-कभी कृषि दासों से खेती करवाते होगें। भूमिदानपत्रों में भू-स्वामी के अपर अधिकारों (superior rights) की लगातार बढ़ने की प्रव त्ति का आभास होता है और उसी अनुपात में किसान के स्वतंत्र-अधिकारों का हनन होता जाता है और अन्ततः अनुदान में दिये गये क्षेत्र दानभोगियों की निजी जागीरें बनकर रह गये।

अनुदान भोगियों को खानों के उपभोग का भी अधिकार था। सुविदित है कि खनिज संपदाओं पर राजा का एकछत्र अधिकार होता था। राजा ने यह शायद जनजाति या समुदाय के मुखिया के रूप में आरंभिक अवस्था में ही प्राप्त किया हो। लोहे तथा अन्य प्रकार की धातुओं का एकछत्र नियंत्रण भोक्ताओं के हाथों में चले जाने के बाद वे किसानों को खेती के औजारों की आपूर्ति पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर सकते थे। किंतु प्राक्-सामंती युग में बड़े-बड़े भूस्वामियों को भी भूमि पर ऐसे अधिकार प्राप्त नहीं थे। खनन के अधिकार राजा के हाथों में थे, जो समाज का प्रतीक था और इसलिए किसानों को खेती के औजार हासिल करने में तब शायद कोई कठिनाई नहीं होती होगी।

राजा के उत्तराधिकारियों तथा शक्तिसंपन्न तत्वों को दान की व्यवस्थाओं का पालन करने का निर्देश देने के साथ ही दान में गड़बड़ी पैदा करने का प्रयत्न करने वालों को दंड का भी भय दिखाया गया है। इस संदर्भ में कहीं-कहीं तो शारीरिक दंड का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। दंड-भय का प्रयोग मुख्यतः मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश तथा कर्नाटक के दानपत्रों में किया गया है और यह सिलसिला गुंटुर जिले में प्राप्त चौथी सदी के एक पल्लव दानपत्र से ही शुरू हो जाता है। इसके अतिरिक्त, भूमिदान के शत्रुओं को तरह-तरह के अभिशापों और घोर पाप का भागी बताया गया है। अधिकतर दापनत्रों के अंत में दी गई दार्शनिक शिक्षा से भी पता चलता है कि किसान उतपादन के साधनों का संपूर्ण स्वामी नहीं था। दानपत्रों में जीवन की अस्थिरता पर जोर दिया गया है। स्पष्ट है कि अस्थिरता का कारण एक दिन सबको अपना ग्रास बना लेने वाली म त्यु ही नहीं बल्कि संपत्ति अथवा लक्ष्मी की चंचलता भी है। लक्ष्मी की चंचलता की कल्पना मुख्यतः इस बात से उद्भुत हुई कि उत्पादन के साधनों का नियंत्रण बार-बार हस्तांतरित होता रहता था। इस तरह देखा जा सकता है कि उत्पादन-संबंधों से जन्म लेने वाली विचारधारा ने उतपादन के साधनों पर भोक्ताओं के सामान्य नियंत्रण को सुद ढ़ किया। उत्पादकों के मानस को इच्छित दिशा देने के लिए विचारधारा तथा कर्मकांड का उपयोग प्राचीनकाल में भी किया जाता था। प्राक्-सामंती युग के पुरोहित तथा योद्धा

वैचारिक, कर्मकांडी और प्रशासनिक माध्यम से उत्पादन तथा वितरण का नियमन करते थे। किंतु अब उत्पादन के मुख्य साधन भूमि पर अपने श्रेष्ठतर सामान्य नियंत्रण के बल पर उन्होंने उत्पादनपद्धति पर ही वर्चस्व स्थापित कर लिया। आरंभ में भोक्ता ने केवल उन्हीं देयों की मांग की जो अब तक किसान राज्य को देते आए थे और जिन पर राज्य ने उसे स्वत्वाधिकार प्रदान किया था, किंतु कालांतर में उसके दावे इतने व्यापक हो गए कि अनुदत्त क्षेत्र में अपनी सतत उपस्थिति तथा राज्यप्रदत्त प्रशासनिक अधिकारों के बल पर अपने स्वत्वाधिकार को अपने स्वत्व (संपत्ति) में परिवर्तित कर सकता था और अनुदत्त गांव को अपनी जायदाद मानकर चल सकता था। किसानों को ग्रामीण संसाधनों पर भोक्ता के नियंत्रण की वास्तविकता को स्वीकार करके चलना पड़ता था।

इसलिए असली समस्या यह साबित करने की नहीं हैं कि किसानों को उत्पादन की स्वतंत्रता प्राप्त थी, कम-से-कम अनुदत्त क्षेत्रों में उसकी स्वतंत्रता पर अनेक प्रतिबंध और अंकुश लगे हुए थे। अधिक सार्थक यह होगा कि हम दानक्षेत्रों में कार्यरत कृषकों की स्थिति तथा गैरदानक्षेत्रों में क्रियाशील काश्तकार समुदाय की हालत पर विचार करने का प्रयत्न करें। असम तथा मध्यप्रदेश में धार्मिक प्रयोजनों से भी जारी किए गए तालपत्र और भूर्जपत्र शासनों के उल्लेख मिलते हैं। इसलिए पूरी संभावना है कि इस तरह के बहुत-से शासन धार्मिक और धर्मेत्तर, दोनों तरह के लोगों और संस्थाओं के लिए जारी किए गए। हमें मालूम है कि असम तथा मध्यप्रदेश में किस प्रकार तालपत्रों और भोजपत्रों पर जारी किए गए शासनों को जलाकर उनके स्थान पर ताम्रपत्रों पर शासन जारी किए गए। दूसरी महत्वपूर्ण समस्या छोटे-छोटे कालखंड के अंदर अलग-अलग क्षेत्रों में दान किए गए गांवों और भूमिखंडों तथा अन्य गांवों की पहचान करके उन्हें नक्शों में दर्शाने की है। हम देख चुके हैं कि अनुदत्त गांवों में दानभोगियों का उत्पादन के साधनों पर अपर-अधिकार प्राप्त थे। दान में दिए गए भूमिखंड या खेत, जिनमें से बहुतों के रकबे काफी बड़े थे, निस्संदेह भोक्ताओं के प्रत्यक्ष और पूर्ण नियंत्रण में थे, और उनके उत्पादन के संसाधनों का वे मनचाहा उपयोग कर सकते थे तथा उत्पादन प्रक्रिया को मनचाही दिशा दे सकते थे। आवश्यकता इस बात की छानबीन करने की है कि इस कारण अन्य गांवों की उत्पादन प्रक्रिया किस प्रकार प्रभावित हुई।

दलील दी जाती है कि दानभोगियों को तो सिर्फ अधिशेष की उगाही से मतलब था, उत्पादन से नहीं। लेकिन अधिशेष की उगाही और उसके वितरण के प्रश्न को उत्पादन पद्धति से अलग करके नहीं देखा जा सकता। स्वाभाविक है कि सामंती उत्पादनपद्धति में श्रम और नकद अथवा जिंसों में चुकाए जाने वाले लगान के रूप में प्रभु का भाग होगा, और साथ ही मुख्यतः किसान और प्रभु के बीच वितरण की ऐसी प्रणाली होगी जिसमें किसान आश्रित होगा और प्रभु उसका संरक्षक। किसान की जमीन में अनुदानभोगी का अपर-अधिकार अधिशेष की उगाही का आधार बन जाता है। लगता है कि अधिक उत्पादन होने पर अधिशेष भी अधिक उगाहा जाता था। गुप्तकाल से पूर्व अधिशेष की उगाही मुख्यतः राज्य के अमलों द्वारा कम के रूप में और पुरोहित-पुजारियों द्वारा दानदक्षिणा के तौर पर की जाती थी। बुद्ध के काल में कुछ भूस्वामी थे, जो दासों या भाड़े के मजदूरों की सहायता से अपनी खेतीबारी संभालते थे। *कौटिल्यीय अर्थशास्त्र* से राजकीय फार्मों की भी जानकारी मिलती है। लेकिन राज्य का नियंत्रण छोटे इलाकों में ही कारगर हो सकता था। देश के बसे हुए इलाकों में मोटे तौर पर उत्पादन की स्वतंत्र कृषक इकाइयों की ही प्रधानता थी, जिन्हें बाजार अर्थव्यवस्था की भी सुविधा किसी हद तक सुलभ थी। किंतु बाजार अर्थव्यवस्था इतनी सुद ढ़ नहीं थी कि संपन्न भूस्वामी नए उद्यमों में अपनी पूंजी का निवेश करके लाभ कमा सकें, जिससे अंततः उसके कदम पूंजीवादी पथ पर आगे बढ़ते। अनायपिंडिक जैसा करोड़पति हुआ तो अधिक-से-अधिक यही कर सकता था कि कुछ जमीन खरीदकर बुद्ध को दान कर दें। उसके जैसे और भी धनीमानी भूस्वामी रहे होगें।

इस प्रसंग में कृषिदासप्रथा का प्रश्न उठता है। कुछ लोगों के विचार में सामंतवाद और कृषिदासता एक ही चीज है। यह सोच भी प्रचलित है कि किसानों के शोषण का एकमात्र कारगर रास्ता

कृषिदासता के द्वारा ही हो सकता था। किंतु किसानों पर थोपी गई ताबेदारी के अन्य रूप भी व्यर्थ और निष्फल नहीं साबित हुए। कृषिदासता का सारतत्व क्या है ? इस प्रथा में खेती की छोटी इकाइयां बड़ी इकाइयों से बांध दी जाती हैं, और उत्पादन के प्रयोजन के लिए दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करती हैं। बड़ी कृषि-इकाइयों का प्रबंध सामंती क्षेत्रों के स्वामी स्वयं करते हैं लेकिन उनमें खेतीबारी कृषिदास करते हैं जिसके पास खेत होते हैं। इसलिए कृषिदास अधिशेष के रूप में उत्पादन कम देता है और श्रम के रूप में अधिक। लेकिन भारत में स्थिति भिन्न थी। पश्चिम यूरोप में अधिशेष उत्पादन की जितनी वसूली कृषिदासों के श्रम का प्रत्यक्ष उपयोग करके की जाती थी, भारत में उससे कहीं अधिक वसूली मध्यवर्ती भूस्वामियों को प्राप्त सामान्य नियंत्रण के बल पर की जाती थी। कृषिदास के पास भी कुछ जमीन होती है जिसे कोड़ कमाकर वह अपने परिवार का गुजारा चलाता हैं। लेकिन वह अपनी उत्पादन इकाई के उपयोग के लिए न केवल नकद या जिंसों में लगान अदा करता है बल्कि वक्त बचाकर अपने प्रभु के खेत में काम भी करता है। परंतु अंगर इस बचाए गए वक्त का इस्तेमाल वह अपनी उत्पादन इकाई में करे तो भी जरूरी नहीं कि इससे हासिल होने वाली अतिरिक्त पैदावार उसी के हाथों में रह जाए। इसके विपरीत वह इस अतिरिक्त पैदावार के कारण अपने प्रभु को नकद या जिंसों में और भी अदायगी करने को मजबूर कर सकता है।

कहा जाता है कि भारत में कृषिदासप्रथा यदाकदा देखने को मिलती है। लेकिन अब तक जो साक्ष्य प्रस्तुत किए गए हैं उनसे मालूम होता है कि बात ऐसी नहीं है। जो भी हो, यदि बहुत ज्यादा लोगों को कृषिदास बनाए बिना ही प्रभु को अपना हिस्सा मिल जाता है तो इससे स्वयं उसके लिए या सामाजिक व्यवस्था में क्या खास फर्क पड़ता है ? दोनों प्रणालियों का प्रयोजन प्रभु के हिस्से की वसूली है, दोनों में खेतिहर लोग प्रभु द्वारा शोषित और पराश्रित होते हैं, और दोनों में सामाजिक संरचना भूस्वामियों तथा वास्तविक खेतिहर लोगों के पारस्परिक विरोध से ग्रस्त होती है। हो सकता है, किसी दानभोगी के पास बहुत बड़े-बड़े भूमिखंड न हों, लेकिन अगर उसके पास बहुत-सारे भूमिखंड हैं, तो उसके लिए उनकी व्यवस्था स्वयं करना कठिन होगा। दरअसल गुप्त और गुप्तोत्तर कालों में ही भूमि के विभाजन के कानून प्रभावी हो गए थे। और संभव है, उनसे भूमि के विखंडन को बढ़ावा मिला हो। बांग्लादेश में प्राप्त जमीन की बिक्री से संबंधित सौदों के अभिलेखीय प्रमाणों से भी ऐसे विखंडन का पता चलता है। गरज यह कि अगर किसी भूस्वामी के पास बहुत-से भूमिखंड है तो उनमें कृषिदासों से खेती करवाने की अपेक्षा पट्टे पर या बटाई पर खेती करवाना अधिक सुविधाजनक होगा।

यह राय भी जाहिर की गई है कि भारत की जमीन बहुत उपजाऊ थी, इसलिए यहां कृषिदासता या बेगार की प्रथा के उदय की गुंजाइश नहीं थी। लेकिन बेगार के प्रमाण तो हमें गंगा के मध्यवर्ती इलाकों में भी मिलते हैं, जहां की जमीन सबसे अधिक उपजाऊ थी। अभी हाल तक ऊंची जातियों के भूस्वामी निम्न जातियों के काश्तकारों को नाममात्र की मजदूरी पर अपने खेतों में काम करने को मजबूर करते रहे हैं। अन्य उपजाऊ क्षेत्रों में भी काश्तकारों को भूस्वामियों की जमीन में हल चलाने और उनके लिए तरह-तरह के दूसरे काम करने को विवश किया जाता था। पूरे गंगा के क्षेत्र में यह प्रथा 'हरी' और 'बेगारी' के नाम से जानी जाती है। 'हरी' के लिए मध्यकालीन शब्द 'हलिकाकर' और 'बेगारी' के लिए 'विष्टि', जिससे 'बेठबेगारी' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। मध्य गंगा के मैदानी क्षेत्र में पड़ने वाले मुंगेर, भागलपुर, सहरसा और नालंदा जिलों में प्राप्त पाल दानपत्रों में 'सर्वपीडापरिहृत' शब्द का उल्लेख हुआ है। इसका मतलब यह हुआ कि किसानों को सभी प्रकार के बेगार करने पड़ते थे, लेकिन जब कोई गांव किसी को दान में दिया जाता था तब दानभोगी राज्य के हस्तक्षेप से सर्वथा मुक्त रहकर इन तमाम सुविधाओं का उपभोग करने का अधिकारी बन जाता था। हो सकता है कि बेगार के चलन का आरंभ कम आबादी वाले इलाकों में हुआ हो, लेकिन जरूरी नहीं कि उसकी शुरूआत कम उपजाऊ क्षेत्रों में हुई हो। बहरहाल इस प्रथा की उपयोगिता सिद्ध हो जाने के बाद

यह अधिक आबादी वाले हिस्सों में भी फैल गई होगी।

भारत में सामंतवाद धान पैदा करने वाले प्रदेशों में फलाफूला। धान की खेती के लिए गेहूं की अपेक्षा 50 प्रतिशत अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। बिहार के पटना और गया जिलों में कहावत है कि गेहूँ की खेती बेवा (विधवा) की खेती है। मतलब य कि गेहूं की खेती तो वह भी कर सकता है जिसे ग्रामीण इलाके में बिल्कुल बेचारा समझा जाता है। गेहूं की खेती के लिए और जौ की खेती के सबसे कम मेहनत की जरूरत होती है लेकिन इसके विपरीत, धान की खेती वाले इलाकों में रोपाई आदि के समय मजदूरों की खास कमी हो जाती है। ऐसी अवस्था में बेगार का सहारा लेना जरूरी हो जाता होगा। दानपत्रों में 'सोत्पद्यमानविष्टि' शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'अवसर आने पर बेकार का उपयोग' लगाया है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग अनुदत्त गांव के विशेषण के रूप में हुआ है, इसलिए इसका अर्थ भविष्य में गांव में तैयार होने वाला श्रमबल हो सकता है। दानभोगी को भावी श्रमबल तक का मनमाना उपयोग करने का अधिकार देना बिल्कुल नई प्रव त्ति थी जो देश के खासे बड़े भाग में प्रकट हुई। इसका अर्थ यह है कि दानभोगी अपनी आवश्यकता के अनुसार बेगार के प्रचलित स्त्रोतों के अलावा नए स्त्रोतों का भी लाभ उठा सकता था। दुर्भाग्य से मध्यकालीन अभिलेखों या साहित्य में इन स्त्रोतों का स्पष्ट निर्देश नहीं किया गया है। बहुत-से दानपत्रों में और खासकर बाकाटक दानपत्रों, में, 'सर्वबिष्टि' शब्द के प्रयोग से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि बेगार के विविध रूप होते थे। मध्य तथा पश्चिमी भारत में इनमें से एक रूप खेताबारी के लिए बेगार लेना भी रहा होगा। लेकिन उत्तर भारत में बेगार का उपयोग किले, सड़कें आदि बनाने तथा राज्याधिकारियों के परिवहन के लिए किया जाता था। दक्षिण भारतीय दानपत्रों में बहुधा 'बेट्टि' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन दिनों उत्तर आंध्र प्रदेश में श्रीकाकुलम के आसपास के इलाके में 'बेट्टि' शब्द बंधुआ मजदूर का पर्याय है। इन मजदूरों से खेतीबारी के सभी तरह के काम तथा उससे जुड़े विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे काम लिए जाते हैं। संभव है, मध्यकाल में भी दक्षिण भारत के कुछ भागों में बेट्टि का मतलब मजदूरों से इसी प्रकार के काम लेना रहा हो। प्रोफेसर ब्रजनारायण सिंह यादव ने स्कंदपुराण से जो साक्ष्य प्रस्तुत किया है उससे इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि मध्यकाल में सैंकड़ों लोगों से बेगार लिया जाता था और उसका प्रयोजन स्पष्अ ही उत्पादन होता था। इसलिए कृषिदासता को केवल प्रासंगिक कहकर खारिज नहीं किया जा सकता।

यदि कृषिदासता का तात्पर्य किसानों को जमीन से बांध देना था तो मानना पड़ेगा कि मध्य प्रदेश, पूर्वी भारत, चंबा और राजस्थान के अनेक भागों में यह प्रथा प्रचलित थी। कई दानपत्रों में भोगियों को भूमि के साथ वहां के कृषक, शिल्पी और यहां तक कि वणिक भी हस्तांतरित कर दिए गए। अधिकांश दानपत्रों में ग्रामीणों, किसानों तथा गांव में रहने वाले दूसरे लोगों से भी गांव में ही बने रहने और भोक्ता के आदेशों का पालन करने को कहा गया है। किसानों तथा शिल्पियों की गतिहीनता की बात का अब तक किसी ने प्रतिवाद नहीं किया है। लेकिन यह दलील जरूर दी गई है कि अगर इन लोगों को गांव से बाहर जाने दिया जाता तो उससे भी क्या फर्क पड़ता। अगर वस्तुस्थिति को इस द ष्टि से देखा जाता है तो फिर भारत के संदर्भ में कृषिदासता की अनुपस्थिति पर भी इतना जोर देने की क्या जरूरत है ? कृषिदासता की स्थिति में किसान को अपने जमीन के टुकड़े से बंधकर तो रहना ही है और जब जमीन के उस टुकड़े को हस्तांतरित किया जाता है तो उसके साथ स्वतः ही किसान का भी हस्तांतरण हो जाता है। पूर्व-मध्यकाल में इस प्रथा का व्यापक चलन था। लेकिन इस तरह जमीन से बंधे किसानों का अपने भूस्वामियों के खेतों में काम करने के लिए ज्यादा उपयोग नहीं किया जाता था। एक दलील यह दी गई है कि किसानों से उत्पादन का नहीं बल्कि किले, सड़कें, मंदिर तथा बड़ी-बड़ी भव्य इमारतें बनवाने का काम लिया जाता था। हमारा कहना यह होगा कि भूस्वामी, अभिजात वर्ग के लोग, सामंत और सरदार तथा राजा और नरेश, अपने राजसी ठाटबाट से

लोगों को प्रभावित करने के लिए वे भव्य निर्माण कार्य करवाते थे। उनके लिए छविनिर्माण महत्वपूर्ण कार्य था, क्योंकि वैभवशाली छवि किसानों से कर-नजरानों की उगाही में बहुत सहायक हो सकती थी। सड़कों आदि का निर्माण उत्पादन की द ष्टि से भी लाभदायक सिद्ध हो सकता था। इसलिए बेगार का इस्तेमाल जमीन के उपजाऊपन की स्थिति पर नहीं, बल्कि उसी उपयोगिता के संबंध में भूस्वामियों के अपने एहसास पर निर्भर था। इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्रामीण अभिजात

सामाजिक रीतिरिवाजों तथा निषेधों ने भी बेगार, बटाईदारी तथा पट्टेदारी को बढ़ावा दिया। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों के लिए हल चलाना निषिद्ध है। जान पड़ता है, सवर्ण लोग धान की रोपाई भी नहीं कर सकते थे। स्वभावतः अपने परिवार के श्रम से संभाली जाने वाली छोटी जोतों के लिए भी सवर्ण मालिकों को श्रमिकों की जरूरत पड़ेगी, जो या तो बेगार के मजदूर होंगे या बटाईदार। इस स्थिति में जमीन कम उपजाऊ हो या ज्यादा, इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा, क्योंकि हर हालत में परिवार से बाहर के श्रमिक तो रखने ही पड़ेंगे। श्रमबल के अभाव और भूमि के आधिक्य से ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं जिनमें बाध्यता का प्रयोग किया जा सकता है। किंतु ऐसा कुछ विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संगठनों में ही किया जा सकता है। श्रम का अभाव समाजवादी देशों में, बल्कि पूंजीवादी देशों में भी है, लेकिन उससे जरूरी तौर पर बेगार का सहारा नहीं लिया जाता।

यह विचार सही नहीं लगता कि अगर किसी परिवार के पास श्रमशक्ति अधिक हो ओर जमीन कम तो इससे सामंती परिस्थितियां जन्म लेती हैं। यदि श्रमक्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो पा रहा है तो जरूरी नहीं कि उस अतिरिक्त श्रम की मांग बेगार के तौर पर ही की जाए। उस श्रम का निवेश खेतीबारी तथा घरेलू मांगों की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के शिल्पों में भी किया जा सकता है लेकिन अधिक महत्व की बात यह है कि अगर भूस्वामी की जरूरतें लगान और नजरानों से ही पूरी हो जाती हैं तो वह खेतीबारी करने और उसके लिए मजदूर जुटाने की जहमत क्यों उठाए ? फिलहाल हमारे पास भूस्वामी की जरूरतों, मांगों और अपेक्षाओं का अंदाजा लगाने का कोई जरिया नहीं है; वैसे अलग-अलग क्षेत्रों तथा कालों में इनके रूप तथा परिमाण शायद अलग-अलग रहे हों। लेकिन भूस्वामी अपनी ये जरूरतें आसानी से पूरी कर सकता था, क्योंकि दानपत्रों की व्यवस्थाओं में उसे पारंपरिक और नियत कर तथा बेगार के साथ ही नए और अनियत कर और विष्टि आरोपित करने का भी अधिकार दिया गया था।

बार-बार कहा गया है कि राजनैतिक, प्रशासनिक तथा कानूनी कार्रवाइयों के फलस्वरूप किसी नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का जन्म नहीं हो सकता। यह दलील देते समय शायद इस बात को भुला दिया गया कि भारत में औपनिवेशिक व्यवस्था का उदय बहुत हद तक ऐसी ही कार्रवाइयों का परिणाम था। प्राचीन भारत में राजा राज्य की सत्ता का प्रतीक होता था, और राज्य को समर्थन मिलता था पुरोहितों तथा योद्धाओं से, जो किसानों द्वारा उत्पादित तथा शिल्पियों द्वारा संवर्धित अधिशेष पर सुखसुविधा का जीवन व्यतीत करते थे।

राज्य के अत्याचारों तथा प्रकृति के प्रकोपों के कारण चारों ओर अव्यवस्था फैल गई। निम्न वर्णों, विशेषकर वैश्यों तथा शूद्रों ने अपने-अपने धर्मों, अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों का पालन करने से इन्कार कर दिया। इस संकट के निवारण के लिए समकालीन धर्मशास्त्रों में दो उपाय सुझाए गए। एक था दंड का प्रयोग और दूसरा था वर्णाश्रम धर्म की पुर्नप्रतिष्ठा। समकालीन स्रोतों में दंड का भरपूर गुणगान किया गया है। उधर वर्णाश्रम धर्म की पुर्नप्रतिष्ठा को राजाओं ने अपना मुख्य कर्तव्य बना लिया। राजाओं द्वारा 'धर्ममहाराज' तथा 'आदि धर्ममहाराज' जैसे विरुद धारण करना इसी बात का सूचक है।

महाकाव्यों, पुराणों आदि में वर्णित यह अव्यवस्था मध्यदेश के बाहर सीमांत क्षेत्रों में फैली, जिसका कारण यह था कि इन क्षेत्रों में ब्राह्मणीय व्यवस्था अपनी जड़ें अभी तक ठीक से जमा नहीं पाई थीं,

जबकि मध्यप्रदेश में वह भली भांति प्रतिष्ठित थी और सदियों के सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक शिक्षण के कारण वहां के लोगों के मानस में वर्णाश्रम धर्म पूरी तरह समा चुका था।

व्यवस्था कायम करने के लिए दंड के प्रयोग तथा वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा का प्रयत्न तो किया गया, किंतु वह सफल सिद्ध नहीं हुआ। करों की उगाही कठिन हो गई। इसलिए राज्य को चलाना और पुराहितों, प्रशासकों, अधिकारियों और सैनिकों को वेतन देना असंभव हो गया। स्पष्ट ही विकल्प के रूप में देश के बहुत बड़े हिस्से में चौथी-पांचवीं सदी से भूमिदान की प्रथा का व्यापक चलन आरंभ हुआ। ध्यान देने की बात है कि इस प्रथा की शुरूआत उन्हीं क्षेत्रों में हुई जो कलियुगीन अव्यवस्था की चपेट में आए थे। यहां उत्पादन संबंधों में संकट का संकेत दिखाई देता है, जो उत्पादन पद्धति में आ रहे परिवर्तनों से भी शायद असंबद्ध नहीं था। इस बात को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि व्यापार तथा शहरी जीवन का स्पष्ट ह्रास हुआ, और देश के अधिकांश भाग में सातवीं से दसवीं सदियों के दौरान सोने के सिक्कों के लोप तथा अन्य प्रकार के सिक्कों का अभाव तो सुविदित ही है। उत्पादन के दासों के उपयोग का प्रायः कोई संकेत नहीं मिलता। ये सब बातें उत्पादन के तरीकों और संबंधों में परिवर्तन का पूर्वाभास देती हैं। गरज यह है कि संपूर्ण उत्पादनपद्धति कतिपय दोषों से ग्रस्त हो गई, जिससे राज्य भूमि तथा भूराजस्व को धार्मिक और प्रशासनिक सेवाओं के प्रतिपादन का सामान्य जरिया बना देने को विवश हो गया। भूमिदानप्रणाली के कारण राज्य अपने अभिकर्त्ताओं के माध्यम से पूरे ग्रामीण क्षेत्रों से करों की उगाही कराने और फिर उन्हें नकद या जिंसों में वितरित करने के गुरुगंभीर दायित्व से मुक्त हो गया। दूसरी ओर पुराहितों, योद्धाओं तथा प्रशासकों से कहा गया कि जो गांव उन्हें भोग के लिए दिए गए हैं उनमें से अपने गुरजवसर की व्यवस्था वे खुद करें। इस प्रणाली से दान किए किए गांवों में शांतिसुव्यवस्था कायम रखने की जिम्मेदारी से भी राज्य को छुटकारा मिल गया, क्योंकि अब यह जिम्मेदारी भी लगभग पूरी तरह से दानभोगियों के ही सिर आ गई थी।

इसलिए यह कहना सही नहीं मालूम होता कि राजनीतिक, प्रशासनिक तथा कानूनी कार्रवाइयों के फलस्वरूप किसी नई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का जन्म नहीं हो सकता। अलबत्ता प्रस्तुत प्रसंग में इस तरह की जो कार्रवाइयां की गईं, वे किसी की स्वेच्छा से प्रेरित नहीं, बल्कि परिस्थितिजन्य थीं।

(C) पूंजीवाद का उदय (Rise of Capitalism)

पूंजीवादी के विकास को लेकर मार्क्स, मैक्स वेबर तथा शुमपीटर की धारणाओं में मौलिक भेद है। इन्हीं का उल्लेख हम इस भाग में करेंगें।

(I) मार्क्स की "वस्तु-उत्पादन" करने वाले पूँजीवादी समाज की धारणा

मार्क्स ने अपनी आधुनिक पूँजीवाद के बारे में अवधारणा कई चरणों में समाज का सामान्य सिद्धांत निर्मित करने के उद्देश्य से विकसित की। 1842–43 में कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग (proletariat class) को इस पूंजीवादी समाज का विशिष्ट तत्व के रूप स्थापित करने की कोशिश की थी और यह 'सर्वहारा' वर्ग औद्योगिक पूँजीवाद के कारण ही पैदा हुआ था। और इसलिये मार्क्स ने यह महसूस किया कि सर्वहारा की ऐतिहासिक महता तथा सामाजिक स्थिति को समझने के लिये पश्चिमी यूरोप की आर्थिक संरचना का विश्लेषण आवश्यक था। इसलिये दूसरे चरण में मार्क्स ने जेम्स मिल, फ्रेडरिक लिस्ट, एडम स्मिथ और रिकार्डो जैसे पूँजीवादी राजनैतिक अर्थव्यवस्था के विद्वानों का अध्ययन किया तथा उनकी आलोचनात्मक समझ विकसित की। इनकी प्रारंभिक आलोचना मार्क्स ने 1844 में **Economic and Philosophical Manuscripts** में की। इस रचना में मार्क्स ने सुझाया कि मानवीय श्रम न केवल तमाम भौतिक सम्पदा का एकमात्र स्त्रोत है बल्कि तमाम सामाजिक जीवन

का आधार भी है। श्रम ही वह साधन भी है जिसके माध्यम से मानव अपने मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति करता है तथा विशिष्ट प्रकार के समाज की रचना करता है। इसी रचना में पूँजीवादी समाज के विशिष्ट चरित्र को मार्क्स ने इस शब्दों में व्यक्त किया :

"श्रम केवल वस्तुओं का ही उत्पादन नहीं करता बल्कि यह स्वयं को भी उत्पादित करता है और मजदूर को एक वस्तु के रूप में उत्पन्न करता है उसी अनुपात में जिसमें वह वस्तुओं को पैदा करता है। इसका सीधा-सीधा यह अर्थ निकलता है कि श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु, इसका अपना उत्पादित माल, इससे अलग और विरुद्ध एक परायी वस्तु जैसे खड़ा होता है, एक ऐसी शक्ति के रूप में जो उत्पादक से स्वतंत्र हैं।"

इससे अगले चरण में मार्क्स ने अपनी श्रम की अवधारणा को मानवीय समाज के ऐतिहासिक विकास के सामान्य सिद्धांत में शामिल कर लिया। मार्क्स की रचना **The German Ideology** में हम इस प्रयास को देख सकते हैं। इसमें मार्क्स ने यह विचार विकसित किया कि श्रम द्वारा भौतिक-उत्पादन और इसका प्रारूप ही मानवीय चेतना तथा सांस्कृतिक स्वरूपों का निर्धारण करता है। लेकिन बाद में मार्क्स ने अपने समकालीन पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के विश्लेषण पर ही ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया। मार्क्स ने यह जानने की कोशिश की कि पूँजीवादी उत्पादन की पद्धति अन्य उत्पादन पद्धतियों से कैसे अलग थी। मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद के तहत सामाजिक उत्पादन वस्तुओं के सामान्य और व्यापक उत्पादन का रूप ग्रहण कर लेता है। मार्क्स के शब्दों में :

"उन समाजों में जहाँ पूँजीवादी उत्पादन पद्धति विद्यमान है, दौलत "वस्तुओं के असीम संचय" के रूप में ही नजर आती है, या वस्तु ही इसकी इकाई (भौतिक) है। हमारी जाँच पड़ताल इसलिये वस्तु के विश्लेषण से शुरू होती है।"

मार्क्स के अनुसार किसी वस्तु के दो महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं—एक इसका उपयोग-मूल्य (use-value) या वह विशेषतायें जिनसे यह मानवीय जरूरतों को पूरा करती है तथा दूसरी इसका मूल्य। (जो विनिमय मूल्य के रूप में प्रदर्शित होती है।) वस्तु का मूल्य इस बात को तय करता है कि एक किस्म के उपयोग-मूल्यों को दूसरी वस्तु के उपयोग-मूल्यों से किस प्रकार विनिमय किया जाये और विनिमय का यह काम विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा द्वारा पूरा किया जाता है जिसमें सब वस्तुओं के मूल्य अंकित किये जा सकते हैं। इसके बाद मार्क्स ने श्रम के दोहरे चरित्र का विश्लेषण किया जो इन वस्तुओं में निहित रहता है। इसे भी मार्क्स ने दो वर्गों में बाँट कर देखा : (*i*) विशिष्ट, गुणात्मक रूप में अन्य से भिन्न वह उपयोगी श्रम जो एक विशेष किस्म के उपयोग मूल्यों का निर्माण करता है, तथा (*ii*) अमूर्त श्रम (abstract labour)—यानि सामान्य मानवीय श्रम शक्ति जो वस्तुओं में मूल्य पैदा करता है। किसी वस्तु में उपयोग-मूल्य का साथ-साथ होना, उपयोगी श्रम तथा अमूर्त श्रम का संयुक्त रूप से होना ही इसकी गूढ़ता का रहस्य है जिसके मार्क्स ने 'वस्तुओं की पूजा' (felislism of commodity) का नाम दिया था। इसकी व्याख्या करते हुये मार्क्स ने कहा था कि वस्तु का रूप श्रम के सामाजिक चरित्र को ऐसे पेश करता है कि उससे यह (सामाजिक श्रम) श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की वस्तुनिष्ठ विशेषता नजर आती है या उत्पादकों के सामाजिक सम्बन्ध उनको अपने ही कुल श्रम के योग से उन्हें वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध नजर आते हैं। मार्क्स का लक्ष्य पूँजीवादी समाज में समाजिक श्रम प्रक्रिया के विशिष्ट रूप को दर्शाना ही था।

मार्क्स का पूँजीवाद का विश्लेषण न केवल उनके ऐतिहासिक विकास की धारणा पर आधारित था बल्कि उनके वर्ग-सिद्धांत पर भी आधारित था। मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद वर्ग-समाज का ही एक विशिष्ट रूप था जिसकी व्याख्या करते हुये उन्होंने कहा कि पूँजीवाद का विशिष्ट आर्थिक रूप यह है कि इसमें उत्पादकों (श्रमिकों) का अधिशेष श्रम (surplus labour) जिसका भुगतान पूँजीपति नहीं करते, उसका अधिग्रहण करके उसके आधार पर प्रभुत्व और दासता के सम्बन्ध कायम किये जाते

हैं। उत्पादक शक्तियों के स्वामी तथा उत्पादन की परिस्थितियों का निर्धारण करने वाले पूँजीपतियों और प्रत्यक्ष उत्पादन में लगे सर्वहारा के बीच का सामाजिक सम्बन्ध ही इसमें तमाम सामाजिक ढाँचे की छिपी हुई नींव होती है। आगे मार्क्स ने यह दर्शाने की कोशिश की कि पूँजीपति बिना भुगतान किये अधिशेष श्रम के अवयव को कैसे प्रत्यक्ष उत्पादकों से निकालने में कामयाब होते हैं। मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद समाज में श्रम-शक्ति स्वयं वस्तु का रूप धारण कर लेती है, एक ऐसी वस्तु जिसमें यह गुण भी मौजूद है कि यह अन्य वस्तुओं में मूल्य पैदा कर सकती है जब इसका उपयोग उत्पादन में किया जाये और इसके द्वारा पैदा किया मूल्य इसके स्वयं के मूल्य से अधिक होता है। श्रम शक्ति का मूल्य मार्क्स के अनुसार सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के रख-रखाव और पुर्ननिर्माण या प्रजनन में लगने वाले अमूर्त श्रम के मूल्य के बराबर होता है। मार्क्स के अनुसार "आवश्यक श्रम" (necessary labour) कुल वह श्रम है जो श्रम-शक्ति को बनाये रखने के लिये जरूरी है तथा अधिशेष श्रम या अतिरिक्त श्रम (surplus labour) वह है जिसे अधिशेष मूल्य (surplus value) के रूप में उत्पादन के साधनों के मालिक या पूंजीपति उपभोग करते है तथा पूँजी के रूप में जिसका आंशिक संचय भी करते हैं इस तरह के विश्लेषण से मार्क्स ने पूँजीवाद की एक अन्य विशेषता का खुलासा किया। यह विशेषता थी—श्रमिकों के श्रम से 'अधिशेष मूल्य' हड़प लेने की प्रक्रिया जिसे शोषण भी कहा जा सकता है। पूँजीवाद में अधिशेष मूल्य का अधिग्रहण आर्थिक प्रक्रिया में ही निहित होता है जबकि पूर्व-पूँजीवादी समाजों में जैसे दास-व्यवस्था या कृषिदासता की स्थिति में यह गैर आर्थिक दबावों से वसूल किया जाता था। इन पूर्व-पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्थाओं में दास या कृषिदास साफ तौर पर यह देख सकता था कि उसके श्रम का एक भाग उसका मालिक या सामंत हड़प कर रहा है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में वेतनभोगी मजदूर उत्पादन की ऐसी प्रक्रिया में काम कर रहा होता है। जिसमें वह अपनी श्रम-शक्ति का विनिमय अन्य वस्तुओं के रूप में (वेतन या wage के माध्यम से) श्रम शक्ति के वास्तविक मूल्य पर करता है अतः इसमें अधिशेष उत्पाद कैसे पैदा होता है ओर पूँजीपति कैसे इसका अधिग्रहण (appropriation) करता है—यह प्रक्रिया पूरी तरह छिपी हुई रहती है।

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज का यह नमूना पेश करते हुये इसके अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं जैसे मशीनों द्वारा उत्पादन (machino facture), पूँजी के केन्द्रीयकरण तथा संकेन्द्रण, आर्थिक संकट तथा वर्ग-संघर्ष के विकास पर भी रोशनी डाली। मार्क्स के अनुसार मशीनों द्वारा उत्पादन (जिसमें मशीनों द्वारा अन्य मशीनों का उत्पादन भी शामिल है) पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी—यानि मशीनों का श्रम प्रक्रिया पर प्रभुत्व, श्रम-प्रक्रिया का निरंतर रूपान्तरण तथा श्रम पर कठोर औद्योगिक अनुशासन इसकी विशेषता थी। यहां श्रम, श्रम के साधनों का उपयोग नहीं करता बल्कि श्रम के साधन श्रम को कम कर देते हैं। यह मशीन द्वारा उत्पादन दो कारकों पर निर्भर करता है—एक विज्ञान पर आधारित तकनीकी प्रगति जो उत्पादक शक्तियों का असीम विस्तार करती है और दूसरा पहलू जो पहले से ही जुड़ा हुआ है—वह है पूँजीपतियों के बीच प्रतियोगिता। पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में मशीनी तकनीकी का अहम महत्व है क्योंकि मशीनों में लगातार सुधार करके ही व्यक्तिगत पूँजीपति अपनी फैक्टरी में श्रम की उत्पादकता बढ़ा सकता है और इसी पर पूँजीपति द्वारा अधिग्रहीत अधिशेष (surplus) का परिमाण बढ़ सकता है और इसलिये मशीनी तकनीकी जो प्रारंभ में पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की आवश्यक शर्त थी अब यह पूँजीवादी प्रतियोगिता से प्रभावित होनी शुरू होती है। एक तरह जहाँ विज्ञान तथा तकनीकी का अपेक्षाकृत स्वायत विकास होता है वहीं दूसरी तरफ पूँजीपतियों की श्रम की उत्पादकता बढ़ाने की कोशिश से तकनीकी परिवर्तन की गति तेज होती है। इस मशीनी उत्पादन का एक अन्य पक्ष था कि इससे तेजी से पूँजी का संकेन्द्रण (concentration) होना शुरू होता है। इसमें मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में दो प्रक्रियायें दर्शायी। एक पूँजी के संकेन्द्रण की जो व्यक्तिगत पूँजीपति के हाथों में अधिशेष मूल्य के संचय से, तथा इसके

दुबारा उत्पादन में पुर्ननिवेश से, लगातार पूँजी के परिमाण की व द्धि को दर्शाने वाली प्रक्रिया है और दूसरी केन्द्रियकरण की प्रक्रिया या प्रतियोगिता के कारण छोटे और कमजोर पूँजीपतियों की जगह शक्तिशाली पूँजीपतियों द्वारा लेने की प्रक्रिया। मार्क्स के शब्दों में "एक पूँजीपति कईयों की हत्या करता है।" इस प्रक्रिया से उत्पादन पहले बड़ी संयुक्त पूँजी कम्पनियों के हाथों में तथा बाद में अल्पतंत्र तथा बड़ी कम्पनियों के एकाधिकार के रूप में बदलता चला जाता है। यह प्रक्रिया भी मशीनी उत्पादन का अभिन्न अंग बन जाती है, क्योंकि उत्पादन की तकनीकी और प्रक्रिया में हो रहे लगातार बदलावों से पूँजीपतियों को अधिक से अधिक पूँजी-निवेश की जरूरत पड़ती है और पूँजी के निवेश के अनुपात ही में उत्पादन की क्षमता, उत्पादित माल की बिक्री तथा पूँजीपति (या कम्पनी) के मुनाफे भी बढ़ते हैं।

हाँलाकि मार्क्स ने पूँजीवादी आर्थिक संकट की कोई स्पष्ट धारणा विकसित नहीं की थी लेकिन मार्क्स के इस कथन का उपयोग कि पूँजीवादी समाज में आम जनता की गरीबी और सीमित उपभोग से तथा उत्पादक शक्तियों के असीमित विस्तार से मंडियों में इतना उत्पाद आ जाता है कि उसकी बिक्री के लिये संकट पैदा हो सकता है, बाद के कई विद्वानों ने अपने विश्लेषण में किया। मार्क्स ने अनुमान लगाया था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में लगभग दस साल के अंतराल के बाद एक आर्थिक संकट जन्म लेता है और अंत में मार्क्स के अनुसार सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग का संघर्ष भी पूँजीवादी व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता थी।

(II) पूँजीवाद पर मैक्स वेबर के विचार :

मैक्स वेबर के अनुसार आधुनिक पूँजीवाद का विकास पश्चिमी यूरोप में तर्कसंगत विचार या तर्कवाद की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। अपनी रचना Economy and Society (1921) में वेबर ने पूँजीवादी समाज में तर्कसंगत आर्थिक क्रिया के मुख्य लक्षणों का वर्णन किया तथा इनकी तुलना समाज के अन्य रुपों से करने की कोशिश की। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की विशेषतायें वेबर के अनुसार इस प्रकार थीं : (*i*) बाजार या मंडियों में विनिमय जिनका आधार हितों का प्रयोजनपूर्ण अनुसरण ही रहता है। (*ii*) मुद्रा का सामान्य प्रयोग जो आर्थिक रूप से आदर्श लेखा-विधि या हिसाब का साधन था (*iii*) उत्पादन में श्रम का तर्कसंगत संगठन तथा कठोर फैक्टरी अनुशासन (*iv*) तर्कसंगत तकनीकी (*v*) उत्पादन की इकाई के रूप में औद्योगिक (उत्पादन की इकाई) से घरेलू क्रियाकलापों का अलगाव। इसी प्रकार वेबर का मानना था कि आर्थिक क्षेत्र के बाहर भी सार्वजनिक प्रशासन तथा कानूनी व्यवस्था भी तर्कसंगत तथा उत्तरदायी होनी चाहिये तथा राजनैतिक सत्ता को सब अनुबंधों की सुरक्षा की गारंटी देनी चाहिये।

वेबर के विचार में स्थायी पूँजी, मुक्त श्रम, तर्कसंगत श्रम का विभाजन तथा विशिष्टीकरण तथा पूँजीवादी प्रतिष्ठानों में उत्पादक-कार्यों का मुनाफा-बनाने के अनुसार मंडियों द्वार आबंटन (allocation) तथा श्रम का स्वैच्छिक संगठन यह सब पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था के लक्षण थे। बेबर ने 'बाजार-आधारित' अर्थव्यवस्था तथा 'योजनाबद्ध' अर्थव्यवस्था की तुलना भी की। वेबर का उद्देश्य पूँजीवाद के बारे में कोई सिद्धांत देना नहीं था बल्कि आर्थिक क्षेत्र के साधारण समाज शास्त्रीय सम्बन्धों को स्पष्ट करना था। न ही उन्होंने आधुनिक पूँजीवाद का कोइ आदर्श नमूना (Ideal type) चित्रित करने की कोशिश की। लेकिन 1923 में रचित अपनी रचना General Economic History में वेबर ने पूँजीवाद की ज्यादा सुव्यवस्थित व्याख्या की। उनके विचार में पूँजीवाद वहाँ सब जगह अस्तित्व में है जहाँ उद्यम के माध्यम से कोई मानवीय समूह अपनी जरूरतों की औद्योगिक आपूर्ति करना चाहता है। उनके विचार में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की मौलिक परिस्थिति यह हे कि इसमें सभी बड़ी औद्योगिक इकाइयाँ पूंजी का तर्कसंगत तरीके से हिसाब रखती है। इस तरह की पूँजीवादी लेखाविधि या हिसाब में उत्पादन के सभी भौतिक संसाधनों का अधिग्रहण-यानि भूमि, उपकरण,

मशीनों आदि का लेखा-जोखा भी शामिल है। ये सब निजी सम्पत्ति के संसाधन के रूप में काम करते हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का लक्षण यह है कि यह मंडी की स्वतंत्रता पर आधारित होता है जिसका अर्थ है मंडी में व्यापार पर तर्कहीन तकनीकी या यांत्रिकीकरण तथा साथ-साथ इसमें मुक्तश्रम यानि कानूनी रूप से स्वतंत्र बिना प्रतिबंध के अपनी श्रम-शक्ति को बेचने के इच्छुक श्रमिकों का होना तथा आर्थिक जीवन का वाणिज्यीकरण या व्यापारिक साधनों का व्यापक प्रयोग-उद्यम के अंदर हिस्सेदारी के अधिकार दर्शाने के लिये या सम्पत्ति का स्वामित्व दर्शाने के लिये होना—ये सबके सब लक्षण वेबर ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के गिनाये।

वेबर ने औद्योगिक उद्यमियों (entrepreneurs) को आधुनिक आर्थिक विकास और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अहम स्थान दिया। उनके अनुसार तर्कसंगत पूँजीवाद के विकास में कैल्विनवादी "व्यवसाय" (calling) की धारणा ने पूँजीवादी आर्थिक नैतिकता को बल दिया तथा इसे विधाता द्वारा प्रदत कार्य की पूर्ति के रूप में देखने को प्रेरित किया। इस तरह की मार्क्स से अलग व्याख्या के अलावा जो मुख्य बात वेबर को मार्क्स से अलग करती है वह है कि जहाँ मार्क्स ने पूँजीवादी उत्पादन पद्धति पर बल दिया था वहीं वेबर का ज्यादा बल मंडी या विनिमय की प्रक्रिया पर है। इसके अतिरिक्त वेबर ने कानूनी और राजनैतिक ढाँचे पर भी काफी ज्यादा जोर दिया। वेबर का आदर्श पूँजीवाद का नमूना राज्य के हस्तक्षेप से रहित अर्थव्यवस्था का ही था। इस नमूने को विकसित करने में पहले वेबर पूँजीवाद के विकास के आर्थिक कारणों की चर्चा करते हैं फिर नागरिकता की धारणा के विकास की तथा फिर राष्ट्रीय राज्य के गठन कीं वेबर के अनुसार राष्ट्रीय राज्यों के गठन से तथा इससे उत्पन्न प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष से आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद के लिये बहुत बड़े सुअवसर हाथ लगे। राज्य के पूँजी के साथ समझौते से राष्ट्रीय नागरिकों का वर्ग उभरा, जिसे आधुनिक नजर में बुर्जवा कहा गया। अर्थात् यह राष्ट्रीय राज्य ही था जिसने पूँजीवाद के विकास को मौका दिया। वेबर ने अनुसार यह राष्ट्रीय राज्य 'तर्कसंगत' राज्य भी था क्योंकि यह अधिकारियों की सत्ता तथा तर्कसंगत कानून पर आधारित राज्य था। वेबर का पूँजीवाद मार्क्स की तरह ऐतिहासिक विकास के चरण के रूप में विकसित नहीं हुआ था बल्कि यह एक 'आदर्श नमूना' (Ideal type) था जो ऐतिहासिक भी है लेकिन तर्कसंगतता जिसका आधार है। इसलिये वेबर का मत था कि पूँजीवाद की जगह समाजवाद की स्थापना की कोशिश भी 'सर्वहारा के अधिनायकत्व' की जगह "अफसरों का अधिनायकत्व" पैदा कर देगा। इसीलिये वेबर पूँजीवाद या समाजवाद की बजाए आधुनिक अर्थव्यवस्था को "औद्योगिक समाज" के नाम से ही परिभाषित करते है तथा उसके लक्षण इस प्रकार बताते हैं—कि यह एक ऐसे समाज का रूप है जिसमें व्यापक स्तर पर औद्योगिक उत्पादन होता है, जो तकनीकी तर्कसंगतता पर आश्रित है तथा जिसमें भौतिक वस्तुएं और नौकरशाही प्रशासन का गहरा प्रभाव रहता है तथा जिसमें गणना तथा गणन का प्रचलन बहुत अधिक रहता है। इस तरह के समाज की संरचना में वेबर आर्थिक हितों पर आधारित वर्ग (class) की धारणा की बजाय समाज में पद और ओहदे के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण (social stratification) पर ज्यादा जोर देते हैं। उनके विचार में औद्योगिक समाज में मुख्य तनाव या हितों के टकराव विनिमय के क्षेत्र में या मंडियों में विभिन्न प्रतियोगी समूहों के बीच ही होते हैं और इस क्षेत्र में केवल पूँजी और श्रम के हित ही काम नहीं करते बल्कि अनेक प्रकार के हितों से प्रेरित समूह (interest groups) काम कर रहे होते हैं।

(III) शुमपीटर के पूँजीवाद की गतिशीलता तथा पतन पर विचार

शुमपीटर का पूँजीवाद के बारे में विचार मार्क्स के विचारों से कुछ हद तक मिलता है और कुछ हद तक मैक्स वेबर से। इसकी मुख्य बात यह है कि शुमपीटर ने पूँजीवाद के विकास में उद्यमियों (entrepreneurs) की भूमिका पर काफी बल दिया है शुमपीटर की रचना **दी थियरी ऑफ इकोनोमिक डवलपमैन्ट** (1911), संशोधित संस्करण (1926) में शुमपीटर ने पूँजीवाद के उद्भव को

एक ऐसा आर्थिक परिवर्तन माना जो उत्पादन के क्षेत्र में पदार्थों और शक्तियों के नये सम्बंधों को दर्शाता है। इसके तीन पहलू शुमपीटर ने माने (*i*) नयी कम्पनियों का उदय जो पुरानी कम्पनियों से जन्म नहीं लेती लेकिन उनके साथ-साथ उत्पादन में सम्मिलित होती हैं। (*ii*) उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण इनके उद्‌भव की आवश्यक शर्त हैं—इसके लिये ये साख (credit) का उपयोग भी करती है। साख, शुमपीटर के अनुसार, पूँजीवाद उत्पादन की मुख्य विशेषता है और यहीं आर्थिक क्षेत्र में नये मार्ग खोलता है, (*iii*) उद्यमी का होना या उद्योग जगत के कैप्टन। इस अंतिम पहलू पर शुमपीटर काफी जोर देते हुये उसकी व्याख्या इन शब्दों में करते हैं : "नये औद्योगि संगठनों का संचालन एक विशिष्ट कार्य है और यह इस तरह के विशेषाधिकार को इंगित करता है जो कम ही लोगों के पास होता है लेकिन जिनके पास इस कार्य को करने की 'वस्तुनिष्ठ' सम्भावना रहती है।" इसके बार शुमपीटर इस विशिष्ट प्रकार के व्यक्ति, उद्योग के कैप्टन या उद्यम के नेत त्व करने वाले उद्यमी के मुख्य विशेषताओं का वर्णन भी करते हैं। बाद में शुमपीटर ने अपनी एक अन्य रचना **Business cycles** (1939) ने पूँजीवाद पर अपने विचार इस रूप में रखे कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था निजी सम्पत्ति पर आधारित वह व्यवस्था है जिसमें तकनीकी आविष्कार (Innovation) उधार ली गयी धनराशि के द्वारा किये जाते हैं जो सामान्यतया रूप से साख के निर्माण पर निर्भर करता है और जो व्यक्ति इन तकनीकी आविष्कारों को उद्योग-जगत में लाते हैं उनका शुमपीटर ने उद्यमी (enterpreneurs) का नाम दिया। बाद में शुमपीटर ने यह धारणा भी विकसित की कि बड़े-बड़े औद्योगिक ट्रस्ट तथा कॉरपोरेशन्स में तकनीकी आविष्कार केवल दैनिक आर्थिक जीवन का अंग बन जाता है और यह काम प्रशिक्षित विशेषज्ञों द्वारा किया जाने लगता है और प्रारंभिक उद्यमियों की तुलना में यह माना कि ये नये उद्योग-जगत के विशेषज्ञ पूँजीवाद की गतिशीलता की बजाए उसकी जड़ता को जन्म देने में सहायक होते हैं।

शुमपीअर ने अपनी कृति **Capitalism, Socialism and Democracy** (1942) में पूँजीवाद में आने वाले परिवर्तनों को अपने व्यापक समाजशास्त्रीय नजरिये से देखने की कोशिश करते हुए पूँजीवाद की उन प्रव त्तियों को ढूँढने की कोशिश की जिनसे यह स्वयं अपना विनाश कर लेगा। इन कारणों में सबसे मुख्य शुमपीटर के विचार में उद्यमी के काम में आ जाने वाली जड़ता थी जो कुछ हद तक बड़े औद्योगिक संगठन (कॉरपोरेशन) के विकास के कारण होता है और कुछ इसलिये कि पूँजीवाद इस तरह का वातारण तैयार कर देता है कि आर्थिक परिवर्तन अपने-आप ही स्वीकार कर लिया जाता है तथा इसके लिये शुरू के पूँजीवादी विकास की तरह उद्यमियों को ज्यादा ऊर्जा नहीं लगानी पड़ती। शुमपीटर ने यह विचार व्यक्त किया कि पूँजीवाद के इस चरण में आर्थिक प्रगति व्यक्तिगत प्रयास से रहित स्वतः संचालित विशेषज्ञों की टीम के माध्यम से होने लगती है। उद्यमी के पतन के पूँजीवादी समाज पर कई दूरगामी प्रभाव पड़ते है। इससे पूँजीपति-उद्यमियों की स्थिति कमजोर होती है तथा बड़े नौकरशाही के ढर्रे पर चलाये जा रहे औद्योगिक प्रतिष्ठान छोटे और मध्यम स्तर के स्वामी तथा उद्यमियों को सम्पत्ति विहीन कर देते हैं, उद्यमियों की भूमिका खत्म कर देते हैं तथा अंततः पूँजीपति वर्ग को एक वर्ग के रूप में सम्पत्ति विहिन कर देते है और पूँजीपति वर्ग अपने जीवंत तत्व-उद्यमी को खोकर, पूँजीवाद के बचाव की क्षमता तथा इच्छा खो बैठता है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण जो राजनैतिक रूप से पूँजीवाद के बचाव को कम कर देता है वह पूँजीवाद द्वारा उन समूहों को समाप्त करने की प्रक्रिया है जो इसका पहले सुरक्षा प्रदान करते थे, साथ ही साथ पूँजीवाद को बचाने वाला संस्थामूलक ढाँचा भी धराशायी होने लगता है। शुमपीटर के अनुसार उद्योगपति तथा व्यापारी कोई करिशमाई व्यक्ति नहीं होते इसलिये वे मनुष्यों पर शासन चलाने में सक्षम भी नहीं हैं। सट्टा बाजार चर्च के विकल्प नहीं हो सकते। जहाँ उद्योगपति और पूँजीपति राज्य के संचालन में रुचि लेते है वहाँ वे पूरी तरह विफल होते है और जहाँ वे इस बात को स्वीकार कर लेते है कि उनके लिये सामंती कुलीन तत्व शासन चलाते रहें, जैसे इंगलैंण्ड में, वहाँ अपेक्षाकृत प्रशासन ठीक-ठाक

चलता है। लेकिन जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास चलता जाता है वैसे-वैसे पूर्व-पूँजीवादी तत्व खत्म होते जाते हैं, कुलीन-अभिजात्य वर्ग जो राजनैतिक सत्ता के माध्यम से इसकी सुरक्षा-कवच का काम कर रहे थे, वे समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार पूँजीवाद और औद्योगिक संकेन्द्रण बड़े-पैमाने पर छोटे-छोटे उत्पादकों तथा व्यापारियों को समाप्त करना भी शुरू कर देता है और यह इसका एक और आधार टूटने की प्रक्रिया ही है।

इसके अलावा, शुमपीटर के विचार में बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों के विकास होने से, जिनमें वेतनभोगी प्रबंधक तथा कार्यकारी अध्यक्ष महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथा जिनमें छोटे और बड़े शेयरधारक 'स्वामी' (proprictor) तथा स्वामित्व के हकों की जगह ले लेते हैं, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की संस्थाओं को भी प ष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है। विशेषकर निजी सम्पत्ति तथा स्वतंत्र अनुबंध जैसी संस्थायें, जो सही प्रकार 'निजी' आर्थिक गतिविधियों का आधार थी, अपना मौलिक महत्व खो देती है और अंत में शुमपीटर का मत है कि पूँजीवाद एक तर्कसंगत तथा आलोचनात्मक मानसिकता को भी पैदा करता है और अंत में यह प्रव त्ति भी इसके विरूद्ध ही जाती है। पूँजीपति वर्ग पाता है कि जिस तर्कवादी नजरिये से उसने सम्राटों और पोपों को चुनौती दी थी वहीं तर्कवादी पद्धति अब निजी सम्पत्ति तथा तमाम पूँजीवादी मूल्यों पर भी आक्रमण करती है। शुमपीटर का यह भी तर्क था कि पूँजीवाद बौद्धिक वर्ग को भी जन्म देता है और इस बौद्धिक समूह का हित सामाजिक अशांति पैदा करने में रहता है। पूँजीवाद इस वर्ग को आधुनिक छापाखाना भी देता है जिसकी मदद से बौद्धिक वर्ग सामाजिक असंतोष को उजागर कर सकता है—विशेषकर इसकी अभिव्यक्ति श्रमिक वर्ग के आंदोजन के रूप में होती है।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि वेबर ने उद्यमी वर्ग की सामाजिक प ष्ठभूमि पर बहस करते हुए यह माना था कि वह प्रोटेस्टैन्ट नैतिकता (Protestant ethic) का परिणाम था। शुमपीटर इसके विपरीत केवल उद्यमी के आर्थिक योगदान पर ही प्रकाश डालते हैं। वेबर की प्रोटेस्टैन्ट नैतिकता पूँजी के संचय की एक पूरक व्याख्या के रूप में देखी जा सकती है। मार्क्स मुख्यतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक पहलुओं पर ज्यादा जोर देते हैं। वेबर तथा शुमपीटर की उद्यमी की धारणा में उद्यमी आविष्कार तथा जोखिम उठाने का काम करता है और इसी के कारण मुनाफा कमाता है लेकिन मार्क्सवादी धारणा में उद्यमी तथा पूँजीपति का मुनाफा मजदूर के शोषण पर, अधिशेष श्रम पर ही आधारित होता है। शुमपीटर तथा वेबर इसीलिये मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को समाज के विकास में वह स्थान नहीं देना चाहते। शुमपीटर के अनुसार मार्क्स ने पूँजीपति तथा सर्वहारा के अंर्तविरोधों तथा टकरावों को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाया था।

(D) साम्राज्यवाद के उद्‌भव और विकास के लिए सम्बन्धी विवाद (Origin of Imperialism)

साम्राज्यवाद के मूल स्वरूप को समझने में दो बाधाएँ हैं। पहली बाधा तो यह है कि एशिया, अफ्रीक तथा लैटिन अमरीका के विभिन्न देशों को स्वतंत्र हुए काफी समय बीत चुका है। अतः वहाँ के लोगों के प्रत्यक्ष औपनिवेशक अनुभव और आज की प्रबल राष्ट्रीय भावना के बीच एक लंबा फ़ासला आ गया है। एशिया और अफ्रीका के देशों में स्वतंत्र होने के बाद जो शासन-प्रणालियाँ आईं उन्होंने अपने देशवासियों में यह भावना भरने की कोशिश की कि साम्राज्यवाद तो बीते युग की चीज है। उदाहरण के लिए भारत में ही स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद एक पूरी नई पीढ़ी का जन्म और विकास हो चुका है जिसका साम्राज्यवाद से कभी कोई सीधा वास्ता नहीं रहा। दूसरी बाधा औपनिवेशिक काल के बाद की विश्व-परिस्थिति से उत्पन्न हुई है। यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों का विश्व-राजनीति पर प्रभाव कम होता गया है। साथ ही संयुक्त राष्ट्र की स्थापना से विभिन्न राष्ट्रों के बीच पारस्परिक समानता का वातावरण उत्पन्न हुआ है। अतः कई लोगों के लिए यह समझ पाना कठिन है कि आज

भी साम्राज्यवाद दूसरों पर आधिपत्य कायम करने की एक जीवंत प्रक्रिया बन सकता है।

परंतु ये दोनों बाधाएँ वस्तुस्थिति की भ्रामक समझ पर आधारित है। पहली बात तो यह है कि साम्राज्यवाद ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका की समाज-व्यवस्था को ऐसी आधारभूत क्षति पहुँचाई है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कुछ दशकों में ही उसकी गहरी छाप को मिटा पाना असंभव है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि साम्राज्यवाद को भलीभाँति समझा जाए क्योंकि इसके बिना हम न तो अपने स्वतंत्रता-संघर्ष के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं और न ही वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं की सही जानकारी हासिल कर सकते हैं। बल्कि यह कहना अधिक ठीक होगा कि साम्राज्यवाद की सही समझ के अभाव में तो उत्तर-औपनिवेशक (post-colonial) जन-समाजों के मानसिक गठन को भी नहीं समझा जा सकता।

दूसरे, विभिन्न राष्ट्रों के मध्य समानता पहले की तरह अब भी एक मिथक ही है; हाँलाकि संयुक्त राष्ट्र संघ में तथा अन्यत्र, एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीकी देशों के सामूहिक प्रयत्नों के फलस्वरूप, साम्राज्यवादी युग की घोर विषमताओं में एक हद तक कमी आई है। व्यवहार में अंतर्राष्ट्रीय प्रभुत्व सर्वथा नए रूपों में प्रकट हुआ है और बड़े देशों पर निर्भरता में व द्धि हुई है। हाल के वर्षों में नव-उपनिवेशवाद तथा आधिपत्य नई-नई कुटिल शक्लें धारण करके प्रकट हो रहा है। हम आए दिन देखते हैं कि दूसरे देशों पर कब्जा करके, वहाँ कठपुतली (puppet) शासन स्थापित कर लिया जाता है, या चालबाजी करके उसकी नीतियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया जाता है, या फिर आर्थिक व सांस्कृतिक घुसपैठ द्वारा उनकी स्वतंत्रता का हनन किया जाता है। कुछ ऐसे उदाहरण भी है जहाँ दबे हुए राष्ट्रीय-समूहों (nationalities) ने जाग त होकर आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग की है। ये घटनाएँ दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है, इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि 1970 से आरंभ होने वाले दशक से साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के मूल स्वरूप को समझने के प्रति लोगों में फिर से दिलचस्पी पैदा हुई है।

इसलिए साम्राज्यवाद का अध्ययन तीन कारणों से महत्वपूर्ण है। पहला कारण तो यह है कि आगे आने वाले एक लंबे समय तक हम उन समस्याओं से जूझते रहेंगे जो हमारे समाज में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप की वजह से पैदा हुई थीं। दूसरे, नव-उपनिवेशवाद के विभिन्न रूपों की गतिविधियाँ अब भी जारी हैं जिन्हें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है। तीसरे, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद को समझने के लिए साम्राज्यवादी दाँव-पेच को समझना अत्यंत आवश्यक है।

1. साम्राज्यवाद का ऐतिहासिक सार : आर्थिक प्रभुत्व

साम्राज्यवाद लोगों पर बाह्य प्रभुत्व का एक रूप है। जब से विभिन्न समाजों या समुदायों ने संगठित हमलावरों से अपने आपको अलग करके देखना शुरू किया तभी से किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व माना जा सकता है। इसमें हमेशा से ही किसी विदेशी सत्ता की राजनीतिक अधीनता का भाव निहित है। पुराने जमाने में सैनिक अभियान द्वारा साम्राज्य-विस्तार की प्रव त्ति से उपनिवेशवाद का तत्व अस्तित्व में आया। कुछ विजेता तो केवल आर्थिक लूटपाट में रुचि रखते थे जबकि कुछ अन्य यह चाहते थे कि मसाले, सोना, चाँदी जैसी दुर्लभ चीजों की सप्लाई अपने देश को होती रहे। कई अपनी जाति, धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति की श्रेष्ठता के बारे में इतने आश्वस्त थे कि दूसरे देशों पर अधिकार करके वहाँ अपनी सभ्यता-संस्कृति को फैलाना उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य (mission) बना लिया था। कई अभियानों के पीछे यह इच्छा थी कि उपनिवेश स्थापित करने के लिए नए मार्ग मिल सकें। कुल मिलाकर औद्योगिक क्रांति अर्थात् 1760 से आरंभ होने वाले दशक से पहले यूरोप में औपनिवेशक विस्तार का यही रूप था।

अपनी तकनीकी तथा संगठनात्मक श्रेष्ठता का उपयोग करते हुए इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने अधीनस्थ उपनिवेशों पर तरह-तरह के नियंत्रण लगाने शुरू किए। इन नियंत्रणों का उद्देश्य या तो बहुमूल्य धातुओं, मसालों, गुलामों आदि की सप्लाई को सुनिश्चित करना था, या गोरे लोगों को इन उपनिवेशों में बसाना था, या फिर वाणिज्य तथा प्रतिरक्षा-संबंधी सुविधाएँ प्राप्त करना था। यह कार्य मूलतः व्यपारियों तथा योद्धाओं के सहयोग से पूरा किया गया।

इन सभी तत्वों ने औद्योगिक क्रांति से पहले कम-से-कम दो शताब्दी तक वाणिज्यिक पूँजीवाद (mercantile capitalism) की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा किया।

साम्राज्यवाद का उदय

इन प्रव त्तियों की वजह से उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्ध में पूँजीवाद की आंतरिक तथा अंतराष्ट्रीय व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन आया जिसके परिणामस्वरूप पूँजीवाद के एक नवीन चरण का आरंभ हुआ। यह चरण था साम्राज्यवाद। उस समय तक औद्योगिक पूँजी का महत्व पूरी तरह कायम हो चुका था। 1870 से आरंभ होने वाले दशक से कुछ अन्य प्रव त्तियाँ उभरने लगीं। ये प्रव त्तियाँ थीं प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद का कमजोर होना तथा उनके स्थान पर एकाधिकारिक पूँजीवाद का विकास, वित्तीय अल्पतंत्रों (oligarchies) का उदय तथा उपनिवेशों को पूँजी का निर्यात और इन सबके परिणामस्वरूप औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा पूरे संसार में उपनिवेश हथियाने की होड़। पूँजीवादी विकास के इस विशेष चरण (अर्थात् एकाधिकारिक पूँजीवाद) को लेनिन ने साम्राज्यवाद की संज्ञा दी।

राजनीतिक प्रभुत्व का यह तत्व एकाधिकारिक पूँजीवाद से पहले, या यों कहें कि औपनिवेशिक शासन से औपचारिक मुक्ति के बाद भी मौजूद था। दूसरे देश के लोगों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम रखने की यह प्रक्रिया विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न परिमाण में अब भी कायम हैं। किंतु साम्राज्यवाद का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आर्थिक प्रभुत्व साम्राज्यवाद का मूल ऐतिहासिक तत्व रहा है। प्रभुत्व की परिभाषा में राजनीतिक अधीनता का भाव निहित है और अपने सभी ऐतिहासिक चरणों में साम्राज्यवाद के अंतर्गत यह अर्थ भी शामिल रहा है। किंतु प्रभुत्व स्थापित करने की प्रेरणा इसे आमतौर पर आर्थिक शोषण से मिलती है हालाँकि औपनिवेशिक प्रसार के कुछ उदाहरण ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें कुछ अन्य कारक अधिक महत्वपूर्ण रहे हों

एकाधिकारिक पूँजीवाद से पहले के साम्राज्यवादी विकास के चरणों को कुछ लोग "पुराने साम्राज्यवाद" की संज्ञा देते हैं और 1870 के बाद के चरणों को नया साम्राज्यवाद कहते हैं। कुछ अन्य विद्वान पुराने चरण को "उपनिवेशवाद" कहकर पुकारते हैं जिसका सीधा अर्थ है एक विदेशी क्षेत्र पर प्रत्यक्ष शासन के माध्यम से तरह-तरह के लाभ उठाना। इन लाभों में आर्थिक लाभ के साथ-साथ विदेशी जनसंख्या को विदेशी भूमि में बसाना भी शामिल है। दूसरी ओर, साम्राज्यवाद प्रत्यक्ष रूप से औपनिवेशिक शासन का रूप ले भी सकता है और नहीं भी ले सकता, किंतु हर हालत में उसकी कोशिश यह रहती है कि एकाधिकारिक पूँजीवादी गतिविधियों के नए-नए क्षेत्रों में विस्तार की रक्षा की जा सके। कुछ उदाहरणों में यह भी संभव है कि साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के परंपरागत अंतर की पुष्टि न की जा सके। साथ अर्ध-उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद जैसे तत्वों से समस्या और भी उलझ गई है।

साम्राज्यवाद की परिभाषाएँ

"साम्राज्यवाद" शब्द अँग्रेजी के "इम्पीरियलिज्म" (imperialism) शब्द का अनुवाद है। स्वयं "इम्पीरियलिज्म" शब्द लैटिन शब्द "इम्पैरेटर" (imperator) से आया है जिसका संबंध केंद्रीकृत सत्ता की अधिनायकवादी शक्तियों तथा प्रशासन की मनमानी पद्धतियों (arbitrary methods) से था।

"इम्पीरियलिज्म" शब्द का प्रयोग पहले-पहल फ्रांस में हुआ था। 19 वीं सदी के चौथे दशक में नैपोलियन के विस्तारवाद के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया था और इसके बाद ब्रिटिश उपनिवेशवाद के संदर्भ में इसका प्रयोग किया जाने लगा। वास्तव में यह एक भावात्मक (emotive) शब्द है और इसका प्रयोग सैद्धांतिक शब्द के रूप में कभी-कभार ही किया जाता है। एक राज्य जब किसी दूसरी राज्य के खिलाफ एक खास तरह का आक्रामक व्यवहार करता है तो उसे सूचित करने के लिए "साम्राज्यवाद" शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह व्यवहार सीधे-सीधे या तो औपचारिक प्रभुसत्ता (formal sovereignty) का रूप ग्रहण कर सकता है या फिर आर्थिक तथा राजनीतिक आधिपत्य के अन्य किसी रूप को। किंतु हर हालत में यह दो देशों के बीच आधिपत्य तथा अधीनता का संबंध व्यक्त करता है।

जब विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने साम्राज्यवाद की धारणा का अध्ययन करना शुरू किया तो इन विचारकों के तीन संप्रदाय उभरकर सामने आए जिन्होंने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार साम्राज्यवाद की व्याख्या की। ये संप्रदाय है (क) **उग्र उदारवादी संप्रदाय** (radical liberal school) जिनके नेता जे०ए० हॉब्सन थे। हॉब्सन उन पहले विचारकों में थे जिन्होंने साम्राज्यवाद के सिद्धांत को पहले-पहल व्यवस्थित रूप में सामने रखा और इसे ही आगे चलकर लेनिन ने विकसित किया; (ख) **मार्क्सवादी संप्रदाय** जिसके प्रमुख सूत्रधार रडाल्फ हिलफर्डिंग, कार्ल कॉट्स्की, **रोजा, लग्जेमबर्ग** तथा **लेनिन** है; और (ग) **ऐतिहासिक संप्रदाय** जिसके समर्थक थे **जोसेफ़ शुमपेटर** (Joseph Schumpeter), रॉबिन्सन (Robinson), गैलगेर (Gallagher), रेनर (Renner) आदि।

हॉब्सन का सिद्धांत

उन्होंने 1902 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **इम्पीरियलिज्म : ए स्टडी** (साम्राज्यवाद : एक अध्ययन) में पूँजीपति वर्ग के वित्तीय हितों को 'साम्राज्यवादी इंजन के नियंत्रक' की संज्ञा दी। साम्राज्यवादी के बारे में अब तक देशप्रेम, साहसिकता, सभ्य बनाने के मिशन जैसी शब्दावली में तरह-तरह के लंबे-चौड़े दावे किए जाते थे, किंतु हॉब्सन ने वित्तीय तत्व को इन सबसे ऊपर रखा। विदेशों में साम्राज्यवादी विस्तार का एक प्रमुख कारण था देशी विनिर्माण में पूँजी का अवरुद्ध हो जाना। घरेलू बाजार सीमित था क्योंकि काफी बड़ी संख्या में लोग निम्न आय-वर्ग के थे। इसलिए वे सामान की बढ़ी हुई आपूर्ति की खपत नहीं कर सकते थे। बड़ी फर्में जोखिम उठाने तथा निरर्थक अति उत्पादन से बचती थीं। इन दोनों कारकों—आय के कुवितरण तथा इजारेदारी आचरण—का परिणाम यह हुआ कि अपने देश की सीमाओं के बाहर निवेश के नए अवसरों तथा नए बाजारों की तलाश की जाने लगी।

इस प्रकार हॉब्सन ने एक ऐसे तत्व का पता लगाया जिसे उसने साम्राज्यवाद को "आर्थिक जड़" की संज्ञा दी। साथ ही उन्होंने राजनीतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में (जिसमें जाति-संबंध भी शामिल हैं) साम्राज्यवाद द्वारा लाए गए परिवर्तनों की एक पूरी श ंखला की व्याख्या भी की।

हॉब्सन ने यूरोपीय विस्तारवाद की व्याख्या करते हुए कहा कि यह आधुनिक पूँजीवाद में कुछ अल्प-उपभोगवादी प्रव त्तियों (under consumptionist tendencies) तथा विकास के उन्नत चरण (advanced stage) में पूरी प्रणाली के अंतर्गत कुछ अपसमायोजनों (maladjustments), जैसे हर राष्ट्रीय आय के असमान वितरण से उत्पन्न होने वाली बचत एवं उपभोग के बीच का असंतुलन—का परिणाम है। उनका विचार था कि यदि श्रमिकों की आय में व द्धि करके किसी देश के उपभोग-स्तर को ऊँचा उठाया जा सके तो एक लंबे अर्से के लिए देश के अंतर्गत ही बाजार का विस्तार होगा और औपनिवेशिक विस्तार की आवश्यकता नहीं रहेगी। यही वह स्थल था जहाँ लेनिन का हॉब्सन के साथ गहरा मतभेद था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हॉब्सन जैसे उग्र उदारवादी भी यह मानने को तैयार नहीं थे कि स्वयं पूँजीवाद ही साम्राज्यवाद के विस्तार के मूल में है। उनकी द ष्टि से यह मात्र एक उपसमायोजन (maladjustment) था जिसे यदि समझ लिया जाए तो ठीक किया जा सकता है।

2. साम्राज्यवाद पर मार्क्सवादी विचार

मार्क्सवादी संप्रदाय यह मानता है कि साम्राज्यवादी दर्शन पूँजीवादी प्रणाली में ही अंतर्निहित है और स्वयं इस प्रणाली का ध्वंस करके ही इसे समाप्त किया जा सकता है। हिलफ़र्डिंग की केंद्रीय धारणा वित्तीय पूँजी की धारणा थी जिसमें बैंकों का तेजी से विस्तार होगा। जहाँ मार्क्स बैंकों को औद्योगिक पूँजी (industrial capital) के अधीनस्थ (subordinates) मानते थे, हिलफ़र्डिंग उत्पादन में बैंकों की अहम भूमिका स्वीकार करते थे। उनकी द ष्टि में अपने व्यापक वित्तीय साधनों की वजह से बैंक, उद्योगों पर कारगर ढंग से अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते थे ओर इजारेदारों को बढ़ावा दे सकते थे। ये इजारेदार कालांतर में उपनिवेशों में भी पहुँच सकते थे जिससे वे अपनी पूँजी का लाभप्रद रूप में निवेश कर सकें। इस प्रव त्ति ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया।

रोज़ा लग्ज़ेमबर्ग अपने समय की अग्रगण्य महिला मार्क्सवादी सिद्धांतकार थीं। उन्होंने अपनी पुस्तक पूँजी का संग्रह (Accumulation of Capital) में साम्राज्यवाद का विचार किया है। उनके अनुसार पूँजीवाद की केंद्रीय समस्या थी प्रभावी माँग (effective demand) की कमी। मज़दूरों को बढ़ी हुई मज़दूरी नहीं मिलती थी और पूँजीपति उत्पादन की गति धीमी करने को तैयार नहीं थे। इसका अर्थ हुआ "अतिउत्पादन" (overproduction) और नए बाजारों की तलाश। इसका एक और पहलू यह था कि साम्राज्यवाद पूँजीवादी संव द्धि (capitalist growth) की एक अनिवार्य स्थिति थी। इसकी वजह यह थी कि पूँजीवादी संव द्धि के लिये पूँजी का बराबर इकट्ठा होते जाना एकदम नामुमकिन था जब तक ग़ैर पूँजीवादी देशों में प्रभावी माँग पैदा न हो क्योंकि स्वयं अपने देश में तो माँग बढ़ेगी नहीं। माँग में यह व द्धि गैर-पूँजीवादी देशों के उपनिवेशीकरण द्वारा संभव थी।

3. लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यवाद का सिद्धांत

लेनिन के साम्राज्यवाद-विषयक सिद्धांत पर विचार करने से पहले तीन प्रारंभिक बातें समझ लेनी चाहिए। पहली बात तो यह है कि लेनिन का "साम्राज्यवाद : पूँजीवाद का चरम रूप" शीर्षक निबंध, जो उन्होंने 1916 में ज्यूरिख में अपने निर्वासन के दौरान लिखा था, स्वयं उन्हीं के शब्दों में 'साम्राज्यवाद के आर्थिक सार' के बारे में है। उन्होंने एकाधिकारिक पूँजीवाद को साम्राज्यवाद के आर्थिक आधार के रूप में ग्रहण किया। यह सिद्धांत साम्राज्यवाद से जुड़े हुए राजनीतिक तथा अन्य कारकों के महत्व को नजर-अंदाज नहीं करता। दूसरे, इस निबंध में लेनिन का प्रमुख सरोकार विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच बढ़ती हुई स्पर्धा के मूल आधार का पता लगाना था जो उन्नीसवीं शताब्दी में काफी जड़े जमा चुका था और जिसके परिणामस्वरूप अंततः प्रथम विश्व युद्ध हुआ। इसीलिए कुछ अन्य पहलुओं, जैसे साम्राज्यवाद के विकास, साम्राज्यवादी गतिविधियों के केंद्र लंदन तथा उसके उपनिवेशों के बीच क्रिया-प्रक्रिया, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उपनिवेशवाद के प्रभाव आदि के बारे में इस निबंध में खुलकर विचार नहीं किया गया। तीसरे, जैसा कि इस निबंध के 1920 में प्रकाशित संस्करण के आमुख में लेनिन ने स्वयं कहा था, इस निबंध में "20 वीं शताब्दी के आरंभ में विश्व-पूँजीवाद के संश्लिष्ट (composite) चित्र को अपने अंतराष्ट्रीय संबंधों के साथ" प्रस्तुत किया गया है और 20 वीं सदी के पूँजीवादी विकास को समझने के लिए यह बहुत जरूरी है कि पहले इस संश्लिष्ट चित्र को समझ लिया जाए। फिर भी, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूँजीवाद तथा अंतराष्ट्रीय प्रणाली में जो आधारभूत प्रव त्तियाँ विकसित हुई उनके संदर्भ में यह जरूरी हो जाता है कि लेनिन के निरूपण को कुछ आगे, बढ़ाया जाए। किंतु जब तक एकाधिकार पूँजीवाद (monopoly

capitalism) कायम है तब तक लेनिन का सिद्धांत साम्राज्यवाद की एक उपयोगी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

अब हम लेनिन के सिद्धांत को संक्षेप में प्रस्तुत करने की कोशिश करेंगे। पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत प्रतिस्पर्धा के क्रम में छोटे पूँजीपति पीछे टूटते जाते है और बड़े पूँजीपति, जिन्हें अधिक पूँजी सुलभ है, आगे बढ़ते जाते है। एक ही प्रतिष्ठान के लोग उद्योगों के मालिक होने के साथ-साथ बैंकों के मालिक भी बन जाते है क्योंकि औद्योगिक निवेश के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है और उद्योगों से प्राप्त अधिशेष भी बैंकिंग पूँजी का अंग बन सकता है। यह प्रक्रिया और अधिक उत्पादन क्षमता को जन्म देती है। इसके लिए बड़े पूँजीपति कच्चा माल प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी सरहदों से बाहर जाते हैं। व्यापक परिमाण में वस्तुओं का उत्पादन करने पर वे पाते हैं कि इस माल की बिक्री के लिए देशीय बाजार छोटा पड़ता है इसलिए वे अपने माल की खपत के लिए उपनिवेशों की ओर उन्मुख होते हैं। कालांतर में एक ऐसा चरण आता है जब उपनिवेशों में पूँजी का निर्यात अधिक लाभप्रद बैठता है क्योंकि वहाँ मजदूरी सस्ती होती है और कच्चे माल के स्त्रोत भी अपेक्षाकृत नजदीक होते हैं। आर्थिक गतिविधि की इस प्रणाली को कायम रखने के मूल देश (metropolitan state) का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन भी प्राप्त कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया को तर्कसंगत तथा वैध रूप देने के लिए कई तरह की सांस्कृतिक तथा शैक्षिक नीतियों को प्रोत्साहन दिया जाता है जिससे साम्राज्यवाद के लिए स्थानीय समर्थन प्राप्त किया जा सके। एकाधिकार पूँजीवाद अपने देश से उपनिवेशों की तरफ इसी तरह आगे बढ़ता है। लेनिन ने इसी को 'साम्राज्यवाद' नाम दिया है।

लेनिन के अनुसार साम्राज्यवाद के पाँच बुनियादी लक्षण थे। इन्हें उनके निबंध के सातवें खंड से उद्ध त किया जा रहा है :

1. "उत्पादन तथा पूँजी का संकेद्रण इतने उच्च स्तर तक पहुँच गया है कि इसने विभिन्न क्षेत्रों में तरह-तरह के एकाधिकारों को जन्म दिया है जिनकी आर्थिक जीवन में निर्णायक भूमिक रहती है।
2. औद्योगिक पूँजी के साथ बैंकिंग पूँजी का विलय और इससे वित्तीय पूँजी के आधार पर एक वित्तीय अल्पतंत्र (financial oligarchy) का स जन।
3. वस्तुओं के निर्यात के मुकाबले में पूँजी के निर्यात का महत्व बहुत ज्यादा बढ़ जाता है।
4. अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकार पूँजीवादी संघों का निर्माण, जो पूरे विश्व को परस्पर बाँट लेते हैं।
5. बड़ी-बड़ी पूँजीवादी शक्तियों के बीच पूरी दुनिया का क्षेत्रीय विभाजन पूरा हो जाता है।"

कुल मिलाकर लेनिन ने यह कहा था कि साम्राज्यवाद पूँजीवादी विकास का वह चरण है जब एकाधिकार एवं वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है, जिसमें पूँजी के निर्यात को सुनिश्चित महत्व मिल जाता है; जिसमें पूरी दुनिया को अंतर्राष्ट्रीय ट्रस्टों में बाँटने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है; जिसमें प्रमुख पूँजीवादी शक्तियों के बीच संपूर्ण विश्व के विभाजन का चक्र पूरा हो जाता है।

लेनिन ने मार्क्स की इस धारणा को आगे बढ़ाया कि पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत पूँजी के संचयन का स्वरूप ऐसा होता है कि इसमें पूँजी कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में संकेद्रित होने लगती है। अपनी इस धारणा को और अधिक विकसित करने के क्रम में लेनिन ने ब्रिटेन, जर्मनी तथा अन्य पश्चिमी देशों में औद्योगिक विकास का अध्ययन किया और अपने सिद्धांत के हर पहलू के समर्थन में सांख्यिकी प्रमाण भी प्राप्त किए। इन सभी देशों में औद्योगिक संव द्धि का परिणाम यह हुआ कि उत्पादन कुछ गिने-चुने व्यापारिक घरानों के हाथों में संकेद्रित होता चला गया। उत्पादक-संघों तथा ट्रस्टों का उदय इस संकेंद्रण की प्रक्रिया का एक रूप था। जब एकाधिकार बढ़ गया और छोटे व्यपारियों में, कारोबार बंद कर देने से, स्पर्धा कम हो गई तो उत्पादन का और अधिक समाजीकरण

हुआ। प्रौद्योगिकी (technology) के समावेश से उत्पादन एक सामाजिक प्रक्रिया का रूप लेता गया और उसका निजी व्यवसाय वाला रूप लगातार कम होता गया। अब उत्पादन को नियोजित करना था, बाजारों की माँग तथा पूर्ति को मापना था और नए-नए कौशलों का विकास तथा विस्तार करना था किंतु ऐसी स्थिति में जहाँ उत्पादन का स्वरूप सामाजिक हो गया वहाँ विनियोग (appropriation) व्यक्तिगत या निजी स्वार्थों से ही प्रेरित रहा। स्वयं लेनिन के शब्दों में "उत्पादन के सामाजिक साध ान कुछ गिने-चुने लोगों की निजी संपत्ति ही रहे। औपचारिक तौर पर मुक्त प्रतिस्पर्धा का सामान्य ढाँचा ज्यों-का-त्यों कायम रहता है, और शेष जनसंख्या पर कुछ इजारेदारों (monopolists) का जुआ सैकड़ों गुना भारी, बोझिल तथा असहनीय हो जाता है।"

प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद (competitive capitalism) से इस नवीन एकाधिकारिक पूँजीवाद की दिशा में जो परिवर्तन हुआ उसका संकेत कई प्रव त्तियों से मिलने लगा था। शेयर बाजार अब शेयरों की कीमत आँकने का उतना महत्वपूर्ण मापदंड नहीं रहा। अब इस भूमिका को एक हद तक बैंकों ने निभाना शुरू कर दिया। प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद के आर्थिक नियमों पर अनिवार्यतः एकाधिकारी स्थितियों का अंकुश था। अतः पहले मुद्रा-पूँजी तथा औद्योगिक या उत्पादक पूँजी के बीच जो अलगाव की स्थिति थी उसमें परिवर्तन आना शुरू हो गया। उद्यमी को अब उत्पादन शुरू करने के लिए मुद्रा उधार लेने को साहूकार के पास नहीं जाना पड़ता था क्योंकि अब तो वह स्वयं ही एकाधिकारी (monopolist) था। इस प्रकार एकाधिकारिक पूँजीवाद के अंतर्गत बैंकिंग तथा औद्योगिक पूँजी दोनों मिलकर एक हो गए।

पहले पूँजीपति मुख्यतः वस्तुओं के निर्यात में व्यस्त थे, किंतु इस नए चरण में एकाधिकारी या इज़ारेदार (monopolists) पूँजी के निर्यात में दिलचस्पी रखते थे। अतिशय लाभ से प्राप्त अधिशेष के इस्तेमाल का और तरीका ही क्या था। इसमें शक नहीं कि कुछ अन्य संभावनाएँ भी थीं। वे स्वयं अपनी अर्थव्यवस्था के पिछड़े हुए क्षेत्रों, जैसे कृषि-क्षेत्र में विकास ला सकते थे। वे लोकोपयोगी कार्यों तथा सामाजिक कल्याण के साधनों में व्यापक सुधार ला सकते थे। दूसरे शब्दों में पूरे समाज को संपन्न एवं विकसित करने में इन बढ़ते हुए मुनाफों का सार्थक ढंग से उपयोग किया जा सकता था जिससे असमानताएँ कम हों और न्याय तथा सुख-शांति की व द्धि हो। किंतु पूँजीवाद यदि यह सब कुछ करता तो वह पूँजीवाद ही न रहता। इसके शासन के अंतर्गत तो यह बहुत जरूरी है कि अधिशेष (surplus) पूँजी का निवेश इस रूप में किया जाए जिससे और ज्यादा पूँजी का संचयन हो।

साम्राज्यवादी देश की बैंक-शाखाओं के जरिए वित्तीय पूँजी उपनिवेशों को हस्तांतरित कर दी गई। जब देशीय लोगों ने इन बैंकों से ऋण लिया तो यह ऋण इसी शर्त पर दिया गया कि वे मशीनें या कल-पुर्जे ऋणदाता देश से ही खरीदें। उपनिवेशों से प्राप्त मुनाफा भी इन्हीं बैंकों के जरिए जाता था। इस प्रकार इस काल में औद्योगिक तथा वित्तीय प्रक्रियाएँ बहुत स्पष्ट रूप से एक ही बिंदु पर मिल रही थीं।

इस मुकाम पर इजारेदारों में परस्पर समझौता हुआ और उन्होंने अपनी गतिविधियों के लिए देशीय बाजार को ही नहीं वरन् अंतर्राष्ट्रीय बाजार को भी आपस में बाँट लिया। इस स्थिति पर नियंत्रण पाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकार संघों, अंतर्राष्ट्रीय उत्पादक-संघों या सिंडिकेटों (जो आधुनिक बहुराष्ट्रीय निगमों के पूर्वगामी हैं) का उदय हुआ।

आपसी समझौते के बावजूद विभिन्न इजारेदारों ने अपने प्रभाव-क्षेत्रों को सुरक्षित और सुद ढ़ करने की आवश्यकता महसूस की, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने-अपने देशों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे जहाँ भी संभव हो वहाँ अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करें। इस प्रकार 1880 से लेकर 1914 तक का काल एक ऐसा युग था जब पूरे भूमंडल के विभिन्न क्षेत्रों पर कब्जा जमाने के लिए महाशक्तियों के बीच संघर्ष चला। अफ्रीका में यह संघर्ष काफी तीव्र रहा जबकि

एशिया में बँटवारे की इस प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप दिया गया।

पूँजीवादी व्यवस्था के मूल अंर्तविरोधों और साम्राज्यवाद के अंतिम ध्वंस की व्याख्या करते हुए लेनिन साम्राज्यवाद को तीन अवस्थाओं में विभाजित करते हैं :

(क) साम्राज्यवाद की एकाधिकारी अवस्था (Monopoly stage)

(ख) साम्राज्यवाद की परोपजीवी अवस्था (Parasitic stage)

(ग) साम्राज्यवाद की मरणोन्मुख अवस्था (Moribund stage)

(क) साम्राज्यवाद की एकाधिकारी अवस्था (Monopoly stage)—इस अवस्था में पूँजी का प्रतियोगिता की स्थिति में मुट्ठी भर हाथों में संकेद्रण हो जाता है। विशेषज्ञता, तकनीकी विकास और पूँजी के सहमेल के साथ उत्पादन कई गुना बढ़ जाता है। घरेलू बाजार में क्रयशक्ति के अभाव के कारण उत्पादों का संचरण घरेलू बाजार से बाहर की ओर होने लगता है। इसके परिणामस्वरूप दूसरे देशों का औपनिवेशीकरण आरंभ होता है। देश के भीतर प्रतियोगिता के ह्रास के कारण चंद हाथों में पूँजी का संकेद्रण हो जाता है। इसके फलस्वरूप गुणवत्ता, अनुसंधान तथा उत्पादन अधिशेष में व द्धि के साथ ज्यादा मुनाफे प्राप्त को में भी गिरावट आ जाती है। परिणामस्वरूप, शुद्ध उद्योग-ध न्धों भी धक्का लगता हैं।

(ख) साम्राज्यवाद की परोपजीवी अवस्था (Parasitic stage)—मिल्फेलरिंग के अनुसार महाजनी पूँजी और औद्योगिक पूँजी के संलयन के फलस्वरूप वित्तीय धनिकतंत्र (oligarchy) का निर्माण होने लगता है। इस प्रणाली के अधीन पूँजी के स्वामित्व का, कारगर रूप में प्रतिभा के इस्तेमाल से, संबंध-विच्छेद हो जाता है। यह प्रव त्ति इस वर्ग में परोपजीविता की प्रव त्ति विकसित कर देती है तथा इनमें से कुछ भाड़े से जीविका कमाने का चरित्र (routier character) अपना लेते हैं। यह प्रव त्ति उनके शक्ति आधार को बहुत बड़ी सीमा तक कम कर देती है।

(ग) साम्राज्यवाद की मरणोन्मुख अवस्था (Moribund stage)—ऊपर बतलाए गए तथ्यों के कारण पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों की तकनीकी प्रगति में गिरावट आने लगती है। इसी दौरान, नव-औद्योगिक राष्ट्रों का उदय होता है, जो अपने अधिशेष उत्पादन के कारण कच्चे माल के नए स्रोतों और बाजारों की भी माँग करते हैं। फलस्वरूप, वे उपनिवेशों के क्षेत्रीय पुनर्विभाजन की माँग करते हैं जबकि पुराने साम्राज्यवादी देश ऐसा करने में अनिच्छुक होते हैं। इस प्रकार नई और पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच एक विश्वव्यापी युद्ध अनिवार्य हो जाता है। इसके साथ ही उपनिवेशों में उत्पादन के गतिरोध तथा बढ़ती हुई बेरोजगारी के फलस्वरूप हड़तालों और मुक्ति-संग्रामों की तीव्रता में भी व द्धि हो जाती है। कुछ औपनिवेशिक देशों में, जहाँ नई जागरूकता की वजह से मजदूर वर्ग के नेत त्व में जनता की संघर्ष करने की शक्ति बहुत बढ़ जाती है, पूँजीवाद की यह अवस्था समाजवादी क्रांति की ओर उन्मुख कर देती है।

इस प्रकार लेनिन ने अपने समय की अंतः साम्राज्यवादी (inter-imperialist) प्रतिस्पर्धा पर विचार करते हुए साम्राज्यवाद के आर्थिक सार को ऊपर बताए गए ढंग से स्पष्ट किया। अपने तर्क को आगे बढ़ाते समय लेनिन का कॉट्स्की के साथ कुछ विवाद हो गया था। कॉटस्की द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय संघ (Second International, 1889) के अग्रणी सिद्धांतकार थे। कॉट्स्की ने साम्राज्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा था कि "यह अतिशय विकसित औद्योगिक पूँजीवाद की देन है।" उनके अनुसार हर औद्योगिक पूँजीवादी राष्ट्र की यह कोशिश रही कि वह "बड़े-से-बड़े कृषि क्षेत्रों को अपने कब्जे में कर ले चाहे इन क्षेत्रों में किस भी कौम के लोग क्यों न रहते हों।" लेनिन ने कॉट्स्की के तर्क को एकदम अमान्य करार तो नहीं दिया किंतु उनके तर्क की मूलभूत कमजोरियों को दर्शाते हुए यह कहा कि वह साम्राज्यवाद के मूल तत्व को व्यक्त नहीं करता। पूँजी के स्वरूप तथा अंतः साम्राज्यवादी

अंतविरोधों की व्याख्या को लेकर भी लेनिन तथा कॉट्स्की के विचारों में मतभेद था। लेनिन ने काट्स्की के इस विचार की भी आलोचना की कि साम्राज्यवादी प्रायः विश्व के कृषि क्षेत्रों पर कब्जा करने की कोशिश करते हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने बेल्जियम का उदाहरण दिया जो उन दिनों जर्मन साम्राज्यवाद का लक्ष्य था। कॉट्स्की के तर्क का खंडन करते समय लेनिन ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि इस विषय पर स्वयं उनके चिंतन पर ब्रिटेन के सामाजिक-उदारवादी विचारक हॉब्सन का प्रभाव है।

4. साम्राज्यवाद का ऐतिहासिक संप्रदाय—शुमपेटर के विचार

जहाँ हॉब्सन तथा लेनिन के साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का परिणाम या विकास ही माना था वहाँ जर्मन अर्थशास्त्री शुमपेटर ने साम्राज्यवाद की व्याख्या इस रूप में की कि यह देश की नीति के गलत दिशा में जाने का परिणाम है। जोसेफ ए० शुमपेटर ने 1919 में 'साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार' (सोशियोलॉजी ऑफ इम्पीरियलिज्म) विषय पर कुछ निबंध लिखे थे जो मूलतः जर्मन भाषा में लिखे गए थे। संभव है कि शुमपेटर ने सीधे लेनिन के विचारों की प्रतिक्रियास्वरूप ये निबंध लिखे हों मगर इनसे लेनिन के सिद्धांतों की जानकारी का आभास नहीं मिलता। किंतु फिर भी उसने मार्क्सवाद के बारे में आमतौर से प्रचलित तत्कालीन धारणाओं का खंडन अवश्य किया। उसकी मूल धारणा यह थी कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की मूलभूत अभिधारणाओं (postulates) का विरोधी या प्रतिपक्षी है।

शुमपेटर के अनुसार साम्राज्यवाद, पूर्व-पूँजीवादी युग का अवशेष है। इसकी उत्पत्ति की जड़ में तीन कारक थे : (1) मानव जाति का युद्ध एवं विजय के प्रति सहज झुकाव; (2) युद्धों तथा युद्धों को जन्म देने वाले साहसिक क्रियाकलापों के समाप्त हो जाने के क़ाफी समय बाद तक इन मनोव त्तियों का जारी रहना; (3) इन प्रव त्तियों को क़ायम रखने में शासक वर्गों के निजी स्वार्थ।

शुमपेटर ने यह स्पष्ट किया कि पूर्व-पूँजीवादी युग में सकारण ही नहीं अकारण भी युद्ध होते थे। उसने संकेत किया कि युद्धों तथा औपनिवेशिक गतिविधियों से जिन वर्गों या व्यक्तियों को सबसे ज्यादा लाभ होता था उनके साम्राज्यवाद को जीवित रखने में, निहित स्वार्थ विकसित हो गए। लेनिन के विपरीत शुमपेटर का विचार था कि साम्राज्यवाद को पूँजीवाद पर पैबंद की तरह चिपका दिया गया है—अर्थात् वह पूँजीवाद का स्वाभाविक विकास नहीं हैं। उन्होंने प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया कि पूँजीवाद किस प्रकार हमेशा प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देता है ओर मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए यह शांति का वातावरण कायम करना चाहता है। इस प्रकार शुमपेटर ने पूँजीवाद को उसके साम्राज्यवादी चरण से अलग करने की भरपूर कोशिश की। किंतु वे इस तथ्य को नहीं देख पाए कि पूँजीवादी देशों द्वारा चलाए जाने वाले शांति-आंदोलन युद्धों को रोकने में सफल नहीं हुए। इसके विपरीत युद्ध के दौरान ही युद्ध-उपकरणों के परिमाण में न केवल काफी व द्धि हुई वरन् वे और भी ज्यादा परिष्कृत होते गए। इस प्रकार शुमपेटर ने जो तर्क दिए वह साम्राज्यवाद के प्रेरक तत्वों के बारे में एक दिलचस्प मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय स्थापना हो सकती है किंतु ऐतिहासिक द ष्टि से यह एक लचर व्याख्या है। इसके विपरीत लेनिन का सिद्धांत साम्राज्यवाद के इतिहास को समझने में अधिक पैनी अंतर्द ष्टि प्रदान करता है। किंतु साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन के सिद्धांत को अधिक सही तौर पर समझने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि इसके आर्थिक तत्व को ही नही वरन् इसके अनेक ग़ैर आर्थिक पहलुओं पर भी गौर किया जाए। इनमें स्वयं लेनिन के शब्दों में "औपनिवेशिक प्रभुत्व के पुराने प्रयोजनों" के अतिरिक्त "पूर्ण प्रभुत्व" तथा साम्राज्यवाद की "गहराई तक जाने वाली जड़े" शामिल हैं।

पहले के आक्रमणकारियों के विपरीत, साम्राज्यवाद की एक व्यापक औपनिवेशिक नीति थी जिसका उद्देश्य एकाधिकार-व्यापार को बढ़ावा देना था। इसके पास प्रभुत्व तथा उस प्रभुत्व को वैधता प्रदान

करने के आधुनिक उपकरण थे। जो उपनिवेश प्रत्यक्ष तौर पर साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत थे उनमें एक राज्य-तंत्र की स्थापना की गई। यह राज्य-तंत्र साम्राज्यवाद के निर्देशन में उपनिवेश के मामलों की देखरेख करता था। सबसे पहले सेना, पुलिस तथा नौकरशाही का गठन किया गया जिससे औपनिवेशिक शक्तियों के हर तरह के विरोध को दबाया जा सके। एशिया और अफ्रीका में इसकी कार्यपद्धति के संपूर्ण विवरण से यह पता चलता है कि यहाँ का राज्य-तंत्र देशीय लोगों के प्रति बड़ा शोषणात्मक रवैया अपनाता था। यह तंत्र वास्तव में साम्राज्यिक देश (metropolitan country) की सरकार के प्रति उत्तरदायी था और प्रायः अपने देश की संसद से वैधता (legitimacy) प्राप्त कर लेता था। किंतु शासन के मामलों में औपनिवेशिक जनता की कोई आवाज नहीं थी।

स्थानीय संस्थाओं पर औपनिवेशिक शासन के थोपे जाने से ये संस्थाएँ नष्ट हो गई। धीरे-धीरे नौकरशाही, पुलिस तथा अदालत-जैसी औपनिवेशिक संस्थाएँ इतनी व्यापक हो गई कि स्थानीय लोगों को यह समझाया गया कि वे बहुत जरूरी है और उसके बिना उनका काम नहीं चल सकता। समाज की कई नई उभरती हुई शक्तियों ने उनमें निहित स्वार्थों को जन्म दिया। अंत में जब स्वतंत्रता प्राप्त हुई तो स्वतंत्र लोगों ने यह पाया कि वे उन्हीं औपनिवेशिक संस्थाओं के भार तले दबे हुए हैं। और उन्हें यह पता नहीं है कि उनके स्थान पर नई संस्थाओं को कैसे लाएँ।

आधुनिक साम्राज्यवाद में यूरोप की औद्योगिक क्रांति का तेज़ तथा इससे जुड़े हुए विज्ञान तथा तर्क का मूल्य महत्वपूर्ण थे। इसलिए साम्राज्यवादी यह चाहते थे कि उनका शासन स्थानीय लोगों को स्वीकार्य हो। उनकी वैधीकरण की नीति हर उदाहरण में अलग-अलग थी। चीन-जैसे अर्ध-उपनिवेशों में उन्होंने पश्चिमी शिक्षा का उतना प्रचार-प्रसार नहीं किया जितना अंग्रेज़ों ने अपने उपनिवेश, भारत में किया। भारत में शिक्षा-नीति का उद्देश्य केवल पूँजीवादी तथा उदारवादी मूल्यों के प्रति सराहना का भाव उत्पन्न करना ही नहीं था, वरन् पढ़े-लिखे लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना भी था जो ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन की पूरी निष्ठा के साथ सेवा कर सके। इस विषय में मैकाले का प्रसिद्ध कथन इस बात का परिचायक है कि एक कुशल औपनिवेशिक नीति कैसी होनी चाहिए।

औपनिवेशिक काल के दौरान कृषि का इतना असंतुलित विकास हुआ कि अकाल तथा भुखमरी-जैसी घटनाएँ आम बात हो गई। खाद्यान्नों को उपनिवेशों के अंतर्गत शहरों में भेजने तथा कमी वाले उपनिवेशों में उसके निर्यात करने को अधिक प्राथमिकता दी गई। गाँवों में खाद्यान्नों की पूर्ति को उतना महत्व नहीं दिया गया।

साम्राज्यवादी एक उपनिवेश से दूसरे उपनिवेश के बीच व्यापार इसलिए करते थे कि जिससे स्वदेश से पूँजी का संग्रह किया जा सके। चीन को भारतीय अफीम का निर्यात और अफीम के व्यापार को सुनिश्चित बनाने के लिए चीन के साथ साम्राज्यवादी युद्ध आज सर्वविदित है। इसी प्रकार बागान, उत्खनन, विनिर्माण तथा इसी तरह के अन्य उद्देश्यों के लिए श्रमिकों का देश के अंदर तथा अन्य देशों को प्रवासन या स्थानांतरण (migration) औपनिवेशिक शोषण की एक अन्य पद्धति थीं।

इस प्रकार पश्चिम के एकाधिकार पूँजीवाद की जरूरतों को पूरा करने के लिए उपनिवेशों को एक प्रकार के विउद्योगिकरण (deindustrialization) की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ा, अतः औपनिवेशिक काल का अंतिम परिणाम था अल्पविकास की संरचना। यूरोपीय साम्राज्यवाद ने एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशों की दो शताब्दियों तक जो लूट जारी रखी समकालीन अल्पविकास उसी का परिणाम है। उत्तर-औपनिवेशिक समाज अब इस अल्पविकास पर विजय पाने के लिए जुझ रहे हैं।

हर घातक अनुभव अपने पीछे ऐसी प्रक्रियाएँ छोड़ जाता है जिनके कुछ सकारात्मक पहलू होते हैं। उस अनुभव से हानि उठाने वाले इन्हीं सकारात्मक पहलुओं को सामने रखते हैं जिससे वे कुछ नया बना सकें—नव-निर्माण कर सकें। यह ठीक है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारतीय चेतना

पर प्रहार किया, इसकी संस्थाओं को तहस-नहस किया, लोगों को पशुओं-जैसा बना दिया, किंतु इसने एक अवरुद्ध पूर्व-पूँजीवादी समाज को भंग भी किया। इसी उथल-पुथल से आधुनिकीकरण की अनेक प्रक्रियाओं का जन्म हुआ। बीसवीं शताब्दी के आंरभिक दशकों में अंग्रेजों ने भारत के कुछ क्षेत्रों में एक हद तक उद्योगीकरण को लाना अधिक लाभदायक समझा। स्वयं अपने व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने जिस यातायात तथा शिक्षा-संबंधी आधारित संरचना (infrastructure) का निर्माण किया था उसका उपयोग कुछ अन्य बड़े उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी किया जा सकता था, जैसे एक अखिल भारतीय संचार-प्रणाली का निर्माण या राष्ट्रवादी तथा लोकतांत्रिक विचारों का प्रचार-प्रसार। किंतु ये तो औपनिवेशिक युग के आनुषंगिक लाभ थे और साम्राज्यवाद से उपनिवेश के लोगों को जितनी भारी, व्यापक तथा आधारभूत हानि हुई उसकी तुलना में ये लाभ बहुत कम थे।

समकालीन आयाम और लेनिन के सिद्धांत का मूल्यांकन

साम्राज्यवाद को लेकर समसामयिक युग में जो चर्चा हुई है उसमें मुख्यतः चार बातों को केंद्र में रखा गया हैः (1) लेनिन के सिद्धांत की वैधता; (2) नव-उपनिवेशवाद के लक्षणों का निरूपण; (3) सामाजिक साम्राज्यवाद की अवधारणा; और (4) आंतरिक उपनिवेशवाद। अब हम इनका संक्षेप में विवेचन करेंगे।

जहाँ लेनिन के अधिकतर बुर्जुआ आलोचकों ने शुमपेटर की विचारधारा को अपनाया वहाँ कुछ अन्य लेनिन की आंशिक प्रासंगिकता स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूँजीवाद ने आंतरिक एवं बाह्य दोनों द ष्टियों से अपने आपको काफी हद तक पुनर्गठित किया है। अपने देशों में इसने और अधिक मात्रा में कल्याणकारी कार्य अपने हाथों में लिए हैं और बड़े योजनाबद्ध ढंग से रोज़गार के लिए अवसर पैदा करने तथा लोगों में गतिशीलता लाने का काम किया है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजीवाद द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय व्यवस्थाओं द्वारा विभिन्न राष्ट्रों में स्वैच्छिक समझौतों के माध्यम से कार्यशील है। इस प्रकार पूँजीवाद अपने उस चरण से भी सफलतापूर्वक आगे निकल गया है जिसे लेनिन ने पूँजीवाद का **उच्चतम चरण** या **साम्राज्यवादी चरण** कहा था।

इस तर्क में कुछ सत्य का अंश हो सकता है कि आंतरिक एवं बाह्य दोनों द ष्टियों में पूँजीवाद के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन आए हैं किंतु किसी भी द ष्टि से उनके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया। आंतरिक तौर पर इजारेदारों का प्रभुत्व अब भी उसी तरह कायम है और पूँजी संचयन को अब भी मानदंड (norm) माना जाता है। बाहरी तौर पर, पूँजी-निर्यात के पीछे हालाँकि कोई सैनिक समर्थन नहीं है, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली असमान विनिमय का अत्यंत सशक्त ढाँचा प्रस्तुत करती है जिसमें एक ओर विकसित औद्योगिक देश हैं जो प्रायः बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से कार्य करते है और दूसरी ओर उत्तर-औपनिवेशिक समाज। इसलिए वर्तमान युग में भी लेनिन का सिद्धांत प्रासंगिक हैं।

कुछ मार्क्सवादी विचारकों, जैसे हैरी मैगडफ (Harry Magdoff), ने यह तर्क दिया है कि लेनिन का सिद्धांत जहाँ एकाधिकारिक पूँजीवाद वाले युग पर सबसे ज्यादा लागू होता है वहाँ इसके आधार पर पुराने अर्थात् औद्योगिक क्रांति से पहले के साम्राज्यवाद को समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। न ही विउपनिवेशीकरण (decolonization) तथा नव-उपनिवेशवाद (neocolonialism) के युग पर इसे यांत्रिक ढंग से लागू करना चाहिए। कुछ विद्वानों ने यह सुझाव भी दिया है कि लेनिन का विश्लेषण साम्राज्यिक शक्ति (metropolitan power) पर अधिक प्रकाश डालता है और उसमें उपनिवेशों के अंतर्विरोधों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है। वास्तव में लेनिन ने अपने निबंध के क्षेत्र तथा केंद्रबिंदु को इन्हीं शब्दों में परिभाषित किया है और औपनिवेशिक समस्या से जुड़े अन्य पहलुओं पर विस्तार से विचार किया है। इसलिए लेनिन की मूल अवधारणा (thesis), जिसके

अनुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद का चरम रुप है, समय की कसौटी पर खरी उतरी है।

जहाँ तक नव-उपनिवेशवाद का प्रश्न है, सारी चर्चा दो विचारधाओं के इर्द-गिर्द घूमती रही है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि संसार के विभिन्न भागों में विश्व पूँजीवादी प्रणाली द्वारा शोषण की प्रक्रिया अब भी जारी है। इस प्रणाली का नेत त्व संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में है और इसके प्रमुख केंद्र पश्चिमी यूरोप में हैं। उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में इस साम्राज्यवाद के प्रति विभिन्न मात्राओं में विरोध की भावना मौजूद है। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के कुछ देशों में बुर्जुआ वर्ग के प्रगतिशील तत्वों ने अपनी स्वतंत्रता को कायम रखा है किंतु उनके देशों को इस शोषण से सुरक्षित नहीं माना जा सकता। दूसरी विचारधारा यह मानती है कि केंद्र में कुछ पूँजीवादी राज्य या पूँजीवादी देश हैं जिनकी औद्योगिक शक्ति काफ़ी विकसित है और परिधि (periphery) पर तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देश है जहाँ पूँजीवादी केंद्र (capitalist core) ने उनका साथ देने वाले बुर्जुआ या मध्य वर्ग का पोषण किया है। किंतु इस मध्य वर्ग को भी अपने देश के अंदर ही मजदूर वर्गों तथा उभरते हुए राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का विरोध सहना पड़ा है।

वर्तमान विश्व परिस्थिति को चाहे हम विश्व पूँजीवादी प्रणाली बनाम स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में देखें या उस पर पूँजीवादी केंद्र (capitalist core) तथा पूँजीवादी परिधि (capitalist periphery) के रूप में विचार करें, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह नव-उपनिवेशवाद की तस्वीर है। प्रौद्योगिकी की द ष्टि से उन्नत कुछ देश, जिनके पास भारी मात्रा में पूँजी है, विश्व अर्थव्यवस्था के ढाँचे पर अपनी मजबूत पकड़ रखते हैं ओर ऐसी युक्तियाँ अपनाते हैं जिससे वे एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशों से कच्चा माल प्राप्त कर सकें और वहाँ के बाजारों में तैयार माल बेच सकें। यह नव-उपनिवेशवाद इसलिए है कि यह विदेशियों द्वारा लोगों के स्वनिर्णय के अधिकार के हनन का एक नया रूप है तथा यह देश की श्रेष्ठता और उसके पूँजीगत बल पर आधारित है। इस संदर्भ में यह बहुत जरूरी है कि पहले हम लेनिन के सिद्धांत को फिर से मान्यता दें जिसने आधुनिक युग में अंतर्राष्ट्रीय प्रभुत्व के आधार को स्पष्ट किया जा सके। किंतु साथ ही हम विश्लेषण के नए साधन भी विकसित करें जिससे हम बहुराष्ट्रीय निगमों के स्वरूप को समझ सकें और यह पता लगा सकें कि स्वतंत्र राष्ट्रीय शासन प्रणालियों में—जिनमें समाजवादी शासन प्रणालियाँ भी शामिल हैं—इन्हें स्वेच्छा से क्यों आमंत्रित किया जाता है। यहाँ हमें नए सिरे से यह भी समझना होगा कि एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशों में पूँजीवाद का असमान विकास क्यों हुआ क्योंकि इस समझ के माध्यम से हमें बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ उनके संबंध को समझने में मदद मिलेगी।

अध्याय - 9

शोध-प्रस्ताव की तैयारी के बारे में

(Area of Research Proposed–Preparation of Research Proposal)

इतिहास की पद्धति को समझने का सबसे बेहतर तरीका है कि आप स्वयं कुछ इतिहास लिखने की कोशिश करें। यहां हम आपको एक अच्छा शोध-प्रस्ताव कैसे चुना जाये और कैसे तैयार किया जाये—इसके बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातें बतायेंगे। इसके कई चरण होंगें जिनका हम वर्णन करेंगें।

(क) शोध-प्रस्ताव के लिये विषय का चुनाव :

अच्छा शोध प्रस्ताव तैयार करने का पहला कदम शोध विषय का चुनाव करना ही है। यह अपने आप में एक चुनौतीपूर्ण काम है लेकिन इतिहास के शोध और लेखन का एक सबसे महत्वपूर्ण और पहला साधन है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातों पर हमें गौर करना चाहिए—जैसे विषय का आकार यानि विषय कितना बड़ा या छोटा हैं ? क्या हम निर्धारित समय में, जो हमें शोध के लिए मिला है, उस विषय को लिखकर पूरा कर पायेंगे या नहीं ? क्या हम उतने समय में विषय के साथ न्याय कर सकते हैं या नहीं ? कम से कम शोध-विषय के चुनाव में हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान जरूर देना चाहिये:

(1) विषय इस प्रकार का होना चाहिये कि वह हमारी रुचि के अनुरूप हो और शोध के दौरान हमारी रुचि विषय में बनी रहे।

(2) क्या हमने उस विषय के बारे में कुछ जरुरी पुस्तकें पढ़ी हैं, और क्या हमें विषय की पर्याप्त प ष्ठभूमि का ज्ञान है या नहीं ?

(3) क्या यह शोध-विषय ऐसा है कि इस पर इतिहासकारों ने पहले से काफी कुछ लिखा है अर्थात् इस विषय पर इतिहास-लेखन उपलब्ध है या यह केवल हमारी अपनी रुचि का नया विषय ही है।

(4) क्या इस विषय पर शोध सम्भव है ? इस प्रश्न का अर्थ यह जानने से ही कि क्या इस विषय पर पर्याप्त प्राथमिक स्त्रोत या सबूत उपलबध है या नहीं ? हमें मोटे रूप से इस शोध विषय पर उपलब्ध प्राथमिक स्त्रोतों, दस्तावेजों, पत्राचार, सरकारी रिकार्ड आदि की जानकारी होनी चाहिए।

(5) क्या यह विषय ऐतिहासिक है या समकालीन इतिहास का जिस पर कोई खोज नहीं हुई हैं?

(6) क्या शोध इतना बड़ा और व्यापक है कि विषय पर काम करना ही मुश्किल हो (जैसे हम विषय ले लें—आधुनिक भारत) या इतना छोटा या संकीर्ण (जैसे 1942 में अगस्त क्रांति मैदान में महात्मा गांधी का भाषण) कि हम कुछ शोध को आगे बढ़ा ही न सकें।

(7) क्या शोध का विषय कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं और सवालों को खड़ा करता है, जिनके उत्तर हम ढूँढ पायेंगें ?

(8) क्या हमारा शोध-विषय या प्रस्ताव ऐतिहासिक जानकारी में कोई मौलिक योगदान देगा, किसी ऐतिहासिक विवाद पर रोशनी डालेगा ?

(9) क्या इस शोध-विषय पर कार्य करते हुए हमें आनंद आयेगा ? या शोध एक अच्छी कहानी या व ंतात को जन्म दे पायेगा जो तर्कसंगत होगा ?

(10) क्या हम एक आम व्यक्ति को, जो इतिहास का छात्र नहीं भी है, इस शोध-प्रस्ताव और विषय को स्पष्ट कर पायेंगे और उनकी रुचि इसमें पैदा कर सकते है या नहीं ?

जब हम इन महत्वपूर्ण पहलुओं को ध्यान में रखकर शोध-प्रस्ताव का चुनाव कर लेंगे उसके बाद शोध-प्रस्ताव लिखने का हमारा दूसरा चरण शुरू होगा—यह होगा शोध प्रस्ताव के लिए अध्ययन।

(ख) शोध-प्रस्ताव लिखने के लिए आवश्यक अध्ययन

इतिहास-लेखन में इतिहास को ठीक प्रकार पढ़ना दूसरा महत्वपूर्ण उपकरण है। सामान्य नियम है कि हमें ज्यादा से ज्यादा व्यापक अध्ययन करना चाहिये। इतिहास का अध्ययन किसी साहित्यिक रचना (उपन्यास, कहानी, कविता) या वैज्ञानिक पाठ्य सामग्री के पढ़ने से अलग है। किसी भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विषय पर हमें इतनी पठ्न-सामग्री मिल सकती है कि हम उम्रभर उसमें लगा सकते हैं। इसलिये हमें यह भी चुनाव करना पड़ता है कि कौन सी पुस्तकें या लेख ज्यादा महत्वपूर्ण हैं जिनका अध्ययन हमें करना चाहिये और यह सवाल भी महत्वपूर्ण है कि हम उन्हें कैसे पढ़ें ? ऐसी कौन सी विधियाँ है जिनसे हम चुनाव कर, छाँटकर महत्वपूर्ण सामग्री अध्ययन के लिए चुन सकते है।

शायद ही हम किसी किताब को शुरू से आखिर तक पढ़ते हैं ? शुरू से अंत तक पढ़ना ज्यादा आनंद देता है लेकिन कुछ पुस्तकों को छोड़कर, स्त्रोतों की मात्रा इतनी ज्यादा होती है कि हम इस विधि को नहीं अपना सकते। इसके विपरीत विधि है कि हम हर गौण स्त्रोत को पढ़ने के लिये कुछ महत्वपूर्ण विशिष्ट सवालों को दिमाग में रखकर पढ़े तो पाठ्य सामग्री पर हम एक सीमा बांध देगें। इसके लिए हम किसी पुस्तक की अनुक्रमणिका (index) से शुरूआत कर सकते है और इससे हमें यह पता लग जायेगा कि पुस्तक में कौन सी प्रविष्टियाँ (entries) ऐसी है जिनमें हमारी रुचि है या जो हमारे विषय से सम्बन्धित है। इसके बाद हम पुस्तक के संदर्भ ग्रंथ सूची (bibliography) को देख सकते हैं जिससे हमें यह ज्ञात होगा कि पुस्तक के तथ्यों का आधार (data base) हमारे अपने शोध में कितना महत्व रखता है। इससे हमें एक नजर में यह भी पता चल जाता है कि क्या पुस्तक इतिहास लेखन की द ष्टि से नवीनतम सामग्री का उपयोग कर रही है या नहीं ? क्या लेखक ने सभी आवश्यक स्त्रोतों का इस्तेमाल किया है या नहीं ? हम पुस्तक को एक सरसरी नजर से पढ़कर इसकी गुणवता और महत्व को समझ सकते हैं। कई बार पुस्तक के विषयानुक्रम (contents) तथा महत्वपूर्ण भागों को पढ़ने से ही हमें अपने विषय के लिए आवश्यक जानकारी हासिल हो जाती है। हम पुस्तक के महत्वपूर्ण भागों को मूल्यवान पा सकते है और उसमें से नोट लिखकर ले सकते हैं लेकिन शुरू में ही नोट लेना शुरू करने से पहले जरूरी है कि हमारे दिमाग में कुछ स्पष्ट सवाल या पहलुओं की तस्वीर साफ हों। जैसे-जैसे आप इस तरह का अध्ययन करेगें, वैसे-वैसे आप साथ-साथ पाठ्य सामग्री को अपने शोध-प्रस्ताव या विषय के सम्बंध में जोड़कर देखते भी रहते हैं। इस विधि से आप ज्यादा तेजी से और चुनाव करके पढ़ पायेंगें। लेकिन जो ज्यादा जरूरी बात है वह है कि हमें पुस्तकों को दुबारा पढ़ने की आदत भी डालनी चाहिये। इतिहासकार एक पुस्तक को एक से अधिक बार पढ़ते हैं और जब भी हम किसी पुस्तक को दुबारा पढ़ेगें तो हमें कुछ नये पहलुओं की जानकारी उसी पुस्तक से मिलेगी। इसी प्रकार कई बार अभिलेखागारों के प्राथमिक स्त्रोतों को दुबारा पढ़ना बहुत

महत्वपूर्ण साबित होता है। अच्छे अध्ययन का दुबारा अध्ययन को छोड़कर कोई दूसरा छोटा रास्ता नहीं है।

(ग) नोट लेना

पाठ्य सामग्री से नोट लेना तथा उन्हें क्रम और व्यवस्था में रखना भी ऐतिहासिक शोध के साधनों में से एक महत्वपूर्ण साधन है। हम कैसे अच्छे नोट तैयार करें। अच्छे नोट लेना भी चयन के नियम पर ही निर्भर करता है। हम पुस्तकों से वह सब नोट नहीं कर सकते जो हमारे शोध विषय के लिए उपयुक्त या सुसंगत है। सब कुछ नकल उतार लेना भी उतना ही मुश्किल है जितना कि सब कुछ याद रख लेना। इसलिये हमें यह ध्यान रखना पड़ता है कि हमारे लिये क्या महत्वपूर्ण और उपयोगी है (शोध विषय के संदर्भ में) ना कि हम तमाम जानकारी देने वाले तथ्यों और रुचिकारक अनुच्छेदों को ही उतार लें। इसके लिये दो बातें महत्वपूर्ण है—एक यह कि हमें भावानुवाद करने की क्षमता (paraphrase) सीखनी चाहिए यानि लेखक द्वारा कही गयी बातों को हम अपने ढंग से अलग शब्दों में रखना सीखें लेकिन उनका भाव न बदले और दूसरा हम सारांश करना सीखें यानि कम शब्दों में लेखक की बातों को, व्याख्या को व्यक्त कर सकें। इन विधियों से हम बिना नकल किये, लेखक की भाषा उधार लिये बगैर भी हम उसके अर्थों को ग्रहण कर सकते हैं। हमें उन वाक्यों या अनुच्छेदों को, जो सीधे-सीधे किसी पुस्तक से, बिना बदले नकल किये गये हैं, उदर्धण चिन्हों के बीच रखने की आदत भी डालनी चाहिये। अगर हमने किसी के शब्दों को उधार लिया है तो उचित उदर्धण (quotation) देना चाहिये अन्यथा यह एक प्रकार की साहित्यिक चोरी (plagiarism) होती है। इसलिये साहित्यिक चोरी से बचने के लिए ठीक प्रकार से नोट लेना इतिहास के हर छात्र को सीख लेना चाहिए तभी वह अच्छा और मौलिक इतिहास-लेखन कर पायेगा। जब हम किसी के विचार उदर्धत करते हैं तो वह बिना बदले, बिना सम्पादन किये करना चाहिये। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि नोट लेते हुये (शोध की द ष्टि से) हम लेखक, पुस्तक, प्रकाशन की जगह, प्रकाशक और प्रकाशन के वर्ष का भी पूरा उद्धरण साथ-साथ लिख लें। यह बात लेखों और अभिलेखागार सामग्री पर भी लागू होती है। इस तरह के तमाम उद्धरण लेखक और पुस्तकों के साथ-साथ अलग कार्डों पर लिख लेने से हमारी ग्रंथ संदर्भ सूची भी साथ-साथ तैयार होती चलती है। बाद में उसी पुस्तक या लेखक को संक्षिप्त रूप में स्रोत तथा प ष्ठ संख्या लिखकर ही हम नोट ले सकते हैं।

(घ) एक अच्छा शोध-प्रस्ताव लिखने के बारे में कुछ जरूरी सुझाव

स्पष्ट और संक्षिप्त गद्य रूप में शोध-प्रस्ताव लिखना इतिहास के छात्र के लिए जरूरी उपकरण है। शोध की योग्यता तथा लिखने की योग्यता सबकी अलग-अलग होती है लेकिन फिर भी निम्नलिखित सुझाव आपके लिये उपयोगी हो सकते हैं।

(1) रुचि के अनुसार अपना शोध-प्रस्ताव का विषय चुन लीजिए। उस विषय पर ज्यादा से ज्यादा और तेजी से गौण स्रोतों से पढ़ना शुरू कीजिये। विषय न इतना व्यापक और विस्त त हो कि आप उसमें उलझ जाये और न इतना छोटा और संकीर्ण कि उसका कोई ऐतिहासिक महत्व ही न हो। शोध-प्रस्ताव के चयन के समय यह ध्यान रखना चाहिये कि उस पर पर्याप्त परिमाण में गौण और प्राथमिक स्रोत उपलब्ध हैं। विषय ऐतिहासिक द ष्टि से महत्वूपर्ण होना चाहिये और इस पर अन्य इतिहासकारों द्वारों लिखित रचनायें उपलब्ध होनी चाहियें।

(2) शोध-प्रस्ताव में उन सवालों का जिक्र करें जिनका उत्तर आपका शोध देने की चेष्टा करेगा। यह सवाल किसी ऐतिहासिक घटना के कारणों से सम्बंध हो सकते हैं या किसी महत्वपूर्ण घटना के परिणामों के बारे में। यह पूछा जा सकता है कि किसी विशिष्ट घटना की सांस्कृतिक प ष्ठभूमि क्या थी। यह किसी विशिष्ट विचार के बौद्धिक मूल के बारे में भी हो सकते हैं। हम एक राजनैतिक घटना के सामाजिक पहलुओं के बारे में सवाल कर सकते हैं।

(3) शोध प्रस्ताव के बारे में पढ़ना शुरू करें और प्राथमिक (primary) स्त्रोतों तथा गौण स्त्रोतों (secondary sources) की एक संदर्भ ग्रंथ सूची भी साथ-साथ तैयार करते जायें। विषय पर उपलब्ध सामग्री का अधिक से अधिक अध्ययन कर लें। पुस्तकों और लेखों को दोबारा जरूर पढ़ें। मुख्य-मुख्य प्राथमिक स्त्रोतों की पहचान जो इस विषय में सम्बन्धित हो, अवश्य कर लेनी चाहिये। संदर्भ ग्रंथ सूची (bibliography) का विस्तार होता जायेगा जैसे-जैसे आप अन्य गौण स्त्रोतों की संदर्भ सूची पर नजर डालेंगें। किसी भी स्त्रोत का पूरा उद्धरण अवश्य नोट कर लें।

(4) नोट लेने में पूरी सावधानी बरतें। इसमें चयन के नियम का ध्यान रखें। ना तो फोटो कापी करने की मशीन की तरह सारी नकल कर डालें या ना यह सोचे कि हम सब कुछ याद रख सकते हैं। चयन करके ही नोट लिखें। अगर पूरा उद्धरण आपने लिखा है तो उसे उद्धरण चिन्हों के बीच में अवश्य लिखें।

(5) अपने शोध-प्रस्ताव के उपर हुए इतिहास लेखन की जाँच-पड़ताल भी बहुत जरूरी है यानि इसका विश्लेषण करें कि इतिहासकारों ने इस विषय की कैसे व्याख्या की है और उनकी व्याख्याओं में कैसे बदलाव आया है। किसने आपके शोध-विषय से सम्बन्धित पहलुओं पर लिखा है ? कब लिखा है ? और उनके मुख्य मुद्दे और तर्क क्या हैं ? इतिहासकारों ने इस विषय पर क्या सवाल उठाये हैं और उनका जवाब कैसे दिया है ? प्रत्येक गौण स्त्रोत ने पहले के स्त्रोतों का किस प्रकार प्रयुक्त किया है ? या उस विषय पर क्या महत्वपूर्ण मत व्यक्त किये गये हैं। गौण स्त्रोतों को पहले जल्दी-जल्दी व्यापक रूप से पढ़े और फिर चयनात्मक शैली अपनाकर। अध्ययन करते करते अपने प्रारंभिक सवाल या सवालों को नये सिरे से गठित करें।

(6) उस विषय पर आप अपना मौलिक प्रारंभिक तर्क बना लें जो एक सवाल या जवाब देता हो। आपका तर्क नये पहलु पर रोशनी डालने वाला हो और प्रमाण और साक्ष्य पर आधारित होना चाहिए। क्या आपका तर्क ऐतिहासिक ज्ञान की किसी कमी को पूरा करेगा जो मौजूदा इतिहास-लेखन में रह गयी है। या यह केवल मौजूदा तथ्यों या व्याख्याओं का ही समर्थन करता है या आपका तर्क मौजूदा व्याख्याओं से ज्यादा जानदार हैं ? क्या यह पुराने विषय को नयी पद्धति से देखने की कोशिश है अर्थात इस अवस्था में आपको अपने शोध-पुस्तक का मूल्यांकन (या आत्म-मूल्यांकन Self–evaluation) उपलब्ध इतिहास-लेखन के दायरे में रहकर भी करना है। आपको यह ध्यान रखना चाहिये कि आपके वंतात में कुछ नयापन हो, कुछ मौलिकता हो।

(7) इन सब पहलुओं को ध्यान में रखते हुए आप अपने शोध-प्रस्ताव की प्रारंभिक रुपरेखा (outline) तैयार कर लें। यह एक अस्थिपंजर ही है जिसमें बाद में शोध के जरिये आप जान फूंकने की कोशिश करते हैं। इस प्रारंभिक रुपरेखा के अंदर स्वयं आपको काफी बदलाव करना पड़ेगा। हर पहलू को स्पष्ट रूप से संक्षेप में ही लिखे लेकिन आपका लेखन तर्कसंगत होना चाहिये। छोटे सुस्पष्ट वाक्य ही प्रयोग करें। क्रम वाच्य (passive voice) का प्रयोग कम से कम करें। "बाबर ने इब्राहिम लोधी को हराया" लिखें, "इब्राहिम लोधी को बाबर के द्वारा हराया गया" नहीं।

(ङ) आभारोक्ति (Acknowledgement) आदि के बारे में

इतिहासकार अपने काम में प्राथमिक तथा गौण स्त्रोतों पर निर्भर करते हैं। उन्हें अपने इतिहास-लेखन में उन स्त्रोतों की आभारोक्ति देनी होती है जिनका उपयोग उन्होंने अपने लेखन में किया है। इससे दूसरे इतिहासकार उनकी प्रामाणिकता की जाँच-पड़ताल कर सकते हैं। इस तरह की आभारोक्ति

की मुख्य साधन है—फुटनोट, संदर्भ ग्रंथ सूची तथा दूसरे व्यक्ति या रचना से लिखे गये शब्दों/वाक्यों को उद्धरण-चिन्हों के बीच रखना। इन्हीं से इतिहास की रचनायें पारदर्शी बनती हैं। इसीलिये आभारोक्ति देना एक इतिहासकार की व्यवसायिक और नैतिक जिम्मेदारी बन जाती है। अगर कोई इतिहासकार स्त्रोतों की आभारोक्ति नहीं देता है तो उस पर साहित्यिक चोरी (plagiarism) या धोखाधड़ी का आरोप लग सकता है।

इतिहास की रचनाओं में पेज के नीचे या अध्याय के अंत में दिये गये नोट अत्यधिक महत्व रखते हैं। फुटनोट इतिहासकार के लिये एक ताकतवर साधन है चाहे भले ही पाठक को उनसे चिड़चिड़ाहट होती हो। फुटनोट और उद्धरण दो कारणों से जरूरी हो जाते हैं : (1) इनके माध्यम से इतिहासकार उस स्त्रोत की, या स्त्रोतों की आभारोक्ति करता है जहाँ से उसे सूचना हासिल हुई है, प्रमाण को यह इंगित करता है या उद्धरण का स्त्रोत बताता है। इससे कोई भी पाठक उस मौलिक स्त्रोत को देखकर रचना की प्रामाणिकता की जाँच कर सकता है, (2) फुटनोट इतिहासकार को पाठक के साथ दूसरे स्तर पर भी प्रवचन (discourse) जारी रखने में मदद देते हैं—ये चर्चा को ओर आगे बढ़ाते हैं। ये पाठक को यह जानकारी भी देते हैं कि इतिहासकार ने सूचनाओं या व्याख्याओं के लिये किन-किन जगहों पर समय लगाया है इस प्रकार इतिहासकार फुटनोट के जरिये न केवल स्त्रोत का आभार व्यक्त करता है बल्कि पाठक के साथ वार्तालाप को भी आगे बढ़ाता है या कहीं कहीं अपने विशिष्ट सुझाव भी पेश करता है।

(च) संदर्भ ग्रंथ के विषय में

जैसाकि हम कह चुके हैं कि संदर्भ ग्रंथ सूची (bibliography) भी इतिहासकार का एक जरूरी साधन है। संदर्भ ग्रन्थ सूची लिखित पुस्तकों, पत्रिकाओं के लेख, शोध-लेख तथा प्राथमिक अभिलेखागार सभी की लिखित सूची होती हैं। सबसे पहले प्राथमिक स्त्रोतों की सूची दी जाती है—इसका विभाजन अप्रकाशित (unpublished) तथा प्रकाशित स्त्रोतों के रूप में किया जा सकता है। इसमें स्त्रोत के पूरे उल्लेख के साथ-साथ अभिलेखागार का नाम, स्थान आदि भी ठीक-ठीक देना चाहिये। गौण स्त्रोतों में मुख्यतया पुस्तकें तथा लेख शामिल होते हैं। संदर्भ ग्रंथ सूची में लेखक के अंतिम नाम के अनुसार वर्णानुक्रमिक (alphabetical order) में प्रविष्टियाँ (entries) की जाती है। इसका उचित तरीका यह है लेखक का अंतिम नाम (surname) प्रथम नाम, मध्यम नाम, पुस्तक का पूरा शीर्षक, (उपशीर्ष अगर है तो), प्रकाशन का स्थान, प्रकाशक नाम, प्रकाशन का वर्ष। पुस्तक के शीर्षक को रेखांकित (underline) कर दिया जाता है। लेखों का पूरा उद्धरण देने का तरीका थोड़ा सा भिन्न होगा लेकिन इसी से मिलता-जुलता है। इसमें लेखक के अंतिम नाम, प्रथम नाम और मध्यम नाम के बाद लेख का शीर्षक और उपशीर्षक आता है लेकिन उसे रेखांकित करने की बजाये उद्धरण चिन्हों के अंदर रखा जायेगा। उसके बाद पत्रिका या जर्नल (journal) का नाम (रेखांकित किया जायेगा), वोल्यूम तथा ईश्यू नम्बर आदि प्रकाशन का समय।